प्रकाशक --
कान्तीनाथ गुप्ता
व्यवस्थापक
जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी,
निकट तहसील, मेरठ।

तृतीय हिन्दी संस्करण
१६५६

मूल्य ६।)

प्रस्तावना

इस पुस्तक का उद्देश्य, सरल हिन्दी में प्रतीच्य तथा भारतीय नीति-शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है। यह पुस्तक मुख्यतया, उत्तर-भारतीय विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये है, जो बी० ए० के परीक्षार्थी हैं। बी० ए० परीक्षा के पाठ्य-क्रम के सभी विषयों का इसमें समावेश है।

इस समय बिहार तथा उत्तर-प्रदेश के बी० ए० परीक्षा के लिये हिन्दी अध्यापन तथा परीक्षा का एक वैकल्पिक माध्यम है। प्रस्तुत पुस्तक मेरी अङ्गरेजी "A Manual of Ethics" नामक पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है जो कि पटना तथा आगरा विश्वविद्यालयों के बी० ए० परीक्षा के लिये पाठ्य-पुस्तक है। उत्तर-भारतीय विद्यार्थियों के लिये श्री गोवर्धन प्रसाद भट्ट एम० ए० ने इसका अङ्गरेजी से हिन्दी में अनुवाद किया है। श्री नेमीशरण मित्थल एम० ए० ने भी कुछ अंश का अनुवाद किया है। मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इस कठिन कार्य को सफलतापूर्वक पूरा किया।

पारिभाषिक शब्द सुयोग्य अनुवादकों ने बनाये हैं। प्रो० वीरचन्द्र सिन्हा की हिन्दी "नीति-विज्ञान" से अवतरण लिये गये हैं। यदि उत्तर-भारतीय विद्यार्थियों के लिये नीति-शास्त्र के मूल सिद्धान्तों के समझने में, प्रस्तुत पुस्तक कुछ भी सहायक हुई तो हमारा प्रयास सफल है।

३६ एम० आर० दास रोड,
कलकत्ता—२६।
फरवरी, १९५६।

जे० एन० सिन्हा

विषय-सूची

भाग १

१. परिचय

अध्याय ४

नैतिक निर्णय

अध्याय ५

नैतिक प्रत्यय

अध्याय ६

बाह्य नियम

अध्याय ७

सुखवाद

अध्याय ८

सुखवाद में विवर्त्तनवाद

अध्याय ९

बुद्धिमूलक उपयोगितावाद

अध्याय १०

राशडल : आदर्श उपयोगितावाद

अध्याय ११

अपरोक्ष ज्ञानवाद

अध्याय १२

बुद्धिपरतावाद अथवा कृच्छ्रवाद

अध्याय १३

आत्म-पूर्णतावाद

अध्याय १४

मूल्य का मानदण्ड

अध्याय १५

नीट्शेः 'प्रभुत्व-प्राप्ति की इच्छा' का नीति-शास्त्र

अध्याय १६

व्यक्ति तथा समाज

अध्याय १७

नैतिक संस्थायें

अध्याय १८

अधिकार और कर्तव्य

अध्याय १९

धर्म

अध्याय २०

अन्तःकरण नैतिकशक्ति

अध्याय २१

नैतिक प्रभु-शक्ति

अध्याय २३

दण्ड के सिद्धान्त

अध्याय २४

नैतिक प्रगति

अध्याय २५

राज्य के नैतिक कार्य

अध्याय २६

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता

अध्याय २७

नैतिकता की मान्यताएं

नैतिकता के तात्त्विक प्रश्न

अध्याय २८

सामाजिक नीति-शास्त्र की समस्यायें

अध्याय २९

राजनैतिक नीति-शास्त्र की समस्यायें

अध्याय १

नीति-शास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र तथा विधि ।

१. नैतिक-विश्वास और विवेक ।

हम जीवित हैं, और यथासम्भव नैतिक-जीवन व्यतीत करते है । नैतिकता में हमारा अन्ध विश्वास है । सदसत्, शुभाशुभ में हम विश्वास रखते हैं । किन्तु, हम सदसत् के स्वरूप और उनकी प्रामाणिकता के ऊपर विचार नही करते । हम उनकी यथार्थता को मान लेते है और तदनुसार कर्म में प्रवृत्त होते हैं। नीति-शास्त्र इस नैतिक-विश्वास को विचारात्मक अन्तर्दृष्टि में परिणत करता है । नीति-शास्त्र विचार-मूलक नैतिकता का विज्ञान है । यह परम-हित रूपी आदर्श की तुलना में मानव-व्यवहार की अच्छाई और बुराई के स्वरुप तथा प्रामाण्य का अनुसन्धान करता है । हम जीवित है, अत. जीवन का मूल्य है , किन्तु, जीवन का मूल्य क्यो है, इस प्रश्न का सम्बन्ध नीति विज्ञान से है।* नीति-शास्त्र नैतिक विश्वास को विवेक में परिवर्तित करता है । जब तक जीवन है परम-कल्याण में भी विश्वास स्थिर रहेगा । इसलिए, इस विश्वास को विवेक में परिवर्तित करने का वैज्ञानिक प्रयत्न भी अविच्छिन्न रहेगा । नीति-शास्त्र नैतिकता की मीमांसा है । यह नीति का विज्ञान है ।

२ नीति-शास्त्र की परिभाषा ।

अङ्ग्रेज़ी में 'नीति-शास्त्र' का समानार्थक शब्द 'Ethics' है । 'Ethics' यूनानी विशेषण 'Ethica' जो 'Ethos' से व्युत्पन्न होता है, से सिद्ध हुआ है । Ethos रीति, प्रचलन अथवा आदत के अर्थ में प्रयुक्त होता है । Ethics को moral philosophy भी कहते हैं। Moral शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन 'morcs' से जिसका अर्थ भी रीति या आदत होता है, हुई है । रिति-रिवाज केवल कर्म करने की अभ्यासजन्य विधियाँ ही नही है । वे समाज द्वारा अनुमोदित भी होती हैं । इस प्रकार शाब्दिक-अर्थ की दृष्टि से Ethics मनुष्यो की आदतो अथवा रीति-रिवाजों का विज्ञान है । यह अभ्यासजन्य मानव-व्यवहार का विज्ञान है । आदतें मन अथवा चरित्र की स्थायी प्रवृत्तियो के प्रकाशन है । चरित्र सकल्प करने की स्थायी आदत है । यह मन की आन्तरिक वृत्ति है । इसकी अभिव्यक्ति अभ्यासजन्य व्यवहार में होती है । इस प्रकार नीति-शास्त्र आदतो अथवा चरित्र का विज्ञान है । नीति-शास्त्र मनुष्यो की आदतो की पृष्ठभूमि में निहित सिद्धान्तो का विवेचन और उनकी अच्छाई तथा बुराई के कारणो का विश्लेषण करता है ।† यह आचार का नियामक विज्ञान है । इसे आचार शास्त्र भी कहते है ।

---

* मेय : 'नीति-शास्त्र के सिद्धान्त', पृष्ठ १० ।

† मैकेंज़ी : 'नीति शास्त्र' १९२९, पृष्ठ १

नीति-शास्त्र व्यवहार की अच्छाई तथा बुराई का विज्ञान है। यह नीति का विज्ञान है। व्यवहार ऐच्छिक क्रिया को कहते हैं। इसमें संकल्प सन्निहित रहता है। इसमें प्रयोजन का तत्त्व वर्तमान होता है। व्यवहार चरित्र का प्रकट-रूप है। चरित्र संकल्प करने की स्थायी आदत है। संकल्प आत्मा की क्रिया है। इस प्रकार नीति शास्त्र अच्छे अथवा बुरे व्यवहार में अभिव्यक्त मानव-चरित्र का विज्ञान है। किन्तु, अच्छाई और बुराई उस परम हित की ओर संकेत करते हैं जो कि मानव जीवन का आदर्श है। अत नीति-शास्त्र उच्चतम कल्याण का विज्ञान है।

नीति-शास्त्र मनोविज्ञान की तरह व्यवहार की उत्पत्ति और विकास से सम्बन्धित नहीं। इसका सम्बन्ध है किसी आदर्श अथवा मान-दण्ड की तुलना में व्यवहार के मूल्यांकन से। मानव-व्यवहार में सन्निहित उच्चतम आदर्श का निरूपण इसका लक्ष्य है। यह हमें यह सिखाने का प्रयास करता है कि कैसे हम मनुष्यों की आदतों अथवा चरित्र के विषय में सम्यक् नैतिक निर्णय दें, तथा कैसे उनको मानव-जीवन के महत्तम आदर्श की तुलना में उचित अथवा अनुचित, सत् अथवा असत् समझें। नीति-शास्त्र मानव-जीवन में सन्निहित आदर्श का विज्ञान है। यह मनुष्य के परम-मंगल का विज्ञान है।

'सत्' और 'शुभ' ये दो पद के अर्थ क्या हैं ?

'सत्'— जब कोई कार्य किसी नियम का पालन करता है, तो उसे 'सत्' वा 'उचित' कहा जाता है। प्रत्येक नियम के पीछे कोई प्रयोजन निहित होता है, जिसकी प्राप्ति उसका लक्ष्य होता है। यही प्रयोजन 'शुभ' कहलाता है। अत 'सत्' 'शुभ' से गौण कोटि का हुआ। 'सत्' 'शुभ' का साधन है।

'शुभ' किसी कार्य को शुभ या अच्छा कहने से हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह किसी आदर्श अथवा उद्देश्य की सिद्धि के लिये उपयुक्त है। शुभ लक्ष्य है ; सत् उसका साधन है।

इस प्रकार यदि कोई कर्म किसी नियम के अनुकूल है तो वह सत् है। नियम लक्ष्य अथवा मंगल का साधन होता है। किन्तु, लक्ष्यो की एक क्रमिक शृङ्खला होती है। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध सापेक्ष अथवा गौण हितो से नहीं, बल्कि निरपेक्ष अथवा उच्चतम हित से है। इसका ध्येय परम हित को निर्धारित करना है।

अत नीति-शास्त्र को सर्वोच्च हित का विज्ञान कहा जा सकता है। इसको "मानव-जीवन में सन्निहित आदर्श का विज्ञान" भी कह सकते हैं (मैकेंजी)। "अथवा अरस्तू के साथ हम यह कह सकते हैं कि नीति-शास्त्र मानव-जीवन के चरम लक्ष्य का अन्वेषण है। परम हित लक्ष्य है—वह लक्ष्य जिसके सब अन्य तथाकथित लक्ष्य

वास्तव में साधन है। नीतिविदो इसी परम हित की खोज में सतत प्रयत्नशील रहे है।"*

३. नीति-शास्त्र का स्वरूप।

नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान या आदर्श विज्ञान है। नीति-शास्त्र एक विज्ञान है। यह सम्पूर्ण मानवीय अनुभव को किसी आदर्श-प्राप्ति के दृष्टिकोण से विवेचन करता है। विशेषत मानवीय व्यवहार अथवा आन्तरिक सकल्पो तथा प्रेरणाओ सहित मानवीय कार्य-कलाप से इसका सम्पर्क है। नीति-शास्त्र वही तक एक विज्ञान है जहाँ तक यह एक आदर्श अथवा मानदण्ड की तुलना में मानव-व्यवहार के पर्यवेक्षण और व्याख्या के ऊपर निर्भर है।

किन्तु नीति-शास्त्र प्राकृतिक अथवा विधायक विज्ञान नही है। इसका सम्बन्ध मानव-व्यवहार की प्रकृति, उत्पत्ति और विकास से नही। यह मानवीय कार्यो का किन्ही नियमो के द्वारा व्याख्या नही करता। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध मानव-व्यवहार के स्वाभाविक रूप से नही है, वल्कि उस रूप मे है जैसे उनको होना चाहिए। यह मनुष्य के कार्यो के ऊपर नैतिक आदर्श की तुलना में मूल्यार्थक निर्णय देता है। इसका सम्बन्ध तथ्य-सूचक निर्णयो से नही, वलिक मूल्य-सूचक निर्णयो से है। तथ्य सूचक निर्णय वस्तुस्थिति वतलाते है। मूल्यार्थक निर्णय वतलाते है कि होना क्या चाहिए। मूल्यार्थक निर्णय समालोचनात्मक निर्णय होते है। इस प्रकार नीति-शास्त्र प्राकृतिक या विधायक नही वलिक नियामक विज्ञान है।

प्राकृतिक विज्ञानो का सम्बन्ध तथ्यो से होता है, और ये उन समरूपताओ अथवा नियमों का अनुसधान करते हैं जो प्राकृतिक तथ्यो और घटनाओ पर शासन करते है। वे उन रूपो का वर्णन करते है जिनमें वर्ग-विशेष की वस्तुओ की सत्ता पाई जाती है, अथवा जिनके अनुसार किसी जाति-विशेष की घटनायें प्रकृति में घटित होती है। किसी लक्ष्य अथवा आदर्श से जिनसे तुलना किए जाने पर तथ्यो के ऊपर निर्णय दिया जाता है, उनका कोई सीधा सम्बन्ध नही है। किन्तु, नियामक विज्ञानो का वास्तविक तथ्यों से अथवा उनके नियमो से कोई सम्पर्क नही होता। सम्पर्क होता है आदर्शों से जो मानव जीवन को नियन्त्रित करते है।

नियामक विज्ञान आदर्श, मानदण्ड अथवा मूल्यो का निर्धारण करते है। मानव-जीवन के तीन आदर्श है—'सत्य, शिवं, सुन्दरम्'। ये मनुष्य के अनुभव में सर्वाधिक मूल्य रखते है। इनका सम्बन्ध हमारे जाग्रत जीवन के तीन पहलुओ—ज्ञानात्मक, क्रियात्मक, और रागात्मक—से है। सत्य के अनुसरण से सम्बन्ध मानसिक प्रयत्नाओ से न्याय-शास्त्र का सम्बन्ध है। सौन्दर्य-शास्त्र का विषय सुन्दर वस्तुओ की

* सेठ : 'नीति-शास्त्र के सिद्धान्त', पृ० १२–१३।

सृष्टि और उनका कलात्मक मूल्य स्थिर करना है। परम कल्याण के अनुसरण के लिए जो उचित है उसको निर्धारित करना नीति-शास्त्र का कार्य है। एव तर्क-शास्त्र, सौदर्य-शास्त्र तथा नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान हैं, क्योंकि वे सत्य, सुन्दर और परम मङ्गल के आदर्शों से क्रमश सम्बन्धित हैं।

तर्क-विज्ञान हमारे बौद्धिक मूल्य-सूचक निर्णयो का अर्थ और व्याख्या करता है, सौंदर्य-विज्ञान सुन्दरताविषयक मूल्य-सूचक, और एवमेव नीति-विज्ञान नैतिक-मूल्य-सूचक निर्णयो का।

नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नही—विज्ञान हमें जानना सिखाता है और कला करना। किन्तु व्यावहारिक विज्ञान सिखाता है कि किसी चीज को करना कैसे जानें। इसकी स्थिति विज्ञान और कला की मध्यवर्ती है। व्यावहारिक विज्ञान का सम्बन्ध उन साधनो से है जो किसी निश्चित लक्ष्य अथवा फल की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। एव, चिकित्सा-विज्ञान व्यावहारिक-विज्ञान है, क्योकि इसका उद्देश्य स्वास्थ्य के आदर्श का निर्धारण नही, वरन् यह उन उपायो की ओर सकेत करता है जिनके अवलम्बन से उत्तम स्वास्थ्य-प्राप्ति हो सके। किन्तु कर्तव्य शास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान नही कहा जा सकता। यह नैतिक आदर्श का निर्धारण-मात्र करता है, लेकिन उसकी प्राप्ति के लिए नियमो अथवा साधनो को निश्चित नही करता। यह हमें नैतिक-जीवन व्यतीत करने के उपाय नहीं सिखाता। आदर्श की परिभाषा देना नियामक विज्ञान का कार्य है, आदर्श-सिद्धि के नियमों का वर्णन नही। सौंदर्य-विज्ञान नियामक विज्ञान है। यह सौंदर्य के आदर्श से सम्बन्धित है, किन्तु सुन्दर वस्तु की रचना कैसे की जाय, यह प्रश्न इसके कार्य का कोई अ ग नही। अत नीति-शास्त्र, नियामक विज्ञान होने के नाते, शुभ अथवा सत्कर्म के आदर्श का विवेचन करता है, और उसकी प्राप्ति के साधनों से इसका कोई सीधा सम्पर्क नही है। यह हमें जीवन के पथ-प्रदर्शक सिद्धान्तों का ज्ञान देता है, उनका कैसे उपयोग किया जाय इसका नही। एव यद्यपि नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है, तथापि व्यावहारिक नही। किन्तु नीति-मीमासा के अध्ययन का हमारे नैतिक जीवन पर कुछ प्रभाव तो पडता ही है। निश्चयरूपेण यह हमारे व्यवहार को प्रभावित करता है। किन्तु, इस कारण नीति-शास्त्र क्रियात्मक विज्ञान नही बन जाता।

नीति-शास्त्र कला नही है—यदि नीति-शास्त्र को व्यावहारिक-विज्ञान नही कहा जा सकता, तो कला तो बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता। हम व्यवहार की कला की तो कल्पना भी नही कर सकते। विद्या की कोई भी शाखा हमें नैतिक जीवन की कला नही सिखा सकती। यदि यह मान भी लिया जाय कि यह हमें नैतिक शिक्षा अथवा नैतिक व्यवहार के नियम दे सकती है, तथापि उनका क्रियात्मक प्रयोग नही सिखा सकती। नैतिक शिक्षा से अभिज्ञ होने पर भी, हो सकता है, हम चरित्र की

दुर्बलता और संकल्प-शक्ति के अभाव के कारण उसे कार्य-रूप में परिणत न कर पावें। नैतिक-जीवन की कला की शिक्षा के लिए "उपदेश की अपेक्षा उदाहरण वरणीय है", और व्यक्तिगत नैतिक अनुभव तो दोनों से श्रेष्ठ है, फलत यदि नीति-शास्त्र का कार्य, व्यावहारिक विज्ञान होने के नाते, उपदेश देना भी होता, तथापि वे नैतिक जीवन की कला की शिक्षा के लिए अपर्याप्त होते। इस प्रकार, नीति-शास्त्र न तो व्यावहारिक विज्ञान है, न कला। यह एक नियामक-विज्ञान मात्र है।

क्या व्यवहार की कला सम्भव है ? व्यवहार की कला कहना बिल्कुल अनुपयुक्त है। 'कला' का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थो में किया जाता है। शिल्प-कलायें बिल्कुल उसी प्रकृति की नही है जैसी ललित-कलायें। शिल्प कलाओ का उद्देश्य उन वस्तुओ का उत्पादन है जो किसी दूरस्थ प्रयोजन के लिए उपयुक्त है, जबकि ललित-कलाओ का उद्देश्य उनकी सृष्टि है जो स्वत वाञ्छनीय है। एक उपयोगी वस्तुओ का उत्पादन करती है, दूसरी स्वत मूल्यवान् वस्तुओ का। किन्तु, दोनो अवस्थाओ में एक निश्चित फल होता है जिसका उत्पादन कला का लक्ष्य होता है। नैतिकता के विषय में यह सत्य नही। वहाँ तो कोई फल है ही नही, जो कुछ है कर्म है। यह सच है कि कर्म का अन्तिम लक्ष्य अर्थात् परम हित की तुलना में मूल्य होता है। कला और नीति-शास्त्र में निम्नलिखित अंतर है —

"धर्म (virtue) की सत्ता केवल कर्म करने में है—एक अच्छा चित्रकार वह है जो अच्छा चित्र बना सकता है। एक अच्छा मनुष्य वह है जो अच्छा कर्म करता है, वह नहीं जो सत्कर्म कर सकता है। सच्चरित्रता सामर्थ्य व शक्ति नही बल्कि क्रिया है।"* एक सत्यवादी व्यक्ति वह नही जो सत्य कह सकता है, बल्कि वह है जो सत्य कहने का अभ्यस्त है। धार्मिक वह है जिसने नियमित रूप से कर्तव्य करने की आदत डाल दी हो। अत धर्म क्रिया का गुण है।

"धर्म का तत्व संकल्प में निहित है।" कला कौशल या प्रवीणता की उपलब्धि का नाम है। नैतिकता संकल्प की वृत्ति-विशेष में होती है। बाह्य अथवा दृश्य कार्य की अनुपस्थिति में भी प्रेरणा, अभिप्राय, प्रयोजन या चुनाव इनमें से कोई भी संकल्प की वृत्ति तो वर्तमान होती ही है। बाह्य क्रिया के अभाव में भी आन्तरिक मानसिक क्रिया में नैतिकता पाई जा सकती है। किसी कर्म का नैतिक गुण-दोष आन्तरिक प्रेरणा अथवा अभिप्राय में स्थित होता है, न कि उसके बाह्य प्रकाशनो में। एक [illegible] सहायता के लिए आपके पास आता है। आपके पास उसकी सहायता का कोई उपाय नहीं है। आप उसके दुःख के निवारणार्थ कुछ करने में असमर्थ है। तथापि आपका हृदय उसकी सहानुभूति में विदीर्ण हो रहा है और आपकी इच्छा है कि

---

* मैकेंजी : 'नीति-शास्त्र' पृष्ठ ८–९।

उसकी सहायता करें। तो आपकी सकल्प-वृत्ति ठीक है। जब वास्तविक कर्म सम्भव नही होता, तब सकल्प की सद्वृत्ति नैतिक दृष्टि से उचित होती है।

४. क्या नीति-शास्त्र विज्ञान है अथवा दर्शन का एक अंग ?

विज्ञान इन्द्रियग्राह्य विषयो के विशेष विभाग से सम्बन्धित होता है। यह हमारे अनुभव के एक सीमित क्षेत्र का वर्णन करता है। किन्तु नीति-शास्त्र का सम्बन्ध है "एक विशेष दृष्टिकोण अर्थात् कर्म अथवा आदर्शानुसरण के दृष्टिकोण से हमारे सम्पूर्ण अनुभव से।" अत, मैकेंजी के मतानुसार, यदि विज्ञान हमारे अनुभव के अश-विशेष का अध्ययन करता है और दर्शन सम्पूर्ण अनुभव का तो नीति-शास्त्र विज्ञान नही, बल्कि दर्शन का एक अङ्ग ठहरता है, क्योंकि नीति-शास्त्र मानव-जीवन के चरम उद्देश्य का विवेचन करता है और मनुष्य अपने सम्पूर्ण अनुभव में हेतुओ से प्रेरित होकर उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सचेष्ट होता है।*

किन्तु नीति-शास्त्र को दर्शन का एक अङ्ग समझने की अपेक्षा नियामक-विज्ञान समझना अधिक युक्तियुक्त है। यह विज्ञान इसलिये है कि यह अन्य प्रकार के तथ्यो से भिन्न नैतिक तथ्यो का अध्ययन करता है। यह नैतिक तथ्यो का पर्यवेक्षण और श्रेणी-विभाग करता है तथा नैतिक आदर्श के द्वारा उनकी व्याख्या करता है। यह तार्किक और सौदर्य-विषयक निर्णयो से नैतिक निर्णयो का भेद दिखाता है तथा उनको एक तत्र में सगठित करता है। अत यह वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करता है। विश्व के तीन भागो—ईश्वर, जगत् और मनुष्य में से इसका विशेष सम्बन्ध मनुष्य से है। नीति-विज्ञान का कार्य मानव-कल्याण का निर्धारण है, न कि विश्व-कल्याण का। किन्तु, दर्शन सम्पूर्ण विश्व और उसके चरम लक्ष्य का चिन्तन करता है। इसलिये नीति-विज्ञान दर्शन का अङ्ग नही।

किन्तु, नीति-शास्त्र एक नियामक-विज्ञान के रूप में दर्शन के अत्यधिक समीप पहुच जाता है। मनुष्य के परम-मगल अथवा नैतिक आदर्श के निरूपण में इसे स्थूल पर्यवेक्षण की सीमाओ का अतिक्रमण कर देना पडता है। नैतिक-आदर्श के प्रामाण्य की समीक्षा के लिये नीति-शास्त्र को दार्शनिक विवेचन में प्रवेश करना पडता है। नैतिक-आदर्श की प्रामाणिकता का प्रश्न हमें चरम-सत्ता की मूल-प्रकृति के विवाद में उतार देता है। किन्तु, नीति-शास्त्र विषयक अनुसधान में निहित दार्शनिक-समस्यायें केवल स्वीकृत सत्य कल्पित कर लिये जाते हैं, नीति-शास्त्र उनके अन्तिम स्वभाव और प्रामाणिकता को स्थिर करने के जजाल में नहीं पडता। ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता, और इच्छा-स्वातन्त्र्य नीति-शास्त्र के ये तीन स्वीकृत-सत्य हैं। किन्तु,

* नीति-शास्त्र, पृष्ठ ११।

वह इनको सिद्ध नही करता। अत नीति-शास्त्र को व्यवहार का नियामक विज्ञान कहना चाहिये, न कि दर्शन का अंग-विशेष।

नीति-शास्त्र को तीन कारणो से दर्शन के साथ अभिन्न नही करना चाहिये। प्रथम, यह नैतिक-निर्णयो की प्रामाणिकता को मान लेता है और उनको तन्त्र-बद्ध करने का प्रयत्न करता है। द्वितीय, यह नैतिक-मूल्य को तार्किक और कलात्मक मूल्यो से पृथक् करता है। तृतीय, यह मूल्य-सूचक निर्णयो को तथ्य-सूचक निर्णयो से पृथक् करता है। दर्शन-शास्त्र दोनो प्रकार के निर्णयो की अन्तिम प्रामाणिकता का विचार करता है। यह तथ्यो और मूल्यों के सम्बन्ध का विचार करता है। परम हित अथवा नैतिक मूल्य का महत्तम मान है, सत्य और सौंदर्य दोनो मे अधिक। और वास्तविक दर्शन-शास्त्र शायद नीति-शास्त्र का तत्त्वज्ञान है। अत नीति-शास्त्र को दर्शन नही समझना चाहिये।

अद्यावधि जो कुछ कहा गया है सूत्र-रूप में उसका आशय इस प्रकार है :—

(१) नीति-शास्त्र वह विज्ञान है जो मानव-व्यवहार में सन्निहित आदर्श से सम्बन्धित है। व्यवहार में निहित सदसत्, शुभाशुभ के मानदण्ड से इनका सम्बन्ध है।

(२) प्राकृतिक अथवा विधायक विज्ञान से भिन्न यह नियामक विज्ञान है।

(३) नीति-शास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान कहना उचित नहीं। परन्तु व्यावहारिक जीवन पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ता है।

(४) नीति-शास्त्र कला बिलकुल नही है।

(५) व्यवहार की कला कहना कतई ठीक नही है।

(६) नीति-शास्त्र दर्शन का अंग नही है। किन्तु, नियामक विज्ञान के रूप में यह विधायक विज्ञान की अपेक्षा दर्शन के अधिक समीप है।

४. नीति-शास्त्र और प्राकृतिक विज्ञान।

नियामक विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान में एक अन्तर है। पहले का सम्बन्ध मूल्य-सूचक निर्णयो से है और दूसरे का सत्ता-सूचक निर्णयो से। पहिला वस्तुओं के आदर्श-रूप का चिन्तन करता है, दूसरा वास्तविक रूप का। प्राकृतिक विज्ञान वस्तुओं तथा घटनाओं का अपने प्रकृत रूप में ग्रहण और विश्लेषण करता है। नियामक विज्ञान मूल्याङ्कन के मान-दण्ड से सम्बन्धित है। (१) प्राकृतिक विज्ञान सम्बन्धित तथ्यों का सम्यक् पर्यवेक्षण करता है। (२) पर्यवेक्षण के अनन्तर उनकी भिन्न भिन्न जातियों को पृथक् करता है, और उनके मुख्य भेदों के अनुसार उनको श्रेणी-बद्ध करता है। (३) फिर उनकी व्याख्या की जाती है। व्याख्या किसी तथ्य के हेतु-निर्देश से होती है। किसी तथ्य की उचित-क्रम से तभी व्याख्या होती है जब

कि उससे सम्बन्ध रखने वाले विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत हेतुओ की समष्टि से उसे आवश्यक-रूप से फल-स्वरूप नि सृत दिखा दिया जाता है। व्याख्या से तात्पर्य है एक तत्र-विशेष में किसी तथ्य का अन्य पूर्वगामी तथ्यो से सम्बन्ध-निर्देश। विज्ञान में व्याख्या आंशिक वा सीमित होती है। विज्ञान किसी दिये हुए तथ्य का अपने सीमित क्षेत्र में—दैशिक, यान्त्रिक, रासायनिक अथवा जैविक इनमें से जो भी उसका क्षेत्र हो—सामजस्य दिखा देने से सन्तुष्ट हो जाता है। विज्ञान में व्याख्या का अर्थ है वह प्रक्रिया जिसके द्वारा कोई तथ्य किसी तन्त्र के अन्तर्गत अन्य तथ्यो से सम्बन्धित कर दिया जाता है, और उसका ग्रहण तत्र के एक ऐसे तत्त्व के रूप में हो जाता है जिसका तत्र से पूर्ण सवाद हो। दर्शन की व्याख्या विज्ञान की आंशिक व्याख्या से अधिक व्यापक होती है। इसका प्रयत्न विभिन्न तत्रो का पारस्परिक तथा चरम सत्ता से सम्बन्ध दिखाने का होता है।

क्या नीति-शास्त्र को उपर्युक्त किसी अर्थ में व्याख्या करने वाला कहा जा सकता है? हर्बर्ट स्पेन्सर तथा अन्य विद्वानों का मत है कि नीति-शास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है। इसमें और अन्य प्राकृतिक विज्ञानों में अन्तर केवल इतना है कि इसकी व्याख्या अपेक्षाकृत अधिक दूरगामी होती है। इसका ध्येय नैतिक तथ्यो को मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के ज्ञात हेतुओ से सम्बन्धित करके व्याख्या करने का है। हर्बर्ट स्पेन्सर तो पशु-जीवन के जैविक तथ्यो तक से इनके सम्बन्धों को खोज निकालने का प्रयत्न करता है। वह नैतिक तथ्यों को सामाजिक, मानसिक और जैविक उत्क्रान्ति के परिणाम-रूप में देखता है।

किन्तु, यह मत पूर्णत भ्रान्त है। प्राकृतिक विज्ञान से अलग नीति-शास्त्र एक आदर्श-निर्धारक विज्ञान है। इसकी समस्या नैतिक-मूल्य-सूचक निर्णयो का अर्थ और व्याख्या करना है। यह तभी सम्भव है जब नैतिक-मूल्य का अन्तिम लक्षण ज्ञात हो जाय। इसका प्रश्न यह है कि मानव जीवन में श्रेय क्या है?❀

प्राकृतिक-विज्ञान परीक्षणीय तत्त्व ज्ञान के एक विशेष क्षेत्र में आने वाले अन्य पूर्वगामी तत्त्वों के द्वारा व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। नीति-शास्त्र, नियामक विज्ञान के रूप में नैतिक तथ्यों का सर्वोच्च कल्याण के आदर्श की तुलना में मूल्याकन करता है। यह इस चीज को मान लेता है कि नैतिक तथ्यो की व्याख्या पूर्वगामी भौतिक, शारीरिक अथवा मानसिक हेतुओ के द्वारा नही हो सकती। उनकी व्याख्या नैतिक आदर्श के द्वारा हो सकती है। यह आदर्श वास्तविक तथ्यो से अतीत है।

नीति-शास्त्र मनुष्य के अपने तथा औरो के ऊपर जान-बूझ कर दिये गये नैतिक निर्णयो का अनुशीलन करता है। इस प्रकार नीति-शास्त्र की आधार-शिला

❀ देख 'नीति-शास्त्र के सिद्धान्त', पृष्ठ ३७।

यह स्वीकृत सत्य है कि मनुष्य न केवल प्रकृति का एक अविभाज्य अंग और उसके उद्देश्यों का अन्ध अनुसरण करने वाला जीव है, वरन् उसे प्रकृति का अंश और उसके नियमों से शासित होने की चेतना भी है। मनुष्य विशेष परिस्थितियों में विशेष-रूप से क्रियाशील ही नहीं होता ; उसे परिस्थितियों और अपने बीच के सम्बन्ध का भी ज्ञान है। इसी आधार पर वह अपने ऊपर निर्णय देता है। अतः मानव-व्यवहार और चरित्र के विज्ञान को भौतिक विज्ञान की शाखा-मात्र मानने का प्रयत्न कभी भी सफल नहीं हो सकता। नीति-शास्त्रीय व्याख्यायें भौतिक शास्त्र के नियमों और कल्पनाओं के आधार पर नहीं हो सकतीं।* नीति-शास्त्र परम हित की तुलना में मानव-व्यवहार की अच्छाई-बुराई की व्याख्या करता है। प्राकृतिक विज्ञान प्रकृति और समाज में मनुष्य को अपने वातावरण से अंगांगिभाव से सम्बन्धित देखते हैं। किन्तु, नीति-शास्त्र उसको इसी सम्बन्ध के जानने वाले के रूप में देखता है। यह ज्ञान नीति और प्राकृतिक विज्ञानों के मध्य एक खाई पैदा कर देता है। मनुष्य एक ज्ञानवान् प्राणी है। यही नहीं, उसे आत्म-ज्ञान भी है। उसे प्रकृति और समाज के साथ अपने सम्बन्ध का ज्ञान है। अतः उसे प्रकृति का एक भाग समझना असम्भव है। उसकी उत्पत्ति जड़ प्रकृति से नहीं हो सकती। न वह प्रकृति में लीन हो सकता है। वह एक आध्यात्मिक जीव है और आदर्शों को वास्तविक बनाना उसका ध्येय है। इसलिये, नैतिक आदर्श से व्याप्त मानव-व्यवहार और चरित्र की व्याख्या पूर्ववर्ती, भौतिक शारीरिक और मानसिक घटनाओं के द्वारा नहीं हो सकता।

विशेष विज्ञानों की व्याख्यायें सापेक्ष होती हैं। किसी तथ्य की व्याख्या तभी निरपेक्ष और पूर्ण हो सकती है, जब विश्व के सभी अवशिष्ट तथ्यों से उसका सम्बन्ध निर्देश कर दिया जाय। ऐसी व्याख्या केवल दर्शन का ही विषय बन सकती है, और वही पूर्णतया प्रामाणिक मानी जा सकती है। फिर भी, अपने-अपने क्षेत्र में विशेष-विज्ञानों की व्याख्यायें प्रामाणिक मानी जाती हैं। प्राकृतिक विज्ञानों का दर्शन से जिसका विषय सम्पूर्ण विश्व की प्रकृति और सत्यता है, कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। किन्तु, नियामक विज्ञान होने के नाते नीति-शास्त्र का दर्शन से निकट सम्बन्ध है।

६. नीति-विज्ञान और तत्त्व-विद्या।

नीति-विज्ञान नैतिक निर्णयों से सम्बन्धित है। ये निर्णय मूल्य-सूचक निर्णय हैं। यह मूल्य सापेक्ष नहीं, बल्कि निरपेक्ष मूल्य है। व्यवहार सत् या असत्, जो कुछ भी है, निरपेक्ष है। यह परिस्थिति-विशेष में क्या वाञ्छित है अथवा अवाञ्छित; इस प्रकार के व्यक्तिगत दृष्टिकोणों से नहीं, बल्कि एक देश-कालातीत व्यापक दृष्टिकोण से होता है। नैतिकता मानव-प्रकृति की निरपेक्ष आवश्यकता—परम सत्ता की आवश्यकता

---

* द्रष्टव्य : नीति-शास्त्र के तत्त्व, पृष्ठ २८–३० ।

है; यह हमारी विशेष देश-काल से सम्बन्धित आकस्मिक परिस्थिति-जन्य सापेक्ष आवश्यकता नही।* जो सत् है, वह स्वभावत सत् है। वह सार्वभौमिक दृष्टि-कोण से सत् है। वह निरपेक्ष-रूप से सत् है। यदि सदसत् सापेक्ष समझे जाते हैं तो उनका अर्थ ही समाप्त हो जाता है। वे निरपेक्ष हैं। इस प्रकार नीति-शास्त्र का तत्त्व-विद्या से घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योकि तत्त्व-विद्या परम हित का प्रकृत स्वरूप तथा उसका विश्व से सम्बन्ध, इनका अन्वेषण करती है।

मनुष्य, प्रकृति तथा समाज से अपने सम्बन्ध का ज्ञान रखता है। विश्व एक-दूसरे से सयुक्त अशो का एक तन्त्र है, और मनुष्य को उससे अगागिभाव से सम्बन्धित होने की चेतना है। सत्ता का अन्तिम स्वरूप निर्धारित करना तत्त्व-ज्ञान का विषय है। इस प्रकार नीति-शास्त्र दर्शन के अत्यन्त निकट आ जाता है, क्योंकि यह मनुष्य को अपने प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण से सम्बन्धित ही नहीं समझता, बल्कि इसके ज्ञान से युक्त भी। किन्तु, प्राकृतिक विज्ञानो का सम्पूर्ण विश्व से कोई सम्बन्ध नही है। अनुभव के क्षेत्र-विशेष में ही तथ्यो का सामजस्य दिखा देने से उनको सन्तोष हो जाता है। एव, नीति-विज्ञान तत्त्व-विद्या से प्राकृतिक विज्ञानो की अपेक्षा अधिक सम्बन्धित है।

७. नीति-विज्ञान का क्षेत्र।

नीति-विज्ञान का क्षेत्र उसका विषय-विस्तार है। नियामक विज्ञान होने के कारण नीति-शास्त्र नैतिक आदर्श की परिभाषा देने का उपक्रम करता है। इसका मानव-व्यवहार की प्रकृति, उत्पत्ति अथवा विकास से कोई सम्पर्क नहीं। इसका सम्पर्क है उस आदर्श अथवा मानदण्ड से जिससे हमारे व्यवहार का अविरोध होना चाहिए। किन्तु, व्यवहार के आदर्श की परीक्षा करने के पूर्व इसे व्यवहार के स्वभाव से परिचित होना चाहिए। व्यवहार चरित्र का प्रकाशन है। चरित्र सकल्प का अभ्यस्त-रूप है। यह मन की आन्तरिक-वृत्ति अथवा अभ्यस्त-क्रियाओं से उत्पन्न स्थायी प्रवृत्ति है। कभी आचार-शास्त्र को चरित्र का विज्ञान भी कहा जाता है। किन्तु, चरित्र के स्वरूप को जानने के लिए, नीति-विज्ञान को कार्यों के स्रोत, प्रेरणा, अभिप्राय, ऐच्छिक क्रिया, अनैच्छिक क्रिया तथा अन्य ज्ञातव्य वस्तुओं का भी स्वरूप जान लेना चाहिए। इस प्रकार, नीति-शास्त्र की स्थापना मनोवैज्ञानिक आधार पर होनी चाहिए।

किन्तु, नीति-शास्त्र उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक तत्त्वो का ज्ञान उनके ऊपर नैतिक निर्णय देने के हेतु प्राप्त करता है। नीति-शास्त्र की मौलिक समस्या तो नैतिक आदर्श का स्वरूप है, जिसकी तुलना में नैतिक निर्णय दिया जाता है। नैतिक आदर्श

---

* म्यूरहेड · नीति-शास्त्र के तत्त्व, पृष्ठ ३३।

क्या है ? परम मंगल क्या है ? सब कर्मों में किस वस्तु को सत् कहा जाता है ? किन्तु, यद्यपि नीति-शास्त्र परम हित स्वरूप का अनुसन्धान करता है, तथापि यह उसकी सिद्धि के हेतु नियमों की रचना नहीं करता। नीति-शास्त्र नैतिक जीवन के साधनों का अन्वेषण नहीं करता।

जब कोई कर्म नैतिक आदर्श के अनुसार होता है, तो वह सत् होता है, जब उसके विरुद्ध होता है, तो वह असत् कहलाता है। सत्कर्म कर्त्तव्य कहलाते हैं। नैतिक नियमों के द्वारा जिस प्रयोजन की सिद्धि होती है उसे हित कहते हैं। साध्य और साधनों की एक क्रमिक श्रेणी होती है। अतः बहुसंख्यक हित सापेक्ष होते हैं, और एक निरपेक्ष हित होता है। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध निरपेक्ष हित अथवा परम मंगल से होता है। इस प्रकार नीति-शास्त्र के आधार-भूत प्रत्यय 'सत्', 'कर्त्तव्य' और 'शुभ' हैं, जिनके स्वभाव का अनुसंधान यह करता है।

नीति-शास्त्र का सम्बन्ध नैतिक निर्णय के स्वभाव, विषय, नैतिक शक्ति तथा मानदण्ड से है। नैतिक भावनायें, यथा अनुमोदन, अननुमोदन, पश्चात्ताप, तथा ऐसी ही अन्य भावनायें नैतिक निर्णयों की सहगामिनी होती हैं। नीति-शास्त्र नैतिक-भावनाओं की प्रकृति तथा उनका नैतिक निर्णयों से सम्बन्ध का भी विचार करता है। नैतिक बाध्यता अथवा कर्त्तव्य-बुद्धि भी नैतिक निर्णय के साथ रहती है। जब हम किसी वस्तु को सत् देखते हैं, तो हमें उसे करने के लिए नैतिक बाध्यता महसूस होती है; जब हम किसी चीज को असत् देखते हैं, तो उसे न करने के लिए भी नैतिक-बाध्यता महसूस होती है। नीति-शास्त्र को इस कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता की भी व्याख्या करनी होती है। कर्त्तव्य-बुद्धि की प्रकृति क्या है ? इसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इसका स्रोत क्या है ? अपने व्यवहार के लिए हम किसके प्रति उत्तरदायी हैं ?

हमारे सत्कर्मों से पुण्य होता है, असत्कर्मों से पाप होता है। नीति-शास्त्र पुण्य-पाप, धर्माधर्म के लक्षणों का विवेचन करता है। यह, यह जानने का प्रयत्न करता है कि कोई कर्म पुण्य-कर्म क्यों होता है। पुण्य और पाप व्यक्ति की नैतिक योग्यतायें हैं। नीति-शास्त्र उनका भी विचार करता है।

नीति-शास्त्र के लिए इच्छा-स्वातन्त्र्य एक स्वीकृत तत्त्व है। यह मनुष्य के कर्म-स्वातन्त्र्य की प्रकृति का विवेचन करता है। हम अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी हैं। नीति-विज्ञान उत्तरदायित्व के अर्थ का विश्लेषण करता है। अपराधी अपने अपराधों के लिए उत्तरदायी है। अतः वे दण्डनीय हैं। नीति-शास्त्र दण्ड का नैतिक समर्थन का कारण बतलाता है।

नीति-शास्त्र हमें कर्मों और चरित्र के गुणों का स्वरूप बताता है, जो नैतिक मानदण्ड से निश्चित किए गए हैं। चरित्र के गुण और दोष नीति-शास्त्र के क्षेत्र में आते हैं।

यद्यपि नीति-शास्त्र का अपना अलग क्षत्र है, तथापि यह अन्य सब अध्ययन के विषयो से नितान्त विविक्त नही है। इसे परोक्ष-रूप से मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, समाजविज्ञान-सम्बन्धी तथा राजनैतिक, अनेक प्रकार की समस्याओ मे उलझना पडता है। नीति-शास्त्र की मनोवैज्ञानिक समस्यायें ये है—ऐच्छिक कर्म का स्वरूप, कार्यों की प्रेरणाओं का श्रेणी-विभाग, और इच्छा तथा सुख का सम्बन्ध। दार्शनिक समस्यायें हैं—मानव-व्यक्तित्व का तात्विक स्वरूप, इच्छा-स्वातन्त्र्य, आत्मा की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व और पूर्णता, तथा विश्व का नैतिक-नियन्त्रण। समाज-विज्ञान-सम्बन्धी समस्या है, व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध। राजनैतिक समस्यायें हैं— व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध, तथा राज्य का नैतिक आधार और उसके नैतिक कार्य।

८. नीति-शास्त्र की विधियाँ।

नीति-शास्त्रियो के विभिन्न सम्प्रदाय नैतिक-तथ्यो के अनुसधान के लिए अलग-अलग विधियाँ अपनाते हैं। भौतिक तथा जैविक, ऐतिहासिक अथवा जन्म-प्रदर्शक, मनोवैज्ञानिक, और दार्शनिक, इन पद्धतियो का आश्रय वहुत से आचार शास्त्रज्ञो ने लिया है।

भौतिक और जैविक विधि—हर्वर्ट स्पेन्सर नैतिकता का विकास असभ्य-जातियो के व्यवहार से, और निम्न-श्रेणी के प्राणियो के व्यवहार से मानता है, जो सुख लाभ और दु ख-निवृत्ति में सतत यत्नशील रहते हैं। सुख जीवन-शक्ति की वृद्धि का लक्षण है, और दु.ख उसकी न्यूनता का। मूलत जीवन-शक्ति जड द्रव्य और गति का ही एक रूप है। इस प्रकार स्पेन्सर नैतिक नियमों को सामाजिक नियमों से, सामाजिक नियमों को मनोवैज्ञानिक नियमों से, मनोवैज्ञानिक नियमो को जैविक नियमो से, और जैविक नियमों को भौतिक नियमो से निगमन करता है। उसके मत से नीति-शास्त्र एक प्राकृतिक अथवा विधायक विज्ञान है।

नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान या आदर्श-विज्ञान है। यह आदश का विज्ञान है। आदर्श का विकास तथ्यो से असम्भव है। नैतिक तथ्यों का इतिहास उनका प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर सकता। प्राकृतिक विज्ञानो की पद्धति से नीति-शास्त्र मनुष्य के उच्चतम कल्याण को नहीं समझ सकता। नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है, अत. इसकी पद्धति भौतिक अथवा जैविक नही हो सकती। नैतिकता अपने क़िस्म की एक ही वस्तु है। वह भौतिक, जैविक तथा सामाजिक वस्तुओं से पृथक् है। नीति-विज्ञान वास्तविक तथ्यो का अनुसधान नहीं करता, परन्तु आदर्श का अनुसधान करता है।

ऐतिहासिक अथवा उत्पत्ति-प्रदर्शक विधि—हर्वर्टस पेन्सर, लेसली स्टीफेन तथा अन्य उत्क्रान्तिवादी इस मत के समर्थक है कि नैतिक प्रत्यय क्रमिक-रूप से आदिम

मनुष्यों के असंस्कृत रीति-रिवाजों से विकसित हुए हैं। नैतिकता सामाजिक उत्क्रान्ति का परिणाम है। नीति-शास्त्र का कार्य है नैतिक विचारों की उत्पत्ति और विकास की व्याख्या करना। नीति-शास्त्र समाज-विज्ञान का एक अंग है। इसकी पद्धति समाज-वैज्ञानिक, ऐतिहासिक अथवा जन्म-प्रदर्शक है।

यह मत भ्रान्त है। नीति-शास्त्र प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न एक नियामक विज्ञान है। इसका कार्य नैतिक विचारों की उत्पत्ति तथा विकास दिखाना नहीं, बल्कि नैतिक आदर्श की तुलना में उनका मूल्यांकन करना है। नैतिकता अनैतिक वस्तुओं से विकसित नहीं हो सकती। नैतिक आदर्श की प्राप्ति वास्तविक तथ्यों से नहीं हो सकती। नीति-शास्त्र आलोच्य विषय ऐतिहासिक तथ्य नहीं, बल्कि उनका शाश्वत अर्थ और व्याख्या है। वास्तविक की आदर्श से तुलना इसका ध्येय है। नैतिक आदर्श का अन्वेषण इस पद्धति से हो सकना असम्भव है। ऐतिहासिक विधि तथ्यों का स्वरूप बतला सकती है,—आदर्श का नहीं।

मनोवैज्ञानिक विधि—ह्यूम, बेन्थम, मिल, बेन तथा अन्य विद्वानों का मत है कि नैतिक तथ्य चेतना के तथ्य हैं, और उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन हो सकता है। नीति-शास्त्र को मनोवैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करना चाहिये, और मनुष्य के परम मंगल का निर्धारण, मानव-कर्मों के प्रेरणाओं के विश्लेषण तथा सहानुभूति, अन्तःकरण इत्यादि की उत्पत्ति के अन्वेषण के द्वारा करना चाहिये। उनके सुखवाद का नैतिक सिद्धान्त अर्थात् सुख ही परम मंगल है इस वास्तविक तथ्य के ऊपर आधारित है कि सब मनुष्य स्वभावतः सुख की खोज और दुःख का परित्याग करते हैं।

यह मत भी भ्रमपूर्ण है। मनोविज्ञान यथार्थ मानसिक तथ्यों का विचार करता है। नीति-शास्त्र उस आदर्श से सम्बन्ध रखता है, हमें अपने कार्यों में जिसका अनुसरण करना चाहिये। आदर्श की वास्तविक तथ्यों से व्याख्या नहीं हो सकती। मनोविज्ञान नैतिक तथ्यों की प्रकृति का अन्वेषण और उनका उनके घटकों में विश्लेषण कर सकता है। किन्तु, यह उनका अर्थ और प्रामाण्य बिना नैतिक आदर्श की ओर संकेत किये नहीं बता सकता। नैतिक तथ्यों की मनोवैज्ञानिक उत्पत्ति उनके नैतिक मूल्य का कारण नहीं बता सकती। प्रत्येक सुख की इच्छा करता है, यह तथ्य सुख के वांछितत्व को नहीं सिद्ध कर सकता। एक वास्तविक तथ्य का कथन-मात्र है, दूसरा आदर्श का। वास्तविक तथ्य आदर्श को नहीं समझा सकता।

दार्शनिक विधि—हेगेल, ग्रीन तथा अन्य प्रत्ययवादियों (Idealists) का मत है कि मनुष्य का नैतिक आदर्श सम्पूर्ण विश्व की प्रकृति से अनुमित हो सकता है। अन्तिम सद्वस्तु निरपेक्ष ब्रह्म है। यह वह शाश्वत असीम आत्मा है जो स्वयं को प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त करता है और ससीम मानवीय जीवात्माओं में जन्म धारण करता है। इस प्रकार, मनुष्य की आत्मा प्रकृति से अतीत है, ईश्वर का

समस्वभाव है, और शनै शनै ईश्वर के द्वारा प्रकाशित आदर्श की सिद्धि करता है। मनुष्य के अन्दर जो नैतिक आदर्श है वह उस ईश्वर का अपूर्ण प्रतिविम्ब है, जो नैतिक पूर्णता की शाश्वत प्रतिमा है। यह आदर्श ईश्वरीय पूर्णता का एक प्रकाशन-मात्र है। नीति-शास्त्र का आधार दर्शन या तत्त्वविद्या है। अत इसकी विधि दार्शनिक विधि है।

यह मत भी भ्रान्तिपूर्ण है। नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है। इसका सम्बन्ध नैतिक आदर्श से है। इसलिये, इसकी पद्धति प्राकृतिक विज्ञानो के द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्षमूलक-पद्धति नही है। साथ ही यह दार्शनिक पद्धति भी नहीं हो सकती। नीति-शास्त्र दर्शन का अग नहीं है। दर्शन से इसका निकट सम्बन्ध अवश्य है। दर्शन इसका आधार नहीं है। दर्शन का यह आधार है। यह नैतिक आदर्श की खोज करता है। दर्शन प्राकृतिक और नियामक दोनो प्रकार के विज्ञानों पर आश्रित है। यह तथ्यो और आदर्शो को एक सवादित-तन्त्र में सगठित करता है।

नीति-शास्त्र की विधि अनुभव-मूलक और अनुभवातीत दोनो है—नीति-शास्त्र की सच्ची पद्धति वैज्ञानिक भी है और दार्शनिक भी, अनुभवमूलक भी और अनुभवातीत भी। म्यूरहेड का विचार है कि दूसरे विज्ञानों के समान नीति-विज्ञान भी नैतिक तथ्यों का सम्यक् पर्यवेक्षण, श्रेणी-विभाग और व्याख्या करता है। किन्तु, यह उनकी व्याख्या अन्य पूर्ववर्त्ती तथ्यों से सम्बन्ध-निर्देश द्वारा नही करता। यह एक निम्न-श्रेणी की व्याख्या है। किन्तु, नीति-शास्त्र नैतिक तथ्यो को विश्व-तत्र के आवश्यक अवियोज्य भाग दिखाकर उनकी व्याख्या करता है। इस प्रकार नैतिक-तथ्यो का केवल दूसरे तथ्यों से ही नही, बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध दिखाया जाता है। यह उच्च-श्रेणी की व्याख्या है। दूसरे शब्दो में, नीति-शास्त्र की विधि वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों हैं। यह नैतिक तथ्यो का पर्यवेक्षण और वर्गीकरण करता है तथा एक तत्र से उन्हें सम्बन्धित करता है। नैतिक आदर्श विश्व-तन्त्र का एक आवश्यक घटक है। उसी के प्रकाश में नीति-शास्त्र नैतिक तथ्यो का अर्थ और व्याख्या करता है।

जेम्स सेथ (James Seth) का भी यही मत है। वैज्ञानिक पद्धति सदा एक-सी होती है। यह सामान्य बुद्धि के निर्णयो को एक तन्त्र में सगठित करती है। जिस प्रकार अन्य विज्ञान वास्तविकता-सम्बन्धी सामान्य बुद्धि के निर्णयो को तत्र-बद्ध करते हैं, उसी प्रकार नीति-शास्त्र नैतिक-मूल्य-सम्बन्धी सामान्य-बुद्धि के निर्णयो को तत्र-बद्ध करता है। किन्तु, इस वैज्ञानिक पद्धति का दार्शनिक पद्धति से योग होना चाहिये। सेथ कहता है कि नीति-शास्त्र का सकीर्ण वैज्ञानिक कार्य के अतिरिक्त व्यापक दार्शनिक कार्य भी है। तथ्य-सूचक निर्णय वर्णनात्मक होता है, मूल्यसूचक-निर्णय विवेचनात्मक। परवर्त्ती निर्णय का दृष्टिकोण प्रत्यक्षमूलक नही, प्रत्यक्षातीत होता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ऐसे निर्णयों का सगठन करने वाला विज्ञान भी दर्शन के समान प्रत्यक्षातीत होगा। वुन्ट्ट् (Wundt) का भी यही मत है कि नीति-शास्त्र की विधि वैज्ञानिक और दार्शनिक, अनुभवमूलक और अनुभवातीत, प्रत्यक्ष-मूलक और विचारमूलक दोनों है।

९. नीति-शास्त्र का उद्देश्य।

नीति-शास्त्र का उद्देश्य समाज के एक सदस्य के रूप में मनुष्य के परम हित के स्वरूप को निश्चित करना है। यह परम कल्याण का अनुसंधान करता है, जो सर्वोच्च व्यक्तिगत और सामाजिक हित है। यही सब नैतिक विभिन्नताओं का मूल है। व्यवहार की अच्छाई और बुराई के प्रयत्नों का यही स्रोत है। नीति-शास्त्र का सैद्धान्तिक उद्देश्य यही है। यद्यपि नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नहीं है, तथापि वह सर्वोच्च हित के विचार से मूर्त कर्त्तव्यों और चरित्र-गुणों का अनुमान करता है। यही व्यवहार को नियमित करने में हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं। नीति-शास्त्र सैद्धान्तिक विज्ञान है, व्यावहारिक नहीं। यह नैतिक जीवन यापन करने की प्रणाली नहीं बताता। फिर भी सर्वोच्च हित से अनुमित कर्त्तव्य और चरित्र-गुण हमारे क्रियात्मक जीवन और व्यवहार के नियन्त्रण पर परोक्ष-रूप से प्रभाव डालते हैं। क्रिया सिद्धान्त का प्रकाशन है। नीति-शास्त्र नैतिकता की मीमांसा है। यह नैतिक विश्वास को विवेक में परिणत करता है। यह नैतिकता के सामान्य प्रत्ययों की आलोचना करता है और उनके युक्तियुक्त तथा आवश्यक तत्वों को ढूंढ़ता है। नीति-विज्ञान चिन्तनात्मक विज्ञान है, व्यावहारिक नहीं।

१०. नीति शास्त्र के अध्ययन से लाभ।

विज्ञान लौकिक बुद्धि की आलोचना है। अतः नीति-शास्त्र अस्पष्ट और कभी कभी भ्रान्त, प्रचलित सदसत् विषयक धारणाओं का खण्डन करता है। यह सामाजिक-रीति और प्रचलनों के, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक प्रथाओं के दोषों और विकारों को प्रकाश में लाता है, तथा नैतिक-आदर्श के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारे विवेक को जाग्रत करता है। इसकी आलोचना का परिणाम विविध भ्रान्त धारणाओं का निराकरण तथा लोकप्रिय विश्वासों के विकारों का परित्याग होता है।

भ्रान्तियों के निरसन के फलस्वरूप कुछ भ्रामक तथा अवैज्ञानिक वाद तो समाप्त हो जायेंगे। कठोर विचारों के परित्याग से दोषपूर्ण भावों की सम्भावना कम हो जाती है।

नीति-शास्त्र तात्त्विक नैतिकता के रूप पर आक्रमण करता है, दोनों के दोषों को दूर करता है, तथा नैतिकता में जो कुछ भी आवश्यक और प्रामाणिक है उसे सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित कर देता है। बुद्धियुक्त आलोचना के द्वारा नीति-शास्त्र पूर्वाग्रह

कार्य के लिये तत्पर हो जाता है। यह नैतिकता में आवश्यक को अनावश्यक से, शाश्वत को परिवर्तनशील से, सार को असार से विविक्त करके मानव-स्वभाव में व्याप्त तत्व को वह सम्मान तथा पवित्रता प्रदान करता है जो कि परम्परा-मात्र होने से उसे प्राप्त नही थे।❀

कर्त्तव्यो में नैतिक-अन्तर्दृष्टि के द्वारा उचित आचरण सम्भव हो जाता है। अवश्यभावि-रूप से सिद्धान्त क्रिया को प्रभावित करता है। सक्रेटिस का सिद्धान्त—"ज्ञान ही धर्म है"—कम से कम एक सीमा तक ठीक है। सैद्धान्तिक नीति-शास्त्र व्यावहारिक नीति-शास्त्र का सुदृढ़ आधार है। नैतिक आदर्श के द्वारा कर्त्तव्यो का निर्धारण करना चाहिये।

परोक्ष-रूप से नीति-शास्त्र हमारे व्यावहारिक जीवन के सभी अंगो पर प्रभाव डालता है। धर्म, राजनीति, अर्थशास्त्र, विधान, शिक्षा इत्यादि की महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समुचित हल सदसत् के अभ्रान्त विचारों पर आश्रित है। धर्म का आधार नीति-शास्त्र होना चाहिये। नैतिकता से विविक्त धर्म विवेकशून्य अतिमानवीय-शक्ति, जादू-टोना और अन्य अन्ध-विश्वासो में पतित हो जाता है। राजनीति का निर्माण नीति-शास्त्र के द्वारा होना चाहिये। शक्ति का आधार नीति होना चाहिये। अनैतिक नियमों का भजन होना चाहिये। जनता के नैतिक स्वास्थ्य की उन्नति के हेतु विधान बनना चाहिये। अर्थशास्त्र का आधार नीति-शास्त्र होना चाहिये। सम्पत्ति का उत्पादन, वितरण और भोग, न्याय तथा साम्य के आधार पर होना चाहिये। शिक्षा के क्षेत्र में नीति-शास्त्र ही निर्णय करेगा कि बालको की किन प्रवृत्तियो की वृद्धि तथा किनका निग्रह होना चाहिये, नीति-शास्त्र को मानव-कार्य के सभी विभागों का आलिंगन करना चाहिये, और उनका परिष्कार करते हुये मानव-जाति को उच्चतर स्तर पर पहुचा देना चाहिये। नीति राजनीति, अर्थनीति, सामाजिक जीवन तथा धर्म का आधार है, नीति-विरुद्ध मनुष्य जीवन पशु जीवन है। मनुष्योचित जीवन नैतिक है।

अध्याय २

नीति-शास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

१. नीति शास्त्र का भौतिक विज्ञानों से सम्बन्ध

भौतिक विज्ञान भौतिक परिस्थितियों का विचार करते हैं। नीति-शास्त्र नैतिकता का विचार करता है। किन्तु, नैतिक जीवन प्राकृतिक स्थितियों में व्यतीत होता है। इसका भौतिक वातावरण से विच्छेद नहीं हो सकता। प्रकृति के नियमों का ज्ञान हमें निर्भीक बना देता है। सागर, आकाश, पर्वत, और मरुस्थल फिर हमें भयानक प्रतीत नहीं होते। ज्ञान शक्ति है। प्रकृति के रहस्यों का ज्ञान परोक्ष-रूप से हमारे नैतिक जीवन को प्रभावान्वित करता है। भौतिक विज्ञान हमें भौतिक वातावरण को समझने में सहायक होते हैं, जिनके मध्य हमारा नैतिक-जीवन-यापन होता है। वे स्वयं नैतिक जीवन के स्वरूप का अन्वेषण नहीं करते। इस प्रकार नीति-शास्त्र परोक्षत भौतिक विज्ञानों से सम्बन्धित है। नीति-शास्त्र का भौतिक विज्ञानों से सम्बन्ध घनिष्ट नहीं है।

२. नीति-शास्त्र का जीव विज्ञान से सम्बन्ध।

नीति-शास्त्र नैतिकता अथवा मानव-व्यवहार का विज्ञान है। मानव-जीवन मानसिक जीवन मात्र नहीं है, शारीरिक जीवन भी है। मन का शरीर से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। कई कर्त्तव्यों (उदाहरणार्थ मिताहार) के आधार शारीरिक हेतु हैं, तथा बिना उनसे सम्बन्ध दिखाये वे बुद्धिगम्य नहीं हो सकते। इस प्रकार नैतिक-जीवन का शारीरिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है, तथा नीति-शास्त्र परोक्ष जीव-विज्ञान से सम्बन्धित है।

किन्तु, हर्बर्ट स्पेन्सर की यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है कि शुभ अथवा अशुभ व्यवहार का लक्षण जीवन के विकास का उत्कर्ष अथवा अवरोध करने की प्रवृत्ति में निहित है। नैतिकता की कुञ्जी शरीर के जीवन में अप्राप्य है। विवेक-युक्त इच्छा के अभाव में नैतिक व्यवहार अर्थ-शून्य हो जाता है। शारीरिक जीवन का विकास जीवन के महान् उद्देश्य का एक अङ्गमात्र है। इस प्रकार जीव-विज्ञान का नीति-शास्त्र पर सीधा प्रभाव नहीं है।

३. नीति शास्त्र का मनोविज्ञान से सम्बन्ध।

नीति-शास्त्र व्यवहार का नियामक विज्ञान है। यह मानव-जीवन के परम लक्ष्य—परम शिव का स्वरूप निर्णय करता है। यह उन कसौटियों के मानदण्ड को स्थिर करता है, जिनके द्वारा हमारे आचरणों और कार्यों का निर्णय होना चाहिये। यह हम सबको शिक्षा देता है कि हमें कैसे आचरण करना चाहिये। किन्तु, इस निश्चय के पूर्व हमें यह जानना चाहिये कि हम वस्तुतः क्या करते हैं? और मनोविज्ञान हमें बतलाता है कि हमारा वास्तविक आचरण कैसा होता है। इस प्रकार

नीति-शास्त्र मनोविज्ञान पर आधारित है। यह इच्छा-शक्ति के मनोविज्ञान का आश्रय लेता है। मनोविज्ञान नीति-शास्त्र का आधार है। अत नीति-शास्त्र नैतिकता के मनोवैज्ञानिक आधार का अध्ययन करता है।

सकल्प-शक्ति के स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण, ऐच्छिक क्रिया की प्रवर्तनाओं, कामना, प्रयोजन, अभिप्राय, सुख इत्यादि से सम्बन्ध, नैतिक और अनैतिक कार्यों का भेद, अन्त करण अथवा नैतिक-शक्ति का स्वरूप, बुद्धि और सकल्प का सम्बन्ध, इच्छा की स्वाधीनता इत्यादि मानव-व्यवहार के उचित मूल्यांकन तथा परम-हित के स्वरूप-निर्णय के लिये नितान्त आवश्यक हैं। ये मनोवैज्ञानिक समस्यायें हैं जिनका नीति-शास्त्र भी अध्ययन करता है। दोषपूर्ण मनोविज्ञान दोषपूर्ण नीति-शास्त्र को जन्म देगा। इस प्रकार नीति-शास्त्र मनोविज्ञान पर आश्रित है।

किन्तु, यद्यपि नीति-शास्त्र का निर्माण मनोविज्ञान पर होता है, तथापि दोनो में अन्तर है। मनोविज्ञान का विस्तार नीति-शास्त्र से अधिक व्यापक है। मनोविज्ञान सब मानसिक प्रतिक्रियाओ का अर्थात् ज्ञान, अनुभूति और सकल्प का विज्ञान है। नीति-शास्त्र केवल सकल्प से सम्बन्ध रखता है। यह ज्ञान और अनुभूति का अध्यय नही करता। अथवा यह उनका वहीं तक अध्ययन करता है जहाँ तक सकल्प और क्रिया से उनका सम्बन्ध है। नीति-शास्त्र मानव-अनुभव को किसी उद्देश्य अथवा आदर्श के अनुसरण के हेतु क्रिया के रूप में देखता है।

किन्तु, यद्यपि मनोविज्ञान और नीति-शास्त्र दोनो सकल्प का अध्ययन करते हैं, तथापि-नीति-शास्त्र को सकल्प के मनोविज्ञान के साथ एकीकृत नही किया जा सकता। मनोविज्ञान तथ्य-विज्ञान या विधायक विज्ञान है, और नीति-शास्त्र आदर्श-विज्ञान या नियामक-विज्ञान। स्टाउट (Stout) कहता है कि मनोविज्ञान सकल्प के अध्ययन में उन शर्तों का अध्ययन छोड देता है जिनसे सदसत् का विचार होता है। मनोविज्ञान वास्तविक सकल्पो का अध्ययन करता है, नीति-शास्त्र सकल्प के आदर्श का।* मनोविज्ञान विधायक विज्ञान के रूप में सैद्धान्तिक ज्ञान के लिये सब मानसिक प्रतिक्रियाओ का अध्ययन करता है। नीति-शास्त्र के नियामक विज्ञान के रूप में नैतिक जीवन के तथ्यो की जीवन के आदर्श की तुलना में व्याख्या करता है। नैतिक तथ्य मानसिक तथ्य है, इसलिये वे मनोविज्ञान के क्षेत्र के अन्दर आते हैं। किन्तु, मनोविज्ञान उनका अध्ययन केवल मानसिक तथ्यो के रूप में करता है, नैतिक तथ्यो के रूप में नही। यह उनका अध्ययन विना उनका नैतिक अर्थ ग्रहण किये करता है। किन्तु नीति-शास्त्र पूर्णतया आदर्श का विज्ञान है।†

कुछ नीति-शास्त्र (यथा, सुखवादी) नीति-शास्त्र को मनोविज्ञान की शाखा

* मनोविज्ञान, १९१०, पृ० ६।

† सेथ।

मानते हैं । वे 'है' (is) और 'होना चाहिये' (ought) के भेद को भूल जाते हैं । वे नियामक विज्ञान के रूप में नीति-शास्त्र के विशिष्ट लक्षण को छोड देते हैं । नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान है । वह मनोविज्ञान की शाखा-मात्र नही हो सकता ।

४. नीति-शास्त्र का समाज-विज्ञान से सम्बन्ध ।

नीति-शास्त्र मनुष्य के व्यवहार का नियामक विज्ञान है । किन्तु, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । वह समाज से विच्छिन्न होकर नही रह सकता । वह अपनी मानसिक तथा नैतिक सम्पत्ति के बहुत बडे अंश के लिये समाज का ऋणी है । व्यक्ति समाज में प्रचलित प्रथाओ तथा रीतियो से सदसत्, शुभाशुभ के प्रत्ययो को ग्रहण करता है । समाज से पृथक् मानव एक काल्पनिक जीव है, वास्तविक नही । पुन , सामाजिक प्रगति व्यक्तियों की नैतिक अंतर्दृष्टि पर अवलम्बित है । नैतिक-सुधारको की कल्पनाओ से समाज की नैतिक-प्रगति का निर्धारण होता है । एव, व्यक्ति और समाज एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । नीति-शास्त्र व्यक्ति की नैतिकता का विज्ञान है । समाज-विज्ञान मानव-समाज की रचना, उत्पत्ति और विकास का विज्ञान है । यह सामाजिक समूहों का प्राकृतिक इतिहास है । यह सामाजिक समूहो की उत्पत्ति, वृद्धि, और रीति तथा प्रथाओं से जनित परिवर्तनो के द्वारा उनका जो विकास होता है उसका अध्ययन करता है । इस प्रकार नीति-शास्त्र का समाज-विज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध है ।

समाज-विज्ञान, असभ्य-दशा से लेकर सभ्य-दशा तक मानव-समाज के विकास की जितनी भी श्रेणियाँ हैं, उनकी आदर्तो, रीतियो, प्रथाओ, और सस्थाओ का अनुसधान करता है । वह विभिन्न सोपानो से होते हुये वर्तमान-दशा-पर्यन्त सामाजिक सस्थाओ की उत्पत्ति और विकास के क्रम का अन्वेषण करता है

नीति-शास्त्र समाज-विज्ञान से घनिष्ट-रूप से सम्बन्धित है । नीति-शास्त्र व्यवित के सर्वोच्च हित की प्रकृति का निर्धारण करता है । परन्तु, व्यक्ति समाज का अविच्छेद्य अग है । समाज से अलग उसकी कल्पना नही की जा सकती । व्यक्ति समाज-रूपी शरीर से अन्योन्याश्रित सदस्य हैं । इस प्रकार, व्यवित का परम हित समाज के परम हित क ऊपर निर्भर है । व्यक्तिगत-हित का लोक-हित अथवा सामाजिक हित से अविरोध होना चाहिये । मुख्यतया नीति-शास्त्र का व्यक्ति के व्यवहार से सम्वन्ध है । समाज-विज्ञान व्यवित के व्यवहार को प्रभावित करने वाले समाज के व्यवहार से सम्बन्धित है । हम व्यक्ति को समाज के सदस्य-रूप में मात्र जानते है । उसके अधिकाश चरित्र-गुण अन्य व्यक्तियो के सम्पर्क में प्रदर्शित होते हैं । अत मनुष्य के परम मगल को सामाजिक सम्बन्धो से स्वतत्र मानना भ्रान्ति-पूर्ण है ।* इस प्रकार नीति-विज्ञान सामाजिक सम्बन्धो में आवद्ध व्यक्ति के परम हित के स्वरूप-निर्धारण के लिये समाज-विज्ञान पर आश्रित है ।

---

* सिजविक ।

समाज-विज्ञान एक विधायक विज्ञान है। इसका केवल-मात्र उद्देश्य सामाजिक समूहों की आदतो, रीतियो, प्रथाओ और सस्थाओ की प्रकृति, उत्पत्ति और विकास का अनुसधान है। यह उनके नैतिक मान का विचार नही करता। समाज-विज्ञान उनके नैतिक मूल्यांकन के लिये नीति-विज्ञान का आश्रय लेता है। समाज-विज्ञान उन्हें केवल प्राकृतिक तथ्यो के रूप में ग्रहण करता है। नीति-विज्ञान उनके नैतिक मूल्य अर्थात् अच्छाई बुराई का विचार करता है।

नीति-विज्ञान और समाज-विज्ञान के घनिष्ट सम्बन्ध के कारण कुछ नीति-शास्त्री (यथा, विकासात्मक सुखवादी) नीति-विज्ञान को समाज-विज्ञान की शाखा मानते हैं। उनका मत है कि नैतिकता सामाजिक विकास का परिणाम है। वे नैतिक हित की परिकल्पना का अन्तिम स्रोत पशुओं के व्यवहार में देखते हैं। वे वास्तविक तथ्यो के आदर्श को सिद्ध करने का निरर्थक प्रयास करते हैं।

किन्तु, यह वाद भ्रान्तिपूर्ण है। आदर्श, तथ्यो से, 'होना चाहिये' (ought) 'है' (is) से नहीं सिद्ध हो सकता। समाज-विज्ञान एक विधायक विज्ञान है। यह मानव-समाज के रिवाजो और सस्थाओ की उत्पत्ति, वृद्धि और विकास के कारणो को खोजता है। किन्तु, नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है। यह परम हित के स्वभाव का निर्धारण करता है, और इसकी तुलना में प्रथाओ और सस्थाओ के नैतिक मूल्य का निर्णय करता है। अत नीति-शास्त्र समाज-विज्ञान का अग कदापि नही हो सकता।

समाज-विज्ञान से सम्बन्धित होते हुये भी यह उसका अग नही है। दोनो के मुख्य अन्तर ये हैं। समाज विज्ञान तथ्य-विज्ञान या विधायक विज्ञान है, जब कि नीति-शास्त्र आदर्श-विज्ञान या नियामक विज्ञान है। समाज-विज्ञान सामाजिक समूहो से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यो का विवरण देता है। नीति-विज्ञान उनके ऊपर मूल्याकन-सम्बन्धी निर्णय देता है, और नैतिक आदर्श की तुलना में उनका अर्थ बताता है। यह प्रचलनो, रीतियो और सस्थाओ का नैतिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करता है और उन्हें नीतिसम्मत अथवा नीतिविरुद्ध रूप में दिखलाता है।

समाज-विज्ञान एक सैद्धान्तिक मीमांसा-मात्र है। नीति-विज्ञान नियामक विज्ञान है और इसका हमारे व्यवहारिक जीवन पर प्रभाव पडता है। यह परम हित से कर्त्तव्य और अधिकारों का अनुमान करता है, हमारे चरित्र के गुणो को निर्धारित करता है, राज्य के नैतिक कार्यो का निर्देश करता है, सामाजिक रीतियो, राजनैतिक नियमो, विधान तथा सस्थाओ के नैतिक मूल्य को स्थिर करता है।

समाज-विज्ञान सैद्धान्तिक-विज्ञान-मात्र है, जबकि नीति-शास्त्र तत्त्व-विद्या से निकटतः सम्बन्धित है। नीति-शास्त्र नैतिक आदर्श का विज्ञान है। दर्शन नैतिक आदर्श की प्रामाणिकता तथा परम सत्ता से उसके सम्बन्ध का निरूपण करता है। इस प्रकार नीति-शास्त्र का दर्शन से घनिष्ट सम्बन्ध है। परन्तु, समाज-विज्ञान पूर्णतया सैद्धान्तिक या चिन्तनात्मक विज्ञान है।

समाज विज्ञान प्रथा सस्थाओं में अभिव्यक्त सामाजिक अथवा सामूहिक मन का अध्ययन करता है। नीति-विज्ञान का प्रारम्भिक कार्य समाज से स्वतन्त्र रूप म नही, बल्कि समाज के सदस्य के रूप में व्यक्तिगत मन का अध्ययन है। सामूहिक या समाज-मन समाज-विज्ञान का विषय है वैयक्तिक मन नीति-विज्ञान का विषय है।

समाज-विज्ञान विषयात्मक मानसिक विज्ञान है। यह वाह्य मानसिक फलो का, यथा, रीति-रिवाज, नियम, सस्था इत्यादि का अध्ययन करता है। नीति-विज्ञान अन्तरात्मक मानसिक विज्ञान है। यह व्यक्ति के सकल्पात्मक व्यवहार का, विशेषतया उसके आन्तरिक प्रवृत्ति, अभिप्राय, इच्छा और सकल्पो से सम्बन्धित-रूप में अध्ययन करता है। इस प्रकार नीति-शास्त्र समाज-विज्ञान की शाखा कदापि नहीं हो सकता।

५ नीति-विज्ञान का राष्ट्र-विज्ञान से सम्बन्ध।

राष्ट्र-विज्ञान शासन का विज्ञान है। यह सरकार की रचना और कार्यों का वर्णन करता है। यह एक नियामक विज्ञान है। यह विधान निर्माण और सस्थाओ का सगठन करता है। यह व्यक्ति के व्यवहार का लोकोपयोगिता के दृष्टिकोण से नियन्त्रण करता है। सरकार मनुष्यो की अपने लाभ के लिये निर्माण की हुई एक सस्था है। यह जन-हित के लिये कानून बनाती है और दण्ड का भय देकर उनको लोगो के ऊपर लागू करती है। राष्ट्र-विज्ञान जन-हित को लक्ष्य बनाते हुए नीति-शास्त्र से निकटत सम्बन्धित है। सकुचित अर्थ में, राष्ट्र-विज्ञान का लक्ष्य ऐसे क़ानूनो का निर्माण है जो कि राज्य के अन्दर व्यक्ति की सुरक्षा और सम्पत्ति-रक्षा का आश्वासन दिलायें। सरकार को क़ानून बनाना चाहिये और नैतिक सिद्धान्तो के अनुसार सस्थाओ की स्थापना और रक्षा करनी चाहिये। नैतिक आधार के अभाव में क़ानून और सस्थायें दीर्घजीवी नही हो सकतीं।* सरकारो का पथ-प्रदर्शन अपने वहुसख्यक सम्बन्धो और क्रिया-कलाप में नैतिकता के नियमो के द्वारा होना चाहिये। उन्हे नैतिक-विचारो की अवहेलना नही करनी चाहिये। राज्य का नैतिक-आधार आम जनता की सम्पत्ति है। इसकी शक्ति और सुरक्षा निरकुश शासन पर नही, बल्कि जनता की इच्छा पर अवलम्बित है। व्यापक अर्थ में, राष्ट्र-विज्ञान का उद्देश्य समाज की वह आदर्श-व्यवस्था है जो व्यक्ति को अपने उच्चतम लक्ष्यो को सम्पादित करने में समर्थ बनाने के हेतु सर्वोत्कृष्ट हो।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। एकान्तवासी मनुष्य सर्वथा अचिन्तनीय है। इसीलिये अरिस्टट्ल ने मनुष्य को एक राजनैतिक प्राणी कहा है। नैतिक जीवन राज्य से बाहर नहीं व्यतीत किया जाता। इसका यापन किसी न किसी प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था के अन्दर होता है। यद्यपि नैतिक जीवन राजनैतिक जीवन से एकाकार नही है, तथापि उसका एक भाग अवश्य है। नैतिक व्यवहार की राजनैतिक

---

* ए. सी. मिश्र नीति-शास्त्र के तत्त्व, पृ० ७४।

जीवन से घनिष्टता है। कर्त्तव्य और अधिकारो का सरक्षण राज्य के ही द्वारा होता है। धर्म राज्य के आपेक्षिक हैं। अत नीति शास्त्र का राष्ट्र-विज्ञान से सम्बन्ध है।

नीति-शास्त्र तथा राष्ट्र-विज्ञान दोनो मानव-चरित्र और व्यवहार का मानव-मगल-साधन के दृष्टिकोण मे विचार करते है। दोनो उनको सामाजिक सम्बन्धो से निर्धारित होने वाले तथा सामाजिक सम्बन्धो को निर्धारित करने वालो के रूप में ग्रहण करते हैं।❀ परन्तु, नीति और राष्ट्र-विज्ञान में कोई भी किसी की शाखा नही है।

दोनों में महत्वपूर्ण अन्तर है। नीति-शास्त्र और राष्ट्र-विज्ञान के मानदण्ड भिन्न भिन्न हैं। नीति-शास्त्र का मानदण्ड नैतिक पूर्णता है, जबकि राष्ट्र-विज्ञान का लोकोपयोगिता है। राष्ट्र-विज्ञान लक्ष्य जनता का कल्याण है। नीति-शास्त्र का लक्ष्य व्यक्ति का नैतिक उत्कर्ष है। नीति-शास्त्र का ध्येय है धर्म या नैतिक उत्कर्ष, राष्ट्र-विज्ञान का समाज-कल्याण या लाभ।

राजनैतिक नियमो को दण्ड-भय से लागू किया जाता है। राजनैतिक नियमों के उल्लघन का परिणाम दण्ड होता है। परन्तु, नैतिक-नियमो का पालन ऐच्छिक स्वीकृति से होता है। राज्य का अन्तिम अवलम्बन बल-प्रयोग है। नैतिकता सकल्प की स्वाधीनता पर आधारित है। बल-प्रयोग से नैतिकता नष्ट हो जाती है। राज्य राजनैतिक नियमो को बाहर से लादता है, नैतिक नियमों को आत्मा स्वत अपने ऊपर लादती है।

राष्ट्र-विज्ञान बाह्य-वस्तु विषयक विज्ञान है ; नीति-शास्त्र अन्तर-विषयक। राष्ट्र-विज्ञान जन-हित-सम्बन्धी, मनुष्यो की बाह्य क्रियाओ का विचार करता है। किन्तु नीति-शास्त्र आन्तरिक प्रवृत्तियों और अभिप्रायो का उनको अभिव्यक्त करने वाले कार्यों के सहित विचार करता है। कानून व्यवहार के दृश्य परिणामो से अथवा अधिक से अधिक आन्तरिक अभिप्रायो से सम्पर्क रखता है, जबकि नीति-शास्त्र और अधिक गहराई में उतर कर प्रेरणाओ तथा अभिप्रायो पर भी विचार करता है। नीति-शास्त्र मानस प्रेरणाओं से लेकर दूसरो को प्रभावित करने वाले स्थूल-व्यवहार-पर्यन्त का विचार करता है।† राष्ट्र-विज्ञान व्यक्ति के आन्तरिक जीवन को अछूता छोड देता है। कानून बना कर मनुष्य को नैतिक नही बनाया जा सकता। कानून के भय से कुकार्य न करने वाला नैतिक पुरुष नहीं है। नीति-शास्त्र व्यवहार के आन्तरिक-पक्ष से कार्य का विचार करता है, राष्ट्र-विज्ञान बाह्य-पक्ष से।‡

राष्ट्र-विज्ञान सामूहिक मन से सम्बन्ध रखता है, क्योकि यह मानव-कर्मो के

❀ नीति-शास्त्र के तत्त्व, पृष्ठ ३९।

† नीति-शास्त्र के तत्त्व, ३९।

‡ नीति-शास्त्र के तत्त्व पृ० ४०।

समूह के ऊपर पड़ने वाले प्रभावो का विचार करता है। नीति-शास्त्र स्वय अपने लिए नैतिक मूल्य रखने वाले वैयक्तिक मन का विचार करता है। राष्ट्र-विज्ञान का लक्ष्य जन-हित है। नीति-शास्त्र का लक्ष्य व्यक्तिगत हित है। इसका ध्येय मनुष्य का परम कल्याण है।

राष्ट्र-विज्ञान की अपेक्षा नीति-शास्त्र का अधिकार-क्षेत्र अधिक व्यापक है। राजनैतिक नियम नैतिक नियमो से निम्न-कोटि के होते है। नीति शास्त्र उनकी अच्छाई बुराई का विवेचन करता है। नीति-शास्त्र राजनैतिक नियमो के ऊपर निर्णय देने का अधिकार रखता है। आधुनिक सभ्य शासन-सत्तायें जनता की सामान्य नैतिक-इच्छा के ऊपर आधारित होने का दावा करती हैं। अत उनके राजनैतिक नियमो का नियन्त्रण नैतिकता से होता है।

नीति-विज्ञान तथा राष्ट्र-विज्ञान के सम्बन्ध के विषय में विभिन्न मत हैं। मैक्रियाभैली और उनके समर्थको का मत है कि नीति और राष्ट्र-विज्ञान में कोई सम्बन्ध नही। सम्राट की इच्छा ही कानून है, और वह नैतिक सिद्धान्तो को मानने के लिए बाध्य नही है। लेकिन, यह धारणा भ्रामक है। राज्य का पथ-प्रदर्शन उपयोगिता और न्याय के द्वारा होना चाहिए। राज्य का नैतिक आधार आम जनता की इच्छा है।

हब्स् (Hobbes), बेन (Bain) तथा अन्यो का मत है कि नीति-शास्त्र राष्ट्र-विज्ञान की एक शाखा-मात्र है और राजनैतिक-नियम है। यह मत भी दोषपूर्ण है। राजनैतिक नियम का स्वरूप 'करना होगा' (must) का होता है। नैतिक नियम की प्रकृति 'करना चाहिए' (ought) की होती है।

प्लैटो (Plato) और अरिस्टट्ल, स्पिनोज़ा (Spinoza) और हेगेल (Hegel) का मत है कि राष्ट्र-विज्ञान नीति-शास्त्र की एक शाखा-मात्र है। यह मत भी अशुद्ध है। नैतिक नियम इच्छा से अपने ऊपर लादे जाते हैं, राजनैतिक नियम बाहर से जबर्दस्ती लादे जाते हैं। ये सभी मत भ्रान्त हैं। ये राष्ट्र-विज्ञान और नीति-विज्ञान के भेद की अवहेलना कर देते है।

६. नीति-शास्त्र और अर्थ-विज्ञान का सम्बन्ध।

नीति-शास्त्र परम हित का विज्ञान है। अर्थ-विज्ञान मनुष्य की आवश्यकताओ के तृप्तिकारक साधनो का विज्ञान है। नीति-शास्त्र निरपेक्ष हित का विज्ञान है, अर्थ-विज्ञान आपेक्षिक हितो का। "यदि हमें आर्थिक हितो का वास्तविक मूल्य समझना है, तो हमें उनका नैतिक हित की तुलना में विचार करना चाहिए।"* उनका अन्तिम मूल्य उनके नैतिक मूल्य के द्वारा ही निर्धारित होना चाहिए। भोजन,

* नीति-शास्त्र, पृष्ठ २२।

वस्त्र, मकान और अन्य वस्तुयें मूल्यवान हैं, क्योकि, वे व्यक्तियों के आत्म-विकास के साधन हैं। इस प्रकार अर्थ-विज्ञान का नीति-विज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध है।

अर्थ-विज्ञान सम्पत्ति का विज्ञान है। किन्तु, सम्पत्ति स्वत. साध्य नही है। यह मानव-हित का साधन है। सम्पत्ति का उत्पादन, वितरण और भोग इस प्रकार व्यवस्थित होने चाहियें कि जिससे मनुष्य-जाति का अधिकतम कल्याण हो सके। उनका स्थान नैतिक लक्ष्य की तुलना में गौण होना चाहिये। नैतिक लक्ष्य मानव-जाति के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व का विकास है। अर्थ-शास्त्र को नीति-शास्त्र से वियुक्त नही करना चाहिये। कार्लाइल (Carlyle) और रस्किन (Ruskin) जोरो से इस मत का समर्थन करते हैं कि नीति-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान को एक-दूसरे के अधिक घनिष्ट सम्पर्क में लाया जाना चाहिए। आधुनिक काल के अर्थ-शास्त्री अर्थ-शास्त्र को सम्पत्ति के विज्ञान के रूप से अधिक कल्याण के विज्ञान के रूप में ग्रहण करने की ओर झुक रहे हैं। आर्थिक तथ्यों का नियन्त्रण इस प्रकार होना चाहिए कि साधारण सामाजिक कल्याण का उत्कर्ष हो सके। इस प्रकार अर्थ-शास्त्र और नीति-शास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध है।

उनके घनिष्ट सम्बन्ध के होते हुये भी उनमें ये अन्तर है। अर्थ-विज्ञान एक विधायक विज्ञान है, जबकि नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है। पूर्ववर्ती तथ्यो से सम्बन्ध रखता है तो, परवर्ती मूल्यो से। अर्थ-शास्त्र सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण और भोग से सम्बन्धित तथ्यो का अध्ययन करता है, और लोगो के भौतिक उत्कर्ष अथवा अभ्युदय के दृष्टिकोण से उनसे आर्थिक नियमो को निश्चित करता है। नीति-शास्त्र उस नैतिक आदर्श का अनुसधान करता है, जिसे सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण और भोग का भी नियन्त्रण करना चाहिये।

अर्थ-विज्ञान का सम्बन्ध सम्पत्ति और अभ्युदय अथवा आर्थिक या भौतिक उत्कर्ष से है। किन्तु नीति-शास्त्र का सम्बन्ध नैतिक कल्याण से है। अर्थ-शास्त्र का पथ-प्रदर्शन नीति-शास्त्र के द्वारा होना चाहिये। आर्थिक उत्कर्ष नैतिक उत्कर्ष से निम्न-श्रेणी का है। ऐंद्रिय-तृप्ति को नैतिक जीवन से कम महत्व मिलना चाहिये। सुख को कर्त्तव्य की तुलना में हेय समझा जाना चाहिये। अर्थ-शास्त्र धन-सग्रह और स्वार्थसिद्धि की प्रवृत्ति सिखाता है, नीति-शास्त्र आत्मत्याग और आत्मोत्कर्ष की भावना को प्रोत्साहन देता है।❀

अर्थशास्त्र का पथ-प्रदर्शन नीति-शास्त्र के द्वारा होना चाहिये। सम्पत्ति रखने के अधिकारो का आधार व्यक्तित्व के नैतिक अधिकार हैं। व्यक्तित्व के विकास के हेतु व्यक्तिगत सम्पत्ति अवियोज्य-रूप से आवश्यक है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तित्व सहगामी हैं। व्यक्तित्व के नैतिक अधिकारो से ही सम्पत्ति से विनिमय

❀ ए सी मित्र नीति के तत्त्व, पृ० ८५।

और वितरण के अधिकारो का जन्म हुआ है। इस प्रकार नीति-शास्त्र अर्थ-शास्त्र से उच्च कोटि का है।

७. नीति-शास्त्र का तत्त्व-विद्या से सम्बन्ध।

नीति-शास्त्र नैतिक आदर्श का विज्ञान है। किन्तु, नैतिक आदर्श की प्रकृति तथा अन्तिम प्रामाण्य का अन्वेषण करने के हेतु इसे मानव-व्यक्तित्व की, समाज में रहने वाले अन्य व्यक्तियो, विश्व और ईश्वर से सम्बन्धित-रूप में, अन्तिम प्रकृति, आरम्भ और अन्त का भी विचार करना चाहिये। क्योकि नीति-शास्त्र नैतिक मूल्य का विज्ञान है, अत इसे मनुष्य और विश्व के सम्बन्ध में नैतिक मूल्य के यथार्थ स्वरूप का विचार करना चाहिये। व्यवहार के उचित नियन्त्रण के लिये यह दार्शनिक विचार बडे महत्त्व का है। प्रामाण्य और मूल्य का विचार हमें सत्य से सम्बन्धित समस्याओं में उलझा देता है। मानव-जीवन के मूल्य का प्रश्न मानव-व्यक्तित्व के तात्विक स्वरूप तथा वास्तविक जगत् में उसके स्थान के प्रश्नों को ला खडा कर देता है।* तत्वविद्या प्राकृतिक विज्ञानो के तथ्य-सूचक निर्णयो और नियामक विज्ञानो के मूल्य-सूचक निर्णयो को सगठित करता है, तथा उनमें ऐक्य स्थापित करता है।

नियामक विज्ञान होने के नाते नीति-शास्त्र तत्त्वविद्यसे बहुत अधिक सम्बन्धित है। नीति-शास्त्र सर्वोच्च हित के आदर्श का निर्धारण करता है। किन्तु, क्या आदर्श मानसिक या वास्तविक है? वास्तविक सत्ता से इसका क्या सम्बन्ध है? क्या सर्वाधिक पूर्ण और पवित्र ईश्वर में यह निष्पन्न है? क्या इसकी सिद्धि के लिये मनुष्य स्वतन्त्र है? क्या इस ससार में इसकी सिद्धि हो सकती है? क्या इसकी सिद्धि के लिये ससार अवसर प्रदान करता है? ये सब दार्शनिक समस्यायें हैं। नीति-शास्त्र इन समस्याओ का अनुशीलन दर्शन के समान सागोपाग रूप में नहीं करता। फिर भी इसे आनुषगिक-रूप में निम्नलिखित दार्शनिक प्रश्नों का विवेचन करना पडता है :—

(१) आत्मा का स्वरूप-क्या आत्मा केवल इन्द्रियपर है अथवा केवल बुद्धिपर अथवा दोनो? आत्माविषयक भिन्न भिन्न मत नीति-शास्त्र के भिन्न भिन्न मतो को जन्म देंगे। नैतिक जीवन के लिये आत्मा की अमरता एक स्वीकृत सत्य है।

(२) सकल्प-स्वातन्त्र्य—क्या आत्मा चुनाव करने में स्वतन्त्र है अथवा परिस्थितियो के अधीन? इच्छा की स्वाधीनता नैतिकता का आधार है। मानव-स्वातन्त्र्य से इन्कार नैतिकता की बुनियाद ही हिला देता है। सकल्प की स्वाधीनता नैतिकता का मौलिक सिद्धान्त है। इच्छा-स्वातन्त्र्य नीति का मूल आधार है।

---

* मैकेन्जी नीति-शास्त्र, पृ० २०–२१।

(३) आत्मा की अमरता—क्या आत्मा अपने नैतिक आदर्श की निष्पत्ति इसी जीवन में कर सकता है ? अथवा, क्या परलोक भी है जिसमें इस आदर्श की क्रमिक-रूप से प्राप्ति होती है ? नैतिक जीवन नैतिक आदर्श की क्रमिक निष्पत्ति में निहित होता है। इस सीमित जीवन में उसकी पूर्ण-प्राप्ति असम्भव है। अत इसकी सिद्धि के लिये अमर जीवन होना चाहिये। व्यक्तिगत अमरता नैतिकता का दूसरा मान्य सिद्धान्त है।

(४) व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध—व्यक्ति क्या समाज का आवश्यक सदस्य है। अथवा, क्या वह स्वत पूर्ण इकाई है ? व्यक्ति समाज का आवश्यक अग है। उसका आदर्श-स्वरूप सामाजिक-स्वरूप है जिसमें उसकी प्राप्ति होती है।

(५) आत्मा का जगत् से सम्बन्ध—क्या ससार नैतिक जीवन के लिये कर्म-क्षेत्र है ? क्या यह नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के लिये उचित अवसर प्रदान करता है ? क्या इसका सचालन नैतिक नियमो से होता है ? अथवा यह अचेतन भौतिक शक्तियो की क्षेत्र तो नही है, जिसका कोई नैतिक उद्देश्य न हो। नैतिकता जगत् की रचना को बुद्धिमूलक मानती है। जगत् नैतिक जीवन का क्षेत्र है। यह नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिये अवसर देता है। यह नैतिक मूल्य के प्रति उदासीन नही है। यह एक नैतिक लक्ष्य से युक्त नैतिक जगत् है।

(६) ईश्वर की सत्ता और पूर्णता—क्या ईश्वर से पृथक् नैतिकता की पूर्णतया व्याख्या हो सकती है ? क्या नैतिक आदर्श सत्य है ? यह अन्तर्गत वस्तु है अथवा वाह्य ? यह मानव-मन की सृष्टि है अथवा मनुष्य के हृदय की आकाक्षा-मात्र ? अथवा, क्या यह पहिले ही ईश्वर में सिद्ध है, जो कि पूर्णता की शाश्वत-प्रतिमा है ? यह सत्य है या भ्रम-मात्र ? इन सब प्रश्नों का आनुषगिक विचार नीति-शास्त्र में होता है।

निम्नलिखित कारणो से नीति-शास्त्र दर्शन से घनिष्टतया सम्बन्धित है —

नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है। यह नैतिक आदर्श का विचार करता है। नैतिक आदर्श के प्रामाण्य की परीक्षा करने के लिये इसे दार्शनिक विवेचन में उतरना पडता है। दर्शन नैतिक आदर्श की यथार्थता का विचार करता है और इसका सत्ता से सम्बन्ध का विवेचन करता है।

नैतिकता आवश्यक है। अत नैतिक निर्णयो के अन्तिम आधार की परीक्षा के लिये नीति-शास्त्र को दर्शन में उतरना पडता है।

नीति-शास्त्र मनुष्य को भौतिक और सामाजिक वातावरण में सयुक्त ही नही समझता, वल्कि इस सम्बन्ध का जानने वाला भी। इस प्रकार, मनुष्य के जगत्, समाज और ईश्वर से सम्बन्ध मालूम करने के लिये नीति-शास्त्र को दर्शन मे प्रवेश करना पडता है।

किन्तु, उपर्युक्त सम्बन्धो के होते हुये भी नीति और दर्शन-शास्त्र में निम्नलिखित अन्तर हैं। दर्शन-शास्त्र सम्पूर्ण सद् वस्तुओ—प्रकृति, जीव और ईश्वर के स्वरूप का विवेचन करता है। नीति-शास्त्र केवल मानव-व्यवहार और चरित्र से सम्बन्ध रखता है। इसलिये दर्शन का क्षेत्र नीति से अधिक विस्तृत है।

नीति-शास्त्र, मानव-हित अथवा वैयक्तिक-हित से सम्बन्ध रखता है। दर्शन विश्व-हित अथवा सम्पूर्ण जगत् जिस उद्देश्य की सिद्धि करता है उसका अध्ययन करता है। नीति-शास्त्र मानव का परम-हित का अध्ययन करता है। दर्शन-शास्त्र विश्व का उद्देश्य का अध्ययन करता है।

दर्शन सैद्धान्तिक या चिन्तनात्मक शास्त्र मात्र है। नीति-शास्त्र सैद्धान्तिक शास्त्र होते हुए भी मनुष्य के चरम हित से सम्बन्ध रखता है, जो कि हमारे क्रियात्मक जीवन को प्रभावित करता है। नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान तथा कला नही।

हेगेल, ग्रीन तथा अन्य दार्शनिको की धारणा है कि नीति दर्शन पर आश्रित है। राशडल (Rashdall) तथा अन्य विद्वानो के मतानुसार दर्शन नीति पर आश्रित है। यह एक विवादास्पद विषय है। किन्तु, कोई भी अभ्रान्त दार्शनिक नीति और दर्शन के घनिष्ट सम्बन्ध को अस्वीकार नही करता। दर्शन-शास्त्र सब विधायक विज्ञान और नियामक विज्ञान पर आश्रित है

८. नीति का धर्म से सम्बन्ध।

इच्छा-स्वातन्त्र्य, आत्मा की अमरता, और ईश्वर की सत्ता नैतिकता के मान्य सिद्धान्त है। नीति-शास्त्र, नैतिक आदर्श से सम्बन्धित है। नैतिक आदर्श के प्रामाण्य का प्रश्न हमें चरम सत्य के प्रश्न में ले जाता है। क्या नैतिक आदर्श सत्य है ? यह मानव-मन की कल्पना मात्र तो नही ? यदि यह काल्पनिक-सृष्टि-मात्र है, तो इसका हमारे जीवन पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता। यदि यह केवल मानसिक सृष्टि है तो यह हमको प्रेरित नही कर सकता और न हमारा उत्थान कर सकता है। कोई भी काल्पनिक आदर्श वास्तविक सत्तायुक्त नही हो सकता। नैतिक आदर्श की शक्तिमत्ता का भेद इस विश्वास में निहित है कि यह आदर्श-मात्र नही है, वरन् एक पूर्ण, चरम ईश्वरीय सत्ता का प्रकाशन है। जो हमारे लिये आदर्श है, अवास्तविक है, वह दैवी सत्ता का स्वरूप है, वास्तविक है। नैतिक आदर्श ईश्वर में नित्य सिद्ध है। ईश्वर पूर्णता अथवा नैतिक चरम उत्कर्ष की शाश्वत मूर्त्ति है। ईश्वर सर्वोच्च मूल्यो की निधि है, जिनकी प्राप्ति के हेतु हम सतत प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रकार नीति और धर्म का सम्बन्ध घनिष्ट है।

पुनः नैतिक-जीवन की मांग है कि आत्मा की परिसमाप्ति देह के साथ

नही होगी। नैतिक आदर्श असीम है, वर्तमान सीमित जीवन में उसकी पूर्ण प्राप्ति असम्भव है। जीवन का उद्देश्य इस जीवन में पूर्णतया सफल नही हो सकता। वर्तमान जीवन तो तैयारी में ही बीत जायेगा। क्या नैतिक शिक्षा के लिये जो इतने कष्ट सहन किये जा रहे हैं मृत्यु के कारण व्यर्थ जावेंगे? हमारा नैतिक जीवन यथार्थ है। नैतिक आदर्श असीम किन्तु साध्य है। यदि इसकी सिद्धि इस सीमित जीवन में नही हो सकती तो इसके लिये असीम जीवन चाहिये। नैतिक जीवन आत्मा की वैयक्तिक अमरता का विश्वास दिलाता है। अमरता की समस्या नैतिक जीवन के लिये अवसर प्राप्त होने की समस्या है। बडे से बडी लेकिन परिमित समय-वृद्धि भी अपरिमित कार्य को करने के लिये पर्याप्त नही है। नैतिक कार्य अपरिमित है। नैतिक जीवन की यथार्थता में नैतिक आदर्श की सिद्धि की सम्भावना गुप्त है। लेकिन इस जीवन की अवधि इस कार्य के लिये अपर्याप्त है। अत: आत्मा को अमर होना चाहिये।

ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता, धर्म में यही दो विश्वास के विषय मौलिक हैं। अतः नीति-शास्त्र और धर्म का घनिष्ट सम्बन्ध है।

विद्वानो का एक प्रश्न पर बडा विवाद चलता है। प्रश्न यह है कि नीति पहले है या धर्म।

(१) धर्म नीति का पूर्वगामी है।

देकार्त (Descartes), लक (Locke), पैली (Paley) इत्यादि विद्वानो का मत है कि धर्म नीति का मूल है। नीति का उत्थान धर्म से होता है। ईश्वर द्वारा आदिष्ट कर्म सत् है, ईश्वर द्वारा निषिद्ध कर्म असत्। ईश्वरीय नियम ही नैतिक मानदण्ड है। ईश्वर अपनी इच्छा से नीति की सृष्टि करता है।

यह मत ईश्वर के नैतिक स्वभाव को समाप्त कर देता है। यह ईश्वर को नैतिकता से शून्य वना देता है। सत्-असत् का भेद उसकी निरकुश इच्छा पर आश्रित हो जाता है। वह अपने सकल्प से नीति की सृष्टि करता है, यद्यपि वह नैतिक भेदो के ऊपर है। यह मत प्रमादपूर्ण है। ईश्वर अनैतिक अथवा अति-नैतिक नही है। वह तो नैतिक पूर्णता की शाश्वत आकृति है। ईश्वर उसी का आदेश देता है जो सत् है, और उसी का निषेध करता है जो असत् है। जो सत् है उसका उसके स्वभाव से सामजस्य है। असत् का उसके स्वभाव से विरोध है। नैतिक भेद उसकी स्वेच्छा-चारिता पर आश्रित नही हैं। वे उसकी नैतिक प्रकृति पर आश्रित हैं। कर्मों के सदसत्-भाव का कारण ईश्वराज्ञा और निषेध नही है। विपरीतत ईश्वर के आदेश अथवा निषेध का कारण उनका सत् अथवा असत्-भाव है।

(२) नीति धर्म की पूर्वगामी है।

कान्ट (Kant) का विचार है कि नीति आवश्यक रूप से धर्म में ले जाती

है। पूर्ण-हित का हमारा विचार उच्चतम श्रेय और अधिकतम सुख के विचारो को शामिल करता है। उच्चतम श्रेय चरित्र-शुद्धि है। किन्तु, पूर्णहित सुख से सयुक्त चरित्र-शुद्धि है। परन्तु, साधुजन इस ससार में कभी कभी ही सुखी पाये जाते हैं। तो, सुख धर्म का आवश्यक परिणाम कैसे हो सकता है? धर्म हमारे अधिकार की वस्तु है, लेकिन सुख नही। धर्म हमारी इच्छा के अधीन है, लेकिन सुख-प्राप्ति हमारे नियत्रण से बाहर स्थित अनुकूल परिस्थितियो पर निर्भर है। इस प्रकार धर्म के विश्लेषण से सुख नही प्राप्त होता। धर्म और सुख में आन्तरिक नही, बाह्य सम्बन्ध है। लेकिन कौन उनमें सयोग स्थापित करता है? वह एक सर्वोच्च शक्ति है जो आन्तरिक और बाह्य दोनो दुनियाओ पर शासन करती है। वह ईश्वर है जो धर्म को सुख से सयुक्त कर सकता है। अत ईश्वर की सत्ता नीति का मान्य सिद्धान्त है। पूर्णता के लिए नैतिकता का लय धर्म में होना चाहिए।

मार्टिन्यू (Martineau) का मत भी यही है कि नीति धर्म में ले जाती है। नैतिक बाध्यता ईश्वर की सत्ता को उपलक्षित करती है। नैतिक बाध्यता दो व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध है। मैं नैतिकता से बाध्य हू। किसके प्रति यह बाध्यता है? मैं स्वय नैतिक बाध्य का जनक नहीं हूँ। यदि ऐसा होता तो मैं इच्छानुसार इस बाध्यता की बुद्धि को नष्ट कर देता। समाज अथवा राज्य भी इसका जनक नहीं हो सकता। क्योकि, वह मेरे सब कार्यों, प्रवृत्तियो और अभिप्रायो से अभिज्ञ नही हो सकता। अत ईश्वर को नैतिक बाध्यता का कारण होना चाहिये, जो हमारी सब गुप्त इच्छाओ और कार्यों से अभिज्ञ है, इस प्रकार नीति धर्म से पूर्ण होती है।

(३) नीति और धर्म अन्योन्याश्रित हैं।

सच्चा मत यह मालूम पडता है कि न तो नीति धर्म की पूर्वगामी है, न धर्म नीति का, बल्कि दोनो एक दूसरे पर आश्रित हैं। धर्म नैतिकता का आदर्श आधार है, और नैतिकता धर्म का हमारे सामाजिक सम्बन्धो में बाह्य प्रकाशन है। नीति व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर जोर देती है, धर्म व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्ध पर। हमारे मन में नीति और धर्म के मूल भिन्न है। वे हमारे अनुभव में साथ-साथ विकसित होते हैं, और एक बडी सीमा तक परस्पर को प्रभावित करते हैं। नीति धर्म पर प्रतिक्रिया करती है। और उसे परिष्कृत करती है। धर्म नीति पर प्रतिक्रिया करता है, उसे प्रेरणा देता है और उसका उत्थान करता है। नीति धर्म को नही हटा सकती। प्रत्यक्षवादी कोंते धर्म के स्थान पर नीति को लाना चाहते है। उनका विश्वास है कि समाज-सेवा ही धर्म है। किन्तु, यथार्थ मानव-धर्म ईश्वर के धर्म के बिना अपूर्ण है। धर्म भी नीति का स्थानापन्न नही हो सकता। नीति-विहीन धर्म अन्ध विश्वास है। नीति और धर्म का सहयोग होना चाहिये। नीति एक मनुष्य के दूसरे मनुष्य से सम्बन्ध से सन्तुष्ट हो जाती है। धर्म सीमित से दूर असीम की ओर

जाता है। मनुष्य में ससीम तथा असीम का योग है। वह कभी सीमित वस्तु से तृप्त नहीं होता। उसकी अतृप्त वासना अनन्नत को चाहती है। भनन्त को प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है।

अध्याय ३

नीति-शास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार

१. नैतिक और नीतिशून्य कर्म।

यहाँ पर 'नैतिक' पद व्यापक अथ में प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ सत्—वा असत्-गुण-सम्पन्न है। 'नैतिक' का अर्थ है जिसमें नैतिक गुण (सत् वा असत्) वर्तमान है। 'नीतिशून्य' के अर्थ है नैतिक-गुण से रहित कर्म, जो नैतिक निर्णय का विषय नही हैं। नीतिशून्य कर्म नीति-सम्पन्न तथा नीति-विरुद्ध कर्मों से बाहर हैं।

सभी कर्म नैतिक निर्णय के विषय नही हैं। केवल बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियो के इच्छाकृत और अभ्यासजन्य कर्म ही नैतिक निर्णय के विषय हैं। हम प्राकृतिक घटनाओ को (यथा—आँधी, बाढ, अकाल इत्यादि) नैतिक अथवा अनैतिक नही कह सकते। निर्जीव पदार्थ और प्राकृतिक घटनायें नैतिक निर्णय के क्षेत्र से बाहर हैं। पशुओ के कर्म भी न तो नीति-सम्मत होते हैं, न नीति-विरुद्ध। पशु विचारहीन तथा विवेकहीन हैं। उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक नही होता। अत उनके कर्म नीतिशून्य होते हैं। बच्चो के, पागलो के तथा बेवकूफो के कर्म भी नैतिक-गुण-रहित होते है, क्योकि वे विचार और विवेक के योग्य नही होतें। जो कर्म बल-पूर्वक कराये जाते हैं अथवा भौतिक कारणो से बाध्य होकर जो किये जाते हैं वे भी नीति-शून्य होते हैं, यदि उनके प्रतिरोध की शक्ति मनुष्य में नही है तो। सम्मोहित-अवस्था में दिये गये आदेशो से फलस्वरूप जो कर्म किये जाते हैं, वे भी नीति-शून्य होते हैं, क्योकि उनका प्रतिरोध असम्भव होता है। भावना-ग्रन्थियो के प्रभाव में किये हुये बाध्यतामूलककर्म भी नीतिशून्य होते हैं। क्योकि वे साधारण कर्म नहीं, अत उनमें नैतिक गुण नही पाया जाता। प्रकृतिस्थ वयस्क मनुष्यो के अनैच्छिक कर्म भी नीतिशून्य होते हैं। प्रतिक्षेप क्रियायें, अनियमित क्रियायें, सहजात कर्म, विचार-प्रत्यावर्ती क्रियायें, सवेगो के स्वत: प्रकाशन, और आकस्मिक कर्म नैतिक-गुण-रहित होते हैं।

केवल विवेक-सम्पन्न व्यक्तियो के ऐच्छिक और अभ्यासजन्य कर्म ही नैतिक निर्णय के विषय हैं। ऐच्छिक कर्म आत्म-चेतना युक्त स्वतन्त्र कर्त्ता के द्वारा इच्छा,

भविष्य-दृष्टि और साध्य-साधनों के चुनावपूर्वक जान-बूझ कर बुद्धिमानी के साथ किए जाते है। अत वे नैतिक निर्णय के विषय हैं। आदतें बार-बार किए गए ऐच्छिक कर्मों के परिणाम हैं। अभ्यास से ऐच्छिक कर्म स्थायी आदतें बन जाते हैं। वे स्वय चलित और अप्रतिरुद्ध हो जाते हैं। उनके नैतिक निर्णयो के विषय बनने के दो कारण हैं। प्रथम, आदतें इच्छापूर्वक अर्जित की जाती हैं, ऐच्छिक कर्मों के बारम्बार दोहराने से उनकी उत्पत्ति होती है ; शरीर के अन्दर जड पकडने से पूर्व ही उनको रोका जा सकता था। द्वितीय, आदतो का आरम्भ सकल्पनात्मक मनोवेग के साथ होता है। उनके दृढ हो जाने के उपरान्त भी सकल्प-शक्ति के प्रवल प्रयत्न के द्वारा उन पर विजय पाई जा सकती है।

२. अनैच्छिक कर्म।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—ऐच्छिक और अनैच्छिक। अनैच्छिक कर्म ऐच्छिक कर्मों के पूर्वगामी होते हैं। अनैच्छिक कर्म कई प्रकार के होते हैं, यथा, (१) स्वय-चलित-कर्म, (२) अनियमित कर्म, (३) प्रतिक्षेप-क्रिया, (४) विचार-जन्य कर्म, और (५) सहजात कर्म। इनके विस्तृत वर्णन के लिए मनोविज्ञान के ग्रन्थ देखने चाहियें :

३. ऐच्छिक कर्म।

ऐच्छिक कर्म वे कर्म हैं जिन्हे कर्त्ता जान-बूझ कर किसी आपेक्षित फल की सिद्धि के लिए करता है। वे आत्मा के इच्छापूर्वक किए जाने वाले कर्म हैं। ऐच्छिक-कर्म की तीन स्थितियाँ होती हैं—मानसिक-स्थिति, शारीरिक-स्थिति और शरीर के वाहर की अर्थात् दृश्य परिणामो की स्थिति।

(१) मानसिक स्थिति.—

कर्म की प्रेरणा—प्रत्येक ऐच्छिक कर्म के पीछे कोई प्रेरणा होती है। यह प्रेरणा किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक अभाव अथवा अपूर्णता की भावना होती है। यह या तो कोई मूल प्रवृत्ति होती है या एषणा, अथवा कोई वौद्धिक, नैतिक या सौंदर्यविषयक तृष्णा। कोई आवश्यकता या अपूर्णता की भावना सदैव कष्टप्रद होती है। किन्तु, प्राय यह भविष्य में आवश्यकता की तृप्ति के पूर्वज्ञान के द्वारा जनित सुखप्रद भावना के साथ मिश्रित होती है। इस प्रकार कमी की दु:खप्रद भावना काल्पनिक तृप्ति की सुखप्रद भावना के साथ मिश्रित होती है। किन्तु, दु:खप्रद भावना सुखप्रद भावना से अधिक प्रबल होती है।

इच्छा—कर्म की प्रेरणा अथवा कमी की भावना तथा क्षुधा इत्यादि इच्छा में परिवर्तित हो जाती है। आत्म-चेतना अतृप्ति की भावना के ऊपर हस्तक्षेप करती है और उसे इच्छा में परिणित कर देती है। इच्छा एषणा की भाँति अन्धी नही होती है। आत्म-ज्ञान के कारण यह विवेकयुक्त होती है। इच्छा किसी एषणा अथवा अभाव की भावना को उसकी उचित-वस्तु की उपलब्धि के द्वारा तृप्त करने की तृष्णा है।

इच्छा में उस वस्तु अथवा लक्ष्य का विचार होता है जो अभाव की भावना को सन्तुष्ट करे। उनमें लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उचित अथवा अनुचित साधन का भी विचार रहता है। और उसमें उस वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा होती है।

उस परिस्थिति में जबकि धर्म साधारण और इच्छाओ के द्वन्द्व से रहित होता है, चुनाव शीघ्र ही हो जाता है और कर्म सम्पन्न हो जाता है। किन्तु, जटिल कर्म की दशा में इच्छा के उपरान्त चुनाव तत्काल नही होता।

प्रयोजन-सघर्ष अथवा इच्छाओ का सघर्ष—किसी जटिल कार्य में कभी कभी आत्मा का साम्मुख्य विविध प्रतियोगी प्रवृत्तियो से हो जाता है। कई आवश्यकतायें तृप्ति चाहती हैं। उनसे मन में एक साथ कई लक्ष्यो, उद्देश्यो और प्रवृत्तियो का उदय हो जाता है। इस प्रकार विविध इच्छायें मन को विभिन्न दिशाओ में आकर्षित करती हैं। सभी लक्ष्यो की प्राप्ति एक ही साथ हो सकना असम्भव होता है, सब इच्छाओ की पूर्ति एक ही समय नही हो सकती। यदा कदा उनका एक-दूसरे से विरोध होता है। यदि एक की पूर्त्ति होती है तो दूसरी को बिल्कुल छोडना पडता है। इस प्रकार, मन में इच्छाओं अथवा प्रवृत्तियो में प्रतियोगिता या सघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

किन्तु, इस प्रकार का कथन एक मिथ्या उक्ति है। प्रवृत्तियाँ आत्मा के ऊपर बाहर से प्रतिक्रिया करने वाली बाह्य शक्तियाँ नही हैं। वे आत्मा की ही दशायें हैं। प्रेरणायें निरपेक्ष द्रष्टा के रूप में आत्मा के सम्मुख युद्ध करने वाली स्वतन्त्र शक्तियाँ नहीं हैं, वे आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न आत्मा की ही अवस्थायें हैं (स्टाउट)। यह सघर्ष आत्मा का आत्मा से है, विरोधी योद्धा और युद्धभूमि सब आत्मा हीं है (ड्यूई)। इस द्वन्द्वात्मक अवस्था में आत्मा कार्य को स्थगित कर देता है और विभिन्न प्रेरणाओ के द्वारा, जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नही है, इधर-उधर खीचा जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि प्रयोजन आत्मा द्वारा स्वीकृत इच्छा है। इस दशा में हम प्रयोजन-सघर्ष नही कह सकते, इच्छाओ का सघर्ष कह सकते हैं।

विचारणा—जब प्रवृत्तियों का सघर्ष होता है तो आत्मा कर्म को स्थगित कर देता है और विविध प्रवृत्तियो से प्रेरित कार्यों के गुण-दोषो के ऊपर विचारणा करता है। आत्मा विभिन्न विकल्पो के पक्ष और विपक्षो का तुलनात्मक विचार करता है। इसे विचारणा कहते हैं। इसका अर्थ आत्मा से पृथक् इच्छाओ के बलाबल की परीक्षा नहीं है। क्योंकि, इच्छायें आत्मा की ही अवस्थायें हैं। विचारणा प्रतिद्वन्द्वी इच्छाओं में से एक के चुनाव के हेतु विविध इच्छाओ के द्वारा प्रेरित कर्मों के गुणावगुणो के चिन्तन की मानसिक प्रक्रिया है।

निर्णय अथवा चुनाव—विचारणा के उपरान्त आत्मा एक प्रेरणा-विशेष को चुन लेता है और अपने को उसके साथ एकाकार कर देता है। यह एक को चुनकर अन्यो का निषेध कर देता है। इस चयनात्मक क्रिया को चुनाव अथवा निर्णय कहते

है। इस स्थिति में आत्मा चुने हुये साधनो के द्वारा एक निश्चित प्रेरणा वा अभीष्ट को सिद्ध करने के हेतु एक निश्चित कार्य-प्रणाली का निर्णय कर देना है। निर्णय की अवस्था किसी विशेष-साध्य और विशेष-साधन के चुनाव की अवस्था है। निर्णय आत्मा से पृथक् प्रवलतम प्रेरणा की निर्वल प्रेरणाओ के ऊपर विजय नही है। आत्मा के द्वारा चुनी हुई प्रेरणा कर्म की वास्तविक प्रेरणा वन जाती है। चुनी हुई प्रवृत्ति प्रवलतम प्रवृत्ति वन जाती है। अस्वीकृत प्रेरणायें मन के अवचेतन स्तर में चली जाती हैं। विचारणा के समय प्रतिद्वन्द्वी प्रेरणायें कर्म की सम्भावित प्रवर्त्तनायें समझी जाती है, निर्णय के उपरान्त चुनी हुई प्रेरणा कर्म की वास्तविक प्रेरणा वन जाती है।

निश्चय अथवा सकल्प—कभी कभी निर्णय तत्काल कार्य-रूप में परिणत हो जाता है। उस दशा में निश्चय की कोई आवश्यकता नही प्रतीत होती। परन्तु, कभी कभी कर्म स्थगित कर दिया जाता है और उस दशा में निश्चय की आवश्यकता होती है। निश्चय पूर्वकृत निर्णय पर डटे रहने का नाम है। यह निर्णय को कार्यान्वित करने का और निर्णयाभाव तथा द्विधा को हटाने का सकल्प है।

(२) शारीरिक स्थिति :—

जब चुनाव या निश्चय हो जाता है तो वह शारीरिक क्रिया में परिवर्त्तित हो जाता है। सकल्प और शारीरिक गति में क्या सम्बन्ध है ? सकल्प में हमें उस शारीरिक गति की स्पष्ट कल्पना होती है जो सकल्प को कार्यान्वित करेगी। गति की यह स्पष्ट कल्पना जब चेतना के उपर अधिकार कर लेती है तो अनायास ही पेशियो में गति उत्पन्न हो जाती है। गति का विचार अपने प्रवर्तक स्वभाव के कारण शारीरिक क्रिया में सम्पन्न हो जाता है। यह व्याख्या विलियम जेम्स (William James) के मतानुसार है।

(३) वाह्य परिणाम :—

शारीरिक क्रिया वाह्य जगत् में परिवर्तन पैदा करती है। ये परिणाम कहलाते हैं। परिणाम ये होते है चुने हुये उद्देश्य की सिद्धि, चुने हुये उचित वा अनुचित साधनो की सिद्धि ; कुछ प्रत्याशित परिणाम, और कुछ अप्रत्याशित अथवा आकस्मिक परिणाम।

४. इच्छा :—

इच्छा किसी कर्त्ता की अभीष्ट-सिद्धि अथवा अभाव-पूर्ति का चाह है। इच्छा आत्मा की वास्तविक दशा और किसी अपेक्षित-भविष्य-दशा की कल्पना के वीच एक तनाव की स्थिति है। यह एक जटिल मानसिक स्थिति है जिसमे ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक तीनो तत्त्व वर्तमान होते हैं।

ज्ञानात्मक तत्त्व ये हैं : अभाव की भावना को दूर करने वाली वस्तु का विचार, उचित वा अनुचित साधनो का विचार जो कि उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होंगे, वास्तविक स्थिति और आदर्श के भेद का ज्ञान अथवा वर्तमान अपूर्णता की

भविष्य पूर्णता की स्थिति से तुलना। वास्तविक स्थिति और आदर्श के वैषम्य की चेतना जितनी ही तीव्र होती है इच्छा भी उतनी ही बलवती होती है।

भावात्मक तत्त्व अभाव की कटु वेदना जो कि कर्म की प्रवर्त्तक होती है, प्रत्याशित तृप्ति से उत्पन्न सुखप्रद भाव।

क्रियात्मक तत्त्व अतृप्ति के भाव को दूर करने वाली वस्तु की प्राप्ति की एषणा, उद्देश्य-प्राप्ति कराने वाले कर्म के लिये वेगयुक्त मनोवृत्ति।

५. जैव-वृत्ति, पशु प्रवृत्ति और इच्छा —

पेड पौधे चेतनारहित होते हैं, पशु चेतनायुक्त होते हैं, मनुष्य विचारवान् और आत्म-चेतनायुक्त होते हैं। पेड पौधों की जैव-वृत्तियाँ या शारीरिक आवश्यकतायें होती हैं, उनकी पोषक-द्रव्य खीचने के लिये जडो को भूमि में फेंकने की और प्रकाश लेने के लिये शाखाओ को फैलाने की अचेतन जैव वृत्ति होती है। शारीरिक आवश्यकताओ की उन्हें अनुभूति नही होती, क्योकि वे अचेतन हैं। पेड पौधो की शारीरिक आवश्यकतायें अन्धी और अचेतन एषणायें होती हैं।

किन्तु, पशुओ की प्रवृत्तियाँ अन्धी किन्तु चेतन वृत्तियाँ होती हैं। पशु चेतनायुक्त होते हैं, उन्हें सुख-दुख की अनुभूति होती है। अत. पशु को प्रवृत्ति की अनुभूति होती है, यह किसी वस्तु के प्रति केवल एक अन्धी प्रवृत्ति नही होती, किन्तु किसी सीमा तक चेतना में वह वर्त्तमान होती है। किस प्रकार की वस्तु आवश्यकता की पूर्त्ति करेगी, इस विषय का निश्चित विचार भी चेतना में हो सकता है। उच्च-श्रेणी के पशुओं में इच्छित वस्तु की अस्पष्ट चेतना होती है, किन्तु सुख-दुख-रूप भावात्मक तत्त्व तीव्र रूप में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, एक भूखे कुत्ते को अभीष्ट वस्तु के स्वरूप की प्राय पूर्ण चेतना होती है। किन्तु, निम्न-श्रेणी के पशुओ में उस वस्तु की चेतना कुछ स्पष्ट होती है। उनकी चेतना में किसी वस्तु के निश्चित विचार की अपेक्षा सुख अथवा दुख का तत्त्व अधिक तीव्र होता है। पशु चेतनायुक्त होते हैं, किन्तु आत्म-चेतनायुक्त नही।

मनुष्य की इच्छा में केवल वस्तु की चेतना और सुख तथा दुख की भावनायें ही नही होती, वल्कि शुभाशुभ की भी पहिचान होती है। पेड-पौधो के अन्दर पोषक-तत्त्वो की शरीर के लिये आवश्यकता-मात्र होती है। पशुओ में क्षुधा होती है। किन्तु मनुष्यो में इसका परिवर्तन भोजन की इच्छा के रूप में हो जाता है। मनुष्य निश्चित रूप से भोजन को एक लक्ष्य के रूप में पहिचानते हैं। इस प्रकार इच्छा केवल मनुष्य की होती है जो कि विवेकयुक्त कर्त्ता है। मनुष्य आत्म-चेतनायुक्त होते हैं, अत उनको शुभाशुभ का ज्ञान है।

६. इच्छा का आत्मा और चरित्र से सम्बन्ध।

इच्छायें बुद्धियुक्त कर्त्ता की होती हैं। वे क्षुधा के समान अन्धी नहीं होती।

वे अचेतन वृत्तिया भी नही हैं। वे आत्म-चेतना के कारण प्रवुद्ध होती है। वे किसी शुभ-वस्तु की प्राप्ति के लिये आत्मा की चेतनायुक्त चाहें होती हैं। आत्मा किसी अभीष्ट वस्तु वा लक्ष्य को प्राप्ति के लिये चुनता है, जिससे उसका हितसाधन होता है और जिसे वह अपने चरित्र का अविरोधी जानता है।

म्यूरहेड (Muirhead) का मत है कि इच्छायें सदैव वस्तुविषयक होती है, और वस्तुओ का आत्मा के लिए मूल्य होता है जिसका चरित्र से सामजस्य रहता है।* उदाहरणार्थ, एक दार्शनिक का दर्शन-सम्वन्धी-पुस्तकें पढने की तीव्र इच्छा है। यह इच्छा घनिष्ट-रूप से उसकी आत्मा तथा चरित्र से सम्वन्धित है। दार्शनिक ग्रन्थो का अध्ययन उसकी आत्मा के लिये मूल्य रखता है। क्योकि, इसका उसके मन की दार्शनिक वृत्ति से अथवा उसकी स्थायी प्रवृत्ति से अर्थात् उसके चरित्र से सामजस्य है।

म्यूरहेड का इच्छा के आत्मा और उसके चरित्र से सम्बन्ध के विषय में यह विचार है —

(१) मनुष्य की इच्छायें उसको इतस्तत भ्रमित करने वाली अन्ध शक्तियां नही हैं। वे सदा वस्तुओ के स्पष्ट अथवा अस्पष्ट विचारो से युक्त होती हैं। इसलिये पशु-प्रवृत्ति मात्र से उनका वैषम्य है।

(२) यें वस्तुयें आत्मा से द्विविध सम्वन्ध रखती हैं। आत्मा के चरित्र से उनका आवश्यक सम्वन्ध होता है। इच्छाओ की सृष्टि आत्मा रोचक वस्तुओं का प्राप्ति के हेतु करता है क्योकि उनका उसके चरित्र से सामजस्य होता है। उनका आत्मा से सम्वन्ध इसलिये होता है कि उनकी उपलब्धि आत्मा को इष्ट होती है। कोई व्यक्ति किसी वस्तु की कामना करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह उस वस्तु में आत्मा की पूर्णता लक्षित करता है। सव इच्छायें आत्मा की इच्छायें होती है। उनका लक्ष्य किसी प्रकार की आत्म-पूर्णता होता है।

७. इच्छा का क्षेत्र।

मैकेंजी (Mackenzie) का कथन है कि प्रत्येक इच्छा का अपना एक क्षेत्र होता है वाहर वह निरर्थक होती है। यह क्षेत्र सम्पूर्ण चरित्र का उस काल में प्रकाशित-रूप होता है जिसमें व्यक्ति को इच्छा की अनुभूति होती है। इच्छा का क्षेत्र किसी क्षण में मनुष्य के नैतिक दृष्टिकोण का क्षत्र होता है।† प्रत्येक व्यक्ति को एक विशेष इच्छा-क्षेत्र में रहने की आदत होती है। यह क्षेत्र उसका स्थायी चरित्र होता है। इस प्रकार उसकी इच्छायें उसके मन में स्थित स्वतन्त्र सत्तायें नहीं है। वे किसी इच्छा-क्षेत्र से सम्वन्धित होती हैं, जो उसके चरित्र अथवा स्थायी-सकल्प-प्रवृत्ति का वना हुआ होता है। किन्तु वही व्यक्ति नियमित-रूप से एक ही इच्छा-क्षेत्र में नही रहता।

* नीति-शास्त्र, पृ० ५३।

† नीति-शास्त्र, पृ० ३४।

विविध इच्छायें अलग-अलग मानसिक स्थितियो में, स्वास्थ्य की अलग-अलग दशाओ में हमारे मन पर अधिकार करती रहती हैं। इन परिवर्त्तनो के कारण इच्छा-क्षेत्र भी परिवर्त्तित होते रहते हैं। प्रत्येक इच्छा-क्षेत्र में इच्छाओं का विन्यास भी नूतन होता है। कोई व्यक्ति एक इच्छा-क्षेत्र से दूसरे में जा सकता है। किन्तु, उसकी इच्छायें स्वतन्त्र नही होती, उनका सम्बन्ध सदा किसी इच्छा क्षेत्र से रहता है।

८ इच्छा, अभिलाषा और संकल्प।

सकल्प की क्रिया इच्छा एक तत्त्व है। पहिले किसी अभाव की अनुभूति होती है, फिर आत्मा उसकी इच्छा में परिवर्तित कर देता है, विचारणा के उपरान्त आत्मा जब किसी इच्छा को चुन लेता है तो उसे चुनाव कहते हैं। इस प्रकार विना इच्छा के सकल्प असम्भव है।

किसी जटिल कार्य में इच्छाओ का सघर्ष होता है। इस स्थिति में आत्मा कार्य का निरोध कर देता है और विभिन्न इच्छाओ के गुणावगुणो पर विचारणा करते हुये अन्यो को छोड कर एक को चुन लेता है। इस प्रकार स्वीकृत इच्छा प्रधान और कर्म-प्रेरक वन जाती है। ऐसी इच्छा को मैकेन्जी प्रवल इच्छा (wish) कहता है। द्वन्द्वात्मक-स्थिति में कुछ इच्छायें दूसरो के ऊपर वल पा जाती हैं और कुछ दव जाती हैं। जिन इच्छाओ की शक्ति सघर्ष के कारण क्षीण नही होती वल्कि स्थिर रह जाती है उन्ही को प्रवल इच्छा कहना चाहिये।※

एक प्रभावहीन इच्छा हमेशा इच्छा कहलाती है। प्रवल इच्छा अभिलाषा कहलाती है। किन्तु, कोई प्रवल इच्छा, हो सकता है, उस इच्छा-क्षेत्र से सामजस्य न रखती हो जिसमें कोई मनुष्य रहता है। अत वह उसे अस्वीकृत कर सकता है। परन्तु, वह जव उसके इच्छा-क्षेत्र से मेल खाती है तो उसका परिवर्त्तन ऐच्छिक या सकल्पात्मक-कर्म में हो जाता है। एक निर्धन औषधि-विक्रेता विष का विक्रय करता है। उसे विष वेचना पसन्द नही है। किन्तु, उसकी भयानक दरिद्रता उसे ऐसा करने को वाध्य करती है। उसकी प्रवल इच्छा विष-विक्रय के विरुद्ध है। किन्तु उसका प्रभावशाली इच्छा-क्षेत्र जिसकी रचना उसकी दरिद्रता के कारण हुई है उसे विष वेचने का सकल्प करने के लिये वाध्य करता है। इस प्रकार "अभिलाषा एक प्रवल इच्छा है, जवकि सकल्प किसी इच्छा-क्षेत्र की प्रभावशालिता पर आश्रित होता है"।† सकल्प आत्मा द्वारा स्वीकृत, प्रवल और इच्छा-क्षेत्र से सामजस्य रखने वाला होता है।

९ प्रयोजन, लक्ष्य, उद्देश्य।

प्रयोजन का अर्थ है, वह जो किसी विशेष कर्म में प्रवृत्त करता है। 'प्रयोजन का अर्थ द्विविध हो सकता है एक, वह जो विशेष प्रकार की क्रिया के लिये वाध्य

※ नीति-शास्त्र, पृ० ३८।

† नीति-शास्त्र, पृ० ४१।

करता है, दूसरा, वह जो उसके लिये प्रेरित करता है।"* पूर्व अर्थ में प्रयोजन क्रिया की प्रेरणा है। यह किसी अभाव की अनुभूति है। यह एक "भाव है जो हमें कार्य के लिये उत्तेजित करता है।" इस अर्थ में, किसी मनुष्य की सुख अथवा दुःख की अनुभूति को या क्रोध, ईर्षा, भय अथवा दया के सम्वेगो को उसकी प्रवर्तना कह सकते हैं। ह्यूम (Hume), बेंथम (Bentham), मिल (Mill) और बेन (Bain), प्रभृति सुखवादियों का मत है कि केवल सुख और दुःख के भाव ही कार्यों की प्रेरणायें हैं। इच्छाकृत कर्मों से नियामक केवल यही हैं। लोग सदैव सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं। भाव और सवेग कर्म के प्रेरणा हैं। वेन्थम का कथन है कि, "प्रेरणा वस्तुत: विशेष-रूप में प्रवर्तक सुख अथवा दुःख के अतिरिक्त कुछ नही है।" मिल की परिभाषा है कि प्रेरणा "एक भाव है जो उस कर्ता को कुछ करने का सकल्प करवाती है।" मिल ने 'motive' शब्द को 'प्रेरणा' अर्थ में लिया है।

किन्तु, मनुष्य एक बुद्धिमान प्राणी है। केवल अन्ध भाव और सवेग उसे कर्म के लिये प्रेरित नही कर सकते। आत्मा के द्वारा विचार के उपरान्त उनका इच्छाओं में परिवर्त्तन होना चाहिये। यदि कोई मनुष्य पूर्ण-रूप मे भाव वा सवेग के आवेश में हो जाता है तो उसे कार्य का कर्त्ता कहना बिल्कुल असगत है। ऐच्छिक-कर्म में विचारणा, चुनाव और सकल्प का समावेश होता है। ये विवेकपूर्ण क्रियायें हैं। लक्ष्य के विचार को ही प्रयोजन कहना उपयुक्त है। शुभ के रूप में उसका चुनाव आत्मा के द्वारा होता है। यही धर्म के लिये प्रेरित करता है। भावो को कर्म का निमित्त कारण कहा जा सकता है। लक्ष्य का विचार उद्देश्य कारण है। म्यूरहेड का कथन है कि एकान्त-रूप से भाव कर्म का प्रयोजन नही हो सकता। इच्छा के एक तत्त्व के रूप में भाव केवल निमित्त कारण होता है, जबकि प्रयोजन का सकेत उद्देश्य कारण की ओर होता है।†

ग्रीन (Green), मैकेंजी प्रभृति विद्वानो के मतानुसार साध्य-लक्ष्य का विचार ही कर्म का प्रयोजन है। ग्रीन की परिभाषा है कि प्रयोजन "लक्ष्य का विचार है जिसे कोई आत्म-चेतनायुक्त प्राणी अपने समक्ष रखता है तथा जिसकी सिद्धि के लिये वह प्रयत्नशील होता है।" मैकेंजी कहता है नैतिक व्यवहार ऐच्छिक होता है, और ऐच्छिक कर्म साधारण-रूप से भाव-प्रेरित नही होता। भाव इसके लिये अपर्याप्त होता है। जब कोई कर्म में प्रवृत्त होता है तो भाव के अतिरिक्त साध्य का विचार भी आवश्यकतया होना चाहिये।‡

म्यूरहेड प्रयोजन को अपने चरित्र के अनुकूल आत्मा के द्वारा चुने हुये लक्ष्य के

* नीति-शास्त्र, पृ० ५०।

† नीति-शास्त्र के तत्व, पृ० ३०-६१।

‡ नीति-शास्त्र पृ० ५१-५२।

विचार के अर्थ में ग्रहण करता है। प्रयोजन चुनी हुई इच्छा या उद्देश्य है। कभी-कभी इच्छाओ में सघर्ष उत्पन्न हो जाया करता है। इस अवस्था में कई लक्ष्य आत्मा के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं जो उनके गुण-दोषो का विचार करता है और उनमें से एक का चुनाव करके दूसरो को अस्वीकृत कर देता है। यही चुना हुआ लक्ष्य कर्म का वास्तविक प्रवर्तक है। म्यूरहेड कहता है "यह ठीक है कि कर्म का प्रवर्तक भाव अकेला नही हो सकता, किन्तु साध्य या वस्तु का विचार भी एकान्त-रूप से नही हो सकता। विचार स्वत. कर्म के लिये प्रेरित नही कर सकता। ऐच्छिक कर्म में विचार की मन में उपस्थिति-मात्र विचार को प्रेरित करने की क्षमता नही प्रदान कर सकती। यह तो विचार की किसी पूर्व निश्चित प्रवृत्ति या इच्छा-क्षेत्र से सगति ही कर सकती है।" इस प्रकार प्रयोजन उस उद्देश्य का विचार है जिसका चुनाव आत्मा ने उस इच्छा-क्षेत्र से उसका साम्य होने के कारण किया है जिसमें उस काल में आत्मा पाई जाती है। यही मत निर्दोष जान पडता है। मैकेंजी के मत से इसका वास्तविक भेद नही है। यह केवल उसके 'प्रयोजन' के अर्थ को सकुचित कर देता है।

१० सुख और प्रयोजन।

मनोवैज्ञानिक सुखवादी (यथा, बेन्थम और मिल) कहते हैं कि प्रयोजन अथवा इच्छा का विषय सदा सुख होता है। स्वभावत मनुष्य सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति का इच्छुक होता है। सुख इच्छा का सामान्य विषय है। केवल यही कर्म का प्रवर्त्तक होता है।

यह मत दोषपूर्ण है। इच्छा की उत्पत्ति अभाव की अनुभूति से होती है। जब इस अभाव की पूर्त्ति हो जाती है तो सुख होता है। सुख इच्छा-पूर्त्ति का परिणाम है। जब हमारी इच्छा पूर्ण हो जाती है तो सुख मिलता है। इच्छा विषयोन्मुखी होती है। हमें भूख लगती है। हमें भोजन की इच्छा होती है। जब वस्तु (यथा, भोजन) प्राप्त हो जाती है, सुख मिलता है। अत इच्छा सुख के लिये नही होती। किन्तु, सुख इच्छित-वस्तु की प्राप्ति का फल है। कुछ अवस्थाओ में सुख भी इच्छा का विषय हो सकता है। स्वाद-लोलुप मनुष्य भूख की अनुपस्थिति में भी केवल सुख-प्राप्ति के हेतु स्वादिष्ट भोजन की इच्छा करता है। इस प्रकार सामान्यतया सुख इच्छा का विषय नही होता। इसका विस्तृत विवेचन मनोवैज्ञानिक सुखवाद के साथ होगा।

११ बुद्धि और प्रयोजन।

ह्यूम का विचार है कि बुद्धि प्रवृत्तियो की सेविका है। वह कहता है, "बुद्धि है और उसे प्रवृत्तियो की सेविका होना चाहिये; उसका उनकी सेवा और आज्ञापालन के अतिरिक्त अन्य कार्य का वहाना करना मिथ्या है।" प्रवृत्तियाँ मनोवेग हैं। विशेष मनोवेग कार्यो को लक्ष्य प्रदान करते हैं। बुद्धि केवल उन साधनो का निर्देश कर सकती है जिनसे इन लक्ष्यो की प्राप्ति हो सकती है। कार्य के लक्ष्य का निर्धारण

मूल-प्रवृत्तियो के द्वारा होता है, जिस साधन से उसकी प्राप्ति सुगमयता हो सकती है उसका निर्देश बुद्धि करती है। इस प्रकार बुद्धि का स्थान प्रवृत्ति की तुलना में गौण है। बुद्धि हमारे लिये एक नवीन प्रयोजन की सृष्टि नही कर सकती, यह केवल वर्तमान प्रयोजन की उत्कृष्ट-सिद्धि के लिये उपायो का निर्देश कर सकती है।

यह मत भ्रामक है। यह इस धारणा पर आधारित है कि मन अलग-अलग स्वतन्त्र इच्छाओ का समूह है जिनमें बुद्धि एक पृथक् शक्ति के रूप में कार्य करती है। यह धारणा भ्रान्त है। मन एक ऐक्ययुक्त सत्ता है जिसमें बुद्धि केवल इच्छाओ और प्रवृत्तियो का नियन्त्रण ही नही करती बल्कि उनकी प्रकृति को भी निर्धारित करती है। बुद्धि-प्रवृत्तियो को उन वस्तुओ के लिये इच्छाओ में परिवर्तित कर देती है जिनको वह अच्छा समझती है। पशु की केवल प्रवृत्तिया तथा मनोवेग होते हैं किन्तु, मनुष्य उनको आत्म-चेतना और आत्म-हित के विचार के द्वारा प्रबुद्ध बना देता है। इस प्रकार बुद्धि हमें कर्म की प्रेरणायें दे सकती है। बुद्धि-युक्त मनुष्य की प्रेरणायें असत इच्छाओ से और अशत बुद्धि से निर्मित्त होती है।

मनुष्य आंशिक-रूप में अनुभूतिक्षम है और आंशिक-रूप में विचारवान्। अत उसकी प्रेरणायें अशत भाव, प्रवृत्ति और इच्छाओं के द्वारा निर्धारित होती हैं और अशत बुद्धि द्वारा। हमें यह नही समझ लेना चाहिये कि सभी प्रेरणायें बुद्धि-युक्त होती हैं, क्योकि मनुष्य पूर्णतया विचारवान् प्राणी नही है। यदि वह पूर्णतया विचारवान् होता तो उसकी सभी प्रेरणायें बुद्धियुक्त होती है। किन्तु, मनुष्य मूल-प्रवृत्तियो और वासनाओ से युक्त है। अत प्राय सर्वोच्च शुभ का ज्ञान रखते हुये भी वह उसका अनुसरण नही कर सकता। वह जानता है कि परिस्थितिविशेष में क्या करना उचित है, किन्तु कभी कभी वह अनुचित करता है। अत· केवल बुद्धि ही कर्म की प्रवर्तक नही है।

१२. प्रेरणाओं की रचना।

प्रेरणायें न तो पूर्णतया विवेकहीन होती हैं न पूर्णतया विवेकयुक्त। उनकी रचना अशत भावो, वासनाओं और इच्छाओ से होती है, और अशत बुद्धि से। इच्छाओ के लक्ष्य अशत अतृप्ति की भावना से निर्धारित होते हैं जिसकी निवृत्ति उनको इष्ट होती है, और अशत शुभ के बौद्धिक विचार के द्वारा जिसका अनुसरण किया जाना चाहिये। इस प्रकार भाव और बुद्धि दोनो प्रेरणा की प्रकृति को निर्धारित करते हैं। मनुष्य की प्रकृति ऐन्द्रिय तथा बौद्धिक है।

१३. प्रयोजन और अभिप्राय।

बेन्थम और मिल 'प्रेरणा' को कर्म के स्रोत या भाव अथवा संवेग के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, और 'अभिप्राय' को लक्ष्य, विषय अथवा कर्म के उद्देश्य के अर्थ में।

प्रयोजन कर्म का निमित्त कारण, अभिप्राय उद्देश्य कारण। किन्तु यह दोषपूर्ण है। प्रयोजन और अभिप्राय दोनो ही उद्देश्य कारण हैं। केवल अभिप्राय प्रयोजन से व्यापक है। प्रयोजन अभिप्राय का अंश है। किसी ऐच्छिक कर्म का प्रयोजन चुना हुआ लक्ष्य है जिसकी सिद्धि इसके द्वारा होती है। यह आत्मा को कर्म के लिये प्रेरित करता है। किन्तु, इसकी सिद्धि के लिये साधनो का प्रयोग करना होता है। लक्ष्य सुखकर हो सकता है, किन्तु इसकी सिद्धि के लिये दुखप्रद उपाय हो सकते हैं। अथवा उपाय अशत सुखप्रद और अशत दुखप्रद भी हो सकते हैं। प्रयोजन चुनें हुये लक्ष्य का विचार होता है। अभिप्राय आत्मा के द्वारा चुने हुये लक्ष्य और सुखकर अथवा दुखकर साधन दोनों का विचार होता है। इस प्रकार अभिप्राय प्रयोजन से अपेक्षाकृत व्यापक है। यह प्रयोजन को अपने में शामिल करता है। यह चुने हुये साधनो और कर्म के पूर्व-दृष्ट परिणामो का विचार है।

वैन्थक ने प्रयोजन और अभिप्राय के भेद को स्पष्ट करते हुये कहा है कि प्रयोजन वह है जिसके लिये कर्म किया जाता है जबकि अभिप्राय जिसके लिये कर्म किया जाता है और जिसके निवारणार्थ किया जाता है दोनों को अपने में शामिल करता है। इस प्रकार अभिप्राय प्रवर्तक और निवारक दोनो को शामिल करता है। पिता अपने पुत्र को उसके हितार्थ दण्ड देता है। पुत्र का हित उसका प्रयोजन है। किन्तु, पुत्र को दण्डित करने का उसका अभिप्राय भी होता है। पुत्र को सज़ा देना उसके अभिप्राय का भाग है। किन्तु, यह उसका प्रयोजन नही हो सकता। इस प्रकार अभिप्राय में लक्ष्य का विचार अथवा प्रयोजन तथा उपायों का विचार दोनो शामिल हैं।

किसी कर्म का प्रयोजन लक्ष्य का विचार है जो उसे करने के लिये प्रवृत्त करता है। इसे अभिप्राय में शामिल किया जाना चाहिये, लेकिन यह सम्पूर्ण अभिप्राय के तुल्य नहीं है। अभिप्राय साधन के विचार को भी शामिल करता है जो कि कर्त्ता को कर्म करने के लिये निवारित भी कर सकता है। जब ब्रूटस ने अपने देश के कल्याण के लिये सीज़र के वध के लिये षडयन्त्र में भाग लिया था तो, निश्चय, सीज़र का वध उसका अभिप्राय था, लेकिन प्रयोजन नही। देश को स्वतन्त्र करना ब्रूटस का उद्देश्य था, सीज़र का वध उसके उद्देश्य का कोई अंश नही था। किन्तु, इस कष्टप्रद उपाय का अवलम्बन अपने उद्देश्य-सिद्धि के लिये करना उसे अभिप्रेत था। अत. यह उसके अभिप्राय का एक भाग था। इस प्रकार अभिप्राय प्रयोजन से अधिक व्यापक हैं। इसमें चुने हुये उद्देश्य का विचार, चुने हुये उपाय का विचार, और प्रत्याशित फलों का विचार शामिल हैं।

१४　आदत अभ्यस्त कर्म।

आदत या अभ्यास वार-वार दोहराये गये ऐच्छिक कर्मो का फल। ऐच्छिक कर्मों को पहिले संकल्प की आवश्यकता होती है, लेकिन जब वे दोहराये जाते हैं तो

उनकी आदत वन जाती है और उन्हे चेतना के द्वारा पथ-प्रदर्शन की अथवा प्रयास की आवश्यकता नही रहती। जव कोई अभ्यस्त कर्म पूर्णरूपेण स्थायी हो जाता है तो वह प्राय पूर्णतया यात्रिक और स्वयचालित हो जाता है। आदत के लक्षण हैं— सुगमता, समरूपता, शीघ्रता, यथार्थता, चेतना के अधिकार से मुक्ति, और अपरिवर्त्तनीयता। आदतो का वडा नैतिक महत्त्व है। वे ऐच्छिक क्रियाओ के वार-वार दोहराये जाने के फल हैं। अत वे नैतिक निर्णय के विषय हैं। हम नैतिक-रूप से केवल अपने इच्छा-कृत-कर्मो के लिये ही उत्तरदायी नही हैं, वल्कि आदतो के लिये भी। वुरी आदतो से क्रीतदासो को अपने नैतिक अपराधो के लिये क्षमा नही किया जा सकता। वे अपनी आदतो के स्वय उत्तरदायी हैं। आदतो में चरित्र निहित होता है। चरित्र नैतिक निर्णय का विषय है। व्यवहार चरित्र की अभिव्यक्ति है। इसमें ऐच्छिक कर्म और आदतें दोनो शामिल हैं।

१४ धर्म, ज्ञान और आदत।

सक्रेटिस् (Socrates) की धारणा है कि धर्म ज्ञान है। किसी परिस्थिति-विशेष में धर्म के लिये कर्त्तव्य का ज्ञान आवश्यक है। जटिल परिस्थितियो में नैतिक जीवन के लिये मूर्त्त कर्त्तव्यो में नैतिक अन्तर्दृष्टि नितान्त आवश्यक है।

अरिस्टिट्ल (Aristotle) का विचार है कि धर्म आदत है। धर्म के लिये कर्त्तव्य-ज्ञान आवश्यक है अवश्य। किन्तु प्राय सत् का ज्ञान रखते हुए भी वासनाओ के प्रभाव में आकर अथवा सकल्प-शक्ति की निर्वलता के कारण हम असत् कर वैठते हैं। अत धर्म के लिये धर्माचरण का अभ्यास आवश्यक है। धर्माचरण की आदत पड जाने पर चरित्र अच्छा वन जाता है। इस प्रकार धर्म के लिये ज्ञान की अपेक्षा जो कि प्राय वर्तमान होता है आदत अधिक महत्त्वपूर्ण है। धर्म चरित्र का उत्कर्ष है।

मैकॅन्जी का मत इस विषय में मान्य है। उसके अनुसार धर्म ज्ञान भी है और आदत भी। आदत कुछ करने की होती है। उसी आदत का नैतिक महत्व है जिसमें विचारणा और चुनाव के तत्व मौजूद होते हैं। चुनाव तभी नैतिक हो सकता है जव कि हमें सदसत् का विवेक हो। अत धर्म का अन्तिम आधार ज्ञान है।❀

इस लिये धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है जिसकी प्राप्ति कर्त्तव्य करने के अभ्यास से होती हैं, और कर्त्तव्य का ज्ञान नैतिक अन्तर्दृष्टि मे होता है। अरिस्टट्ल कहता है, "मनुष्य तव तक अच्छा नही है जव तक उसे उत्कृष्ट कर्म करने में आनन्द न प्राप्त हो।" धार्मिक व्यक्ति धर्माचरण का अभ्यस्त होता है और उसमें उसे आनन्द मिलता है। जिसे कर्त्तव्य करने में आनन्द का अनुभव नहीं होता उसे धार्मिक कहना कठिन है। इस प्रकार नैतिक जीवन में आदत का वडा महत्व है।

❀ नीति-शास्त्र, पृ० ७१–७२

१६. व्यवहार ।

व्यवहार के अतर्गत ऐच्छिक और अभ्यासजन्य कर्मों का समावेश होता है। अनैच्छिक कर्म व्यवहार में नही आते, क्योकि वे विचारणा, चुनाव, सकल्प और उद्देश्य से शून्य होते हैं। वे उद्देश्यहीन कर्म होते हैं, अत वे नैतिक-गुण रहित होते हैं। व्यवहार में उन कर्मों का समावेश नही होता जो बाहरी दबाव में आकर किये जाते हैं। व्यवहार चुनाव और उद्देश्य से युक्त सकल्प-जनित कर्म है।

व्यवहार सचेतन ऐछिच्क क्रिया है। व्यवहार को बनाने वाले हेतु और साध्य-साधनो का चुनाव है। व्यवहार चरित्र का सूचक है। चुनाव सकल्पात्मक क्रिया है। चुनाव एक स्वतन्त्र क्रिया नही है। अनेक चुनावों की एक श्रेणी बन जाती है जिसके पीछे एक स्थायी प्रवृत्ति काम करती है जिसे चरित्र कहते हैं। व्यवहार इसी चरित्र को अभिव्यक्त करता है।❀ व्यवहार चरित्र का बाह्य प्रकाशन है।

हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) 'व्यवहार'—शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में करता है। वह व्यवहार को कार्यो का ध्येय से समायोजन मानता है, चाहे ध्येय और कार्य चेतन हो या अचेतन, ऐच्छिक हो या अनैच्छिक। इस अर्थ में व्यवहार सभी ध्येय-युक्त जीवन के व्यापारो को समाविष्ट कर लेता है। स्पेन्सर की परिभाषा है कि व्यवहार "आन्तरिक-सम्बन्धो का बाह्य-सम्बन्धो से निरन्तर समायोजन" है। इसमें जीव को वातावरण से समायुक्त करने वाली सभी जीवित-चेष्टाओ का समावेश हो जाता है।

यह व्यवहार के अर्थ का अनुचित विस्तार है। नैतिक-दृष्टि से व्यवहार चरित्र की अभिव्यक्ति है। इसमें केवल ऐच्छिक क्रियायें और उनको दोहराने से जनित आदतें शामिल हैं। 'व्यवहार' शब्द को उन्ही कर्मों तक सीमित रखना चाहिये जो केवल लक्ष्यो से समायोजित ही नहीं है बल्कि जिनका निश्चित-रूप से सकल्प भी किया जाता है। किसी व्यक्ति का व्यवहार उसके चरित्र का प्रकाशन है। व्यवहार कर्मो का उन उद्देश्यों से स्वतन्त्र और चेतन समायोजन है जिनका आत्मा ने विचार करके चुनाव किया है।

१७. चरित्र ।

चरित्र मन की स्थायी प्रवृत्ति है जिसकी उत्पत्ति सकल्पजन्य आदतों से होती है। नोवेलिस (Novalis) चरित्र को 'पूर्णरूप से निर्मित सकल्प' कहता है। यह कर्म करने की स्वेच्छार्जित स्थायी-प्रवृत्तियो का सगठित-रूप है। यह स्वभाव से भिन्न वस्तु है। चरित्र को व्यक्ति अपने ऐच्छिक-कर्मों के द्वारा निर्मित करता है। स्वभाव सहजात होता है, चरित्र अर्जित। स्वभाव प्राकृतिक देन है। यह नैतिक-

❀ नीति-शास्त्र के सिद्धान्त, पृ० ४–५।

जीवन का प्रकृति-प्रदत्त उपादान है। स्वभाव सभी सहजात प्रवृत्तियो और वासनाओ का नाम है। चरित्र अर्जित किया जाता है। यह प्रयत्न और परिश्रम का फल है। यह सकल्प और प्रयास का परिणाम है। चरित्र का निर्माण व्यक्ति अपनी सहज प्रवृत्तियो का बुद्धि के द्वारा नियन्त्रण और परिष्कार करके करता है। इस प्रकार चरित्र-निर्माण स्वभाव से होता है। इसका प्रकाशन दृश्य व्यवहार में होता है। चरित्र और व्यवहार एक-दूसरे से अवियोज्य हैं। चरित्र व्यवहार का अदृश्य पहलू है, और व्यवहार दृश्य।

नैतिकता स्वभाव के उपादान से चरित्र-निर्माण को कहते हैं। जब स्वाभाविक-प्रवृत्तियो का बुद्धि और सकल्प के द्वारा आत्मा नियन्त्रण करता है तो वे स्थिर और स्थायी हो जाती है जिन्हें हम चरित्र कहते हैं। चरित्र-निर्माण के लिये स्वाभाविक-प्रवृत्तियाँ मूल-तत्व हैं। चरित्र सकल्प से पृथक् होकर उस पर वाहर से प्रतिक्रिया करने वाली स्वतन्त्र सत्ता नही है, वल्कि सकल्प का वासनाओ और इच्छाओ का नियमन करने वाला एक अभ्यस्त-रूप है।❀

चरित्र का प्रदर्शन व्यवहार में होता है। व्यवहार चरित्र का वाह्य-रूप है। दोनो एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। वाहरी सकल्पजन्य कर्म अशत पूर्वनिर्मित चरित्र के द्वारा निर्धारित होते हैं। किन्तु उनका पूर्ण-रूप में पूर्वार्जित चरित्र के द्वारा निर्धारण नहीं होता। उनमें इच्छा-स्वातन्त्र्य भी होता है। वे आत्मा के स्वतन्त्र चुनाव के परिणाम हैं। यद्यपि पूर्व-चरित्र भी उन्हें प्रभावित करता है। चरित्र भी पूर्णरूपेण स्थिर और स्थायी नही होता, इसका विकास होता रहता है। स्वतन्त्र ऐच्छिक कर्म पूर्वनिर्मित चरित्र को परिवर्त्तित कर देते हैं। इस प्रकार चरित्र और व्यवहार एक-दूसरे को वनाते हैं। स्थायी चरित्र स्वतन्त्र इच्छाकृत कर्मो के द्वारा निर्मित होने पर भी समरूप-व्यवहार में अभिव्यक्त होता है, जिसकी एक वडी सीमा तक भविष्य-वाणी की जा सकती है। परिवर्तनशील चरित्र विविध स्वाधीन व्यवहार में लक्षित होता है जिसकी भविष्य-वाणी नहीं की जा सकती। व्यवहार चरित्र का वाह्य प्रकाशन है। चरित्र व्यवहार का आन्तरिक रूप है। दोनो नैतिक-निर्णय के विषय हैं, क्योकि उनमें चुनाव, उद्देश्य या सकल्प वर्तमान होते हैं। अत नीति-शास्त्र को व्यवहार की नैतिकता अथवा चरित्र की अच्छाई वुराई का विज्ञान कहते हैं।

१८. परिस्थिति।

किसी व्यक्ति का व्यवहार आशिक-रूप में उसके चरित्र पर निर्भर होता है और आशिक-रूप में भौतिक और सामाजिक वातावरण-गत दशाओ और स्थितियो पर। वाह्य परिस्थितिया व्यवहार का अशत. निर्धारण करती हैं। दृढ-चरित्र वाला व्यक्ति भी परिस्थितियों के प्रभाव मे नहीं वच सकता।

❀ म्यूरहेड।

तो प्रश्न यह है कि परिस्थिति का नैतिक महत्व क्या है ? परिस्थितियाँ केवल बाह्य वातावरण नही है जिसमें मनुष्य निवास करता है। यदि ग्रहो की स्थिति, पृथ्वी के स्तर, पर्वत, समुद्र, हवा और ज्वारभाटा मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित नहीं करते तो वे परिस्थितिया नहीं समझी जा सकती। किन्तु, जलवायु, भूमि की उर्वरता, कोयले या लोहे की उपस्थिति, और अन्य बातें परिस्थितियाँ समझी जाती हैं, क्योंकि वे किसी व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। अध्यापक, मित्र, साथी, रीति-रिवाज, साहित्य और धर्म अधिक महत्वपूर्ण परिस्थितियाँ हैं, क्योकि उनका व्यक्ति के व्यवहार को परिवर्तित करने में बहुत बडा हाथ है।

परिस्थितियाँ केवल बाह्य दशायें मात्र नही हैं। वे बाह्य दशायें तभी तक हैं जब तक वे व्यक्ति के जीवन में प्रवेश पाती हैं। परिस्थितियाँ व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर हैं। वह केवल उन्ही परिस्थितियो पर ध्यान देता है जिनका उसके चरित्र से सामजस्य है। वातावरण-गत अन्य स्थितियो की वह सर्वथा अवहेलना करता है और उन पर ध्यान नही देता। उनका उसके जीवन मे प्रवेश नही होता। वे उसके लिये परिस्थितियाँ नही। इस प्रकार परिस्थितियाँ चरित्र पर आश्रित हैं, वे सर्वथा चरित्र से स्वतन्त्र नही हैं। चरित्र और परिस्थितियाँ मानव-जीवन में दो समकक्ष तत्व नही हैं, क्योकि किसी वातावरण-गत स्थिति का परिस्थिति समझा जाना या न समझा जाना चरित्र पर निर्भर होता है। एक ही भौतिक या सामाजिक दशा एक को उत्तेजित और दूसरे को अनुत्तेजित कर सकती है। अत यद्यपि दशा एक ही है, तथापि परिस्थिति वह दोनो के लिये अलग-अलग है। हवाई हमला बहुत से मनुष्यो को भयाक्रान्त कर देता है, किन्तु चोरो को अरक्षित माल उठाने को प्रोत्साहित करता है। अत चरित्र का प्रभाव परिस्थिति पर भी है, जैसा परिस्थिति का प्रभाव चरित्र पर है।



अध्याय ४

नैतिक निर्णय

१. नैतिक निर्णय का स्वरूप।

नैतिक निर्णय वास्तविकता-सूचक निर्णय से भिन्न एक मूल्यविषयक निर्णय होता है। तथ्यविषयक निर्णय सत्ता-सूचक होता है। मूल्यविशयक निर्णय यह बतलाता है कि होना क्या चाहिये। पहिला वर्णनात्मक निर्णय होता है; दूसरा समालोचनात्मक। नैतिक निर्णय वह मानसिक व्यापार है जो किसी कर्म को सत् या असत् घोषित करता है।

मैकेंजी कहता है कि तर्क-शास्त्र में निर्णय वाक्यार्थक होता है। नैतिक निर्णय भी एक वाक्य होता है। लेकिन यह नैतिक तथ्यों के विषय में वाक्य-मात्र नही, यह उनके ऊपर निर्णय भी देता है। यह नैतिक तथ्यो की एक नैतिक आदर्श या मानदण्ड से तुलना करता है और उन्हें सत् वा असत् घोषित करता है। नैतिक दृष्टिकोण को नियामक कहने का यही तात्पर्य है।* इस प्रकार नैतिक निर्णय कर्म के विषय में वाक्य नहीं, बल्कि कर्म के ऊपर नैतिक आदर्श के दृष्टिकोण से निर्णय है।

नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है। म्युरहेड कहता है कि तथ्य-विषयक निर्णय और मूल्य-विषयक निर्णय में वही अन्तर है जो तार्किक निर्णय और नैयायिक निर्णय में है। नैतिक निर्णय दूसरे प्रकार का होता है।† इस प्रकार नैतिक निर्णय यह निर्देश करता है कि हमारे कर्मों को होना कैसे चाहिये। नैतिक निर्णय में नैतिक आदर्श परम हित का ज्ञान समाविष्ट है। इसमें नीति-विषयक मूल्याकन होता है। यह मूल्य-सूचक है।

किसी कर्म की नैतिकता की पहिचान इस प्रकार होती है। जब हम किसी एच्छिक कर्म को देखते हैं, तो हम नैतिक मानदण्ड से उसकी तुलना करते हैं, और इस प्रकार यह निर्णय करते हैं कि वह उसके अनुसार है या नही। अन्य शब्दो में, नैतिक निर्णय के लिये मानदण्ड को कर्म-विशेष पर लागू करना होता है। अब यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय अनुमानजन्य होता है, क्योकि यह एक सामान्य सत्य के उपनय का फल है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि हमारे सामान्य नैतिक निर्णयो में

---

* नीति-शास्त्र, पृ० १०३।

† नीति-शास्त्र के तत्व; पृ० १९–२०

अनुमान की प्रक्रिया स्पष्ट होती है। अत्यधिक दशाओं में हमारे नैतिक निर्णयों में वर्तमान अनुमान का तत्व अस्पष्ट होता है। केवल जटिल और सन्देहास्पद दशाओं में अथवा विवेचनात्मक परीक्षा करने में ही सम्पूर्ण अनुमान की प्रक्रिया व्यक्त होती है। ऐसी दशाओं में नैतिक मानदण्ड स्पष्टत बुद्धि के आगे होता है और परीक्ष्य जटिल दशा में उसका उपनय होता है। लेकिन, सामान्यतया नैतिक निर्णय आन्तरिक अनुभव के द्वारा तुरन्त हो जाते हैं। वे विचार-जन्य नहीं होते। हम सहज रूप से किसी कर्म को समाज के द्वारा अनुमोदित नैतिक नियम के नीचे लाते हैं और उसके सत्-असत्-भाव को निर्णीत करते हैं। केवल विवादस्पद अवस्था में ही हम वास्तविक परिस्थिति का चिन्तन करते हैं, जान-बूझ कर कर्म की नैतिक आदर्श से तुलना करते है, और उसके सत् या असत् होने का निर्णय करते हैं। इस प्रकार जटिल दशाओं में नैतिक निर्णयों का अनुमानिक स्वरूप स्पष्ट चेतना का विषय बनता है।

नैतिक निर्णय की सम्भावना के लिये, निर्णायक, निर्णय की वस्तु, निर्णय का मानदण्ड, तथा निर्णय करने की शक्ति अथवा नैतिक शक्ति की आवश्यकता होती है। ये चार तत्व नैतिक निर्णय में समाविष्ट हैं।

२. नैतिक निर्णय का तार्किक और सौंदर्य विषयक-निर्णय से भेद।

नीति, तर्क और सौन्दर्यशास्त्र नियामक विज्ञान हैं। वे जीवन के तीन सर्वोच्च आदर्शों के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। नीति-शास्त्र का विषय परम मंगल है, तर्कशास्त्र का परम सत्य और सौंदर्य-शास्त्र का परम सुन्दर। इस प्रकार तार्किक निर्णय सत्य के आदर्श की ओर संकेत करता है, नैतिक निर्णय व्यवहार के आदर्श परम हित की ओर और सौन्दर्य-विषयक निर्णय सौन्दर्य के आदर्श परम सुन्दर की ओर। ये सब आलोचनात्मक निर्णय हैं। किन्तु नैतिक निर्णय सदा नैतिक बाध्यता और नैतिक भावनाओं से युक्त होता है, तार्किक और सौन्दर्य-विषयक निर्णय इनसे युक्त नहीं होते। जब हम किसी कर्म को सत् समझते हैं तो उसे करने के लिये नैतिक बाध्यता महसूस होती है और अनुमोदन की भावना का उदय होता है। जब हम उसे असत् समझते है तो उसे न करने की नैतिक बाध्यता और असम्मति की [illegible] न का उदय होता है। सम्मति, असम्मति, सन्तोष, पश्चाताप, इत्यादि नैतिक [illegible] हैं। नैतिक बाध्यता कर्त्तव्य-बुद्धि को कहते हैं। नैतिक निर्णय का स्वरूप [illegible] होता है और नैतिक भावनायें उसकी सहगामिनी होती हैं। अत उन्हे [illegible] अथवा सौन्दर्य विषयक निर्णयों में विघटित नहीं किया जा सकता, जो कि [illegible] बाध्यता और नैतिक भावनाओं से शून्य होते है। नैतिक बाध्यता भौतिक [illegible] नहीं है, यह कर्त्तव्य कर्म करना चाहिए और अकर्त्तव्य नही करना चाहिये [illegible] अनुभूति है। यह कर्त्तव्य-बोध है।

३. नैतिक निर्णय का विषय ।

हम जान चुके हैं कि इच्छाकृत-कर्म और अभ्यासजनित-कर्म नैतिक निर्णय के विषय हैं। अनैच्छिक कर्मों का समावेश नैतिक निर्णय के क्षेत्र में नही होता। अभ्यासजनित कर्म नैतिक निर्णय के विषय इसलिये हैं कि वे बार-बार किये गये ऐच्छिक कर्मों के फल हैं। इस प्रकार केवल ऐच्छिक कर्मों के ऊपर सत्-असत् होने का निर्णय दिया जाता है। जिसका सकल्प नहीं किया गया है, उसका नैतिक-मूल्य भी नही है।

किन्तु, ऐच्छिक कर्म की तीन अवस्थायें होती हैं: (१) प्रयोजन, अभिप्राय, इच्छा, विचारणा, चुनाव और सकल्प की आन्तरिक अवस्था; (२) शारीरिक-क्रिया की अवस्था अथवा अग-सचालन, (३) परिणामो की वाह्य-अवस्था। अब प्रश्न उठता है:—

(१) हम किसी कर्म की प्रेरणा के आधार पर निर्णय करते हैं या परिणामो के आधार पर?

नैतिक निर्णय सब प्रकार के कर्मो पर नही दिये जाते, बल्कि केवल व्यवहार पर। किन्तु, व्यवहार या इच्छाकृत-कर्म के दो पहलू होते हैं इच्छा और कर्म, इसमें एक आन्तरिक प्रेरक-तत्व होता है और एक बाह्य परिणाम।

सुखवादी और सहज-ज्ञानवादियो में इस विषय में बड़ा विवाद चलता है सुखवादियों का मत है कि किसी कर्म का सदसत्-भाव परिणामो पर निर्भर है, सहजज्ञानवादी कहते हैं कि अन्तरस्थ प्रेरणा के ऊपर। बेन्थम कहता है कि यदि प्रेरणा शुभ या अशुभ है तो केवल "उसके परिणामो के कारण।" इसी प्रकार मिल कहता है कि "प्रेरणा का कर्म की नैतिकता से कोई सम्बन्ध नही।" बेन्थम और मिल जो कि सुखवादी हैं 'प्रेरणा' का प्रयोग 'कर्म के स्रोत' के अर्थ में करते हैं। सुख तथा दुख के भाव कर्म के स्रोत हैं। यह अयथार्थ है। उद्देश्य का विचार वास्तविक प्रेरणा है। यह आत्मा को कर्म के लिये प्रवृत्त करता है। यह कर्म का लक्ष्य है। इसके विपरीत काट (Kant) कहता है, "हमारे कर्मों के फल उनके नैतिक-मूल्य के कारण नही हो सकते।" बटलर (Bu tler) कहता है, "किसी कर्म का सत् वा असत् भाव अधिकाश उस प्रेरणा पर निर्भर होता है जिसके लिये वह किया जाता है।" कांट और बटलर सहजज्ञानवादी और बुद्धिवादी हैं।

तो क्या नैतिक निर्णय का विषय ऐच्छिक कर्म की प्रेरणा है या उसके परिणाम? इनमें से कौन उसकी नैतिकता को निर्धारित करता है? जब आन्तरिक प्रेरणा और बाह्य परिणाम में साम्य होता है तो दोनो नैतिक निर्णय के विषय होते हैं। प्रेरणा और परिणाम में वास्तविक असगति नही है। प्रेरणा ही बाह्य परिणाम है जिसका पूर्वज्ञान और इच्छा होती है। परिणाम अन्तरस्थ प्रेरणा का बाह्य प्रकाशन

अनुमान की प्रक्रिया स्पष्ट होती है। अत्यधिक दशाओ में हमारे नैतिक निर्णयो में वर्तमान अनुमान का तत्व अस्पष्ट होता है। केवल जटिल और सन्देहास्पद दशाओ में अथवा विवेचनात्मक परीक्षा करने में ही सम्पूर्ण अनुमान की प्रक्रिया व्यक्त होती है। ऐसी दशाओं में नैनिक मानदण्ड स्पष्टत बुद्धि के आगे होता है और परीक्ष्य जटिल दशा में उसका उपनय होता है। लेकिन, सामान्यतया नैतिक निर्णय आन्तरिक अनुभव के द्वारा तुरन्त हो जाते हैं। वे विचार-जन्य नहीं होते। हम सहज रूप से किसी कर्म को समाज के द्वारा अनुमोदित नैतिक नियम के नीचे लाते हैं और उसके सत्-असत्-भाव को निर्णीत करते हैं। केवल विवादस्पद अवस्था में ही हम वास्तविक परिस्थिति का चिन्तन करते हैं, जान-बूझ कर कर्म की नैतिक आदर्श से तुलना करते हैं, और उसके सत् या असत् होने का निर्णय करते हैं। इस प्रकार जटिल दशाओं में नैतिक निर्णयो का अनुमानिक स्वरूप स्पष्ट चेतना का विषय बनता है।

नैतिक निर्णय की सम्भावना के लिये, निर्णायक, निर्णय की वस्तु, निर्णय का मानदण्ड, तथा निर्णय करने की शक्ति अथवा नैतिक शक्ति की आवश्यकता होती है। ये चार तत्व नैतिक निर्णय में समाविष्ट हैं।

२. नैतिक निर्णय का तार्किक और सौंदर्य विषयक-निर्णय से भेद।

नीति, तर्क और सौन्दर्यशास्त्र नियामक विज्ञान हैं। वे जीवन के तीन सर्वोच्च आदर्शो के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। नीति-शास्त्र का विषय परम मंगल है, तर्कशास्त्र का परम सत्य और सौंदर्य-शास्त्र का परम सुन्दर। इस प्रकार तार्किक निर्णय सत्य के आदर्श की ओर संकेत करता है, नैतिक निर्णय व्यवहार के आदर्श परम हित की ओर और सौन्दर्य-विषयक निर्णय सौन्दर्य के आदर्श परम सुन्दर की ओर। ये सब आलोचनात्मक निर्णय हैं। किन्तु नैतिक निर्णय सदा नैतिक बाध्यता और नैतिक भावनाओ से युक्त होता है, तार्किक और सौन्दर्य-विषयक निर्णय इनसे युक्त नहीं होते। जब हम किसी कर्म को सत् समझते हैं तो उसे करने के लिये नैतिक बाध्यता महसूस होती है और अनुमोदन की भावना का उदय होता है। जब हम उसे असत् समझते हैं तो उसे न करने की नैतिक बाध्यता और असम्मति की भावना का उदय होता है। सम्मति, असम्मति, सन्तोष, पश्चाताप, इत्यादि नैतिक भावनायें हैं। नैतिक बाध्यता कर्त्तव्य-बुद्धि को कहते हैं। नैतिक निर्णय का स्वरूप बाध्यता-मूलक होता है और नैतिक भावनायें उसकी सहगामिनी होती हैं। अत उन्हें तार्किक अथवा सौन्दर्य विषयक निर्णयो में विघटित नहीं किया जा सकता, जो कि नैतिक बाध्यता और नैतिक भावनाओ से शून्य होते हैं। नैतिक बाध्यता भौतिक दबाव नही है, यह कर्त्तव्य कर्म करना चाहिए और अकर्त्तव्य नही करना चाहिये इस अनुभूति है। यह कर्त्तव्य-बोध है।

३. नैतिक निर्णय का विषय ।

हम जान चुके हैं कि इच्छाकृत-कर्म और अभ्यासजनित-कर्म नैतिक निर्णय के विषय हैं। अनैच्छिक कर्मों का समावेश नैतिक निर्णय के क्षेत्र में नही होता। अभ्यासजनित कर्म नैतिक निर्णय के विषय इसलिये हैं कि वे बार-बार किये गये ऐच्छिक कर्मों के फल हैं। इस प्रकार केवल ऐच्छिक कर्मों के ऊपर सत्-असत् होने का निर्णय दिया जाता है। जिसका सकल्प नहीं किया गया है, उसका नैतिक-मूल्य भी नहीं है।

किन्तु, ऐच्छिक कर्म की तीन अवस्थायें होती हैं : (१) प्रयोजन, अभिप्राय, इच्छा, विचारणा, चुनाव और सकल्प की आन्तरिक अवस्था, (२) शारीरिक-क्रिया की अवस्था अथवा अग-सचालन ; (३) परिणामो की वाह्य-अवस्था। अब प्रश्न उठता है —

(१) हम किसी कर्म की प्रेरणा के आधार पर निर्णय करते हैं या परिणामों के आधार पर ?

नैतिक निर्णय सब प्रकार के कर्मों पर नही दिये जाते, वल्कि केवल व्यवहार पर। किन्तु, व्यवहार या इच्छाकृत-कर्म के दो पहलू होते हैं · इच्छा और कर्म, इसमें एक आन्तरिक प्रेरक-तत्व होता है और एक वाह्य परिणाम।

सुखवादी और सहज-ज्ञानवादियों में इस विषय में बडा विवाद चलता है सुखवादियो का मत है कि किसी कर्म का सदसत्-भाव परिणामों पर निर्भर है, सहजज्ञानवादी कहते हैं कि अन्तरस्थ प्रेरणा के ऊपर। वेन्थम कहता है कि यदि प्रेरणा शुभ या अशुभ है तो केवल "उसके परिणामो के कारण।" इसी प्रकार मिल कहता है कि "प्रेरणा का कर्म की नैतिकता से कोई सम्बन्ध नही।" वेन्थम और मिल जो कि सुखवादी हैं 'प्रेरणा' का प्रयोग 'कर्म के स्रोत' के अर्थ में करते हैं। सुख तथा दुख के भाव कर्म के स्रोत हैं। यह अयथार्थ है। उद्देश्य का विचार वास्तविक प्रेरणा है। यह आत्मा को कर्म के लिये प्रवृत्त करता है। यह कर्म का लक्ष्य है। इसके विपरीत काट (Kant) कहता है, "हमारे कर्मों के फल उनके नैतिक-मूल्य के कारण नही हो सकते।" वटलर (Bu tler) कहता है, "किसी कर्म का सत् वा असत् भाव अधिकाश उस प्रेरणा पर निर्भर होता है जिसके लिये वह किया जाता है।" कॉट और वटलर सहजज्ञानवादी और बुद्धिवादी हैं।

तो क्या नैतिक निर्णय का विषय ऐच्छिक कर्म की प्रेरणा है या उसके परिणाम ? इनमें से कौन उसकी नैतिकता को निर्धारित करता है ? जब आन्तरिक प्रेरणा और बाह्य परिणाम में साम्य होता है तो दोनो नैतिक निर्णय के विषय होते हैं। प्रेरणा और परिणाम में वास्तविक असगति नही है। प्रेरणा ही वाह्य परिणाम है जिसका पूर्वज्ञान और इच्छा होती है। परिणाम अन्तरस्थ प्रेरणा का बाह्य प्रकाशन

है। प्रेरणा अथवा अभीष्ट लक्ष्य का विचार निश्चय ही नैतिक निर्णय का विषय है। परिणाम भी जहां तक अन्तरस्थ उद्देश्य की सिद्धि करता है वहाँ तक नैतिक निर्णय का विषय हैं।

किन्तु, कभी-कभी यह पाया जाता है कि उद्देश्य तो शुभ है किन्तु परिणाम अशुभ हो जाता है। यथा, एक कुशल चिकित्सक रोगी को अच्छा करने के लिये बहुत सावधानी के साथ शल्य-क्रिया करता है, किन्तु उसके उत्तम प्रयत्न करने पर भी रोगी की मृत्यु हो जाती है। यहाँ फल अशुभ हुआ, जबकि उद्देश्य शुभ था। चिकित्सक की प्रवृत्ति बुरी नहीं थी, इसलिये उसका कार्य बुरा नहीं कहा जा सकता। फिर, कभी-कभी उद्देश्य तो बुरा होता है, लेकिन परिणाम अच्छा हो जाया करता है। डा० जौनसन (Johnson) ने कहा है कि "किसी कर्म की नैतिकता उस उद्देश्य पर आश्रित होती है जिससे हम कर्मपर होते हैं। यदि मैं किसी भिखमंगे पर एक रुपया इस अभिप्राय से फेंकू कि उसका सिर टूट जाय, और वह उसे उठा कर कोई खाने की वस्तु खरीद ले, तो कर्म का बाह्य परिणाम तो शुभ हुआ, किन्तु मेरे लिये यह कार्य बहुत बुरा हुआ।" यहाँ पर कार्य प्रत्यक्षत अशुभ है, क्योंकि प्रवृति अशभ है। इस प्रकार जब अन्तरस्थ प्रेरणा और बाह्य परिणाम में विरोध होता है, तो कर्म की नैतिकता का निर्णय आन्तरिक उद्देश्य से होता है, न कि परिणाम से।

(२) केवल प्रेरणा अथवा प्रयोजन नैतिक निर्णय का विषय है अथवा अभिप्राय।

बेन्थम प्रेरणा को सुख और दुख के अर्थ में प्रयुक्त करता है जो कि कार्यों के स्रोत हैं। वह कहता है, 'प्रेरणा वस्तुत विशेष-रूपो में काम करने वाले सुख और दुःख के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" बेन्थम अभिप्राय का प्रयोग कर्म के लक्ष्य के अर्थ में करता है, जो कर्त्ता को कर्म करने के हेतु प्रोत्साहित और निरुत्साह करते हैं। अत वह अभिप्राय को नैतिक निर्णय का विषय मानता है। उसकी स्पष्टोक्ति है कि सभी प्रेरणायें नैतिक दृष्टि से एक ही प्रकार की होने के कारण निर्दोष हैं—सब सुख प्राप्ति और दुख-निरोध के लिये होती हैं। इसी प्रकार मिल की धारणा है कि कर्म के स्रोत के अर्थ में अथवा सुख और दुख के भावों के अर्थ में प्रेरणा नैतिक निर्णय का विषय नहीं, बल्कि अभिप्राय अथवा कर्म का लक्ष्य उसका विषय है। वह कहता है, "कर्म की नैतिकता पूर्णतया अभिप्राय अर्थात् कर्त्ता का जिसे करने का सकल्प होता है उसके ऊपर निर्भर है। किन्तु प्रेरणा अर्थात् उसकी चिकीर्षा का प्रवर्त्तक भाव, जब कार्य में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं कर सकती तो उसकी नैतिकता में भी नहीं कर सकती।"

यह मत भ्रामक है। प्रेरणा कर्म का स्रोत अथवा सुख या दुख का भाव

नहीं। भाव उद्देश्यहीन होता है। वह विचारवान कर्त्ता को सक्रिय नही कर सकता। प्रेरणा कर्म का उद्देश्य होती है। यह कर्म का उद्देश्य कारण है, निमित्त कारण नही। यह आत्मा को कर्म करने के लिये पीछे से नहीं धकेलती, वल्कि आगे से खींचती है। यह आत्मा को कार्य के लिये प्रेरित करती है। अत इस अर्थ में प्रेरणा अथवा प्रयोजन नैतिक निर्णय का विषय है। लेकिन सुख और दुःख के भाव जो कर्म के स्रोत है कभी नैतिक निर्णय के विषय नही हो सकते। जैसी वेन्थम की उक्ति है, वे नैतिक-दृष्टि से निर्दोष हैं। यहाँ तक वेन्थम ठीक कहता है। लेकिन वेन्थम और मिल 'प्रेरणा' शब्द को ग़लत अर्थ में ग्रहण करते हैं।

प्रयोजन आत्मा के द्वारा चुने हुये लक्ष्य का विचार है। यह अभिप्राय का एक भाग है। क्या प्रयोजन एकान्त-रूप से नैतिक निर्णय का विषय है? अथवा अभिप्राय इसका विषय है? क्या कर्म इसलिये सत् है कि उसका उद्देश्य शुभ है? अथवा इसलिये कि उसका अभिप्राय शुभ है? यदा कदा चुना हुआ उद्देश्य शुभ होता है, किन्तु उसकी सिद्धि के हेतु प्रयुक्त उपाय अशुभ। क्या जिस कार्य में शुभ उद्देश्य की सिद्धि अशुभ साधनों से हुई है वह सत् समझा जा सकता है? क्या साध्य से साधनो का औचित्य सिद्ध हो सकता है? कहा जाता है कि सेंट क्रिस्पिन (St Crispin) गरीवो के लिये जूते-बनाने के लिये अमीरो से चमडा चुराया करता था। क्या यह कर्म उचित है? प्रत्यक्षत· हम उसके व्यवहार को अच्छा नही कह सकते, क्योकि यद्यपि उसका उद्देश्य अच्छा था, तथापि उसने अनैतिक उपाय का प्रयोग किया। एक वाणिक् धन-प्राप्ति के लिये अनुचित उपाय काम में लाता है। उसका उद्देश्य—लाभ बुरा नहीं है। किन्तु उपाय बुरे हैं। इस कारण उसका कार्य अनुचित हो जाता है। इस प्रकार हम इस सिद्धान्त पर पहुचते हैं कि अभिप्राय नैतिक निर्णय का विषय है। इसमें प्रयोजन अथवा उद्देश्य का विचार तथा साधनों का विचार दोनो का समावेश होता है। कोई कर्म सत् है यदि उसका अभिप्राय शुभ है, अर्थात् यदि साध्य और साधन दोनों शुभ हैं। साध्य के औचित्य से साधनो का औचित्य कभी भी सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार प्रयोजन वा लक्ष्य एकान्त-रूप से किसी कार्य की नैतिकता को निर्धारित नही कर सकता। यदि कर्त्ता का अभिप्राय ठीक है तो कर्म भी ठीक है। अभिप्राय के असत् होने से कर्म भी असत् हो जाता है। शब्दान्तर में, कर्म की अच्छाई के लिए साध्य और साधन दोनो को अच्छा होना पडेगा, यदि दोनों में से एक भी बुरा है तो कर्म भी बुरा होगा। महात्मा गान्धी ने इस वात पर बहुत जोर दिया है। शुभ उद्देश्य अशुभ साधन को कभी शुभ नही वना सकता। परन्तु मार्क्स-पन्थी साम्यवादी का मन इसका विपरीत है।

मैकेंजी विविध प्रकार के अभिप्रायों में भेद दिखलाता है।

प्रथम, कर्म के समीपस्थ और दूरस्थ अभिप्रायो में भेद होता है। दो व्यक्तियो

का समीपस्थ अभिप्राय एक ही हो सकता है, यथा, किसी अपराधी को डूबने से बचाना। किन्तु दोनो के दूरस्थ अभिप्राय भिन्न हो सकते हैं। एक का अभिप्राय उसके जीवन की रक्षा हो सकती है, दूसरे का अभिप्राय उसे पुलिस को सौंप कर फांसी दिलवाना।। कभी कभी दूरस्थ अभिप्राय ग़लती से प्रयोजन कहलाया जाता है। समीपस्थ और दूरस्थ अभिप्राय दोनो नैतिक निर्णय के विषय है। वह कर्म असत् है जिसका दूरस्थ अभिप्राय असत् तथा निकटस्थ अभिप्राय सत् है।

द्वितीय, कर्म के आन्तरिक और वाह्य अभिप्रायो में अन्तर है। यदि कोई भिखमगा आपके पास आता है, और आप अपने हृदय से उसके दुख-दर्शन से जनित वेदना को दूर करने के हेतु उसकी सहायता करते हैं तो आपका बाह्य अभिप्राय तो पीडित मनुष्य की सहायता है, लेकिन आन्तरिक अभिप्राय अपनी ही वेदना को हटाना है। कर्म का आन्तरिक अभिप्राय नैतिक निर्णय का विषय है। केवल बाह्य कर्म नैतिक निर्णय का विषय नही है।

तृतीय, कर्म के अपरोक्ष और परोक्ष अभिप्रायो में अन्तर है। जब किसी आतकवादी ने ज़ार के वध के लिये गाडी के ऊपर बम फेंका था तो उसका अपरोक्ष अभिप्राय जार की मृत्यु था, किन्तु परोक्ष अभिप्राय गाडी में जाने वाले अनेक व्यक्तियो की मृत्यु। अपरोक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के अभिप्राय नैतिक निर्णय के विषय हैं।

चतुर्थ, कर्म के ज्ञात और अज्ञात अभिप्रायो में अन्तर है। अज्ञात अभिप्राय मन के अर्धचेनन स्तर में निहित होता है, फिर भी कर्म को प्रभावित करता है, किन्तु, कर्ता उसको स्वीकार नही करता। कोई मन्त्री अपने प्रभुत्व की वृद्धि के लिये अथवा स्वार्थपूर्वक किमी योजना को कार्यान्वित कर सकता है, किन्तु वह इसे स्वीकार नही करता और अपना वास्तविक अभिप्राय देश-हित वतलाता है। ज्ञात अभिप्राय नैतिक निर्णय का विषय है ही। अवचेतन अभिप्राय भी, जब कर्त्ता को उसका ज्ञान हो जाता है, तो चाहे वह उसको स्वीकार न करे, नैतिक निर्णय का विषय है।

पचम, कर्म के आदर्शगत और वस्तुगत अभिप्रायो में अन्तर है। वस्तुगत अभिप्राय कर्म का अभीष्ट फल है, आदर्शगत अभिप्राय कर्म में मूर्त्त सिद्धान्त है। अनुदारदलीय लोग और समाजवादी दोनों का उद्देश्य इगलैण्ड की उदारदलीय सरकार को उलटना हो सकना है। दोनो के वस्तुगत-अभिप्राय एक ही हैं। किन्तु उनके आदर्शगत अभिप्राय भिन्न भिन्न हैं। अनुदारदलीय लोग सोचते हैं कि उदार-दलीय सरकार वहुत अधिक प्रगतिवादी है, जवकि समाजवादी सोचते हैं कि वह आवश्यकता से अधिक अनुदार है। आदर्शगत और वस्तुगत दोनो प्रकार के अभिप्राय नैतिक निर्णय के विषय हैं। विभिन्न आदर्शो से प्रेरित होकर हिन्दु महासभा तथा साम्यवादी कांग्रेस-दलीय सरकार को भारत में उलटना चाहते हैं।

अभिप्राय उद्देश्य और उपाय दोनो से मिलकर बनता है। उद्देश्य वह है जिसे सकल्प के विषय के रूप में निश्चित-रूप से स्वीकृत किया जाता है और उपाय वह है जिसे कर्त्ता ने उदेश्य-प्राप्ति के लिये आवश्यक माना है। नैतिक निर्णय का विषय सम्पूर्ण अभिप्राय है, केवल प्रयोजन वा प्रेरणा नही।

(३) नैतिक-निर्णय का विषय अभिप्राय है या चरित्र ?

अभिप्राय एक स्वतन्त्र मानसिक व्यापार नही है। यह चरित्र का प्रकाशन है। यह सदैव बारम्बार किये गये ऐच्छिक कर्मों से अर्जित स्थायी मनोवृत्ति अथवा चरित्र से प्रभावित होता है। अत कुछ लोगो की धारणा है कि अन्ततोगत्वा चरित्र ही नैतिक निर्णय का विषय है। मैकेंजी का कथन है, "केवल सकीर्ण अर्थ में ही यह कहा जा सकता है कि नैतिक निर्णय केवल अभिप्राय के ऊपर या केवल उद्देश्य के ऊपर दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि पूर्णतया विकसित निर्णय प्रत्यक्षत. अथवा परोक्षत सदैव कर्त्ता के चरित्र के ऊपर दिया जाता है। हम केवल किये हुये कर्म के ऊपर नहीं, बल्कि करने वाले व्यक्ति के ऊपर भी नैतिक निर्णय देते हैं।"*

यह मत आपत्तिजनक है। हम व्यक्ति के चरित्र के ऊपर तभी निर्णय देते हैं जब हमारा अभीष्ट उसका नैतिक मूल्यांकन होता है। किन्तु, किसी कर्म की नैतिकता हम कर्त्ता के चरित्र का विचार करके नही निर्धारित करते, क्योंकि किसी सच्चरित्र व्यक्ति का अभिप्राय सदैव अच्छा नही होता, और इसी प्रकार किसी दुश्चरित्र व्यक्ति का अभिप्राय आवश्यक-रूप से सदैव बुरा नही होता। अत अभिप्राय को नैतिक निर्णय का विषय मानना अपेक्षाकृत अधिक वाँच्छनीय है। कर्त्ता का अभिप्राय कर्म की नैतिकता का निर्धारण करता है।

संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है —

इच्छाकृत-कर्म या चुने हुये उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया हुआ कर्म नैतिक निर्णय का विषय है। अनैच्छिक कर्म, इसका विषय नही है।

बाह्य-परिणाम जोकि अन्तरस्थ प्रयोजन या अभिप्राय का प्रकाशन है नैतिक निर्णय का विषय है। प्रत्याशित अथवा अभिप्रेत परिणाम कर्म की नैतिकता को निर्धारित करते हैं। अप्रत्याशित तथा अनभिप्रेत बाह्य परिणाम नैतिक निर्णय का विषय नही होते।

जब बाह्य परिणाम आन्तरिक उद्देश्य के अनुरूप नहीं होता तो प्रयोजन ही—परिणाम नही—नैतिक निर्णय का विषय होता है।

किन्तु, अकेला प्रयोजन ही कर्म की नैतिकता के निर्धारण के लिये पर्याप्त नही है। प्रयोजन का समाविष्ट करने वाला अभिप्राय नैतिकता का निर्धारण करता है। कर्म की अच्छाई के लिये साध्य और साधन दोनो को अच्छा होना चाहिये। साध्य

* नीति-शास्त्र ; पृ० १११।

के औचित्य के आधार पर साधनो का औचित्य सिद्ध नहीं हो सकता। यदि उद्देश्य शुभ है लेकिन प्रयुक्त उपाय अशुभ है तो कर्म को अशुभ समझना चाहिये।

यह मत कि अकेला चरित्र नैतिक निर्णय का विषय होता है नितान्त भ्रामक है। यह व्यक्ति के नैतिक मूल्य का निर्धारण कर सकता है, लेकिन उसके कर्म-विशेष का नही। कर्म की नैतिकता कर्त्ता के अभिप्राय के ऊपर आश्रित होती है।

४ नैतिक निर्णय का कर्त्ता।

नैतिक निर्णय कौन देता है ? नैतिक निर्णय का देने वाला या तो विवेकयुक्त आत्मा है या आदर्श आत्मा। आत्मा अपने ही अभिप्रायो और कर्मों पर निर्णय देता है और दूसरों की प्रेरणाओ, अभिप्रायो तथा कर्मों पर भी।

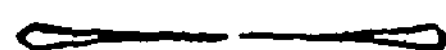
मैकेंजी नैतिक निर्णय के कर्ता का अर्थ उस दृष्टिकोण को समझता है जिससे कोई कर्म भला या बुरा निर्धारित किया जाता है। कोई व्यक्ति किसी कर्म को किसी आदर्श मानदण्ड के दृष्टिकोण से सत् वा असत् निर्णीत करता है।

शेफ्ट्सबरी (Shaftesbury) एक नैतिक-सवित्-वादी है, और उसका मत है कि किसी कला-कृति को अच्छा या बुरा, सुन्दर या असुन्दर कला-विशेषज्ञ ही निर्णीत करता है। कलाकार सौन्दर्य की प्रशसा के लिये कला-विशेषज्ञ के निर्णय की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार, व्यवहार के नैतिक मूल्यांकन के हेतु हम नीति-विशेषज्ञ के निर्णय पर आश्रित हैं।

कला का उद्देश्य किसी फल का उत्पादन होता है। यह फल सुन्दर है या असुन्दर इसका न्याय आलोचक ही करता है। किन्तु नीति में कर्म के ऊपर—उसके परिणाम के ऊपर नही—निर्णय देना होता है। कर्म का कर्त्ता ही उसका निर्णय कर चुका है। उसने समझ बूझ कर उसे चुना है। यदि उसका कर्म अनुचित है, तो इसका निर्णय केवल नीति-विशेषज्ञ ही नहीं करता, वल्कि जब वह स्वय उसके ऊपर विचार करता है तो वह भी। इस प्रकार नैतिक निर्णय का कर्त्ता नीति-विशेषज्ञ नही, बल्कि कर्त्ता पुरुष स्वय होता है। बौद्धिक आत्मा अथवा आदर्श आत्मा ही नैतिक निर्णय का कर्त्ता है।

ऐडम स्मिथ (Adam Smith) का मत शेफ्ट्सबरी के मत के समान है। उसकी धारणा है कि व्यक्ति अपने और दूसरों के कर्मो पर निरपेक्ष दृष्टा दृष्टिकोण मे निर्णय देता है। हम दूसरो के चरित्र और व्यवहार के ऊपर नैतिक निर्णय देते हैं। तब हमें ज्ञात होता है कि वे भी हमारे व्यवहार और चरित्र के ऊपर निर्णय देते हैं। इस प्रकार हम अपने ही उद्देश्यो, अभिप्रायो और कर्मों पर विचार करने लगते हैं और हमें जिज्ञासा होती है कि हम किस सीमा तक उनकी निन्दा अथवा स्तुति के पात्र हैं। इस विधि मे हम अपने ही व्यवहार के द्रष्टा हो जाते हैं।

इस मत में कुछ सत्य का अंश है। नैतिक निर्णय का दृष्टिकोण निष्पक्ष विचार का दृष्टिकोण है। हमें निष्पक्ष आलोचक बन कर अपने कर्मों की परीक्षा करनी चाहिये। व्यक्ति का अन्तरस्थ निर्णायक उसका आदर्श आत्मा है। परीक्ष्य व्यक्ति वास्तविक आत्मा है। यह भी सत्य है कि नैतिक चेतना का विकास सामाजिक सम्पर्क से होता है। किन्तु, यह आवश्यक नहीं कि हम अपने कर्मों का निर्णय करने के पूर्व दूसरो के कर्मों का निर्णय करें। पहिले हम अपनी प्रवृत्तियो और अभिप्रायो से परिचित होते हैं और उनके सत्-असत्-भाव का निर्णय करते हैं। फिर हमें अपने अनुभव के प्रकाश में उनके कर्मों से उनकी प्रवृत्तियों और अभिप्रायों का अनुमान होता है। फिर भी ऐडम स्मिथ स्पष्टतया कहता है कि नैतिक निर्णय का संकेत व्यक्ति के दृष्टिकोण से उच्चतर दृष्टिकोण की ओर होता है। यह उच्चतर दृष्टिकोण आदर्श आत्मा का होता है। बौद्धिक अथवा आदर्श आत्मा अपनी क्रिया तथा अन्यो के कर्म पर नैतिक निर्णय देता है। बौद्धिक, विवेकयुक्त, आदर्श आत्मा नैतिक निर्णय का कर्ता है।



अध्याय ५

नैतिक प्रत्यय

१. नैतिक प्रत्यय।

नीति-शास्त्र व्यवहार की नैतिकता का विज्ञान है। यह कर्मों के सत्-असत्-भाव का, नैतिक गुण-दोष का, अच्छे-बुरे कर्मों में प्रवृत्त नैतिक कर्ताओं की सच्चरित्रता और असच्चरित्रता का समाज में रहने वाले व्यक्तियो के अधिकार, कर्त्तव्य और चरित्र-गुणो या धर्मों का, उनकी सकल्प-स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व का विवेचन करता है। नैतिक चेतना में सन्निहित इन्ही आधारभूत प्रत्ययों का सम्यक् विवेचन लक्ष्य है। सत् और शुभ के प्रत्यय इन सब नैतिक प्रत्ययों में अधिक मौलिक है।

२. सत् और असत्।

'सत्' का अर्थ है नियमानुसारी। जब कोई कर्म किसी आचारविषयक नियम से सगति रखता है तो उसे 'सत्' कहा जाता है। आचारविषयक नियम का व्यतिक्रम जिससे होता है उसको असत्कर्म कहते हैं। यह नियम का अनुवर्त्ती होता है। प्रत्येक नियम किसी ध्येय को लेकर चलता है, जिसकी पूर्ति इसका लक्ष्य होता है। इस ध्येय की 'शुभ' सज्ञा है। सदसत् के प्रत्ययो का सम्बन्ध नैतिक नियमो से होता है जिनका लक्ष्य अत्युत्तम शुभ अथवा परम मगल है।

३ सत् और शुभ।

'सत्' 'शुभ' की प्राप्ति का साधन है। सत्कर्म वह है जो 'शुभ' की प्राप्ति में सहायक हो। असत्कर्म वह है जो 'अशुभ' का कारण हो। सत् का प्रत्यय शुभ के प्रत्यय से गौण-कोटि का है। 'सत' शुभ' मा साधक है। 'शुभ' एक आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये व्यक्ति को आत्म-पूर्णता के हेतु प्रयत्न करना चाहिये। यह वह आदर्श है जो उसके बौद्धिक स्वरूप की तुष्टि करता है। यह वह आदर्श है जो उसके इन्द्रिय-पर स्वभाव की आवश्यकताओ की उच्चतर-बुद्धि सम्मत नियम के अनुसार पूर्ति करता है। यह वह आदर्श है जो उसकी सम्पूर्ण आत्मा को—इन्द्रियमय और बुद्धिमय दोनों को—सन्तुष्टि प्रदान करता है। सत् का प्रत्यय नैतिक नियम अथवा कर्त्तव्य-नियम के प्रत्यय से व्युत्पन्न हुआ है। नैतिक नियम प्राकृतिक नियम नही। यह वास्तविकता का कथन-मात्र नही है। नैतिक नियम उसका नियम है जिसे 'है' या होना चाहिये।' 'सत्' वैधानिक नीति-शास्त्र का आधारभूत प्रत्यय है। 'शुभ' उद्देश्यवादी नीति-शास्त्र का मूलभूत प्रत्यय है।

सत्-भाव या अच्छाई नैतिक गुण है। असत्-भाव या बुराई नैतिक दोष है। शुभ नैतिक मगल या हित है। सत्-कर्म हित का साधन है। असत्-कर्म अहित का साधन है। 'शुभ' का प्रत्यय मुख्य है। 'सत्' का प्रत्यय गौण है। शुभ का प्रत्यय के विना सत् का प्रत्यय की व्याख्या नही हो सकती।

४ शुभ और अत्युत्तम शुभ।

जो किसी आवश्यकता की पूर्ति करे अथवा किसी इच्छा की तृप्ति करे वह 'शुभ' है। स्वास्थ्य, सम्पत्ति, ज्ञान, सस्कृति इत्यादि 'शुभ' हैं। कुछ वस्तुयें हमारी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं। वे शारीरिक 'शुभ' हैं। कुछ वस्तुयें जो आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करती है आर्थिक 'शुभ' हैं। सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाली वस्तुयें सामाजिक 'शुभ' हैं। कुछ वस्तुयें हमारी बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्य-भोग सम्बन्धी आवश्यकताओ की साधक हैं। उन्हें सत्य, शिव (परम शुभ या नि श्रेयस), और सुन्दर कहते हैं। शुभ वस्तुओ की एक क्रमिक-श्रेणी है जिसके शिखर पर अत्युत्तम शुभ विराजमान है। यह परम मगल है। यह मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। यह शुद्ध शुभ है। यह किसी उच्चत्तर शुभ का साधन नहीं। यह स्वत वाञ्छनीय है।

५. अधिकार और कर्त्तव्य।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज का सदस्य है। उसकी अत्युत्तम शुभ की साधना समाज में ही होती है। सामाजिक या सामान्य हित के लिये समाज अपने सदस्यो को कुछ नैतिक अधिकार देता है। व्यक्ति समाज के द्वारा सरक्षित इन अधिकारो का उपभोग करता है। उसके अधिकारो का विरोध कोई नही कर सकता। दूसरो को उनका सम्मान करना चाहिये। जो दूसरो के अधिकारों का उल्लंघन करते हैं वे समाज द्वारा दण्डनीय हैं। यथा, 'अ' को कुछ वस्तुओ जैसे सम्पत्ति रखने का अधिकार प्राप्त है। तो 'ब', 'स' इत्यादि अन्य समाज के सदस्यो का 'अ' के अधिकारो का सम्मान करने का नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है। जो 'अ' का नैतिक अधिकार है वही दूसरो का नैतिक कर्त्तव्य है। अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष हैं। एक का दूसरे से वियुक्त होना अपने को निरर्थक कर देना है। उनकी सत्ता और प्रामाणिकता का स्रोत समाज है। समाज व्यक्तियो को अधिकार देता है और उनके ऊपर कर्त्तव्य लाद देता है। समाज ही अधिकार और कर्त्तव्यो की सृष्टि करता है, उनको जीवन देता है, अक्षुण्ण बनाये रखता है और व्यक्तियो को उन्हें मानने के लिये बाध्य करता है। यदि समाज नही हो, तो अधिकार तथा कर्त्तव्य अर्थहीन होंगे।

जो भी कर्म सत् है वह व्यक्ति का कर्त्तव्य है। यदि व्यक्ति किसी कर्म को सत् समझता है तो वह उसे करने के लिये नैतिक-रूप से बाध्य है।

६. कर्त्तव्य और धर्म अथवा चरित्रगुण।

जब हम किसी कर्म को सत् समझते हैं तो उसे करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। जब हम किसी कर्म को असत् समझते हैं तो उसे न करना भी हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। जो सत् है उसे करना चाहिये जो असत् है उसे नहीं करना चाहिये। सत्कर्म करना कर्त्तव्य है, असत्कर्म करना अकर्त्तव्य।

यदि हम अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्य करते हैं तो हम धर्मार्जन करते हैं। यदि हम असत्कर्म करने के अभ्यस्त हैं तो अधर्म कमाते हैं। धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है। अधर्म चरित्र-दोष है। कर्त्तव्य बाह्य कर्म की ओर संकेत करता है, धर्म अन्तर्निहित चरित्र की ओर। कर्त्तव्य का संकेत कर्म-विशेष की ओर होता है, धर्म का स्थायी-रूप से अर्जित प्रवृत्ति की ओर। कर्त्तव्य करने की आदत से सच्चरित्र की सृष्टि होती है। कर्त्तव्यों के व्यतिक्रम की आदत से दुश्चरित्र की उत्पत्ति होती है। कर्त्तव्य की अभ्यस्तता धर्म की जनक है। अकर्त्तव्य की अभ्यस्तता अधर्म की जनक है।

७. पुण्य और पाप।

पुण्य से मनुष्य-चरित्र का नैतिक उत्थान सूचित है, पाप से मानव-चरित्र का नैतिक पतन। पुण्य इच्छापूर्वक कर्त्तव्य करने से जनित व्यक्ति के चरित्र के नैतिक उत्कर्ष में अभिवृद्धि का विधायक है, पाप इच्छापूर्वक नैतिक मानदण्ड के उल्लघन करने से जनित व्यक्ति के चरित्र के नैतिक मूल्य के क्षय का विधायक। पुण्य भावात्मक योग्यता है। यह चरित्र के नैतिक मूल्य न होने का सूचक है। पाप अभावात्मक योग्यता है। यह चरित्र के नैतिक मूल्य न होने का सूचक है। जब कोई व्यक्ति कर्त्तव्य करता है तो वह नैतिक पूर्णता की ओर अग्रसर होता है और पुण्य कमाता है। जब वह निषिद्ध कर्म करता है तो उसका नैतिक पूर्णता की विरुद्ध दिशा में पतन हो जाता है और वह पाप कमाता है। इस प्रकार पुण्य और पाप चरित्र के लक्षण हैं। सत् कर्म पुण्य उत्पन्न करते हैं। असत् कर्म पाप उत्पन्न करते हैं।

यद्यपि पुण्य और पाप चरित्र के गुण-दोष हैं, तथापि कभी-कभी कहा जाता है कि सत्कर्म में पुण्य है और दुष्कर्म में पाप। कर्त्तव्य करने से सन्तोष होता है, अकर्त्तव्य करने से ग्लानि होती है। जब हमारा कर्म नैतिक मानदण्ड का अनुसरण करता है तो उसमें पुण्य होता है। जब वह उससे असंगत होता है तो उसमें पाप होता है। पुण्य चरित्र की उन्नति का सूचक है। पाप चरित्र की अधोगति का सूचक है।

८. पुण्य और पाप का सदसत् से भेद।

कर्म सत् तब होता है जब उसका नैतिक आदर्श से संवाद होता है। यदि उससे विसंवाद है तो कर्म असत् कहलाता है। इस प्रकार 'सत्' 'असत कर्मों पर लागू होते हैं। किन्तु 'पुण्य' और 'पाप' चरित्र पर लागू होते हैं। पुण्य का अर्थ है

सत्कर्म करने से अर्जित चरित्र का नैतिक उत्कर्ष। पाप का अर्थ है असत्कर्म करने से प्राप्त चरित्र का नैतिक अपकर्ष। कभी कभी हम 'पुण्य कर्म' और 'पाप कर्म' का प्रयोग कर दिया करते है। किन्तु यहाँ 'पुण्य' और 'पाप' स्थानान्तरित विशेषण हैं। वस्तुत ये चरित्र के विशेषण हैं। अत 'पुण्य' और 'पाप' को 'सत्' और 'असत्' के अर्थ में नही लेना चाहिये। हा, इनका पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य है।

'सत्' और 'असत्' दोनो में परिणाम के भेद नही होते, 'पुण्य' और 'पाप' में परिणाम के भेद होते हैं। किन्ही परिस्थितियो में किया हुआ कर्म या तो सद् होता है या असत्। हम दो कर्मों को एक-दूसरे की तुलना में न्यून या अधिक सत् नही कह सकते। न हम एक दूसरे से न्यून या अधिक असत् कह सकते हैं। किन्तु पुण्य या पाप व्यक्ति से सम्बन्धित होता है। यह उसके चरित्र का लक्षण होता है जिसे वह धर्म या अधर्म करने से प्राप्त करता है। कोई व्यक्ति सत् और असत्-कर्म करने के कारण नैतिक पूर्णता के सोपान पर चढता या गिरता है। उसका उत्थान या पतन, पुण्य या पाप किसी परिणाम का हो सकता है। उसका न्यून या अधिक होना सम्भव है। इस प्रकार सदसत् गुण-निर्धारक निर्णय में होते हैं, और पुण्य-पाप परिणाम-निर्धारक निर्णय में।

६. पुण्य और पाप का तारतम्य।

कांट (Kant) और मार्टिन्यू (Martineau) की धारणा है कि सकल्प-शक्ति के ऊपर जितना ही अधक दबाव पडता है कर्त्ता का पुण्य उतना ही अधिक होता है। जितना अधिक प्रलोभन का प्रतिरोध किया जायगा, उतना ही अधिक इच्छा-शक्ति के ऊपर दबाव पडेगा। इस प्रकार पुण्य और प्रलोभन के प्रतिरोध की तीव्रता में अनुलोम अनुपात होता है। पुण्य विषय-वासना के विरोध में निहित है। कान्ट का मत है कि इच्छा और कर्त्तव्य में शाश्वत सघर्ष होता है। कर्त्तव्य-बुद्धि के कारण बुद्धि जितनी ही तीव्र इच्छा पर विजय प्राप्त करती है, कर्त्ता को उतना ही अधिक पुण्य मिलता है। जितनी ही कम तीव्र वासना के ऊपर विजय मिलती है कर्त्ता को उतना ही कम पुण्य मिलता है।

यह मत आंशिक-रूप में सत्य है। जो व्यक्ति एक तीव्र वासना पर विजय प्राप्त कर लेता है वह अवश्यमेव उससे हार खा जाने वाले से अधिक पुण्यशाली है। किन्तु एक व्यक्ति जो इच्छापूर्वक वासनाओ के निरन्तर नियन्त्रण करने से प्राप्त चरित्र के नैतिक उत्थान के कारण वासना की तीव्रता का अनुभव नहीं करता, कुछ कम पुण्यशाली नही है। अभ्रान्त मत यह मालूम पडता है कि चरित्र-बल जितना ही अधिक होता है कर्त्ता का पुण्य उतना अधिक होता है। इन्द्रिय-प्रवृत्तियों के निग्रह से जितनी अधिक नैतिक उत्कर्ष चरित्र की होती है, उतना ही अधिक पुण्य व्यक्ति को होता है।

कान्ट पूर्ण-बाध्यतामूलक कर्त्तव्य और अपूर्ण-बाध्यतामूलक कर्त्तव्यो में अन्तर बतलाता है। पहिले प्रकार के कर्त्तव्य कानून के द्वारा लागू होते है। उनसे सम्बन्धित कुछ लोगो के अधिकार होते हैं। दूसरे प्रकार के कर्त्तव्यो के पालन के लिये बाह्य विधान की आवश्यकता नही होती। उनके व्यतिक्रम के लिये राज्य दण्डित नही करता। कोई उनके पालन के लिये बाध्य नही है। उनसे सम्बन्धित दूसरे लोगो के अधिकार नही होते। किसी कानूनी समझौते के अनुसार लिये गये ऋण की अदायगी के लिये सरकार बाध्य करती है। इस प्रकार का कर्म कर्त्ता के पुण्य में इतनी वृद्धि नही करता जितनी अपने जीवन को खतरे में डालकर दूसरे की प्राण-रक्षा करना। दूसरे प्रकार के कर्म के लिये सरकार किसी को बाध्य नही करती। अत उसे करने में किसी पहिले प्रकार के कर्त्तव्य को करने से अधिक पुण्य है। बाह्य क़ानून निर्दिष्ट कर्त्तव्य का पालन करवाता है। इसलिये, इसमें सन्देह रहता है कि कोई दूरदर्शिता-पूर्वक उन्हें करता है या कर्त्तव्य-बुद्धि से। किन्तु जब कोई अनिर्दिष्ट कर्त्तव्य अर्थात् कानून के द्वारा लागू न किये जाने वाला कर्म करता है तो वह अपने चरित्र के नैतिक उत्कर्ष को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार अनिर्दिष्ट कर्म को करना निर्दिष्ट कर्म के करने की अपेक्षा अधिक प्रशसनीय है, एक कर्त्ता की नैतिक योग्यता को दूसरे से अधिक बढाने वाला है। सामान्यतया हम निर्दिष्ट कर्त्तव्यो को न करने में अनिर्दिष्ट कर्त्तव्यो को न करने से अधिक पाप मानते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने वैध ऋण का भुगतान न करते हुए अपने अप्रयुक्त धन को दान में दे डालता है तो उसे नैतिक अपराधी समझा जाता है। किसी को दानी होने का अधिकार नही है, यदि वह न्याय की माँग को पूरा नहीं करता। यह मत लोक-दृष्टि से ठीक है।

किन्तु, निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट, पूर्ण-बाध्यता-मूलक और अपूर्ण-बाध्यता-मूलक कर्त्तव्यो का भेद क़ानूनी है, नैतिक नहीं। परिस्थिति-विशेष में हमारे कर्त्तव्य सदा निश्चित होते हैं। हमारे कर्त्तव्य सदैव पूर्ण-बाध्यता-मूलक होते हैं। हम किसी भी परिस्थिति में अपने कर्त्तव्य से अधिक कुछ नहीं कर सकते। अत नैतिक दृष्टिकोण से, निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट कर्त्तव्यो का भेद पुण्य-पाप के तारतम्य से कदापि सबन्धित नहीं।

यदि कोई व्यक्ति आत्म-हित का बलिदान करके अपने कर्त्तव्य का पालन करता है तो उसका पुण्य बडा है। उस दशा में जबकि कर्त्तव्य-पालन के लिये स्वार्थ के अधिक बलिदान की आवश्यकता नही है, उसका पुण्य इतना बडा नही होता। यदि अधिक स्वार्थ-साधन के हेतु कोई असत्कर्म कर बैठता है तो उसका पाप अधिक नही है। जब अपने तुच्छ स्वार्थ के लिये वह असत्कर्म करता है तो उसका पाप अधिक होता है। यदि कोई व्यक्ति स्वार्थ का त्याग न करते हुए सत्कर्म करता है तो उसे मुश्किल से पुण्य अथवा चरित्र का उत्कर्ष होता है। किन्तु, यदि वह अपने बडे से

बडे स्वार्थ का बलिदान करके कर्त्तव्य-पालन करता है तो उसके चरित्र का नैतिक उत्थान होता है। जो व्यक्ति अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये अपने जीवन की बलि चढ़ा देता है, निश्चय ही, उसका पुण्य दूसरे से अधिक है जो युद्ध के लिये थोडा सा चन्दा दे देता है। इसी प्रकार अपने बडे से बडे स्वार्थ-साधन के लिये असत्कार्य करने वाले का पाप अपने तुच्छ स्वार्थ के लिये अपराध करने वाले के पाप से कम जघन्य है। अपनी क्षुधा-तृप्ति के हेतु चोरी करने वाले का पाप धनी बनने के लिये दूसरे की सम्पत्ति लूटने वाले के पाप से कम घृणित है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सत्य के लिये जितना बडा स्वार्थ का बलिदान किया जाता है उतना ही बडा कर्त्ता का पुण्य हाता है, और असत्कर्म करने से जितना अधिक स्वार्थ साधन होता है उतना ही कम उसका पाप।

१०. आत्म-स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व। Sel... ...respons

इच्छा-स्वातत्र्य नैतिकता का मौलिक आधार है। कान्ट का कथन है—"तुम्हे करना चाहिये, अत तुम कर सकते हो।" यदि तुम्हें जो ठीक है वह करना चाहिये, तो उसे करने की तुम्हें स्वतन्त्रता है। यदि तुम्हें असत्कर्म नही करना चाहिये, तो तुम उसे न करने के लिये स्वतन्त्र हो। 'चाहिये' (ought) के अन्दर स्वतन्त्रता छिपी हुई है। मनुष्य स्वाधीन होकर सत् वा असत् का चुनाव करता है। वह सत् या असत् करने के लिये परिस्थितियो के वश नही है। मनुष्य अपने ऐच्छिक कर्मों में स्वाधीन है। अत वह अपने कर्मों के लिये उत्तरदायी है। मनुष्य अपने इच्छाकृत-कर्मों और आदतो के लिए जो उसके व्यवहार के अग हैं, उत्तरदायी है। उसका अच्छा या बुरा चरित्र उसके वारम्वार किये गये ऐच्छिक कर्मों का परिणाम है, और उसके लिए वह उत्तरदायी है। इस प्रकार स्वातंत्र्य और उत्तरदायित्व महत्त्वपूर्ण नैतिक प्रत्यय हैं। स्वतन्त्रता को अस्वीकार करने से नैतिकता का आधार जाता रहता है और उत्तरदायित्व की तो जड ही कट जाती है। आत्मा इच्छा-स्वातत्र्य नैतिकता का मौलिक आधार है। यदि आत्मा परतन्त्र है, तो नैतिकता असम्भव है।

नीति-शास्त्र का यह मौलिक सिद्धान्त है कि मनुष्यो का अपन कर्मों के लिये नैतिक उत्तरदायित्व है। यदि यह मिथ्या है ता नैतिक निर्णयो का औचित्य समाप्त हो जाता है। हम पेडो अथवा निर्जीव पदार्थों के व्यापारो को नैतिक अथवा अनैतिक नही कहते, क्योंकि वे भौतिक कारणो के पूर्ण नियन्त्रण में हैं। बच्चो और पागलो के कर्मों को भी हम नैतिक अथवा अनैतिक नही कहते, क्योंकि वे स्वाधीन नही हैं। यदि वयस्क मनुष्य समझदार और बन्धन-मुक्त हैं तो हम उन्हें अपने कर्मों के लिये नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी ठहराते हैं, क्योकि वे कर्म करने के लिये स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार नैतिक उत्तरदायित्व के लिये इच्छा-स्वातन्त्र्य को मानना पडता है। राशडल (Rashdall) का कथन है, "उत्तरदायित्व का वास्तविक अर्थ क्या है? शब्द-व्युत्पत्ति से

इसका अर्थ है कि कर्त्ता से अपने कर्म के लिये-उत्तर मागा जा सकता है। अभिप्राय यह हुआ कि यदि उसका उत्तर सतोषजनक न हुआ तो उसे न्यायपूर्वक दण्ड दिया जा सकता है। किसी कर्म के कर्त्ता के ऊपर दायित्व होने से उसको उसके लिये दण्ड देना सर्वथा न्याय है। हम कहते हैं कि कोई व्यक्ति अपने अपराध के लिये जिम्मेदार है, क्योकि उसके लिये उसको दण्डित करना उचित है। यह धारणा कि नियन्त्रनवाद उत्तरदायित्व के मूल पर कुठाराघात करता है यह अर्थ रखती है कि नियन्त्रनवादी दृष्टिकोण से दण्ड देना अनुचित होगा।"

यदि मनुष्य पूर्णतया वश-परपरा और वातावरण के बन्धन में होता और उसमें स्वतन्त्र-चेष्टा की शक्ति न होती, तो उसके ऊपर स्वकीय कर्मों का दायित्व न होता, सत्कर्मों के लिये उसकी प्रशसा और असत्कर्मों के लिये उसकी निन्दा न हो पाती, उसके कर्म भौतिक घटनाओं के तुल्य होते। किन्तु, मनुष्य अपने परम हित के विचार के अनुसार अपने उद्देश्यो और कर्मों का चुनाव करते हैं, और यद्यपि अशत वश-परम्परा और परिस्थितियो का उनके ऊपर प्रभाव पडता है तथापि वे अपने ऐच्छिक कर्मों के लिये उत्तरदायी है। यदि मनुष्यों को स्वाधीनता-शून्य समझा जाता है तो उनके कर्मों की नैतिकता अनैतिकता समाप्त हो जाती है। यदि मनुष्य परिस्थितियो के दास हैं तो पुण्य-पाप, सदसत्, धर्माधर्म, दायित्व और दण्डनीयता निरर्थक हो जाते हैं और नैतिकता एक काल्पनिक वस्तु हो जाती है। यदि नैतिक मूल्य यथार्थ है तो आत्मा स्वतन्त्र है।

मनष्य स्वतन्त्र है, उन्हें आदर्श का ज्ञान है, और वे इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक उसका साधन करते हैं। वे स्वय अपने कर्मों को निर्धारित करते हैं। वे परिस्थितियों के असहाय दास नही है। उनके ऊपर परिस्थितियो का आशिक प्रभाव है अवश्य, किन्तु उनकी प्रतिक्रिया स्वतन्त्र और चरित्र के अनुसार होती है। चरित्र के द्वारा परिस्थितियो में परिवर्त्तन किया जा सकता है। एक ही वातावरण में रहने वाले दो व्यक्तियो की परिस्थितियाँ भिन्न भिन्न होती हैं। वे उन्ही वातावरणगत परिस्थितियो पर ध्यान देते हैं जिनकी उनके चरित्र से सगति होती है, और उन्ही पर उनकी प्रतिक्रिया होती है। दूसरी परिस्थितिया उनके सकल्पो और कार्यों को प्रभावित नही करती। मनुष्य अपने स्वतन्त्र इच्छाकृत कर्मो के लिये उत्तरदायी है। दायित्व उसी के लिये हो सकता है जो इच्छा-स्वातन्त्र्य से किया गया है।

मनुष्य के ऐच्छिक कर्म परिस्थिति द्वारा नियन्त्रित होते हैं, या पूर्णतया अनियन्त्रिक होते हैं, या आत्मा द्वारा नियन्त्रित होते हैं ? ये आत्मा द्वारा नियन्त्रित होते है। आत्मा का स्वातन्त्र्य का अर्थ आत्म-नियन्त्रन है। यह अनियन्त्रन नही है।

११. उत्तरदायित्व में सन्निहित स्वातन्त्र्य का स्वरूप।

इच्छा-स्वातन्त्र्य का अर्थ है आत्म-स्वातन्त्र्य। इसका अर्थ अनियन्त्रनवाद अथवा

उदासीनता की स्वतन्त्रता नही है। अनियन्त्रनवाद के अनुसार आत्मा की एक रहस्यमय-शक्ति है जिसकी सहायता से वह अकारण वैकल्पिक प्रेरणाओ में से किसी एक को स्वच्छन्दतापूर्वक चुन लेता है, आत्मा की अनियन्त्रित चुनाव की शक्ति है। अनियन्त्रनवाद का तात्पर्य है कि आत्मा में पूर्णतया निरकुश चुनाव की शक्ति है—वह शक्ति जो कर्म में प्रवृत्त होने से पूर्व के आत्मा के चरित्र से पूर्णत. असम्बन्धित कार्य को प्रारम्भ कर सकती है। इस सम्बन्ध में रैशडैल का मत यथार्थ मालूम होता है। नियन्त्रनवाद का उत्तरदायित्व से विरोध नही है। विपरीतत अनियन्त्रनवाद का उससे विरोध है। अनियन्त्रनवाद के अनुसार स्वतन्त्र कर्म सर्वथा नवीन सृष्टि होता है और भूत से उसका कोई कार्य-कारण का सम्बन्ध नही होता। अब प्रश्न यह है कि यदि कोई अतीत कर्म मेरे वर्तमान स्वभाव से नि सृत नही हुआ तो उसके लिये मै क्यो उत्तरदायी बनू ? यदि उस कर्म का मूल मेरी अतीत सत्ता में निहित नही तो मेरी अच्छाई उसे होने से नही रोक सकती थी। यदि मेरी अतीत आत्मा उसमें प्रतिविम्बित नही होती तो उसके लिये मुझे प्रशसित या दण्डित करना निरर्थक है।※

उत्तरदायित्व में निहित इच्छा-स्वातन्त्र्य अनियन्त्रित नहीं बल्कि आत्म-नियन्त्रित चुनाव है। आत्मा अन्यो को छोडकर एक प्रेरणा अथवा प्रयोजन का चुनाव अपने शुभ-साधन के लिये करता है। चुनाव का व्यापार आत्मा के द्वारा निर्धारित होता है जो आत्म-मंगल की भावना से प्रभावित होता है। स्वाधीनता का अर्थ आत्म-नियन्त्रन है, अनियन्त्रनवाद नही। अनियन्त्रनवाद का अर्थ होता है अनियन्त्रित इच्छा, उद्देश्यहीन चुनाव अथवा आकस्मिक कर्म। यदि नैतिक-दायित्व निरर्थक नहीं है तो इसका तात्पर्य है आत्म-नियन्त्रन के अर्थ में स्वतन्त्रता। मेरे स्वतन्त्र कम मेरे द्वारा निर्धारित होते हैं। वे मेरे स्वभाव से नि सृत होते है। इसीलिये मै उनके लिये उत्तरदायी हु। यदि उनकी उत्पत्ति मेरे अन्दर स्थित उद्देश्यहीन चुनाव की रहस्यमय और अज्ञात शक्तियो से होती जिनके ऊपर मेरा शासन नही है, तो अपने कर्मो का दायित्व मेरे ऊपर न होता। इस प्रकार मनुष्य अपने कर्मो के लिये उत्तरदायी हैं, क्योंकि वे स्वतन्त्र रूप से उनका चुनाव करते हैं, और आन्तरिक और वाह्य शक्तियो के द्वारा (यथा, वंशानुक्रम-प्राप्त शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ तथा भौतिक और सामाजिक वातावरण) उनका यन्त्रवत् नियमन नही होता। मनुष्यो के कर्मों का निर्धारण वाहर से वातावरण द्वारा नहीं होता, वल्कि अन्दर से आत्मा और उसके आदर्श के विचार द्वारा होता है। मनुष्यो के कर्म आत्म-नियन्त्रित होते हैं, अत उनका नैतिक मूल्य होता है। स्वतन्त्रता-विषयक यह मत आत्म-नियन्त्रनवाद कहलाता है।

अनियन्त्रनवाद उत्तरदायित्व की वुनियाद पर आक्रमण करता है। यदि हमारे सकल्प और कर्म पूर्णत अनिश्चित या स्वच्छद हैं, और अपने शुभ साधन के हेतु आत्मा

※ 'रैशलैंड शुभाशुभ की मीमांसा', जि० २, पृ० ३३५-३६।

के अधीन नही, तो उनका दायित्व हमारे ऊपर नही हो सकता। उसमे निर्णय होता है और निर्णय का कारण होता है। आत्मा प्रेरणा-विशेष को चुन लेता है और अन्य उद्देश्यो को छोड देता है, क्योंकि, वह सोचता है कि, वह शुभ की साधक है। निर्णय आत्मा का व्यापार है, *यह स्वतन्त्र इसलिये* है कि आत्मा उसका करने वाला है। आत्मा उसका कर्त्ता है। आत्मा ही अपने चरित्र-सम्मत उद्देश्य का चुनाव करता है। चुनाव और कर्म में सम्पूर्ण व्यक्तित्व की झलक मिलती है।

इस प्रकार नियन्त्रनवाद और अनियन्त्रनवाद दोनो दायित्व के विरोधी हैं। आत्म-नियन्त्रनवाद का नैतिक दायित्व से सामजस्य है। उत्तरदायित्व की व्याख्या आत्म-नियंत्रनवाद के ही आधार पर सम्भव है। बलप्रयोग की बाध्यता, विचारहीनता, अचेतन भाव-ग्रन्थि की बाध्यता, उन्माद का दायित्व से विरोध हैं।

१२. स्वतन्त्रता और आचार की समरूपता नीति के लिये आवश्यक हैं।

मैकेंज़ी (Mackenzie) का मत कि स्वतन्त्रता और समरूपता दोनो नैतिकता के लिये आवश्यक है, ठीक है। कान्ट की उक्ति है, "तुम्हें करना चाहिये, *अत, तुम कर सकते हो।" मनुष्य को अपनी निम्न वासनाओ का नियमन करना* चाहिये, इसका अर्थ यह हुआ कि वह उनका नियमन कर सकता है। मनुष्य को वही करना चाहिये जो सत् है। अर्थात् वह सत्-व्यवहार के लिये स्वाधीन है। यदि मनुष्य की इच्छा पूर्णरूपेण परिस्थितियो के वश में होती, तो उसके लिये 'चाहिये' अर्थात् नैतिक आदेश व्यर्थ होता। यदि नैतिक आदेश कुछ भी अर्थ रखता है तो व्यक्ति की इच्छा को स्वतन्त्र होना चाहिये, पूर्णत परिस्थितियो के अधीन नही। स्वतन्त्रता का अर्थ है आत्म-नियन्त्रन। "स्वाधीन होने का अर्थ है कि व्यक्ति केवल अपने द्वारा नियन्त्रित है।"* मनुष्य के कर्म अपने कर्म तभी हो सकते हैं जब उसे कर्तृत्वाभिमान होता है, जब वे उसके अभ्यस्त इच्छा-क्षेत्र के केन्द्र से नि सृत होते है। उसके कर्म स्वतन्त्र तभी हैं जब उनका स्रोत उसका आत्मा या पूर्ण व्यक्तित्व होता है। आत्म-नियन्त्रन के अर्थ में स्वतन्त्रता नैतिकता का मूल सिद्धान्त है। स्वतन्त्रता से रहित मनुष्य नैतिकता और दायित्व से विहीन चेतनायुक्त यन्त्र होता।

एक दृष्टि से आचार की समरूपता या अवश्यम्भाविता भी नैतिकता के लिये आवश्यक है। चुनावपूर्वक स्वतन्त्र कर्म करने से व्यक्ति अपने चरित्र की सृष्टि करता है। जितना ही स्थायी उसका चरित्र होगा उतना ही अधिक समरूप उसका व्यवहार भी होगा। व्यवहार की समरूपता अर्थात् अवश्यभाविता चरित्र के स्थायित्व से पैदा होती है। यदि मनुष्य का इच्छा-क्षेत्र निरतर परिवर्तित होता रहता है तो उसके व्यवहार के विषय में कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती। किन्तु, यदि वह

---

* मैकेंज़ी।

नियमित रूप से एक ही इच्छा-क्षेत्र में रहता है और उसका चरित्र स्थायी है, तो हम पर्याप्त सीमा तक उसके भावी व्यवहार को जान सकते हैं। भविष्य ज्ञान का इच्छा-स्वातंत्र्य से आवश्यक विरोध नही है। अवश्यभाविता का अर्थ इच्छा और कर्म का बाह्य परिस्थितियों द्वारा पूर्ण नियन्त्रण नही है। अवश्यभाविता स्थायी चरित्र का बाह्य प्रकाशन समरूप व्यवहार है। यदि चरित्र दृढ तथा स्थायी है तो आचार भी समरूप तथा परिवर्तनहीन होगा और इसकी भविष्यवाणी की जा सकती।

इस प्रकार आत्म-स्वातंत्र्य और अवश्यभाविता दोनो नीति के लिये आवश्यक हैं। स्वातंत्र्य का अर्थ आत्मनियन्त्रन है। अवश्यभाविता का अर्थ है स्थायी-चरित्र से जनित चुनाव और कर्म की समरूपता। चरित्र की रचना स्वतन्त्र इच्छाकृत कर्मों से होती है, और स्थायी चरित्र समरूप-व्यवहार में प्रतिविम्बित होता है। नैतिक जीवन के लिये स्वतन्त्र ऐच्छिक कर्मों के द्वारा बना हुआ स्थायी चरित्र उतना ही आवश्यक है जितनी उसे नि सृत व्यवहार की समरूपता। अवश्यम्भाविता व्यवहार का वश-परम्परा तथा परिस्थिति द्वारा सम्पूर्ण नियन्त्रन नही है। यह आत्म-स्वातंत्र्य या आत्म-नियन्त्रन से सामजस्य रखता है। अत आत्म-स्वातंत्र्य तथा अवश्यम्भाविता नैतिकता में गर्भित हैं। अवश्यम्भाविता का अर्थ नियन्त्रनवाद नही है।

१२ भारतीय नीति शास्त्र में नैतिक प्रत्यय।

नैतिक नियमो का पालन करने में मनुष्य स्वतन्त्र है। समुचित-कार्य तथा निषिद्ध-कर्म करने में उसकी इच्छा स्वतन्त्र है। धर्म-ग्रन्थो द्वारा विहित-कर्म सत् हैं तथा निषिद्ध कर्म असत हैं। जब मनुष्य सत्-कर्मों का पालन स्वतन्त्रतापूर्वक करता है तो वह पुण्य अथवा धर्म का सचय करता है, तथा स्वतन्त्रतापूर्वक निषिद्ध-कर्म करने पर पाप अथवा अधर्म सञ्चित करता है। पुण्य तथा पाप अथवा धर्म और अधर्म आत्मा के स्वभाव हैं। वे अदृष्ट हैं। वे कालान्तर में परिपक्व होते है तथा इस जीवन अथवा भविष्य-जीवन में अपना फल प्रदान करते हैं। पुण्य अथवा धर्म सुख को जन्म देता है तथा पाप अथवा अधर्म दु.ख को। सुख और दु ख अशत वाह्य-विषयो तथा परिस्थितियो से उत्पन्न होते हैं तथा अशत हमारे पुण्य और पाप से जो कि हमारे सत् अथवा असत् कर्मों के परिणाम होते हैं। हम पुण्य के बिना सुख का उपभोग नही कर सकते तथा पाप के बिना दु ख नही भोग सकते। इस सिद्धान्त में सुखवाद का सिद्धान्त सन्निहित है। इस जीवन में सुखो का आशिक कारण पिछले जन्मो में सचित पुण्य है तथा दुखो का आंशिक कारण सञ्चित पाप है। वे इस जीवन में अथवा पिछले जीवनो में सत् अथवा असत् कर्मों के परिणाम होते हैं। वे हमारे सद्-भाग्य अथवा दुर्भाग्य के लिए उत्तरदायी होते हैं। हम अपने दुर्गुणों को स्वतन्त्र सत्कर्मों द्वारा नष्ट कर सकते हैं तथा इसी प्रकार हम अपने गुणो या पुण्यों के दुष्कर्मों द्वारा नष्ट कर सकते हैं। आत्मा का जीवन अनन्त अथवा निरन्तर है। यह

एक जीवन से दूसरे जीवन तक फैला रहता है। गुण-अवगुण, सुख-दुख, तथा आत्मा का आवागमन ये परस्पर सम्बन्धित धारणाएं हैं। वे कर्म के सिद्धान्त में निहित हैं। कर्म-सिद्धान्त भारतीय-दर्शन का मौलिक प्रत्यय है।

अतएव मानवीय कर्म अंशत स्वतन्त्र होते हैं तथा अंशतः गत-जीवनो में संचित पुण्य पाप अथवा धर्म-अधर्म से निर्धारित होते हैं। सकल्प शक्ति के स्वतन्त्र कर्मों को पुरुषकार कहा गया है। गत-जन्मो में अर्जित पाप पुण्यो को दैव कहते हैं। वे अदृष्ट हैं। वे अननुभूत, अदृश्य तथा ऐसे परिगणना-हीन तत्व हैं जो कि कुछ सीमा तक हमारे सुख दु ख को निर्धारित करते हैं। परन्तु वे भाग्य नही हैं। वे ऐसे अचेतन् पूर्व-स्वभाव हैं जो कि भीतर से ही हमारे ऐच्छिक कर्मो को अंशत निर्धारित करते हैं तथा अंशत उनके परिणामो को बल अथवा बाधा पहुचाते हैं। अचेतन मनोवैज्ञानिक पूर्व-स्वभाव हमारे स्वय के कर्म हैं। वे अतीत में हमारे द्वारा किये गये स्वतन्त्र ऐच्छिक कार्यों के परिणाम होते हैं। वे आत्मा के प्रति बाह्य नही हैं। वे उसमें निहित हैं, तथा आत्मा द्वारा अतीत-जीवनो से उत्तराधिकार में मिलने वाली आन्तरिक-मनोवैज्ञानिक-यान्त्रिक क्रियायें हैं। वे आत्मा के भूनकालीन जीवनो के अचेतन पूर्व-स्वभाव है। यह अपने स्वतन्त्र ऐच्छिक कर्मों द्वारा उन्हे नष्ट कर सकती है। इसके कार्य अंशत अदृष्ट अथवा दैव द्वारा तथा अंशत पुरुषकार द्वारा निर्धारित होते हैं। दैव का एक अन्य अर्थ भी है। पुरुषकार दैवी-इच्छा अथवा दैव के आधीन होता है। इसका फल तभी मिलता है जब उसे दैव का सहारा प्राप्त हो तथा जब इसे ईश्वर की इच्छा का सहारा नही मिलता तो यह फलित नही होती। पुरुषकार और दैव हमारे भाग्य का निर्माण करते है।

प्रत्येक गृहस्थ को पाँच प्रकार के यज्ञ करने चाहिए (भूतयज्ञ, अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ)। समस्त जीवधारी प्राणियो को भोजन देने को बलि अथवा भूतयज्ञ कहते हैं। अतिथियो को दिया जाने वाला सत्कार, सम्मान और पूजा मनुष्य यज्ञ अथवा अतिथियज्ञ कहलाता है। दिवगत पूवजो को दिया जाने वाला यज्ञ पितृयज्ञ कहलाता है। होम की अग्नि में दी जाने वाली आहुति को देवयज्ञ कहते हैं। मनुष्य को वेदो का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। इस कार्य को ब्रह्मयज्ञ कहते है। इस प्रकार ईश्वर, देवताओ, मनुष्यो तथा समस्त प्राणियो का हित करना होता है। भारतीय नीति-शास्त्र तीन प्रकार के कर्त्तव्यो का उल्लेख करता है। अपने से सम्बन्धित, दूसरो से सम्बन्धित कर्त्तव्य एव ईश्वर से सम्बन्धित कर्त्तव्य।

प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है। वह वेदो के अध्ययन द्वारा ऋषियो के प्रति, मित्रो के प्रति पुत्रोत्पत्ति द्वारा तथा देवता के प्रति यज्ञो द्वारा अपने कर्तव्यो की पूर्ति करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने से व समाज से सम्बन्धित कर्त्तव्यो की पूर्ति करता जाता है।

इनके अतिरिक्त अपनी जाति के प्रति कर्त्तव्य होते हैं। उन्हे शास्त्रो ने वर्ण-धर्म कह के पूकारा है। ब्राह्मणो को वेदो का अध्ययन-अध्यापन, ईश्वर-चिन्तन तथा जाति के आध्यात्मिक कल्याण का घ्यान रखना चाहिए। क्षत्रियों को सेना में भरती होकर न्यायपूर्ण युद्धों मे भाग लेना चाहिए तथा बाह्य आक्रमणो से जाति का रक्षण करना चाहिए। वैश्यो को पशुपालन, कृषि, व्यापार एव वाणिज्य सम्बन्धी कार्य करना चाहिए। शद्रो को शेष वर्णों की सेवा करनी चाहिए। वर्ण-धर्म का ध्येय कर्त्तव्यो तथा गुणो के आधार पर समाज का निर्माण है।

जीवन के विविध स्तरो से सम्बन्धित धर्मों को आश्रम धर्म कहते हैं। विद्यार्थियो का ब्रह्मचर्य, शुद्धि, पवित्रता, वेदाध्ययन तथा अध्यापको एव अन्य गुरुजनों से ज्ञान-सग्रह करना चाहिए, इसे ब्रह्मचर्य-धारणा कहते हैं। इसके पश्चात् व्यक्ति को विवाह करके अपने व समाज के हित के लिए सत्यपरायण जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसे गृहस्थ-धर्म कहते हैं। पचास वर्ष की आयु में उपासना व एकान्त-चिन्तन में जीवन व्यतीत करना चाहिए। यह वान-प्रस्थ कहलाता है। उन्हे वहाँ एक यति जैसा जीवन व्यतीत करना चाहिए अथवा एक भ्रमणशील साधू जैसा इसे सन्यास कहते हैं। सन्यासियो को अपनी जीविका के लिए परिश्रम नही करना चाहिए। उन्हे मानवता की सेवा में अपना जीवन लगा देना चाहिए तथा ईश्वर को अर्पित करके पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहिए। यह भली प्रकार समन्वित तथा सतुलित हिन्दू जीवन का आदर्श है। यह व्यक्ति को पूर्णत्व की अन्तिम स्थिति तक पहुचने में सहायता देता है।

मनुष्य को चार सर्वोच्च उद्देश्यो अर्थात पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। अर्थ उसकी भौतिक, शारीरिक तथा आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। काम उसकी मानसिक एव मनोवेगात्मक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। धर्म बौद्धिक एव शारीरिक आवश्यकताओ की मोक्ष अथवा सर्वोच्च आनन्द अथवा शारीरिक व मानसिक दुख की पूर्ण परिसमाप्ति एव उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन है। अर्थ अथवा धन साधन स्वरूप है। वह धर्म से निम्न-कोटि का है। धर्म स्वय-साध्य तथा प्रकृत मूल्य है। फिर भी यह अनुभूतिगम्य हित है। मोक्ष परम शुभ अथवा निश्रेयस है। यह आत्मा की ऐसी परम परिपूर्णता है जो अपने अनुभतिविषयक तत्वो से मुक्त होती है। यह धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य से परे है। पूर्णत्व की सर्वोच्च स्थिति में पुण्य और पाप समाप्त हो जाते हैं। पुण्य अनुभूतिविषयक सुख अथवा आनन्द देते हैं तथा पाप दुख अथवा पीडा। पुण्य व्यक्ति को स्वर्ग में ले जाते हैं तथा जब वे क्षीण हो जाते हैं तो पुनर्जन्म होता है। अत पूर्णता की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करने के लिए पाप-पुण्य को समाप्त करना चाहिए। मोक्ष को वेदान्त में अनन्त एवं अमर आनन्द माना

गया है जो कि अनुभूतिविषयक जीवन के सुख-दुःख के परे की स्थिति है। यह ब्रह्म अथवा पूर्ण के साथ अभेद अथवा साधर्म्य की प्राप्ति है। यह ब्रह्म के अनन्त आनन्द की उपलब्धि है। यह ब्रह्म के अनन्त आनन्द एव पूर्णत्व की प्राप्ति है। पूर्णता तथा निस्सीमता ही आनन्द है। सीमित जगत् में आनन्द नही है। सीमित स्वरूप ही दुःख है और निस्सीमता आनन्द। यह निःश्रेयस की चरम सीमा है।

१४ भारतीय नीति-शास्त्र मे कर्म के स्रोत।

कर्म स्रोतो का मार्टिन्यू द्वारा किया गया वर्गीकरण अध्याय ११ में दिया गया है। अनुभूतियां, मनोवेग, भावनाए, सहज-वृत्तियाँ तथा पशु-प्रवृत्तियाँ कर्म के विविध स्रोत हैं। सुख और दुःख दो अनुभूतियाँ हैं। क्रोध, भय, प्रेम, घृणा, प्रसन्नता, खेद, आश्चर्य, विकर्षण आदि मनोवेग हैं। इनका उदय सहज वृत्तियो में से होता है। वे प्रारम्भिक मनोवेग हैं। वे विभिन्न प्रकार से परिष्कृत तथा सयुक्त होते हैं तथा अर्जित मनोवेग (Derived emotions) बन जाते हैं। करुणा, आदर आदि अर्जित-मनोवेग हैं। भावनाएँ स्थायी मनोवेगात्मक प्रवृत्तियाँ है। प्रेम, घृणा, आदर, देश-भक्ति आदि भावनाए हैं। ज्ञानप्राप्ति की इच्छा सरीखी बौद्धिक भावनाए, सौन्दर्य-प्रेम सरीखी रसात्मक भावनाए; परमतत्व सम्बन्धी भावनाए, प्रशसा आलोचना, पश्चात्ताप और अनुताप जैसी नैतिक भावनाए तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा, नम्रता, तन्मयता आदि धार्मिक भावनाए कर्म के स्रोत हैं।

आत्म-धारणा तथा जाति की अभिवृद्धि सम्बन्धी सहज-वृत्तियाँ, क्षुधा तथा पिपासा की पोषण सम्बन्धी-वृत्तियाँ, यौन-वृत्तियाँ अथवा प्रजनन की वृत्तियाँ, सम्मेलन, प्रेम, सहकारिता, उदारता आदि सामाजिक-वृत्तियाँ कर्म के स्रोत हैं।

पतजलि ने कर्म के पाच स्रोतो का उल्लेख किया है—(१) राग अथवा आसक्ति, (२) द्वेष अथवा घृणा, (३) अस्मिता अथवा मिथ्या अभिमान, (४) अविद्या अथवा अज्ञान, तथा (५) अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु-भय। मृत्यु का भय आत्म-धारण अथवा जीने की प्रारम्भिक आकांक्षा की वृत्ति में से उत्पन्न होता है। शरीर, इन्द्रियो, मन, मनीषा तथा अस्मिता को भूल से आत्मा मान बैठना ही अविद्या अथवा अज्ञान है। यह अन्य कर्म-स्रोतो का मूल है। मैं और मेरे की भावना अथवा अस्मिता-अविद्या (अज्ञान) का फल है। सुखदायी पदार्थ के प्रति आसक्ति और दुःख-दायी पदार्थ के प्रति द्वेष भी अज्ञान (अविद्या) से उत्पन्न होते हैं। आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में निष्पक्ष अर्थात् सुख दुःख से परे है। भूल से यह ऐसा मान बैठती है कि इसे सुख दुःख होते हैं। आत्मा अविद्या का नाश करके इन सब कर्म-स्रोतो की जड़ काट सकती है। अविद्या का नाश विद्या द्वारा ही हो सकता है। राग (आसक्ति), घृणा, अस्मिता, अविद्या एव मृत्युभय हमें जगत् के सुखोपभोग (प्रकृति) में प्रवृत्त

करते है। हम सुख ढूंढने में इन कर्म-स्रोतो द्वारा परिचलित होते हैं। हमें अपने भीतर वैराग्य अथवा अनासक्ति को अभ्यास और तीव्रता द्वारा जाग्रत करना चाहिए जिससे कि कैवल्य अथवा पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो सके। निवृत्ति अथवा आत्म-सयम का कर्म-स्रोत अनासक्ति है। सुख की सक्रिय खोज का नाम प्रवृत्ति है। सुखोपभोगो को घृणा के कठोर प्रयास को निवृत्ति कहते हैं। आसक्ति अथवा राग प्रवृत्ति का कर्म-स्रोत है एव वैराग्य अथवा अनासक्ति निवृत्ति अर्थात सुखों के परित्याग का।

न्याय-दर्शन राग, द्वेष तथा मोह को कर्म स्रोत मानता है। राग और द्वेष मोह अथवा अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। राग (आसक्ति) के भीतर काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ, माया तथा दम्भ का समावेश होता है तथा द्वेष में क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, हिंसा तथा अमर्ष का। अज्ञान में मिथ्याज्ञान, सशय, मान और प्रमाद होते हैं। मनोवेगो तथा पशु-प्रवृत्तियो का मूल कारण अज्ञान है। यह सच्चे ज्ञान द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है (जे० एन० सिन्हा इन्ट्रोडक्शन टू इन्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ ९२)।



अध्याय ६

बाह्य नियम

१. नैतिक चेतना के विकास के तीन सोपान।

म्यूरहेड (Muerhead) नैतिक चेतना के विकास की तीन अवस्थायें बतलाता है। पहिली अवस्था में व्यवहार का नियन्त्रण बहुत कुछ बाह्य नियमो के द्वारा होता है। यह मानव-जाति के विकास की विचारहीन अवस्था है। पश्चात्वर्त्ती काल में जब विचार शक्ति विकसित हो जाती है तो बाह्य नियमो का स्थान अन्त-करण का आन्तरिक नियम ले लेता है। इस अवस्था में व्यक्ति बाह्य आदेश के पास से अपेक्षाकृत मुक्त हो जाता है और उसका पथ-प्रदर्शन अन्त करण के आन्तरिक नियम के द्वारा होने लगता है। तीसरी अवस्था में 'कानूनी' नैतिकता के इन दो रूपों की अपर्याप्तता समझ में आ जाती है। और उसका स्थान नैतिक-मानदण्ड-विषयक एक नवीन विचार ग्रहण कर लेता है, जिससे नियम किसी उद्देश्य का साधक समझा जाता है और उद्देश्य स्वत साध्य होता है। वैधानिक नीति के स्थान में उद्देश्य-मूलक नीति आ जाती है।

क़ानूनी अथवा विधि-मूलक नीति-शास्त्र और उद्देश्य-मूलक नीति-शास्त्र, नीति शास्त्र के ये दो प्रकार है। पूर्ववर्त्ती सत् के विचार अथवा नैतिक नियम पर ज़ोर देता है, पश्चवर्त्ती, आत्मा के किसी उद्देश्य अथवा शुभ या हित पर। सत् का अर्थ है नियम के अनुसार ; शुभ का अर्थ है किसी उद्देश्य का साधक।

२. नैतिक-मानदण्ड-विषयक विविध परिकल्पनायें।

चरम नैतिक-मानदण्ड के प्रश्न के बारे में विविध परिकल्पनायें है। इन नैतिक परिकल्पनाओं का श्रेणी-विभाग कानूनी और उद्देश्यवादी परिकल्पनाओ में हो सकता है (क़ानूनी परिकल्पनाओ के अनुसार कोई बाह्य या अन्तरस्थ कानून अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। उद्देश्यवादी परिकल्पनाओ के अनुसार आत्मा का कोई उद्देश्य अथवा शुभ अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। उद्देश्यवादी परिकल्पनायें आत्मा-विषयक विचारो के भेद के अनुसार कई प्रकार की होती हैं। सुखवाद सुख अथवा इन्द्रिय तृप्ति को ही चरम नैतिक मानदण्ड मानता है। बुद्धिपरतावाद या कठोरतावाद इन्द्रियमय आत्मा के दमनपूर्वक शुद्ध बुद्धिमय आत्मा के जीवन को ही चरम नैतिक आदर्श मानता है। आत्मपूर्णतावाद के अनुसार अन्तिम नैतिक आदर्श है बुद्धि की सहायता से

इन्द्रियवृत्ति और इच्छाओं के नियमनपूर्वक आत्मा की पूर्णता-प्राप्ति या आत्मा का पूर्ण-विकास।

३. वाह्य नियम का नैतिक मानदण्ड।

कुछ लोगो के अनुसार वाह्य नियम अथवा आज्ञा चरम नैतिक मानदण्ड है। कोई कर्म अपने आप से ही सत् वा असत् नही है। उसके सत् या असत् वनने का कारण एक वाह्य आदेश अथवा उच्चतर शक्ति की इच्छा है। वह कर्म जो नियम का पालन करता है सत् कहलाता है। नियम के उल्लघन करने वाले कर्म को असत् कहा जाता है। कोई भी कर्म स्वत सत् वा असत् नही। कर्म के सदसत्-भाव को निर्धारित करने वाला वाह्य नियम या तो सामाजिक होता है, या राजकीय, या ईश्वरीय। प्रत्येक दशा में वह एक उच्चतर शक्ति का आदेश होता है जो कि दण्डविधान और कभी कभी पुरस्कार के वायदो की सहायता से हमारे ऊपर लागू किया जाता है।

वाह्य नियम की समीक्षा—किन्तु, जिस नैतिकता को वाहर से हमारे ऊपर लादा गया है अर्थात जिसका मूल वल-प्रयोग है, वह नैतिकता नही। नैतिकता का मूल आधार इच्छा-स्वातन्त्र्य है। एक वाह्य प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति का आदेश 'करना पडेगा' (must) अर्थात् भौतिक वाध्यता की सृष्टि करता है, 'करना चाहिए' (ought) अर्थात् नैतिक वाध्यता की कदापि नही।

वाह्य नियम सदैव पुरस्कार के प्रलोभन और दण्ड के भय से लागू होता है। किन्तु, यदि पुरस्कार की आशा और दण्ड-भय ही नैतिकता की प्रवर्त्तक शक्तियाँ हैं तो नैतिकता स्वार्थ और धर्म दूरदर्शिता हो जाते हैं। ऐसी दशा में किए हुए कर्म की नैतिक महत्ता नही रह जाती। वाध्यता-मूलक नैतिकता, नैतिकता नही होती। स्वार्थ सिद्धि के लिए नैतिकता नैतिकता नहीं।

इस परिकल्पना के अनुसार नैतिक मानदण्ड एक वाहरी कानून या आदेश है जो विवेकहीन होता है। किन्तु वास्तविक नैतिक मानदण्ड विवेकशून्य नही हो सकता। उसे विवेकयुक्त होना चाहिए, बुद्धिसम्मत होना चाहिए। उसे आत्मा का विवेकपूर्ण उद्देश्य होना चाहिए।

नियम का स्वत कोई अर्थ नही होता। वह उच्चतर उद्देश्य का साधन-मात्र होता है। इस प्रकार नियम की अपेक्षा नियम-साध्य उच्च ध्येय को ही नैतिकता का अन्तिम मानदण्ड समझना चाहिए। नियम शुभ या हित का साधन है। नियम-पालन से शुभ-प्राप्ति होती है। आत्मा का मगल या शुभ नैतिक मानदण्ड होना चाहिए।

४. (क) समुदाय का नियम।

प्राचीन युग में लोग समुदायों में रहते थे, तथा समुदाय के सरदार का आदेश-पालन सभी सदस्यो का कर्त्तव्य होता था। वही उनके लिए नैतिक नियम होता था।

समुदाय या दल का नियम नैतिक नियम समझा जाता था। समुदाय के नेता का आदेश व्यक्ति का नैतिक मानदण्ड था। जो कर्म सरदार के आदेश का पालन करता था, वह सत् और जो कर्म सरदार के आदेश को भग करता था, वह असत् समझा जाता था। कोई कर्म स्वत सत् या असत् नही समझा जाता था।

किन्तु, दल के सरदार का आदेश शीघ्र ही निरपेक्षतारहित समझा जाने लगा। कभी कभी दल का सरदार परस्पर-विरोधी आदेश देता है। विचार करने वाली बुद्धि उनकी अपर्याप्तता को समझ जाती है, क्योंकि उसे तो पूर्वापर-सगति वाञ्छनीय है। उन आदशो की प्रकृति 'करना पड़ेगा' (must) की होती है, 'करना चाहिए' (ought) की नही। मनुष्य का स्वतन्त्रताप्रिय आत्मा बलप्रयोग का प्रतिरोध करता है। बलप्रयोग नैतिकता का विरोधी है, यह नैतिकता का नाश कर देता है। आत्म-स्वातत्र्य नैतिकता का मूलभूत आधार है।

५. (ख) समाज का नियम।

कुछ विद्वानो का मत है कि समाज का नियम वा आदेश ही सदसत् का मानदण्ड है। सत्कर्म वह है जो समाज के आदेश का पालन करता है। सामाजिक नियम के उल्लघन से कर्म असत् हो जाता है। समाज द्वारा आदिष्ट कर्म सत्, समाज द्वारा निषिद्ध कर्म असत्। इस प्रकार समाज का नियम, मत, रीति रिवाज नैतिकता का अन्तिम मानदण्ड है। सामाजिक नियमो को लागू करने वाले जनता का अनुमोदन-अननुमोदन-सूचक भावनायें हैं, जाति-बहिष्कार समाज द्वारा व्यक्ति को दिए जाने वाले महान् दण्ड हैं। "नैतिकता एक सामाजिक सस्था है जिसका सरक्षण समाज की शक्ति और दण्ड के द्वारा होता है।" "एक नैतिक कर्म वह कर्म है जिसका समाज के आदेश से विधान होता है और जिसे करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। इसकी नैतिकता इसकी विधिमूलक प्रकृति में निहित है, समाज के मौलिक उद्देश्यो की पूर्ति करने में नही।"* सामाजिक रीतियो का विवेकशून्य पालन सत् है और इनका उल्लघन असत् है।

सामाजिक नियम की समीक्षा—किन्तु सामाजिक नियम समरूप नहीं होते; वे परिवतनशील होते हैं, युग युग में उनमें परिवर्तन होता रहता है। जिन सामाजिक नियमो की एक युग में प्रशसा होती है, दूसरे में वे दोषपूर्ण घोषित कर दिए जाते है। अलग अलग समाजो में वे अलग अलग होते हैं। अत उन्हे अन्तिम नैतिक मानदण्ड समझना अयुक्ति-युक्त है, क्योंकि मानदण्ड तो समरूप होता है। यदा कदा सामाजिक नियमों मे परस्पर विरोध हो जाता है। इसलिए उनसे नैतिक मानदण्ड नहीं बन सकता, जो कि समरूप, अविरोधी तथा सगत होता है।

समाज के नियम, रीतियाँ, रिवाजें, नैतिक आलोचना की वस्तुयें हैं। एक

* बेन।

उन्नतर नैतिक मानदण्ड की तुलना में उनमें से कुछ नैतिक ठहरते हैं, कुछ अनैतिक। अतः जो परम्परागत है उसका नैतिक होना आवश्यक नही। कुछ सामाजिक नियम नीति-सम्मत और कुछ नीति-विरुद्ध है। अत ये नैतिक मानदण्ड नहीं हो सकते।

हमारी आन्तरिक प्रेरणाओ और अभिप्रायो को तो छोड दीजिए, समाज हमारे सभी स्थूल बाह्य कर्मों को भी नही जान सकता। किन्तु, आन्तरिक प्रेरणाओ और अभिप्रायो को व्यक्त करने वाला हमारा सम्पूर्ण व्यवहार नैतिक निर्णय का विषय है। अत समाज का नियम नैतिक मानदण्ड नही हो सकता।

बाह्य नियम को नैतिक मानदण्ड समझने वाले मत के विरुद्ध जितनी भी सामान्य आपत्तियाँ हैं यहाँ पर भी सामान्य रूप से लागू होती हैं।

६ (ग) राज्य का नियम।

हौब्स (Hobbes), बेन (Bain) प्रभृति विद्वान राज्य के आदेश अर्थात् राजनैतिक नियम को सदसत् का मानदण्ड मानते हैं। राज्य नियमो का निर्माण करता है और दण्ड का भय देकर उनका पालन करवाता है। राज्य द्वारा आदिष्ट कर्म सत् है और राज्य द्वारा निषिद्ध कर्म असत् है। 'सदसत् का विचार करने वाला उच्चतम न्यायालय राजनियम ही है।"* नैतिकता राज्य के नियमो को मानने में है। राजा का आदेश नैतिक मानदण्ड है। इसका आधार भौतिक शक्ति या बलप्रयोग है। पुरस्कार तथा दण्ड राजादेश को लागू करते हैं। राजादेश के उल्लघनकारी को दण्ड दिया जाता है। राजादेश के पालनकारी को पुरस्कार दिया जाता है।

राज्य के नियम की समीक्षा—किन्तु, राजनैतिक नियम एक उद्देश्य अर्थात् लोकहित के साधन है। अत उनसे चरम नैतिक मानदण्ड नही बन सकता।

'राजनैतिक नियम परिवर्तनशील होते है, अलग अलग देशो में अथवा उसी देश में अलग अलग समयो में वे भिन्न भिन्न होते हैं। अन्तिम नैतिक मानदण्ड समरूप और संवादयुक्त होता है। वह परिवर्तनशील राज-नियम नही हो सकता।

राजनैतिक नियम सभी सम्भव परिस्थितियो के लिये नही बनाये जा सकते। वे केवल हमारे व्यवहार के एक अश पर ही शासन कर सकते हैं। हमारे सभी स्थूल कर्मों की परीक्षा उनके द्वारा नही हो सकती। वे हमारे मानसिक जीवन को स्पर्श करने में क्षम नहीं हैं। वे हमारी प्रेरणायो और अभिप्रायो में नहीं प्रवेश पा सकते, जो नैतिक निर्णय के विषय हैं।

राजनैतिक नियम नैतिक निर्णय के विषय हैं। उनमें से कुछ नैतिक, कुछ अनैतिक समझे जाते हैं। अत जिस उच्चतर उद्देश्य के सामने वे गौण हैं वही अन्तिम नैतिक मानदण्ड माना जा सकता है। राष्ट्र के नियम उच्चर उद्देश्य का साधन हैं। अत राज्य के नियम नैतिक मानदण्ड नहीं हो सकते।

---

* हौब्स।

वाह्यनियम को मानदण्ड मानने के विरुद्ध जितनी भी सामान्य आपत्तियां हैं वे यहां पर भी लागू होती हैं।

७ (घ) ईश्वरीय नियम।

देकार्त, लौक तथा पैले प्रभृति विद्वानों की सम्मति में ईश्वरीय नियम अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। ईश्वर के द्वारा आदिष्ट कर्म सत् है, ईश्वर के द्वारा निषिद्ध कर्म असत। ईश्वर की निरपेक्ष इच्छा ही नैतिक मानदण्ड है। सदसत् का भेद ईश्वर की अनियन्त्रित इच्छा पर आश्रित है। वह सत् का आदेश इसलिये नही देता कि वह सत है। वह असत् का निषेध इसलिये नहीं करता कि वह असत् है। वह सत् को असत् और असत् को सत् कर सकता है। ईश्वर की प्रकृति नैतिकता तथा अनैतिकता से ऊपर, ईश्वर की इच्छा सदसत् का बाहर है। यह सत् या असत् नही है। यह अति-नैतिक है। ईश्वर में नैतिक गुण कुछ भी नही हैं। वह परम-शक्तिशाली है। ईश्वर की इच्छा स्वछन्द तथा अनियन्त्रित है, नैतिक नियम का अधीन नही है। ईश्वर अपनी इच्छा का प्रकाश दिव्य-ज्ञानयुक्त ऋषियों के हृदयो में करता है जो उसे धार्मिक ग्रथो में प्रकाशित कर देते हैं। दूसरे लोगो को ईश्वरेच्छा का ज्ञान धार्मिक ग्रथो से होता है।

देकार्त (Descartes) के मत से ईश्वर गणितशास्त्रीय, तार्किक तथा नैतिक सभी सत्यो का स्रष्टा है। सदसत का भेद उसकी स्वछन्द इच्छा पर निर्भर है। लौक (Locke) कहता है कि, "नैतिकता का वास्तविक आधार ईश्वरीय इच्छा और नियम हो ही सकता है।"

ईश्वरीय नियम की समीक्षा—यह मत ईश्वर को एक स्वेच्छाचारी शाशक वना देता है जो सदसत् के भेद से अतीत है। अत ईश्वर नैतिक दृष्टि से उदासीन वन जाता है। किन्तु, वस्तुत ईश्वर नैतिक पूर्णता की शाश्वत मूर्ति है। धर्म ईश्वर का आवश्यक स्वभाव है। यह कहना असत्य है कि जो कुछ ईश्वर का आदेश है वह सत् है। सत्य तो यह है कि जो सत् है, सत् होने के कारण ईश्वर उसका आदेश देता है। ईश्वर की प्रकृति आवश्यक रूप से नैतिक है और वह सत् का उद्गम है। जो सत् है उसका दैवी स्वभाव से सामञ्जस्य है। असत् का उससे विरोध है। सदसत् का भेद ईश्वर की स्वच्छन्द इच्छा पर आश्रित नहीं है, वल्कि उसके नित्य, परिवर्तनहीन और नैतिक स्वभाव पर आश्रित है। देकार्त भी ईश्वर की पूर्णता का उल्लेख करता है। लौक ईश्वर को सत् और ज्ञानी वतलाता है। यह मत स्वविरोधी हो जाता है। यदि ईश्वर सत् कर्म को असत् और असत् कर्म को सत् कर सकता है, तो वह सत् और पूर्ण नही हो सकता है। वह अति-नैतिक हो जाता है। अति-नैतिक परम-शक्तिशाली ईश्वर वलिष्ठ दैत्य के समकक्ष है, वह ईश्वर-पदवाच्य नही है।

नैतिक नियम को ईश्वर का आदेश समझकर उसका पालन करना दूरदर्शिता

है, धार्मिकता नही । स्वर्ग में पुरस्कार की आशा और नरक में दण्ड मिलने का भय नैतिक जीवन की प्रेरणायें हो जाते हैं । अत नैतिकता दूरदर्शिता हो जाती है ।

हम अन्त.करण के आन्तरिक नियम को नैतिक मानदण्ड मानने वाले मत का विवेचन आगे सहज-ज्ञानवाद और कान्ट के बुद्धिपरतावाद की परीक्षा करते समय करेंगे ।

८. न्याय-दर्शन मे ईश्वरीय नियम नैतिक मानदण्ड के रूप मे ।

न्याय-दर्शन ईश्वरीय विधान को नैतिक मानदण्ड मानता है। ईश्वर द्वारा आदिष्ट कर्म सत् हैं । ईश्वर द्वारा निषिद्ध कर्म असत् हैं । ईश्वर की विधियाँ और उसके निषेध वेदो में वर्णित हैं । वेदों की रचना ईश्वर ने की है । वह नैतिक नियमो को लागू करने वाला है । वे नियम शास्त्रो में पाये जाते हैं । नीति का स्रोत ईश्वर है । मनुष्य ईश्वरीय नियम का पालन करके धर्म या पुण्य अर्जन करता है और उसका लङ्घन करके अधर्म या पाप अर्जन करता है । मनुष्यो के ऐच्छिक कर्म सकल्प-स्वातन्त्र्य से प्रेरित हैं । ये स्वय-नियन्त्रित अथवा आत्म-नियन्त्रित हैं । मानव-स्वतन्त्रता ईश्वराधीन है । मनुष्य स्वभावत इन्द्रियज आत्म-सुख चाहता है । यह प्रवृत्ति-मार्ग है । परन्तु उसको इन्द्रिय-दमन करके निवृत्ति-मार्ग पर चलना चाहिये । ईश्वरीय आदेश इस मार्ग को बतलाता है, इन्द्रिय-सुख या प्रेय को छोड कर परम हित या श्रेय की प्राप्ति के साधनों को ।

अध्याय ७

सुखवाद

१ सुखवाद ।

सुखवाद के अनुसार सुख ही नैतिकता का अन्तिम मानदण्ड है। सुख ही परम मगल है। सुख ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। सुखवाद दो कल्पनाओ के ऊपर आधारित है—एक दार्शनिक और दूसरी मनोवैज्ञानिक।

सुखवाद जिस दार्शनिक कल्पना पर आधारित है उसके अनुसार आत्मा की प्रकृति विशुद्ध इन्द्रियपर है। आत्मा सवेदन, भाव, वासना और मूल-प्रवृत्तियों की एक समष्टि है। निश्चित-रूप से हमारे अन्दर बुद्धि है, किन्तु मानवीय स्वभाव मे इसका स्थान सर्वोपरि नही है, यह वासनाओ की सेविका मात्र है। बहुसख्यक सुखवादियो के मतानुसार बुद्धि केवल वासनाओ के लक्ष्यो की प्राप्ति के हेतु सर्वोत्तम साधन ढूढा करती है। ह्यूम (Hume) बुद्धि को वासना की सेविका समझता है। सुखवाद के अनुसार वासनामय आत्मा की तृप्ति ही परम शुभ है। ऐन्द्रिम सुख परम मगल है।

बहुत से सुखवादियों (यथा, बेन्थम, जे० एस० मिल तथा अन्य) की धारणा है कि मनुष्य स्वभावत सुख का अनुसधान और दुख की निवृत्ति करते है। इच्छा का प्रारम्भिक लक्ष्य सुख है। अन्तिम-रूप से हम सुख की ही इच्छा करते है। दूसरी वस्तुओ की इच्छा सुख के साधनो के रूप में होती है। इच्छा का सामान्य विषय सुख है। हम स्वत सुख का अन्वेषण और दुख का परित्याग करते हैं। हमारी प्रकृति ऐसी होती है।

२ मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद ।

सुखवाद के कई रूप है। यह मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है और नैतिक भी। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार सुख इच्छा का स्वाभाविक और साधारण विषय है, हम सदैव सुख का ग्रहण और दुख का त्याग करते है। नैतिक सुखवाद के अनुसार इच्छा का उपयुक्त विषय सुख है, हम सदैव सुख का अनुसन्धान नही करते, बल्कि ऐसा करना चाहिए। मनोवैज्ञानिक सुखवाद वास्तविक तथ्य का कथन-मात्र है। नैतिक-सुखवाद आदर्श अथवा उद्देश्य-विषयक उक्ति है। हम सदैव सुख का अन्वेषण तथा दुख का परित्याग करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। हमें सुख का अन्वेषण तथा दुख का परित्याग करना चाहिये। यह नैतिक सुखवाद है।

३. मनोवैज्ञानिक सुखवाद ।

यह वह परिकल्पना है जिसके अनुसार इच्छा का अन्तिम विषय सुख है। सुख मानवीय कर्मों का स्वाभाविक लक्ष्य और प्रेरक है। हम सदा सुख का अनुसंधान और दुःख का परित्याग करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति उसी वस्तु की कामना करता है जो उसके विचार से सुखप्रद होगी, वह इच्छित वस्तु से सुख-प्राप्ति की आशा रखता है। वस्तु-विषयक-इच्छा वस्तुओं के लिए नहीं होती बल्कि उनसे मिलने वाले सुख के लिये होती है। सुख इच्छा का स्वाभाविक विषय है।

सिरेनैक (प्राचीन यूनानी सुखवादियों का सम्प्रदाय) इस मत के प्रचारक थे। बेन्थम और जे० एस० मिल भी इसके समर्थक हैं। बेन्थम का कथन है कि "प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख के साम्राज्य में रक्खा है। उसका एकमात्र लक्ष्य सुख-प्राप्ति और दुःख-त्याग है। उपयोगिता का सिद्धान्त प्रत्येक वस्तु को इन दो प्रेरक-शक्तियों के शासन में रखता है।" "प्रकृति ने मनुष्य-जाति को दो राजोचित-शक्तियों से सम्पन्न प्रभुओं के अधीन स्थापित किया है वे सुख और दुःख हैं। यह वही स्थिर करते हैं कि क्या हमें करना चाहिये और क्या हम करेंगे।" इस प्रकार, बेन्थम के मतानुसार सुख और दुःख ही कर्म के अवश्यम्भावी प्रवर्त्तक हैं, वे ही हमारे प्राप्तव्य लक्ष्य हैं। सुख उपादेय तथा दुःख परित्याज्य हैं।

इसी प्रकार, जे० एस० मिल की उक्ति है, "किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखप्रद पाना किसी वस्तु से विरक्त होना और उसे दुःखप्रद समझना दोनों पूर्णतः अवियोज्य तथ्य हैं, बल्कि दोनों एक ही तथ्य के दो भाग हैं, किसी वस्तु को वांछनीय समझना और उसे सुखप्रद समझना एक ही बात है, किसी वस्तु के विचार की सुखप्रदता के अनुपात में उसकी कामना न करना एक स्वाभाविक और दार्शनिक असम्भावना है।" इससे जे० एस० मिल यह परिणाम निकालता है कि हम सदैव सुख की इच्छा करते हैं अथवा सुख ही इच्छा का एकमात्र विषय है। सुख ही चरम लक्ष्य है। मिल के मत के अनुसार हम ज्ञान, सौन्दर्य तथा धर्म का अन्वेषण करते हैं। परन्तु ये सुख के साधन हैं। सुख के लिये हम ज्ञान, सौन्दर्य तथा नीति का परिशीलन करते हैं। ये स्वतः परम मंगल नहीं हैं। सुख ही एकमात्र चरम हित है।

४ मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना ।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद यथार्थ नहीं। इसके विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियां की जा सकती हैं। यह मत अमनोवैज्ञानिक है। सुख इच्छा की तृप्ति का परिणाम है, इच्छा किसी वस्तु की होती है। साधारण रूप से, हमें किसी वस्तु की इच्छा होती है, और जब वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो उसका फल सुख होता है। किन्तु, सुख की अनुभूति पहिले से इष्ट नहीं होती। मानसिक प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक क्रम इस प्रकार

है। (क) अभाव या आवश्यकता की अनुभूति, (ख) किसी वस्तु की इच्छा, (ग) वस्तु की प्राप्ति, (घ) सुख की अनुभूति। सबसे पहिले हमें आवश्यकता यथा, भूख का अनुभव होता है, भूखे होने पर हमें भोजन (वस्तु) की इच्छा होती है, जब भोजन खा लिया जाता है अथवा इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो हमें सुख की अनुभूति होती है। इस प्रकार बुभुक्षित होने पर हम स्वभावतया खाद्य वस्तु की इच्छा करते हैं, सुखानुभूति की नही। हम स्वभावत सुख नही खोजते हैं, परन्तु अभावपूर्ति की वस्तु खोजते है। सुख इच्छा का विषय नही है, वस्तु इच्छा का विषय है। वस्तु-प्राप्ति से सुख का उदय होता है। सुख इच्छापूर्ति का परिणाम है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद सुख के विचार और सुखप्रद-विचार के अन्तर को समझने में भूल करता है। चुनी हुई वस्तु अथवा लक्ष्य का विचार सुखप्रद होना चाहिय। किन्तु वह सुख नही। सुख चुनाव का निमित्त कारण या प्रवतक है, उसका अन्तिम कारण या उद्देश्य नही। सुखप्रद चुनाव आवश्यक-रूप से सुख का चुनाव नही होता। चुनाव का विषय सदैव सुखकर होता है, लेकिन आवश्यक-रूप से सुख नही। हमें वस्तु की इच्छा होती है, जब वस्तु की प्राप्ति हो जाती है, तो इच्छा की तृप्ति हो जाती है और हमें सुख मिलता है। सुख स्वभावत इच्छा का लक्ष्य नही है।

आवश्यकता तृप्ति की पूर्व-गामिनी होती है। यह इस तथ्य से अधिक स्पष्ट हो जायेगा कि आवश्यकतायें सदैव सतोष की पूर्व-गामिनी होती हैं। बटलर (Butler) सम्यक्-रूप से निर्देश करता है कि यदि सुख से पहले वस्तुओ की इच्छायें न होतीं तो विविध प्रकार के सुखों की सत्ता ही न होती। परोपकार से सम्भवतया किसी को सुख प्राप्त न होता, यदि पहले उसे दूसरो के हित की इच्छा न होती। इस प्रकार इच्छा का लक्ष्य सुख से भिन्न कोई वस्तु, यथा परोपकार, होती है। "सुख का उदय किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त होता है, और आवश्यकताओ को सतोप से पहले होना चाहिये।"* इस प्रकार कम से कम कुछ इच्छायें ऐसी होती हैं जो सुख के लिये नही होतीं। सुख आवश्यकता की पूर्ति से उत्पन्न होता है। सुख इच्छापूर्ति का परिणाम है, इच्छा का प्रवर्तक नहीं।

'सुख' शब्द की द्वयर्थकता—सुख शब्द द्वयर्थक है। इसका अर्थ (क) सुखकर अथवा इच्छित वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् तृप्ति की अनुभूति या (ख) सुखप्रद अथवा सतोप देने वाली वस्तु हो सकता है। दूसरे अर्थ में हम मूर्त्त 'सुख' अथवा 'सुखो' का प्रयोग करते हैं। जब हम जीवन के 'सुखो' के विषय में कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य सुखप्रद वस्तुओ से होता है। किन्तु जब हम अमूर्त्त सुख के विषय में कहते हैं तो साधारणत हमारा तात्पर्य उस सुख अथवा सतोप के भाव से होता है जिसे सुखप्रद वस्तुयें अपने साथ लाती हैं।

---

* मैकेंजी।

इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि जिसके लिये हमारी इच्छा होती है वह सदैव सुख है, तो इसका यह अर्थ है कि जिसके लिये हमारी इच्छा होती है वह सदैव कोई वस्तु है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् सुखकर अनुभूति का उदय होता है। हम वस्तुओं की इच्छा करते हैं, जिनकी उपलब्धि से सुख मिलता है। यह कहना यथार्थ है कि हम वस्तुओं की इच्छा करते हैं, लेकिन यह कहना कि हम सुख की इच्छा करते हैं अयथार्थ है। "यह तथ्य कि हम सुखों (वस्तुओं) की इच्छा करते हैं इस बात का प्रमाण नहीं है कि हम सुख (अनुभूति) की इच्छा करते हैं।* हम सुखप्रद वस्तुओं की प्राप्ति के लिये इच्छा करते हैं, परन्तु सुख का अन्वेषण नहीं करते हैं।

कभी कभी सुख चुनाव के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। 'जैसे तुम चाहो या जैसे तुमको सुख मिले वैसा करो' का अर्थ होता है कि 'जिस प्रकार से करने का तुम्हारा चुनाव है वैसा करो।' यह कथन एक निरर्थक पुनरुक्ति-मात्र है।

सुखवाद में विरोधाभास—मनोवैज्ञानिक सुखवाद एक बड़े दोष से दूषित है जिसका निर्देश सिजविक (Sidgwick) ने किया है। सिजविक का कथन है कि "यदि सुख-विषयक इच्छा बहुत अधिक बलवती हो तो वह अपने ही उद्देश्य के लिये घातक सिद्ध होती है।" "जितना ही अधिक हम सुख का अनुसन्धान करते हैं, उतनी ही कम हमें उसकी प्राप्ति होती है।" जब भी सुख-प्राप्ति की हमारी कामना होती है, उसे प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय उसको भूल जाना है। यदि हम स्वयं सुख की चिंता करते रहें, तो हमें उसकी अनुलब्धि निश्चित है, विपरीत रूप से यदि इच्छायें विषयोन्मुखी होती हैं तो सुख की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।"† यह सुखवाद का मौलिक विरोधाभास है। लेकिन यह सभी सुखों के विषय में सत्य नहीं है। इसकी सत्यता विशेषतः उन सुखों में लक्षित होती है जिनका जान बूझ कर अनुसरण किया जाता है। पूर्ण सुखोपभोग के लिये उदासीनता की कुछ मात्रा आवश्यक है। जब हम कोई नाटक देखते हैं, तो हमें नाटक के ऊपर ध्यान देना चाहिए, न कि उससे उपलब्ध होने वाले सुख पर। यदि बोधपूर्वक हम सुख को अपना लक्ष्य बनाते हैं, तो उसका प्राप्त न होना निश्चित है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद को एक यथार्थ सिद्धान्त मान भी लिया जाय, तो भी इसका नैतिक सुखवाद के साथ कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं ठहरता। एक को मान लेना तथा दूसरे को न मानना सम्भव हो सकता है। मैकेंजी का यह कहना यथार्थ है कि नैतिक सुखवाद की मनोवैज्ञानिक सुखवाद से, कम से कम उसके चरम रूप से कोई

---

* मैकेंजी।

† मैकेंजी।

सगति मुश्किल से हो सकती है। यदि हम सदैव स्वभावतः अपने सुख का अनुसधान करते हैं, तो इस शिक्षा का कि हमें ऐसा करना चाहिए क्या अर्थ हुआ ?

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की नैतिक आत्म-सुखवाद से इस प्रकार सगति बैठाई जा सकती है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का यह अर्थ होना चाहिए कि हम किसी प्रकार के आत्म-सुख का अन्वषण करते हैं, और नैतिक आत्म-सुखवाद का यह कि हमें अपने ही अधिकतम सुख का लाभ करना चाहिए। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का नैतिक पर-सुखवाद से भी समझौता किया जा सकता है, लेकिन इस शर्त पर कि परसुख में हमें आत्म-सुख की प्राप्ति हो।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद अमनोवैज्ञानिक है। सुख इच्छा का विषय नही है। इच्छा वस्तु की दिशा में होनी है, और सुख उसकी तृप्ति का परिणाम है। इच्छा प्रारम्भिक लक्ष्य वस्तु होती है जिसकी प्राप्ति से सुख की अनुभूति होती है। अत सुख इच्छा का विषय नही, बल्कि इच्छा-पूर्ति का फल है।

'सुख' शब्द द्वयर्थक है। इसका अर्थ (क) इष्ट वस्तु की प्राप्ति से जनित सुखकर अनुभूति या (ख) सन्तोषप्रद अथवा तृप्तिकारक वस्तु हो सकता है। दूसरे अर्थ में हम 'एक सुख' या 'अनेक सुखों' का प्रयोग करते हैं। 'एक सुख' = एक सुखप्रद वस्तु'। अनेक सुख' = 'अनेक सुखप्रद वस्तु'।

यदि हम सुख की इच्छा करते भी हो, फिर भी उसकी पूर्ण-रूप में तभी प्राप्ति हो सकती है जब उसका अनुसधान कम से कम किया जाय। सीधे सुख के पीछे दौडना आत्म-घातक है। जितना ही अधिक हम सुख की खोज करते हैं, उतना ही कम सुख हमें मिलता है। इसे सिजविक ने सुखवाद का मौलिक विरोधाभास कहा है।

यदि हम स्वाभाविक-रूप से सुख का अनुसधान करते भी हो, तो भी इससे यह सिद्ध नही होता कि हमें सुख का अनुसधान करना चाहिए। मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। यदि हम अवश्य ही सुख की खोज करते हैं, तो यह कहने में कि हममें ऐसा करना चाहिए कोई सार नहीं है।

४. आत्म सुखवाद।

नैतिक सुखवाद के अनुसार, हमें सुख प्राप्त करना चाहिए, सुख ही प्रश्न का उपयुक्त विषय है। लेकिन इसके दो रूप हो सकते हैं ..स्वार्थमूलक और परार्थमूलक।

आत्म-सुखवाद के अनुसार व्यक्ति का सुख नैतिक मानदण्ड है। परसुखवाद के अनुसार बहुसख्यक अर्थात् अधिकतम जन-समुदाय का अधिकतम सुख अथवा सामान्य सुख ही नैतिक मानदण्ड है।

आत्म-सुखवाद भी दो प्रकार का है : स्थूल और सस्कृत।

(क) स्थूल आत्म-सुखवाद—सिरेनैक सम्प्रदाय का प्रवर्तक, अरिस्टिप्पस

(Aristippus) स्थूल अथवा इन्द्रियपर आत्म-सुखवाद का प्रचारक था। उसके मतानुसार, सभी सुख एक ही प्रकार के होते हैं, उनकी केवल तीव्रता अथवा मात्रा और स्थिति में तारतम्य होता है, उनमें गुणात्मक भेद नही होता। शारीरिक सुख अथवा इन्द्रिय-तृप्ति आध्यात्मिक सुखो की अपेक्षा अधिक वरणीय हैं, क्योकि उनसे अपेक्षाकृत तीव्रतर होते हैं। अतीत मर चुका है और भविष्य सशयात्मक है। वर्तमान ही सब कुछ है। इसी से हमें अधिक से अधिक सुख-लाभ करना होगा। खाओ, पिओ और मजे उडाओ, क्योकि कल तो मरना ही है। ख्याल रहे कि एक भी क्षण तीव्रतम सुख-भोग से खाली न जावे। इसलिए, जीवन का सच्चा नियम यह है कि वर्तमान क्षणिक विषय-सुखो के लिए अविचारपूर्वक अपना उत्सर्ग कर दो।

भारत का चार्वाक-सम्प्रदाय भी इसी मत का प्रचारक था। हौब्स(Hobbes) सब चरित्र-गुणों को आत्म-प्रेम में विघटित कर देता है। मैंडेविले (Mandevile) और हेल्वेशियस (Helvatius) भी ठीक इसी मत के अनुयायी हैं। उनके अनुसार आनन्द का अर्थ इन्द्रिय-तृप्ति-जनित सुख की उच्चतम मात्रा है, और वही परम शुभ भी है।

(ख) संस्कृत आत्म-सुखवाद—एपिक्यूरस (Epicurus) के अनुसार, बुद्धि का हमारे नैतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सच्चे आनन्द की प्राप्ति के लिए बुद्धि ही उपयुक्त पथ-प्रदर्शक है। जीवन का ध्येय क्षणिक सुख नहीं, बल्कि सुखी जीवन है। सुखी जीवन विचारपूर्ण जीवन है। सुख जीवन का लक्ष्य है अवश्य, लेकिन बुद्धि की सहायता से ही उसकी उपलब्धि हो सकती है। बुद्धि के द्वारा ही एकान्त-रूप से दुःख से रहित पूर्ण काम-तृप्ति सम्भव है। अतः क्षणिक सुख से मनुष्य का भला नही हो सकता है, सुखी जीवन ही शुभ है।

एपिक्यूरस के अनुयायी सुख का अर्थ शारीरिक दुःख और मानसिक कष्ट का अभाव मानते हैं। सुख का अर्थ है दु:खभाव। एपिक्यूरस का सिद्धान्त यह है कि हमें सुख दुःख के प्रति उदासीनता का भाव अपनाना चाहिए। इससे आत्मा के अन्दर ऐसी शान्ति का उद्भव हो जाएगा कि जिसे भाग्य के थपेडे भी आन्दोलित न कर सकें। वास्तव में, जीवन का ध्येय भावात्मक अनुभूति अथवा विषयभोग की अपेक्षा अनुभूति शून्यता, तटस्थता अथवा औदासीन्य है।

एपिक्यूरस बौद्धिक सुखो को शारीरिक सुखो की अपेक्षा अधिक प्रधानता देता है, क्योकि वे दुःख से कम मिश्रित होते है और अपेक्षाकृत अधिक समय तक उनका उपभोग किया जा सकता है। एपिक्यूरस स्पष्ट-रूप शारीरिक सुखो से बौद्धिक सुखो की गुणात्मक श्रेष्ठता को स्वीकार नही करता।

आत्म-सुखवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है; अतः मनोवैज्ञानिक सुखवाद के दोषो से यह भी दूषित है।

हॉब्स का विचार है कि मनुष्य निसर्गत स्वार्थी है और सब उच्चतर सवेग तथा कर्म के उद्गम आत्म-प्रेम के ही प्रकार हैं। किन्तु हमारा जीवन अपने लिए कम और दूसरों के लिए अधिक होता है। आत्मोसर्ग आत्करक्षण से कम नैसर्गिक नही है। परोपकारमूलक सवेग स्वार्थमूलक भावो में नही घटाए जा सकते, न उनसे उनका विकास हो सकता है। स्वार्थ और परार्थ दोनों की जडें मानव स्वभाव में निहित हैं। स्वार्थ का आधार स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ है और परार्थ का आधार परोपकार प्रवृत्तियाँ। स्वार्थ का आधार आत्मरक्षा-रूप सहजवृत्ति है। परार्थ का आधार वशरक्षा-रूप-सहजवृत्ति है।

आत्म-सुखवाद हमें नैतिकता का समान मानदण्ड कदापि नहीं दे सकता। जो एक के लिए सुखद है वही दूसरे के लिए दु खद हो सकता है। यदि सुख सत् है और दु ख असत, तो नैतिक मानदण्ड कभी भी सकरूप नही हो सकता। इस प्रकार जिस नैतिकता को लोग समरूप समझते हैं उसकी परिसमाप्ति हो जाती है।

आत्म-सुखवाद हमें सुखो के न्यूनाधिक मूल्यो की परिगणना के लिये कहता है। लेकिन वह कार्य कष्टसाध्य है। आन्तरिक अनुभूतियों के परिमाण को नापा नही जा सकता। दूसरी कठिनाई यह है कि आत्मगत अनुभूतियो पर उमग, स्वभाव और परिस्थितियो के परिवर्तन का प्रभाव लक्षित होता है, और इस प्रकार सुखवादी परिगणना अव्यवहार्य हो जाती है।

स्थूल अथवा इन्द्रियपरक स्वार्थवाद को नैतिक परिकल्पना कहना अनुपयुक्त है। यह निर्लज्ज होकर वासना-तृप्ति और विषय-भोग को नैतिक जीवन सिद्ध करना चाहता है। यह नैतिकता का स्थान दुराचार को प्रदान करता है, और विवेकयुक्त आत्म-नियमन को, जो कि वास्तविक नैतिकता है तुच्छ समझता है।

एपिक्यूरस का सस्कृत आत्म-सुखवाद निश्चय ही अरिस्टिप्पस के इन्द्रियपरक आत्म-सुखवाद की अपेक्षा अधिक विचारपूर्ण है। यह नैतिक जीवन में बुद्धि के कार्य को पहिचानता है। इसके अनुसार परमहित सुखी जीवन है, न कि क्षणिक सुख। लेकिन, आनन्द भावात्मक सुख में इतना नही है जितना दु खभाव में। यह सुख को दु ख का अभाव समझता है, सुख को अभावात्मक अनुभूति समझता है। अद यह सक्रिय जीवन को प्रोत्साहित नहीं करता, बल्कि निष्क्रिय, वेदनाहीन जीवन को प्रोत्साहित करता है। यह भूल जाता है कि नैतिकता निरन्तर क्रियाशीलता में निहित है, न कि वेदनाशून्य निष्क्रिय जीवन में। यह शुभ के सक्रिय अनुसरण की अपेक्षा इच्छाओ की न्यूनता और सुख दु ख के प्रति उदासीन-भाव धारण कर लेने से जनित मानसिक शान्ति के ऊपर अधिक जोर देता है। पुन: वैयक्तिक सुख मनुष्य का सर्वोच्च शुभ नहीं हो सकता। आत्मसुखवाद परोपकार की प्रवृत्तियो की तृप्ति नही कर सकता।

५. चार्वाक का स्वार्थमूलक सुखवाद।

भारत में चार्वाक विचार धारा के अनुयायी सुखवाद के समर्थक हैं। चार्वाक मतावलम्बी सुख को सर्वोच्च शुभ अथवा हित मानते हैं। व्यक्ति के इन्द्रियमूलक सुख में उसका सर्वोच्च शुभ निहित है। स्वर्ग और नरक कही नही है। स्थायी आत्मा भी नही होती, जब देह में चेतना जाग्रत हो जाती है तो उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा चैतन्य-युक्त देह है। भावी-जीवन की कल्पना निराधार और भ्रम-मूलक है। उनका सिद्धान्त है—'यावज्जीवेत् सुख जीवेत्, ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।' जब तक जियो सुख से जियो, चाहे ऋण भी करना पड़े सुखोपभोग करते रहो, (घी पियो)। कभी कभी सुख को सुख मान लिया जाता है। दु ख को जहाँ तक सम्भव हो मिटाना तथा सुख का अनुसरण करना चाहिये। सुख में दु ख मिला होता है, यह सत्य है परन्तु इस कारण सुख की खोज न करना मूर्खता है। भूसी उडाने के दु ख को टालने के लिए कभी चावल खाना छोडना नही चाहिए। इसी प्रकार हड्डियाँ अलग करने के दु ख से मछली खाना छोड देना मूर्खता होगी। इन्द्रियो का अधिकतम सुख इस जीवन में व्यक्ति का सर्वोच्च शुभ है। जो कर्म दु.ख की अपेक्षा सुख अधिक देते है, वे सत् है तथा सुख की दु ख अपेक्षा अधिक देते है वे असत् हैं। चार्वाक सिद्धान्त के अनु-यायी घोर सुखवाद के समर्थक हैं, वे शारीरिक सुखो की अपेक्षा बौद्धिक सुखो को महत्ता नही देते हैं। वे सुख और धन को सर्वोच्च शुभ मानते हैं। सुख स्वय शुभ है। धन सुख की प्राप्ति का साधन है। गुण और मुक्ति व्यक्ति के सर्वोच्च शुभ नही हैं। चार्वाक ऐन्द्रिय आत्मसुखवादी धूर्त हैं। ये ऐन्द्रिय-सुख को प्रधानता देते हैं। परन्तु सुशिक्षित चार्वाक (जैसे, 'कामसूत्र'-प्रणेता वात्स्यायन काम, अर्थ तथा धर्म त्रिवर्ग को परम हित मानते हैं। काम या सुख और अर्थ या धन को धर्म का अधीन करना चाहिये। ६४ कलाओ से उत्कृष्ट सुख को भी प्राप्त करना चाहिये। सुशिक्षित चार्वाक सस्कृत आत्म सुखवादी है जब कि धूर्त चार्वाक असस्कृत आत्म-सुखवादी हैं।

६. प्राचीन और नव्य सुखवाद मे अन्तर—

जेम्स सेथ (James Seth) प्राचीन और आधुनिक सुखवाद में तीन भेद दिखलाता है। पहिला, "प्राचीन सुखवाद, चाहे सिरेनैक सम्प्रदाय का हो चाहे एपिक्यूरस का, निराशावादी है, आधुनिक सुखवाद आशावादी है।" एपिक्यूरियन लोगो ने भावात्मक-सुख की अपेक्षा दु खाभाव को ही जीवन का लक्ष्य समझा था। आधुनिक सुखवादी, सिरेनैक लोगो की मनुष्य के उद्देश्य के विषय में जो धारणा थी उसको अर्थात् वास्तविक विषय-भोग को स्वीकार करते हैं। वे सिरेनैक लोगो के समान सुख को ही वास्तविक आनन्द मानते हैं, न कि दु खाभाव को।

द्वितीय, "प्राचीन सुखवाद वैयक्तिक था, लेकिन आधुनिक सुखवाद सार्वजनिक है। अधिकतम वैयक्तिक सुख का स्थान, आजकल, बहुसख्यक जनो का अधिकतम-

सुख ग्रहण कर चुका है।"* ह्यूम (Hume), बेंथम (Bentham) और जे० एस० मिल (J. S. Mill) व्यक्तिगत-सुख के स्थान पर सामान्य सुख अथवा अधिक लोगों के अधिकतम सुख को जीवन का उद्देश्य मानते हैं। मिल कहता है कि उपयोगितावाद का मानदण्ड कर्त्ता का अपना अधिकतम सुख नहीं बल्कि सबके सुख की अधिकतम मात्रा है। उपयोगितावादी को अपने और दूसरों के सुख के बीच चुनाव में एक निरपेक्ष परोपकारी द्रष्टा की भाँति निष्पक्ष होना पड़ता है।†

तृतीय, जे० एस० मिल का नव्य सुखवाद सुखों की क्रमिक श्रेणियों अथवा उनके गुणात्मक अन्तरों को मान्यता देता है। मिल सुखों के परिमाणात्मक अन्तरों के अतिरिक्त उनके गुणात्मक अन्तरों को भी मानता है। एपिक्यूरियन लोग मानसिक सुखों को उनके अधिक काल तक स्थिर रहने तथा दुःखदायी परिणामों से उनके अपेक्षाकृत मुक्त होने के आधार पर दैहिक सुखों से अधिक पसन्द करते थे, किन्तु मानसिक सुखों की स्वतः श्रेष्ठता को वे नहीं मानते थे। पैले (Paley) और बेंथम, और एपिक्यूरस के अनुयायी भी सब सुखों को एक ही प्रकार का मानते हैं। मिल के विचार से प्रकार का अन्तर परिणाम के अन्तर से स्वतन्त्र है, और गुणात्मक भेद भी उतना ही वैध है जितना परिमाणात्मक।

५ परसुखवाद : (क) स्थूल उपयोगितावाद (बेंथम)—

परसुखवाद के अनुसार सार्वजनिक या सामान्य सुख अर्थात् "समष्टि का अधिकतम सुख" अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। बेंथम और मिल दोनों इस मत के प्रचारक हैं। दोनों में मतभेद इतना है कि बेंथम सुखों के परिमाणात्मक अन्तरों को ही मानता है, जबकि जे० एस० मिल उनके गुणात्मक अन्तरों को भी। यह सिद्धान्त उपयोगितावाद कहलाता है, क्योंकि यह कर्मों के सदसत् भाव का निर्णय सामान्य सुख की वृद्धि अथवा सामान्य दुःख की निवृत्ति के साधनों के रूप में उनकी उपयोगिता के आधार पर करता है। बेंथम की धारणा है कि सुखों के मूल्यांकन का एकमात्र मानदण्ड परिमाणात्मक है। किन्तु परिमाण के विविध रूप होते हैं। इसका मूल्यांकन कई दृष्टियों से हो सकता है, यथा (१) तीव्रता, (२) स्थितिकाल, (३) निकटता, (४) निश्चय, (५) शुद्धता या दुःखहीनता, (६) उत्पादकता तथा (७) व्यापकता अर्थात् उससे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या। एक सुख दूसरे से अधिक तीव्र है। अन्य दृष्टियों से समान सुखों में से वही अधिक वरणीय है जो अधिक तीव्र है। अन्य दृष्टियों से समान सुखों में से वही अधिक वरणीय है जिसका स्थितिकाल अधिक है। निकटस्थ सुख दूरस्थ सुख की अपेक्षा अधिक वरणीय है। एक निश्चित सुख अनिश्चित सुख की अपेक्षा अधिक वरणीय है। सुख शुद्ध वह होता है जो दुःख-

* सेथ।

† मिल।

से व्याप्त नही होता । दुःख के साथ संयुक्त होने से वह अशुद्ध कहलाता है । अशुद्ध सुख से विशुद्ध सुख वरणीय है। उत्पादकता उस सुख के अन्दर होती है जो अन्य अनेक सुखो का जन्मदाता होता है। उत्पादक सुख अनुत्पादक सुख से वरणीय है, क्योंकि अनुत्पादक सुख अन्य सुखों को उत्पन्न नहीं करता। एक सुख का उपभोग कम या अधिक व्यक्ति कर सकते हैं। अधिक व्यापक सुख कम व्यापक सुख से वरणीय है।

बेंथम मनोवैज्ञानिक सुखवाद का अनुयायी है। वह कहता है कि "प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख के शासन में रखा है। हमारे सब विचार उन्हीं की बदौलत है; हमारे सभी निर्णय और जीवन के संकल्प उन्हीं से सम्बन्धित हैं। मनुष्य का ध्येय सुखलाभ और दुःख से मुक्तिलाभ है। उपयोगिता का सिद्धान्त सब वस्तुओं को इन दो प्रेरक-शक्तियों के नियन्त्रण में रखता है।" "प्रकृति ने मनुष्य जाति को इन दो राजोचित-शक्ति-सम्पन्न प्रभुओं के अधीन स्थापित किया है, वे सुख और दुःख हैं। यह केवल वे ही स्थिर करते हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं।"

बेंथम सुखवादी परिगणना में आस्था रखता है। उसका कहना है कि "सुख और दुःखो को तोलो, दोनों की तुलना से ही सदसत् का प्रश्न हल हो जावेगा।" कर्म सत् है यदि उससे सुख अथवा दुःख से अधिक सुख की प्राप्ति हो। असत् कर्म वह है जिससे दुःख अथवा सुख से अधिक दुःख प्राप्त हो। इस प्रकार बेंथम सदसत् का विशुद्ध सुखवादी लक्षण देता है। सद्भाव सुखप्रदत्ता में और असद्भाव दुःखप्रदत्ता में निहित है। जो कर्म सुखप्रद है वह सत् है। जो कर्म दुःखप्रद है वह असत् है।

बेंथम का उपयोगितावाद स्थूल या इन्द्रियपरक कहलाया जा सकता है, क्योंकि वह सुखो के गुणात्मक अन्तरो को अस्वीकार करता है। इसके विपरीत वह कहता है कि कोई भी सुख उतना ही अच्छा है जितना दूसरा, बशर्ते उनकी मात्रा एक ही हो। "सुख के परिणाम के समान होने पर आलपिन से चुभाना उतना ही अच्छा है जितनी कविता (Quantity being the same, pushpin is as good as poetry)।"* यह स्मरण रहना चाहिए कि बेंथम का तात्पर्य शुद्धता से उच्च-गुण या प्रकारात्मक श्रेष्ठता नहीं है, बल्कि केवल दुःखहीनता है। बेंथम के अनुसार वही सुख विशुद्ध है जो दुःख के साथ मिश्रित न हो।

बेंथम का सुखवाद परोपकारी-प्रवृति का है, क्योंकि वह सुखों की व्यापकता का अर्थात् उनसे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या का ध्यान रखता है। यदि किसी सुख का उपभोग बहुसंख्यक व्यक्ति करते है तो उसकी व्यापकता अधिक है, और इसी कारण वह उस सुख से अधिक वरणीय है जिसका उपभोग केवल एक ही व्यक्ति कर सकता है। इस प्रकार सुख की मात्रा को स्थिर करने मे व्यापकता को शामिल करने

* बेंथम।

से बेंथम अपने सिद्धान्त में परोपकार को भी ले आता है। अधिक व्यक्तियो का अधिकतम सुख नैतिक मानदण्ड है।

यद्यपि बेंथम परसुखवाद का प्रचारक है, तथापि वह स्पष्ट-रूप से मनुष्य की स्वाभाविक स्वार्थपरता को ही मानता है। उसका कथन है कि अपने हेतु सुख के महत्तम अश की प्राप्ति ही विचारवान् मनुष्य का उद्देश्य है, स्वार्थ में ही मनुष्य की प्रकृति-रुचि है। बेंथम ने मनुष्य की नैसर्गिक स्वार्थपरता को बार बार दोहराया है। मनुष्य दूसरे के लिए तुच्छ से तुच्छ कर्म भी तभी करता है जब उसे उससे अपने लाभ की आशा हो। तुम्हारी सेवा वह तभी करेगा जब उससे उसकी अपनी सेवा हो। इस प्रकार मनुष्य की नैसर्गिक स्वार्थपरता को बेंथम स्पष्टत मानता है। फिर भी वह परार्थमूलक सुखवाद का प्रचारक है। वह कहता है, "हर एक की गिनती एक है, एक से अधिक किसी की नही (Every body is to count for one, and no body for more than one)." अर्थात् सुख में प्रत्येक समान अश का अधिकारी है। यह न्याय वा प्रजातन्त्रवादी सिद्धान्त है। नैतिक मानदण्ड व्यक्ति का अधिकतम सुख नहीं, वरिक बहुसख्यक समुदाय का अधिकतम सुख है जिसका हिसाब सबके समान अधिकार के आधार पर लगाया जाता है।

तो, बेंथम स्वार्थवाद से परार्थवाद की ओर गया कैसे ? यदि मनुष्य स्वभावत: स्वार्थपर है, तो उसे दूसरो के सुख के लिये प्रयत्न करना ही क्यो चाहिये ? वह सामान्य सुख की वृद्धि के लिये क्यो बाध्य होता है ? दूसरो के सुख के लिये उसे अपने सुख का वलिदान क्यो करना चाहिये ? नैतिकता की वह कौन सी शक्ति है जो इसके लिये बाध्य करती है ? बेंथम स्वार्थवाद से परार्थवाद के सक्रमण की व्याख्या कैसे करता है ? बेंथम इसकी व्याख्या चार वाह्य नैतिक आदेशो के द्वारा करता है प्राकृतिक, राजनैतिक, सामाजिक, और धार्मिक। प्राकृतिक आदेश का अर्थ है शारीरिक कष्ट जिसकी उत्पति प्राकृतिक नियमो की, यथा, स्वास्थ्य के नियमो की अवहेलना से होती है। यह प्रकृति का नियम है कि हमें अपनी क्षुधा-तृष्णा इत्यादि वेगो की तृप्ति सयम के साथ करनी चाहिए, यदि इस नियम का उल्लघन होता है तो व्याधि और कष्टो का शिकार होना पड़ता है। राजनैतिक आदेश उन कष्टों को कहते हैं जो राज्य के शासक के द्वारा दिए जाने वाले दण्डों से मिलते हैं। इन कष्टो का भय व्यक्ति को राजनैतिक नियमो के अतिक्रमण से रोकता है और राज्य से पुरस्कार-प्राप्ति की आशा उसे समाज के हित के लिये कर्म करने को प्रोत्साहित करती है। सामाजिक आदेश उन कष्टों को कहते है जो समाज द्वारा मिले हुए दण्डो के परिणाम हैं, यथा, जाति-वहिष्कार। कष्टो का भय व्यक्ति को स्वार्थपूर्वक कर्म करने से रोकता है। धार्मिक आदेश में नरक में दण्ड मिलने का भय और स्वर्ग में पुरस्कार प्राप्ति की आशा शामिल है। इस प्रकार वाह्य आदेश केवल व्यक्ति के ऊपर वाहरी दवाव है जिनसे वह समाज

के हित के लिये स्वार्थ के बलिदान के किये बाधित किया जाता है। एव, बेंथम के मतानुसार वाहरी आदेशो के दवाव से व्यक्ति स्वार्थी से परार्थी बन जाता है। प्रकृति, समाज, राज्य तथा ईश्वर के दण्ड मनुष्य को स्वार्थपरता से परार्थपरता की ओर ले जाते हैं। मनुष्य निसर्गत स्वार्थपर है। परन्तु इन दण्डों के भय से धीरे धीरे परार्थपर बन जाते हैं।

७. स्थूल उपयोगितावाद की समीक्षा।

बेंथम के स्थूल उपयोगितावाद के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ की जा सकती हैं —

बेंथम मनोवैज्ञानिक सुखवाद का अनुयायी है। अत उसके सिद्धान्त में भी वही दोष है जो मनोवैज्ञानिक सुखवाद में हैं। हमारी इच्छा के विषय प्रकृत-रूप से वस्तु होती है, जिसकी प्राप्ति से सुख मिलता है। यदि हम सुखद वस्तु की इच्छा करते हैं, तो इससे यह सिद्ध नही होता कि हम सुख की इच्छा करते हैं। पुन, प्राय यह होता है कि जितना ही अधिक हम सुख का अनुधावन करते हैं, उतना ही कम हम उसे पाते है। यह सुखवाद का मौलिक विरोधाभास है। फिर, यदि हम सुख का अन्वेषण करते भी हों, तो भी यह प्रमाणित नही होता कि ऐसा करना ही चाहिये। वास्तव में, यदि हम सुख का अनुसधान करते ही हैं, तो यह कहने में कि ऐसा करना चाहिये कोई तत्व नही है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद से नैतिक सुखवाद का अनुमान अनिवार्य नही है। दोनो में कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। वस्तुत आदर्श का विकास वास्तविक तथ्यो से नहीं हो सकता।

जब बेंथम सुखो के मूल्यांकन के कई आधार मानता है और दु ख से सुख के आधिक्य को सत्कर्म का लक्षण तथा सुख से दुख के आधिक्य को असत्कर्म का लक्षण समझता है, तो वह सुख और दु ख को भावात्मक सिक्को के रूप में देखता है, जिनको जोडा और घटाया जा सकता है, और इस प्रकार जिनके परिणाम को नापा जा सकता है। किन्तु सुख दु ख के भाव मन की विशुद्ध आन्तरिक अवस्थायें हैं, जिनको सिक्को के समान नही गिना जा सकता। उनकी प्रकृति अत्यधिक चंचल होती है। उमग, स्वभाव और परिस्थिति के साथ वे भी बदलते रहते हैं। इस प्रकार बेंथम के द्वारा प्रस्तावित सुखवादी परिगणना नितान्त अव्यवहार्य है।

बेंथम स्पष्टत मनुष्य की स्वार्थी प्रकृति को स्वीकार करता है, फिर भी वह परसुखवाद का प्रचार करता है। परार्थवाद के पक्ष में वह कोई प्रमाण नहीं देता। सामान्य सुख के अनुसरण के लिये वह कोई कारण नही बतलाता। उसके विचार में मनुष्य का स्वभाव स्वार्थी है। बेंथम कहता है कि, "अपने लिये सुख के महत्तम अंश की प्राप्ति प्रत्येक विचारवान् प्राणी का लक्ष्य है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे की अपेक्षा अपने निकटतर है।" इस विशुद्ध स्वार्थवाद में बेंथम परार्थवाद की कल्पना नही कर

सकता। फिर भी उसे सुख की व्यापकता मान्य है, जिससे उसके सिद्धान्त में परार्थवाद का समावेश हो जाता है।

बेंथम सुखो की व्यापकता अर्थात् उनसे प्रभावित होने वाली मनुष्य-संख्या का विचार करके अपने सिद्धान्त में परार्थवाद का समावेश करता है। किन्तु वह इसका कोई कारण नही बतलाता कि कम व्यापक सुख की अपेक्षा अधिक व्यापक सुख को क्यो चुनना चाहिये। वस्तुत बौद्धिक और सौन्दर्यभोग-जन्य सुखो का उपभोग बहुसंख्यक व्यक्ति कर सकते हैं। किन्तु, खाने पीने से सम्बन्धित स्थूल दैहिक सुखो का उपभोग अधिक व्यक्ति नही कर सकते। पहिले वाले उच्च सुख हैं, क्योकि उनसे बुद्धि को संतोष मिलता है। दूसरे निम्न कोटि के सुख हैं, क्योकि उनमे इन्द्रियो की तृप्ति होती है। किन्तु बेंथम सुखो के गुणात्मक या प्रकारात्मक अन्तरो को मान्यता नहीं देता। सुख की व्यापकता उसके गुण की ओर संकेत करती है।

बाह्य आदेश तथा दण्ड कदापि स्वार्थवाद से परार्थवाद तक के संक्रमण की व्याख्या नही कर सकते। हम प्रकृति, समाज राज्य और ईश्वर के नियमो का पालन करना उनके लिये नहीं बल्कि अपने ही हित के लिये स्वीकार करते हैं। दूरस्थ स्वार्थ के कारण हम बाह्य आदेशों के द्वारा परहित के हेतु अपने ही हित और सुखो का उत्सर्ग करने को बाध्य किये जाते हैं। ये बाहरी आदेश 'करना होगा' (must) अथवा भौतिक बाध्यता की सृष्टि कर सकते हैं, 'करना चाहिये' (ought) अथवा नैतिक बाध्यता की नहीं। बेंथम नैतिक बाध्यता की व्याख्या नहीं कर सकता।

बेंथम का परार्थवाद स्थूल अथवा इन्द्रियपरक है क्योकि वह सुखो के गुणात्मक अन्तरो या प्रकार-भेदों को नही मानता। वह शुद्धता को सुखो के मूल्यांकन में स्थान अवश्य देता है, किन्तु शुद्धता से उसका तात्पर्य गुणात्मक श्रेष्ठता अथवा आन्तरिक उत्कृष्टता नही है। सब सुख समान रूप से एक ही प्रकार के होते हैं। लेकिन यह मनोवैज्ञानिक तथ्यो का अन्तर है। बौद्धिक सुख, सौन्दर्य का उपभोग और आध्यात्मिक आनन्द अवश्य ही पान-भोजन के सुखो से उच्चतर कोटि के है।

बेंथम सुखो की व्यापकता को मान्यता देने से सुखवादी परिगणना को अत्यन्त दुष्कर बना देता है। हम दूसरो के सुखो को कैसे तौल सकते है ? क्या हमें अपने सुखो की अपेक्षा दूसरे के सुखो को अधिक महत्व देना चाहिये ? सुखवादी दृष्टिकोण से ऐसा करना अनुचित है। अपने सुख को छोडकर दूसरे के सुख को महत्व देने का अर्थ है एक बिल्कुल नये मूल्य-निर्धारण के मानदण्ड का आश्रय लेना। अपने सुख की अपेक्षा दूसरे का सुख क्यो वरणीय होना चाहिये, पुन हम सम्पूर्ण मानव जाति के सुखो का हिसाब भी नही लगा सकते।

८ (ब) जे० एस० मिल का संस्कृत परसुखवाद अथवा उपयोगितावाद।

सुखवाद—जे० एस० मिल सुखवादी हैं। उसका मत है, "कर्म उसी अनुपात

में सत् हैं जिसमें वे सुख का उत्पादन करते है, असत् उस अनुपात में हैं जिसमें वे सुख का विपरीत परिणाम पैदा करते हैं। सुख से अभिप्राय है "दु:ख का अभाव।", "सुख मानव व्यवहार का एकमात्र उद्देश्य है।" "सुख और दु:ख से मुक्तिलाभ ही वाञ्छनीय लक्ष्य हैं।" इस प्रकार मिल की धारणा है कि सुख ही एकमात्र शुभ है। वह कहता है, "सुख वाञ्छनीय है, और यही एकमात्र वाँच्छनीय वस्तु है जिसको लक्ष्य बनाया जा सकता है, सब अन्य वस्तुयें इस साध्य के लिये साधन-रूप में वाञ्छनीय हैं।", "आनन्द सुख तथा दु:ख का अभाव है।" मिल सुख (pleasure) और आनन्द (happiness) का प्रयोग समान अर्थ में करता है। वह उनको एक दूसरे से भिन्न नही समझता। मिल ज्ञान, सदाचार, स्वास्थ्य, सम्मान इत्यादि को सुख के साधन समझता है। वह उनको स्वत मूल्यवान नही मानता।

मिल सदसत् का सुखवादी लक्षण देता है। सत्कर्म वह है जो सुख अथवा दु:ख से अधिक सुख देता है। असत् कर्म वह है जो दु:ख अथवा सुख से अधिक दु:ख देता है। यह विशुद्ध सुखवाद है। सत् वह है जो सुख का साधन है, और असत् वह है जो दु:ख का साधन है। बेंथम भी सदसत् का विशुद्ध सुखवादी लक्षण देता है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद—जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं, मिल मनोवैज्ञानिक सुखवाद को अपने सुखवाद का आधार बनाता है। वह मनोवैज्ञानिक सुखवाद का प्रमाण इस प्रकार देता है। "किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखकर पाना, शुद्ध भाषा में, एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य को कहने के दो प्रकार हैं. किसी वस्तु को वाञ्छनीय विचारना और उसको सुखद समझना एक ही बात है; किसी वस्तु की तद्विषयक विचार की सुखप्रदता के अनुपात में इच्छा न करना एक मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक असम्भावना है।" स्पष्ट शब्दो में इसका अर्थ यह हुआ कि क्योंकि हम सदैव जिसकी इच्छा करते हैं वह सुखप्रद होता है इसलिये हम सुख की इच्छा करते हैं।

नैतिक सुखवाद—मिल नैतिक सुखवाद का प्रचारक है। उसका नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है। नैतिक सुखवाद का वह निम्नलिखित प्रमाण देता है। हम सदैव सुख की इच्छा करते हैं, अत. सुख इच्छनीय है। वह कहता है, 'किसी वस्तु की दर्शनीयता का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग सचमुच उसे देखते हैं। किसी वस्तु के श्रवणीय होने का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग उसे सचमुच सुनते है। किसी वस्तु के वाञ्छनीय होने का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग उसकी सचमुच वाञ्छा करते हैं।" सब लोग सुख की कामना करते है, अत. सुख काम्य है। सब लोग सुख की वाछा करते है, अत. सुख वाञ्छनीय है।

सुख के प्रकार : गुण—मिल सुखो के प्रकार, भेद या गुणात्मक अन्तर स्वीकार करता है। सर्वप्रथम मिल ही परिमाण के अन्तर के अतिरिक्त गुण के अन्तर को भी मान्यता देता है। एपिक्यूरस ने शारीरिक और मानसिक सुखो के भेद के ऊपर जोर

दिया था और मानसिक सुखो को उनके स्थायित्व तथा कष्टप्रद फलो से अपेक्षाकृत मुक्त होने के कारण उच्च माना था। किन्तु उसने मानसिक सुखो की गुणात्मक उत्कृष्टता को स्वीकार नही किया था। बेंथम के लिये भी सब सुख एक ही प्रकार के है। यद्यपि बेंथम सुख की विशुद्धता को मानता है, तथापि इसका अर्थ गुण की उच्चता नही है, बल्कि दु ख से अमिश्रित होना है। सबसे पहिले मिल ही गुण के अन्तर से स्वतन्त्र और दोनो को समान रूप से वास्तविक मानता है। मिल सुखो के परिमाण तथा गुण दोनो को मानता है। गुण परिमाण में घटाया नही जा सकता।

मिल की उक्ति है, "इस तथ्य को स्वीकार करना कि कुछ प्रकार के सुख दूसरो की अपेक्षा अधिक वाच्छनीय और मूल्यवान् हैं, उपयोगिता के सिद्धान्त के सर्वथा अविरुद्ध है। यह अयौक्तिक होगा कि जब सभी अन्य वस्तुओ के मूल्याकन में गुण और परिमाण दोनो का ध्यान रखा जाता है, तो सुखो के मूल्याकन में केवल परिमाण का ही ख्याल रखा जाय।" अत मिल की युक्ति को बेंथम के स्थूल तथा असयत उपयोगितावाद के विरुद्ध सयत तथा सस्कृत उपयोगितावाद कहा जाता है।

गुण की परीक्षा—तो, मिल के अनुसार, गुण की परीक्षा क्या है ? वह योग्य निर्णायको के निर्णय को ही इस सम्बन्ध में मान्य समझता है। मिल कहता है कि यदि कोई व्यक्ति जो दो सुखो का अनुभव कर चुका हो बिना किसी नैतिक बाध्यता के एक को दूसरे से अधिक पसन्द करता है तो ऐसा सुख वाँच्छमीय है। निस्सन्देह, लोग उन सुखो को अधिक पसन्द करते हैं जिनमें उनकी उच्चतर शक्तियो का उपयोग होता है। ऐसे कम ही लोग होगे जो पाशविक सुख के पूर्ण उपभोग के लिये निम्न-श्रेणी के पशु बनना पसन्द करें। योग्य निर्णायक सदैव शारीरिक सुखो की अपेक्षा बौद्धिक सुखो को पसन्द करते हैं। योग्य निर्णायकों के निर्णय की अपील के लिये कोई उच्चतर अदालत नही है। यदि उनमें मतभेद हो तो उनमें से बहुसख्यको का ही निर्णय मान्य होना चाहिये। उन्ही का निर्णय अन्तिम होगा।

गौरव की भावना—जब योग्य निर्णायको की पसन्दगी का अन्तिम कारण बतलाने के लिये मिल के ऊपर जोर डाला जाता है तो वह मनुष्य के अन्दर पाई जाने वाली गौरव की स्वाभाविक भावना की ओर सकेत करता है। मनुष्य की गौरव की भावना ही इस बात का कारण है कि वह कदापि केवल ऐन्द्रिय सुखो के उपभोग में क्षम निम्न-श्रेणी के प्राणियो में परिवर्तित हो जाने के लिये अपनी सम्मति नही देगा। "एक सन्तुष्ट सुअर होने की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मानव बनना अधिक अच्छा है, एक तृप्त बेवकूफ की अपेक्षा अतृप्त सार्केटिस (Socrates) बनना अधिक श्रेयस्कर है। और यदि एक बेवकूफ या सूअर का भिन्न मत हो, तो इसका कारण यह है कि वे केवल अपने ही विषय का ज्ञान रख सकते हैं। तुलना का दूसरा पक्ष द नो पक्षों का ज्ञान रखता है।" (मिल)

मिल का परार्थवाद का प्रमाण—मिल का सुखवाद परार्थवादी है। बेंथम भी परसुखवाद का मानने वाला है, लेकिन उसने इसके लिये कोई प्रमाण नही दिया। मिल सस्कृत उपयोगितावाद का समर्थक है, और थोडी सी युक्तियाँ देता है "उपयोगितावादी मानदण्ड कर्त्ता का अधिकतम सुख नही, बल्कि सब मिलाकर सुख की अधिकतम मात्रा है।" जब अपने और दूसरे के सुख में से एक को चुनने का प्रश्न उठे तो उपयोगितावाद चाहता है कि व्यक्ति निरपेक्ष होकर विचार करे। उपयोगितावादी नैतिकता का आदर्श है कि तुम्हें वही करना चाहिये जो तुम चाहो कि लोग तुम्हारे साथ करें, तथा अपने पडोसी को अपने समान प्यार करो।

मिल परार्थवाद के लिये इस प्रकार तार्किक युक्ति देता है। "इसका कोई कारण नही बताया जा सकता कि सामान्य सुख क्यो वाच्छनीय है, अतिरिक्त इसके कि जहाँ तक व्यक्ति अपने सुख की प्राप्यता पर विश्वास करता है वहाँ तक वह उसी की इच्छा करता है। प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका हित है, अत. सामान्य सुख सब व्यक्तियो के समूह का हित है" (मिल)। प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका हित है, अत व्यक्ति-समुदाय का सुख अथवा सामाजिक सामान्य सुख व्यक्ति-समुदाय का हित है।

सहानुभूति का उद्भव—मिल स्वार्थवाद से परार्थवाद की ओर सक्रमण की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करता है। परार्थ का विकास स्वार्थ से होता है—रुचि साध्य से साधनो में स्थानान्तरित हो जाती है, इस विचार-साहचर्य्य के नियम के अनुसार व्यक्ति जीवन-काल में आत्म-प्रेम से सहानुभूति का विकास हो जाता है। आदि में हम स्वार्थी थे और दूसरो के कष्टो की मुक्ति अपने ही कष्टो को दूर करने के हेतु करते थे। तब इसकी आवृत्ति होते होते हमारी अपनी रुचि साध्य से साधन में स्थानान्तरित हो गई, हम अपने सुख को भूल गये और दूसरों के कष्टो को निवारण करने में सुख का अनुभव करने लगे। इस प्रकार हमने सहानुभूति का अर्जन अपने ही जीवन-काल में किया।

नैतिक आदेश (बाह्य और आन्तरिक)—मिल के अनुसार नैतिकता की बाध्य करने वाली शक्ति क्या है ? मैं क्यो सामान्य सुख की वृद्धि के लिये बाध्य बनू ? यदि मेरा अपना सुख किसी अन्य वस्तु में है, तो मैं उसी को क्यो न चुनू ? मिल परोपकार-मूलक व्यवहार के लिये दो प्रकार के आदेशों की कल्पना करता है—बाह्य और आन्तरिक। बेंथम चार बाहरी आदेश मानता है— प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक। किन्तु, अन्ततोगत्वा इन सब का आधार व्यक्ति का स्वार्थ है। अत मिल इन बाहरी आदेशो के साथ अन्त करण का आन्तरिक आदेश भी जोड देता है। "यह आन्तरिक आदेश मनुष्य-जाति के सुख की भावना है, यह दूसरो की अनुभूतियो और दु खो के प्रति अर्थात् मानव-जाति की सामाजिक भावनाओ के प्रति सम्मान का भाव है। यह अपने सहयोगी प्राणियो के साथ एकता स्थापित करने की इच्छा है जो

यदि सहज न भी हो तो प्राकृतिक तो है ही" (मिल)। मिल इसकी परिभाषा देते हुये कहता है कि यह "कर्त्तव्य के उल्लघन से जनित दु ख की अनुभूति" है। यह अन्त करण का पश्चात्ताप है।

६ संस्कृत उपयोगितावाद की समीक्षा।

मिल के सस्कृत 'उपयोगितावाद के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ की जा सकती हैं :—

सुखवाद—मिल का सिद्धान्त सुखवादी है। अत सुखवाद की विरोधी सभी युक्तियाँ इस पर लागू होती हैं। "जीवन की सुखवादी परिकल्पना का आधार मानव-स्वभाव-विषयक एकागी परिकल्पना है। मनुष्य को मौलिकरूप में एक केवल अनुभूतिशील प्राणी माना गया है, अत उसके जीवन के लक्ष्य को भी अनुभूति की तृप्ति कल्पित किया गया है।"* किन्तु, जीवन का लक्ष्य पूर्ण, सम्पूर्ण आत्मा की तृप्ति अर्थात् बुद्धि और अनुभूति दोनो की तृप्ति होना चाहिये।

पुन, आनन्द वही वस्तु नहीं है जो सुख है। म्यूरहेड के अनुसार सुख वह भाव है जो इच्छाओ की तृप्ति के साथ पाया जाता है, आनन्द सम्पूर्ण आत्मा की तृप्ति से होता है, चाहे क्षणिक इच्छाओ की तृप्ति हो या न हो। बेंथम और मिल सुख और आनन्द के इस स्पष्ट अन्तर को नही समझते। ऐन्द्रिय सुखों को तन्त्रबद्ध तथा बुद्धि द्वारा सयत करने से आनन्द उत्पन्न होता है। विभिन्न इच्छाओं की तृप्ति से क्षणिक सुख उत्पन्न होता है, परन्तु इच्छाओं के नियन्त्रण से स्थायी आनन्द उत्पन्न होता है। सुख से आनन्द पृथक् है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद—मिल अपने उपयोगितावाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद को बनाता है। अत उसका सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सुखवाद के दोषों से दूषित है। सुख इच्छा का सीधा लक्ष्य नही है, बल्कि इच्छाओ की पूर्ति का परिणाम है। जितना ही अधिक सुखान्वेषण किया जाता है उतना ही कम सुख मिलता है। यह मनोवैज्ञानिक सुखवाद का विरोधाभास है। मिल का मत है कि पहिले चरित्र-गुण, सम्पत्ति इत्यादि सुख प्राप्ति के साधनो के रूप में चाहे जाते हैं, फिर रुचि के साध्य से साधनों में स्थानान्तरित हो जाने के कारण उनकी स्वत साध्यो के रूप में इच्छा होने लगती है। यह मत मनोवैज्ञानिक सुखवाद के लिये घातक है। इस प्रकार, मिल यह स्वीकार करता है कि इच्छा के लक्ष्य सुख से भिन्न वस्तुयें भी हैं। किन्तु, मनोवैज्ञानिक सुखवाद तो इसी बात पर दृढ है कि इच्छा का विषय सदैव सुख होता है। पुन यदि यह मान भी लिया जाय कि हम सुख की इच्छा करते हैं, तो भी इससे यह सिद्ध नही होता कि सुख वाच्छनीय है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद से आवश्यकतया नैतिक सुखवाद का प्रतिपादन नहीं हो सकता।

---

* सेथ।

नैतिक सुखवाद—मिल नैतिक सुखवाद को सिद्ध करने के लिये यह युक्ति देता है। कोई वस्तु दृश्य है यदि लोग सचमुच उसे देखते है। कोई वस्तु श्रव्य है यदि लोग सचमुच उसे सुनते हैं। इसी प्रकार कोई वस्तु काम्य है यदि लोग सचमुच उसकी कमना करते हैं। वास्तव में लोग सुख की कामना करते हैं, अत. सुख काम्य है। यह युक्ति आलकारिक-भाषा-दोष से दूषित है। वह 'काम्य' और 'जिसकी कामना की जा सके' दोनों को अभिन्न समझने की भूल करता है। 'काम्य' वह है जिसकी कामना करनी चाहिये, वह नही जिसकी कामना की जा सकती है। 'काम्य' इच्छा का स्वाभाविक विषय नही है, वल्कि इच्छा का उपयुक्त अथवा युक्तिसगत विषय है। इस सम्वन्ध में मैकेंजी ठीक ही कहता है कि ससार में ऐसी वस्तु शायद ही कोई हो जिसकी इच्छा न की जा सके, इच्छनीय का अर्थ वह नही जिसकी इच्छा की जा सके, वल्कि वह जिसकी इच्छा की जानी चाहिए।※

सुख का गुण—मिल सुख के परिमाण के अतिरिक्त गुण के भेद को भी स्वीकार करता है। उच्च मानसिक शक्तियो के सुख इन्द्रिय-तृप्ति-जनित सुखो से स्वत. उच्च-कोटि के हैं। अत सुखो का गुण मानव-प्रकृति की उत्कृष्टता पर आश्रित है।

सुख का गुण नैतिक गुण से भिन्न नही है। वही सुख उत्कृष्ट है जो हमारी उच्चतर प्रकृति अथवा नैतिक प्रकृति को मान्य है। किन्तु, इस तथ्य को स्वीकार कर लेना सुखवादी सिद्धान्त को तिलांजलि दे देना है। मिल सुखो के गुणात्मक-भेद को स्वीकार करने से अपने सिद्धान्त में वुद्धिपरतावाद के एक अश का समावेश कर देता है। वह कहता है, "पाशविक-सुख की पूर्ण-प्राप्ति की आशा में कुछ ही मनुष्य निम्न-कोटि के पशु वनना पसन्द करेंगे।" इसलिये वह स्वीकार करता है कि कभी कभी मनुष्य सुख से भिन्न कोई अन्य वस्तु भी चाहता है। मिल के वुद्धि के सुखो को पाशविक सुखो से उच्चतर कोटि के मानने का कारण उनकी तीव्रतरता नहीं, वल्कि उनकी नैतिक उत्कृष्टता है। यदि कुछ सुखो को अन्यो की अपेक्षा अधिक वाञ्छनीय मानने का आधार उनकी तीव्रता से भिन्न उनकी उत्कृष्टता है, तो सुखवादी परिकल्पना को त्याग देना पड़ेगा। इस प्रकार चूकि गुण एक सुखवाद से वाहर की कसोटी है इसलिये सुखवाद निर्वल हो जाता है और उनमें वुद्धिपरतावाद का समावेश हो जाता है।

पुन सुखो के गुण अथवा प्रकार को मान लेने से मिल के मनोवैज्ञानिक सुखवाद का भी आधार निर्वल पड जाता है। यदि हम सुख में उत्कृष्ट गुण को चाहते हैं, तो हम सुख नही चाहते। रैशडल की उक्ति ठीक ही है कि, "सुख के उत्कृष्टतर गुण की इच्छा सुख की इच्छा नहीं।" अत सुख का गुणात्मक भेद मनोवैज्ञानिक सुखवाद का विरोधी है।

※ नीति-शास्त्र; पृ० १६६।

गुण की परीक्षा—गुण की कसौटी क्या है ? जब मिल गुण की पहिचान के लिये योग्य निर्णायको का मुखापेक्षी है तो इसके यह एक स्वच्छन्द व्यापार हो जाता है। यदि योग्य निर्णायकों का निर्णय स्वच्छन्द नही है, तो उसे युक्ति-सगत होना पडेगा। इस प्रकार बाह्य निर्णायकों का फैसला विवेक की आन्तरिक आवाज बन जाता है।

गौरव की भावना—जब मिल गुण की उत्कृष्टता की वास्तविक कसौटी को ढूढने के लिये अधिक गहराई में उतरता है, तो वह गौरव की भावना की ओर सकेत करता है। क्या यह इन्द्रिय-अनुभव-शक्ति का गौरव है अथवा बुद्धि का ? इसको सुखेच्छा में हल नही किया जा सकता। मनुष्य की स्वाभाविक गौरव की भावना बुद्धि का गौरव है, इन्द्रियानुभव का नही। पुन यहाँ भी मिल के सिद्धान्त में बुद्धिपरतावाद प्रवेश कर जाता है। बुद्धि का उत्कर्ष मनुष्य का बडप्पन है।

परार्थवाद—मिल का सुखवाद परोपकारमूलक है। इसके लिये वह यह युक्ति देता है : "प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका हित है, अत सबका सुख (सामान्य सुख) सबका हित है।" और चूकि सबका सुख सबका हित है, इसलिये वह प्रत्येक का हित है। यहाँ पर दो दोष हैं सग्रह-दोष और विग्रह-दोष।

(१) प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका हित है।

∴ सामान्य सुख सब व्यक्तियों के समूह का हित है।

इस युक्ति में सग्रह-दोष है, क्योंकि हम आधार वाक्य में पदों का व्यष्टि-अर्थ में प्रयोग करते हैं और निगमन में समष्टि-अर्थ में। सुखो का समूह कदापि सुख नही है। व्यक्तियों का समूह भी कोई व्यक्ति नही है। सुखो को जोडा नही जा सकता। व्यक्तियो के मनो का भी एक समूह नहीं बनाया जा सकता।

(२) सामान्य सुख सब व्यक्तियों के समूह का हित है।

∴ सामान्य सुख प्रत्येक व्यक्ति का हित है।

इस युक्ति में विग्रह-दोष है। मिल ने इसकी स्पष्टोक्ति नहीं की।

सुखवाद परोपकारमूलक नहीं हो सकता—युक्तिपूर्वक आत्म-सुखवाद से पर-सुखवाद का प्रतिपादन नही हो सकता। सुखवाद के दृष्टिकोण से ऐसा कोई भी कारण नहीं है जिसके लिये व्यक्ति परसुख के हेतु आत्म-सुख को छोड दे। यदि दूसरो के लिये सुखानुसधान करने में अपना सुख-लाभ न करें, तो हम सुखवादी नही हैं। तर्कसमत सुखवाद सदा स्वार्थी होगा। मार्टिन्यू का कथन कि "प्रत्येक अपने लिये' से 'प्रत्येक सब के लिये' को कोई मार्ग नहीं है", यथार्थ है। मिल मनोवैज्ञानिक सुखवाद का अनुयायी है। उसके अनुसार हम सदैव सुख की कामना करते हैं। ...

तो हम अपने ही सुख की कामना करते हैं। दूसरो के सुख की कामना करना असम्भव है, क्योंकि वह हमारे सुख से एकाकार नहीं है। अत मनोवैज्ञानिक सुखवाद का परसुखवाद से विरोध है।

सहानुभूति—सहानुभूति एक विशुद्ध परोपकारमूलक वेदना है। उसका उद्भव विशुद्ध स्वार्थ या आत्म-प्रेम से हो सकना असम्भव है। रुचि-परिवर्तन और विचार साहचर्य के नियमानुसार यदि कुछ सम्भव है तो केवल स्वार्थ का स्वार्थी-परार्थ में परिवर्तन ही, न कि विशुद्ध परार्थ में। मानव-स्वभाव में स्वार्थी और परार्थी दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो का सम्मिश्रण है। मनुष्य की तो बात ही क्या, निम्न-श्रेणी के पशुओ में भी आत्म-रक्षण और जाति-रक्षण की मूल-प्रवृत्तियाँ हैं। माता अपने शिशु के हितार्थ स्वकीय अहित और मृत्यु तक का आह्वान करती है। "मनुष्य और पशु की सदैव आत्मरक्षण और जाति-रक्षण-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ रही हैं। विकसित मानव के अन्दर पाया जाने वाला परार्थवाद सामाजिक और जाति-रक्षण-सम्बन्धी प्रवृत्तियों से विकसित हुआ है, स्वार्थवाद आत्म-रक्षण सम्बन्धी प्रवृत्तियो से।"* इसलिये यह कहना कि व्यक्ति के जीवन-काल में ही मनोवैज्ञानिक नियमो के अनुसार परार्थ-भावना का विकास स्वार्थ-भावना से होता है, असगत है।

नैतिक आदेश (बाह्य या आन्तरिक)—मिल नैतिक बाध्यता या कर्त्तव्य-बुद्धि की युक्तिसगत व्याख्या नही कर सकता। बाह्य आदेश कर्त्तव्य-बुद्धि की समुचित व्याख्या नही कर सकते, वे 'करना होगा' की सृष्टि कर सकते है, 'करना चाहिये' का कदापि नहीं। बाह्य आदेश बलप्रयोग हैं, ये भौतिक बाध्यता को उत्पन्न कर सकते हैं—नैतिक बाध्यता को नही।

मिल बाह्य आदेशो के साथ आन्तरिक, अन्त करण के आदेश का भी योग कर देता है। किन्तु, जब वह अन्त करण के आन्तरिक आदेश का आह्वान करता है तो उसके सुखवाद की नींव हिल जाती है, और उसमें बुद्धिपरतावाद का समावेश हो जाता है। मिल के अनुसार आन्तरिक आदेश सहानुभूति अथवा मनुष्य जाति से एकता की आत्मगत भावना है। किन्तु, आत्मगत-भावना मात्र नैतिक बाध्यता का उद्गम नही हो सकती, और न नैतिक प्रमाण का। कहीं कहीं मिल आन्तरिक आदेश को 'कर्त्तव्य के उल्लघन से जनित दुख' कहता है। यह दुख अथवा आत्म-ग्लानि का भाव कर्त्तव्य से च्युत होने का फल है। कर्त्तव्य का अतिक्रमण बुद्धि के नैतिक नियम का अतिक्रमण है। अत मिल नैतिक प्रमाण के रूप में बुद्धि का आह्वान करता है, और अपने सिद्धान्त में बुद्धिपरतावाद को समाविष्ट कर देता है। आन्तरिक आदेश बुद्धि का प्रमाण है, सुख या दुख का भाव नही।

---

* रैशडैल शुभाशुभ के सिद्धान्त, जि० २० ; पृ० २३।

सुखवादी परिगणना—मिल सुखवादी परिगणना को अत्यधिक अव्यवहार्य बना देता है। आत्मगत सुख-दुःखो का जो कि नितान्त चचल और आकस्मिक होते हैं, ठीक हिसाब नही लगाया जा सकता। सुखवादी परिगणना के सिद्धान्त को "बहुसख्यक का अधिकतम-सुख" में लागू करना तो और भी कष्टसाध्य है। बेंथम मानता है कि "प्रत्येक मनुष्य दूसरों की अपेक्षा अपने निकटतर है, और अन्य कोई भी उसके सुख-दुःख को नही तौल सकता।" यदि ऐसा है, तो हम बहुसख्यक का अधिकतम सुख कैसे नाप सकते हैं ? पुन., जो मुझे रुचिकर लगता है, दूसरे के लिये अरुचिकर हो सकता है, और जो मुझे अभी आनन्ददायक है वही कालान्तर में दुःखदायी लग सकता है। तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सुखवादी परिगणना व्यवहार्य है ? इसमें मिल के द्वारा सुखो में गुण-भेद को स्वीकार कर लेने पर और भी कठिनाई पैदा हो जाती है। हम गुण अथवा परिमाण की वृद्धि को परिमाण अथवा गुण की न्यूनता से सयुक्त नही कर सकते। "यदि हम सुखों के गुणात्मक भेदो को स्वीकार करते हैं, तो सुख और उनके योगो का वाञ्छनीयता के निश्चित क्रम में विन्यास असम्भव है। गुणो की परिमाणो से तुलना नही हो सकती, जब तक कि उनको परिमाणो में किसी तरह परिणीत न कर दिया जाय—और यह, मिल के अनुसार असम्भव है।"※ इस प्रकार मिल का सुख के गुणो को मान्यता देना सुखवादी परिगणना को अत्यधिक अव्यवहार्य कर देता है। मिल ने सुख और दुःख को भावात्मक सिक्को के रूप में समझा, जिनका योग, अन्तर और गुणन किया जा सकता है। किन्तु, यह अयथार्थ है। आन्तरिक भावो की परिगणना नही हो सकती।

१० उपयोगितावाद के गुण।

बेंथम, जे० एस० मिल और अन्यो "अधिकतम लोगो के अधिकतम सुख" पर ज़ोर देकर इस शताब्दी में क़ानूनी और राजनैतिक सुधारों की बहुत सेवा की। किन्तु, इसका ठीक ठीक अनुमान नही लगाया जा सकता कि इन सुधारो को किसने प्रेरित किया—उपयोगितावाद के सुखवादी तत्व ने अथवा प्रजातन्त्रवादी तत्व ने, और किस सीमा तक ?

बेंथम और उसके अनुयायियो ने सामाजिक न्याय के लिये बड़े महत्त्वपूर्ण सुधारो को प्रभावित किया। "अधिकतम सख्या का अधिकतम सुख" और "प्रत्येक की गिनती एक है, एक से अधिक किसी की नहीं", इन पुकारो ने रूढ सामाजिक प्रगति को अनुचित-रूप से शारीरिक आरामतलबी के साथ एकाकार कर दिया। आनन्द को उन्होंने दैहिक सुख समझा। उन्होंने बौद्धिक सौन्दर्य-विषयक और धार्मिक मूल्यो पर, और चरित्र, प्रेम, मैत्री तथा अन्य शुभो के स्वकीय मूल्य पर कम ज़ोर दिया। उन्होंने

※ मैकेंज़ी . नीति-शास्त्र ; पृ० १७६।

उन्चतर सांस्कृतिक प्रश्नो की अवहेलना की। आर्थिक शुभ ने उनके ध्यान और विचारो को अधिक आकर्षित किया।

उपयोगितावाद परसुखवाद है। यह परोपकार पर जोर देता है। इसके अनुसार सामान्य सुख लक्ष्य है। स्वार्थपर सुखवाद से यह मत उत्कृष्टतर है। सुखों का गुण-भेद यथार्थ है। बौद्धिक सुख इन्द्रिय-जन्य सुख से उत्कृष्टतर है। इसमें गुणगत श्रेष्ठता ह। बौद्धिक जीवन इन्द्रियपर जीवन से श्रेयस्कर है।



अध्याय ८

सुखवाद में विवर्त्तनवाद

१ विकासात्मक सुखवाद (हर्बर्ट स्पेन्सर)।

नीति में विकासवाद बेंथम और मिल का सुखवाद अनुभवमूलक सुखवाद कहलाता है। हर्बर्ट स्पेन्सर, लेस्ली स्टीफेन तथा अलक्जेन्डर का सुखवाद विकासात्मक-सुखवाद कहलाता है। सर्वप्रथम विकासवाद के सिद्धान्त को नीति में लागू करने का श्रेय हर्बर्ट स्पेन्सर को है। नैतिकता का क्रमविकास पशुओं के नैतिकताहीन व्यवहार से हुआ है। यह अभिवृद्धि और क्रमविकास के नियमो से आबद्ध है। विकास का 'अन्त' और 'आदि' हमसे छिपे हुये हैं। हम केवल पशु-जीवन के वर्तमान रूपो को देखते हैं। पशु-जीवन के निम्नतम रूप हमारी दृष्टि से ओझल हैं। यह भी अज्ञात है कि दूर भविष्य में उसका क्या रूप होगा। जाति के क्रमविकास के आदि और अन्त दोनो हमारी दृष्टि से छिपे हुये हैं, इसलिये, नैतिक चेतना का आरम्भ अतीत के गर्भ में है, और पूर्णतया विकसित नैतिक जीवन की भी स्पष्ट कल्पना हम नही कर सकते। हम केवल नैतिक विकास की वर्तमान स्थिति जानते हैं। बिना इसका आरम्भ जाने इसे समझना हमारे लिये दुष्कर है।

विवर्त्तनवादी इसकी व्याख्या इसके प्रारम्भ से करते हैं, और इसलिये वे ऐतिहासिक पद्धति का आश्रय लेते हैं। आदर्शवादी (हेगेल, ग्रीन तथा अन्य) इसकी व्याख्या चरम उद्देश्य अथवा आदर्श से करते हैं। वे उद्देश्यवादी पद्धति का अनुसरण करते है। हर्बर्ट स्पेन्सर नैतिकता के प्रारम्भ को पशुओ के व्यवहार में ढूढता है।

स्पेन्सर नैतिक नियमो को जैविक नियमो से अनुमित करता है। बेंथम और मिल सुख दुःख के अनुभव से प्राप्त आगमन या सामान्यीकरन से नैतिक नियमो को व्युत्पन्न करते हैं। वे अनुभवमूलक सुखवाद के प्रवर्त्तक हैं। किन्तु, स्पेन्सर सुखवाद को जैविक क्रमविकास के नियमो से व्युत्पन्न करता है। उसका सुखवाद विकासात्मक अथवा निगमनात्मक कहलाता है। स्पेन्सर के मतानुसार नीतिविज्ञान का कार्य जीवन के नियमो से यह अनुमित करने का है कि कौन से कर्म सुख का उत्पादन करते हैं और कौन से दुःख का यही निगमन व्यवहार के पथ-प्रदर्शन के लिये नियम माने जाने चाहिये। स्पेन्सर का सुखवाद वैज्ञानिक कहलाता है। नैतिकता क्रमविकास का परिणाम है। इसे केवल विकास के ही प्रकाश में समझा जा सकता है। ग्रीन

विकासात्मक सुखवाद को 'नीति का प्राकृतिक विज्ञान' कहता है। यह नैतिक व्यापार का सृष्टि के व्यापार से सयुक्त कर देता है। यह नैतिकता को जगत व्यापार के विकास का अन्तिम रूप समझता है।

व्यवहार . सत् वा असत्—हर्बर्ट स्पेन्सर नैतिकता का प्रारम्भिक रूप पशुओ के व्यवहार में देखता है। उसके मत से व्यवहार कर्मों के उद्देश्यो से समायोजन का नाम है। व्यवहार का अर्थ है वे प्रक्रियायें जो जीव को वातावरण से समायोजित करती हैं। जीवन का तत्व 'आन्तरिक सम्बन्धो का वाह्य सम्बन्धो से निरन्तर समायोजन' में अर्थात् जीव के अपने को वातावरण से समायोजित करने के अविरत प्रयत्न में है। सभी व्यवहार इसी प्रकार के समायोजन की अभिवृद्धि और अवरोध करने की क्षमता रखते हैं। यदि उससे वृद्धि होती है तो व्यवहार सत् है, यदि अवरोध होता है तो वह असत् है। शरीर का परिस्थिति से सम्यक् समायोजन सत् कर्म कहलाता है। शरीर का परिस्थिति से समायोजन का अभाव अथवा अपूर्ण समायोजन असत् कर्म कहलाता है।

सदव्यवहार सुख का उत्पादन करता है, क्योकि उससे जीव का वातावरण मे सामजस्य स्थापित हो जाता है। असत्-व्यवहार दु ख इसलिये पैदा करता है कि वह जीव को वातावरण के समायोजित करने में असफल सिद्ध होता है। प्राय सभी अघात सत् और अघात असत् होता है। पूर्ण-रूपेण सत् व्यवहार वही होता है जो वेदना से रहित सुख-मात्र को जन्म देता है। किन्तु व्यवहार अपेक्षाकृत सत् है जब वह दु ख से अधिक सुख देता है अथवा जीव का वातावरण से अधिक पूर्ण समायोजन करता है। व्यवहार अपेक्षाकृत असत्-होता है जब वह सुख से अधिक दु ख देता है अथवा जीव का वातावरण ने अधिक अपूर्ण समायोजन करता है। इस प्रकार सत्-व्यवहार जीवन का उत्कर्ष करता है और असत् व्यवहार उसका अपकर्ष। अतः जीवन की प्रगति अथवा अवगति व्यवहार के सदसत् होने के कारण हैं।

सुख-दु ख का जैविक महत्व हर्बर्ट स्पेन्सर ने सुखवाद जीवविज्ञान की नीव पर किया। उसके मत से सुख जीवनशक्ति-वृद्धि का सूचक है; और दु ख जीवनशक्ति-क्षय का। स्पेन्सर कहता है, "विवर्त्तनवाद की परिकल्पना ने यह अनिवार्य अनुमान निकलता है कि दु ख जीव के लिये हानिकारक कर्मों से सम्बन्धित है, और सुख उसके मगल-साधन कर्मो से। चेतनायुक्त प्राणियों का उद्भव किसी भी अन्य स्थिति में सम्भव न होता। केवल वही जातियां जीवित रह पाई है जिनसे साधारणत. वाञ्छनीय भाव जीवन की रक्षणात्मक-प्रक्रियायो के साथ रहे हैं, और अवाञ्छनीय भाव ध्वसात्मक-प्रक्रियाओ के साथ।" सुखप्रद कर्म जीवन की रक्षा करते हैं; दुःखप्रद कर्म उसका विनाश। यही नियम चेतनायुक्त-प्राणी-सृष्टि का आधार है। पशु स्वभावत सुखान्वेषण और दु ख त्याग करते है। यदि सुख जीवन शक्ति का क्षय और दु ख

उसकी वृद्धि करता तो प्राणी स्वय अपने विनाश के कारण होते। किन्तु प्राणी अद्यावधि जीवित हैं। अत स्पेन्सर यह अनुमान निकालता है कि सुख जीवन-साधक है, और दु ख जीवन-बाधक। सुख जीवन-वर्धक है, दु ख जीवन-नाशक है।

उच्चतम लक्ष्य . सुख सन्निकट लक्ष्य जीवन का विस्तार—कर्म अच्छे हैं या बुरे, यदि वे निश्चित लक्ष्यो से सुसमायोजित है या कुसमायोजित। अन्तत उनकी अच्छाई बुराई का निर्णय छोटे लक्ष्यो का आत्म-रक्षण और जाति-रक्षण के महान् लक्ष्य में विलय कर देने से होता है। हर्बर्ट स्पेन्सर एक सुखवादी है। "जीवन का अन्तिम लक्ष्य सुख है , किन्तु सन्निकट लक्ष्य जीवन की लम्बाई और चौड़ाई है।" जीवन का सन्निकट उद्देश्य उसकी लम्बाई और चौड़ाई दोनो की वृद्धि है। लम्बाई जीवन का स्थितिकाल है , चौड़ाई उसकी जटिलता है। स्पेन्सर कहता है कि आत्म-रक्षण की दिशा में जो क्रमविकास होता है उसकी सीमा व्यक्ति के जीवन का अधिक-तम विस्तार है। इसका साधक कर्म शुभ होता है और बाधक अशुभ। पूर्ण विकास तभी होता है जब अपना और अन्यो का जीवन-विस्तार अधिकतम हो जाता है। जैविक उत्क्रान्ति के चरम लक्ष्य आत्म-रक्षण और जाति-रक्षण हैं। ये ही नैतिकता के सन्निकट लक्ष्य हैं। व्यक्ति और जाति के जीवन की लम्बाई चौड़ाई में अभिवृद्धि नैतिकता का निकटस्थ लक्ष्य है। चरम लक्ष्य सुख है, किन्तु उसका पूर्ण-लाभ तभी हो सकता है जबकि उसे पृष्ठभूमि में रखा जाय और ध्यान उसके हेतुओं के ऊपर केन्द्रित हो। स्पेन्सर और उपयोगितावादियो में सुख को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानने के विषय में मतैक्य है। अनुभूति की वाञ्छनीयता के लिये सुख अनिवार्य तत्व है। अत सुख ही सम्पूर्ण शुभ है।* स्पेन्सर कहता है कि "शुभ का सबके लिये सुखप्रद होना स्वीकार्य है।" इस प्रकार, चरम लक्ष्य सुख है, निकटस्थ लक्ष्य है जीवन का सरक्षण और विकास।

नैतिक-चेतना का जन्म—'नैतिक-चेतना के जन्म' का हेतु जानने में, स्पेन्सर को ज्ञान होता है कि नैतिक चेतना का विशिष्ट लक्षण कुछ भावनाओ द्वारा कुछ अन्य भावनाओ का नियत्रण है। स्पेन्सर की धारणा है कि जीवन से सुसरक्षण के लिये मानव-प्रकृति के ऊपर किसी प्रकार से बाहरी दबाव का प्रभाव होना चाहिये। बाहरी दबावो को वह राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक नियत्रण (बेंथम के बाह्य आदेश) कहता है। वह एक आन्तरिक नियत्रण का भी जिक्र करता है जिसे वह नैतिक नियत्रण कहता है। वास्तविक नैतिक प्रवर्तक तो नैतिक बाध्यता अथवा कर्त्तव्य-भावना है (मिल का आन्तरिक आदेश)। यह सत् कर्म का प्रवर्तक है तथा असत् कर्म का निवर्तक है।

कर्त्तव्य-भावना अथवा नैतिक-बाध्यता की अनुभूति—कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा

---

* शुभाशुभ के सिद्धान्त, जि० २, पृ० ३७६।

नैतिक वाध्यता की अनुभूति में दो तत्वो का समावेश होता है —(१) प्रभुत्व और (२) वाध्यता। यह विदित होता है कि वाद में विकसित, अधिक मिश्रित और अधिक विचारमूलक अनुभूतियाँ (यथा, सहानुभूति) जो व्यवहार को अधिक दूरस्थ और सामान्य लक्ष्यो से समायोजित करने वाली है, पूर्व-विकसित और साधारण प्रत्यक्षमूलक अनुभूतियो से (यथा, स्वार्थ) अधिक प्रभुत्वसम्पन्न हैं। अत. प्रभुत्वसम्पन्नता का विचार उच्चतर अनुभूतियो से अधिक सलग्न है।

कर्त्तव्य की अमूर्त्त चेतना में और एक तत्व सन्निहित है। वह वाध्यता का तत्व है। इसका उद्भव प्राक् नैतिक नियन्त्रणो यथा राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक नियन्त्रणो के अनुभव से होता है। कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक वाध्यता का कारण विशेषतया व्यक्ति का समाज से अपूर्ण समायोजन है। स्पेन्सर का विचार है कि नैतिक चेतना का ज्ञान उसका स्थायी लक्षण नही है। वह कहता है, "कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक वाध्यता अल्पस्थायी है, और जितनी शीघ्रता से नैतिकी करण की वृद्धि होनी है उतनी ही शीघ्रता से उसकी भी कमी होगी। आरम्भ में उद्देश्य नैतिक वाध्यता के तत्व से युक्त होता है, अन्त में यह तत्व तिरोहित हो जाता है, और कर्म का सम्पादन उसे करने की वाध्यता के ज्ञान के विना ही होने लगता है। इस प्रकार, शुरू में जो कर्म 'इसे करना चाहिये' की भावना से किया जाता है, अन्ततोगत्वा वह उस भावना से विच्छिन्न हो सकता है।" चूकि वाध्यता के ज्ञान की उत्पत्ति व्यक्ति के अपने जीवन के सामाजिक वातावरण से अपर्याप्त समायोजन से होती है, उससे पूर्ण समायोजन हो जाने पर वाध्यता का तत्त्व पूर्णतया तिरोहित हो जायगा, और सत्कर्म सतोष की साधारण भावना के साथ अभ्यासजन्य कर्म के तुल्य सम्पन्न होगा। नैतिक वाध्यता नैतिक चेतना का आवश्यक तत्व नही है। नैतिक विवर्तन की अन्तिम दशा में नैतिक वाध्यता विल्कुल लुप्त हो जायगी। नैतिक वाध्यता नैतिक चेतना का परिवतनशील अनावश्यक तत्त्व है।

स्वार्थ और परार्थ—समाज और व्यक्ति के हितो का सघर्ष, जो नैतिक वाध्यता की भावना को जन्म देता है, निरपेक्ष और स्थायी नही है। स्वार्थ और परार्थ दोनो के अपने अधिकार है। आत्म-रक्षण और आत्मोत्सर्ग मानव-स्वभाव में समान रूप से सहजात है। जाति के क्रम-विकास में परार्थ का विकास स्वार्थ के साथ ही होता है। स्पेन्सर के अनुसार विशुद्ध स्वार्थ और विशुद्ध परार्थ दोनो अवैध है, क्योकि स्वार्थ और परार्थ विकास के आरम्भ मे ही परस्परावलम्बी रहे हैं। यदि 'जीवन अपने लिये' का सिद्धान्त असत् है तो 'जीवन दूसरो के लिये' का सिद्धान्त भी असत् है। दोनो का समन्वय ही एकमात्र शुभ है। "परार्थ और स्वार्थ का समन्वय क्रमिक रूप से अपना स्थापन करता आया है।"* लोग प्राय समझने लगे है कि सामान्य सुख की प्राप्ति

* स्पेन्सर।

मुख्यतया व्यक्तियो के द्वारा अपने सुख के पर्याप्त अनुसरण से हो सकती है और व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति आंशिक-रूप में उनके द्वारा सामान्य सुख के अनुसरण से। नितान्त स्वार्थ और नितान्त स्वार्थ-त्याग समान रूप से आत्मघातक हैं। सम्पूर्ण स्वार्थपर हो तो उसका विनाश अवश्यम्भावी होगा। यदि वह पूर्णतया परार्थपर हो तथा स्वार्थ पर उदासीन हो, तो भी उसका विनाश अवश्यम्भावी होगा। स्वार्थपरता तथा परार्थ-परता का समन्वय मनुष्य-जीवन का आधार है।

निरपेक्ष नीति-शास्त्र—हर्बर्ट स्पेन्सर निरपेक्ष नीति शास्त्र और आपेक्षिक नीति-शास्त्र में अन्तर बतलाता है। निरपेक्ष नीति-शास्त्र उस स्थिति में होने वाले व्यवहार को निश्चित करता है जबकि व्यक्ति का वातावरण से पूर्ण समायोजन हो जाता है। आपेक्षिक नीति-शास्त्र एक विशेष-समाज में स्थित व्यक्ति विशेष के अपूर्ण समायोजन की स्थिति-विशेष में किये जाने वाले व्यवहार को निर्धारित करता है। केवल वही निरपेक्ष-रूप से सत् है जो दुःख से अमिश्रित विशुद्ध-सुख की अभिवृद्धि करता है। आपेक्षिक नीति-शास्त्र प्राय दो अशुभ कर्मों में से अल्पतर अशुभ को स्वीकार करता है। निरपेक्ष नीति-शास्त्र के आदेश केवल पूर्णतया विकसित समाज में ही मान्य हैं।

हर्बर्ट स्पेन्सर का विश्वास है कि एक समय आयेगा जबकि व्यक्तियो का समाज से पूर्ण समायोजन हो जायेगा, और व्यक्तियों और समाज के हितो में कोई भेद नही रहेगा। उस समय सहानुभूति में कोई दुःख का लेश नही रहेगा, नैतिक बाध्यता की भावना पूर्णतया लुप्त हो जायेगी, और सभी धर्म अनायास हो जायेंगे। उस समय स्वर्गराज्य का स्वप्न सत्य हो जायगा, तथा शाश्वत शान्ति और सामजस्य का युग अवतरित हो जायगा। पूर्ण समाज में स्वार्थ और परार्थ में कोई अन्तर नहीं रहेगा, प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक हित का अन्वेषण करेगा।

सर्वप्रथम विकास के सिद्धान्त को नीति में लागू करने का श्रेय स्पेन्सर को है। वह नैतिकता के बीज को पशुओ के व्यवहार में खोजता है। उसके अनुसार जीवन जीवन-शक्ति के वातावरण से अविरत समायोजन में निहित है। व्यवहार जीव के वातावरण से समायोजन का अथवा जीवन-क्रिया का नाम है। वही व्यवहार शुभ होता है जो जीव और वातावरण के सामञ्जस्य का उत्कर्ष करता है और सुख की वृद्धि करता है। सामञ्जस्य का बाधक और दुःख देने वाला व्यवहार असत् है। सुख जीवन वृद्धि का लक्षण है और दुःख उसके क्षय का। वही व्यवहार पूर्णतया शुभ है जो दुःख से रहित सुख की उत्पत्ति करता है। जो व्यवहार दुःख से अधिक सुख का उत्पादन करता है वह अपेक्षाकृत है। जीवन का सन्निकट लक्ष्य उसके दैर्घ्य तथा विस्तार की वृद्धि है। चरम लक्ष्य सुख की उपलब्धि है। सुख की प्राप्ति के लिये उसे पृष्ठभूमि में रखना होगा और सन्निकट लक्ष्य को ही सीधा लक्ष्य बनाना होगा। सुख

को सीधा लक्ष्य बनाने से सुख की प्राप्ति नही होगी। सुख को पृष्ठभूमि में रखना चाहिये। नैतिक चेतना एक बडी सीमा तक राजनैतिक, सामाजिक धार्मिक और नैतिक नियन्त्रणों का फल है। नैतिक बाध्यता अल्पस्थायी है। इसका कारण व्यक्ति का समाज से अपूर्ण समायोजन है। जब समायोजन पूर्ण हो जायगा तो नैतिक बाध्यता नही रहेगी। वह पूर्णतया तिरोहित हो जायगी। धर्म या चरित्र-गुण अनायास होगे। इस प्रकार स्पेन्सर स्वर्गराज्य में आस्था रखता है उसका विश्वास है कि पृथ्वी पर स्वर्ग का अवतरण हो जायगा और स्वार्थ और परार्थ का विरोध-भाव समाप्त हो जायगा। व्यक्ति का समाज से पूर्ण समायोजन हो जायगा।

२ हर्बर्ट स्पेन्सर के विकासात्मक सुखवाद की समीक्षा।

विकास का सिद्धान्त नैनिकता की प्रगति का स्पष्टीकरण कर सकता है, उसके प्रारम्भ का नहीं। क्रम-विकास के विचार को नैतिकता पर लागू करके हर्बर्ट स्पेन्सर वास्तविक से आदर्श की—'होता है' से 'होना चाहिये' की प्राप्ति का प्रयास करता है। किन्तु यह असम्भव है। विकास एक अभिनव वस्तु की सृष्टि नही कर सकता, वह केवल, जो पहले अव्यक्त था, उसको धीरे धीरे व्यक्त कर सकता है। नैतिकता का विकास कदापि नैतिकताहीन तत्वो से, विवेक का नैतिकताहीन-मूलप्रवृत्तियो से नही हो सकता। नैतिक मूल्य का जैविक तथ्यो से विकास होना असम्भव है। नीति-शास्त्र में विकासात्मक अथवा ऐतिहासिक-पद्धति काम नही दे सकती, उसके स्थान पर उद्देश्य-मूलक पद्धति का प्रयोग होना चाहिये। नैतिक जीवन आदर्श के द्वारा शासित है और इसलिये वास्तविक तथ्य उसका स्पष्टीकरण नही कर सकता। नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान है। यह मनुष्य-जीवन की नैतिक आदर्श से व्याख्या करता है।

मैकेंजी कहता है कि स्पेन्सर के सिद्धान्त में हेतुसाध्य-विवर्त है। यह कहने मे क्या तात्पर्य है कि हमारे जीवन के विकास का अर्थ वातावरण से अविरत समायोजन है, हम व्यक्ति के वातावरण से समायोजन का स्पष्टीकरण कैसे कर सकते है? समायोजन का अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ यह नही है कि हमारे सामने कुछ लक्ष्य है? दो वस्तुओ के परस्पर समायुक्त न होने का अर्थ है कि यह हमें उस सम्बन्ध का ज्ञान है जिसमें वे नही है, किन्तु जिसमें उनको होना चाहिये।* इस प्रकार समा-योजन में आदर्श निहित है। व्यक्ति अपने को और अपने वातावरण को एक आदर्श से समायुक्त करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार स्पेन्सर के अनुसार जो समायोजन की प्रक्रिया नैतिकता की नीव में समाहित है, उसकी व्याख्या आदर्श के द्वारा ही हो सकती है—आदर्श की, समायोजन की प्रक्रिया से नहीं। नैतिक जीवन में भौतिक और सामाजिक वातावरण को मनुष्य अपने नैतिक आदर्श के अनुरूप बनाता है। नैतिकता

* नीति-शास्त्र, पृ० १९९–२००।

में वाह्य परिस्थिति का आन्तरिक आदर्श से समायोजन किया जाता है—आन्तरिक जीवन का वाह्य परिस्थिति से नहीं। नीति की समस्या आत्मा को प्रकृति के अनुकूल रूपान्तरित करने की नहीं है, बल्कि प्रकृति को नैतिक आदर्शों के अनुसार ढालने की है।* नैतिक जीवन में भौतिक और सामाजिक वातावरण को तथा सहज प्रवृत्तियों और वासनाओं को भी बुद्धि द्वारा नैतिक आदर्श के अनुरूप बनाया जाता है।

जैविक विवर्त्तन का सिद्धान्त, यथा, प्राकृतिक चुनाव अथवा योग्यतम की जीत नैतिकता पर लागू नहीं हो सकता। नीति में बल सत् नहीं है, सत् ही बल है। पशुयोनि में 'योग्यतम की विजय' का अर्थ होता है, 'बलवान् की विजय', नीति में इसका अर्थ है नैतिक-उत्कर्ष-सम्पन्न व्यक्ति का गुरुत्व, जिसमें निर्बल का संरक्षण भी समाविष्ट है। नीति में क्रूर स्वार्थसाधन का स्थान विवेकपूर्ण आत्म-संयम लेता है, दूसरे का गला काटने वाली प्रतियोगिता का स्थान स्नेहपूर्ण सहयोग लेता है। इसको अलेक्जेन्डर, एक अन्य विकासात्मक सुखवादी, मानता है। उसके मतानुसार, प्राकृतिक चुनाव नीति में निर्बलों के विरुद्ध नहीं होता, बल्कि जीवन के असमुन्नत आदर्शों के विरुद्ध होता है।

नैतिक विकास जैविक विकास का अंग नहीं हो सकता। जैविक विकास भौतिक कार्य-कारण-शृंखला से आबद्ध होता है। पिण्ड वंशपरम्परा और वातावरण के प्रभाव से ही बनता बिगड़ता है। जैविक विकास में इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिये कोई स्थान नहीं है। किन्तु, नैतिक विकास का तो मूल सिद्धान्त ही इच्छा-स्वातन्त्र्य है। नैतिक प्रगति अंशतः सामाजिक वातावरण आश्रित है, किन्तु मुख्यतया व्यक्तियों की नैतिक अंतर्दृष्टि और स्वतन्त्र कर्मों पर ही आश्रित है। अतः नैतिक विकास को जैविक विकास का आवश्यक अंश मानना निराधार है। जैविक विकास में इच्छा-स्वातन्त्र्य का स्थान नहीं है। परन्तु नैतिक विकास का मूलभूत आधार इच्छा-स्वातन्त्र्य है। पशुयोनि में सबल की जय होती है परन्तु नैतिक जीवन में दुर्बल की रक्षा होती है।

हर्बर्ट स्पेन्सर की सुख-दुःख की जीवशास्त्रीय-व्याख्या अमान्य है। सुख जीवन की वृद्धि नहीं, बल्कि जीवन-शक्ति का व्यय है। अरस्तू की धारणा है कि सुख की उत्पत्ति जीवन-शक्ति के संयत व्यापार से, और दुःख की उसके अति-व्यवहार या अव-व्यवहार से होती है। जीवन-शक्ति के अत्यधिक व्यवहार या अत्यल्प व्यवहार से दुःख की उत्पत्ति होती है, परन्तु इसके संयत व्यवहार से सुख की उत्पत्ति है। सुख कार्य की प्रवर्तक-शक्ति नहीं, बल्कि कार्य का परिणाम है। अभाव की दुःखद-वेदना कर्म का उद्गम है। पुनः, सुखदायी वस्तु अनिवार्य-रूप से स्वास्थ्य-वर्धक नहीं होती, क्योंकि स्वास्थ्य आवश्यकता और उसकी पूर्ति के बीच की साम्यावस्था है। बहुत सी उपादेय क्रियाओं (यथा, पाचन, श्वासोच्छ्वास प्रभृति) से सुख की अनुभूति नहीं होती उनमें

* नीति-शास्त्र के तत्त्व

से कुछ (परिश्रम, पीडा इत्यादि) तो दुःखदायी होती हैं। शल्यक्रिया जीवन की रक्षा करती है, परन्तु यह दुःखप्रद है। प्रसव क्रिया जीव का उत्पादक है, परन्तु यह अतीव कष्टप्रद है। अतः सुख को जीवन-वृद्धि का, और दुःख को जीवन-क्षय का सूचक नहीं कहा जा सकता। सुख जीवन-वर्धक और दुःख जीवन-घातक यह वैज्ञानिक सत्य नहीं है।

जीवन का सन्निकट लक्ष्य जीवन की लम्बाई-चौडाई में वृद्धि नहीं हो सकता। आयु की दीर्घता-मात्र नैतिक आदर्श नहीं मानी जा सकती। जीवन की चौडाई अर्थात् जटिलता अपने ही से वाञ्छनीय नहीं हो सकती। जीवन की जटिलता कष्ट और व्याधि के खतरे को और बढा देती है। वैचित्र्य से सम्पन्न जीवन जैसे, नैपोलियन का अनिवार्यतः संघर्ष और कष्ट से पूर्ण होता है। इसलिये, जीवन की चौड़ाई में वृद्धि का उसकी लम्बाई में वृद्धि से विरोध हो सकता है। पुनः, जीवन की लम्बाई-चौडाई जैविक आदर्श हो सकता है; किन्तु उसे उच्चतम नैतिक आदर्श नहीं कहा जा सकता।

स्पेन्सर के तथा-कथित राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक नियन्त्रण नैतिक चेतना की सृष्टि नहीं कर सकते। उनके द्वारा 'करना पडेगा' या भौतिक बाध्यता की सृष्टि हो सकती है, 'करना चाहिये' की नहीं। वे भौतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण कर सकते हैं, नैतिक बाध्यता या नैतिक बाध्यता का नहीं। तथा-कथित नैतिक नियंत्रण भी नैतिक चेतना की अपेक्षा रखता है। इन तत्वों के द्वारा उत्पन्न आत्मगत-भाव मात्र नैतिक चेतना के प्रभाव का सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नहीं कर सकते।

हर्बर्ट स्पेन्सर कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता का कारण बतलाने में असमर्थ है। उसके मत से यह नैतिक चेतना का अल्पस्थायी तत्व है। लेकिन यह मत नितान्त भ्रामक है। नैतिक बाध्यता, नैतिक चेतना एक आवश्यक और चिरस्थायी अंश है। इसका अतिक्रमण कभी भी नहीं हो सकता। नैतिक प्रगति के अधिक होने के साथ ही नैतिक आदर्श भी ऊंचा उठता चला जाता है। नैतिक प्रगति, नैतिक बाध्यता की भावना को और भी तीव्र कर देती है। उससे कभी भी उसकी तीव्रता में कमी नहीं हो सकती। पुनः, नैतिक बाध्यता का कारण व्यक्ति का समाज से कुसयोजन नहीं हो सकता। वह बाह्य दवाव का कारण हो सकता है, नैतिक बाध्यता का नहीं। व्यक्ति अवयव है, समाज शरीर। अंगी अपने अंग को बाध्य कर सकता है। नैतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण केवल नैतिक आदर्श के द्वारा ही हो सकता है। नैतिक आदर्श अनवच्छिन्न है। पार्थिव जीवन में उसका पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः नैतिक बाध्यता, नैतिक चेतना का स्थायी अंश है।

हर्बर्ट स्पेन्सर का निरपेक्ष नीति-शास्त्र नैतिकता की नींव पर आघात करता है। हम देख चुके हैं कि नैतिक बाध्यता का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार नैतिकता का उद्भव प्रकृति से नहीं हो सकता, उसी प्रकार वह प्रकृति की अंश

भी नहीं हो सकती। नैतिकता, प्राग्-नैतिक तत्वो या अबौद्धिक पशुप्रवृत्तियों से उद्भूत नही हो सकती। वास्तविक जीवन और नैतिक आदर्श का विरोध नैतिक विकास से समाप्त नही हो सकता। पशु जीवन में नैतिकता के मूल तत्व नहीं पाये जाते। ये बौद्धिक मनुष्य-चेतना में अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था को प्राप्त होते हैं।

अत स्पेन्सर का निरपेक्ष नीति-शास्त्र एक स्वप्न-मात्र है जो इस लोक में सत्य नही हो सकता। म्यूरहेड (Muirhead) का यह कहना सत्य है कि विकास का आदर्श साम्यावस्था नही हो सकता। जब भी समाज की अपेक्षाकृत साम्यावस्था आ जायगी, पुन अभिनव-शक्तिया उसमें विघ्न उपस्थित कर देंगी। स्पेन्सर की चरम साम्यावस्था—व्यक्ति और समाज का पूर्ण सामजस्य जिसमें सघर्ष और दु ख का बिल्कुल समावेश न हो—का विचार मृत्यु के तुल्य है। जहाँ भी जीवन होता है, वहाँ द्वन्द्व, सघर्ष और परिवर्तन अवश्यभावी है। जब सामजस्य स्थापित हो जाता है, तो नई शक्तियाँ उसमें बाधा देंगी, और पुन सामजस्य का स्थापन होगा। यही प्रक्रिया अनन्त-काल तक चलती रहेगी। मनुष्य अपने बुद्धिजात नैसर्गिक असन्तोष के कारण कभी भी वास्तविक सामाजिक व्यवस्था से सन्तुष्ट नही रह सकता। उसका आदर्श सदैव एक सुदूरस्थ लक्ष्य रहेगा। स्पेन्सर का स्वर्गराज्य अव्यवहार्य और अप्राप्य है। जिस मार्ग से उसकी प्राप्ति सभव है उसके ऊपर स्पेन्सर का निरपेक्ष नीति-शास्त्र प्रकाश की एक भी रश्मि नही डालता। व्यक्ति का समाज से पूर्ण समायोजन असम्भव है। परार्थपरता स्वार्थसिद्धि का स्थान नही ले सकता। नैतिक बाध्यता कभी लुप्त नही हो सकती। यह नैतिक चेतना का मौलिक तत्व है। नैतिक जीवन स्वत प्रवृत्त प्राकृतिक जीवन नही हो सकता। अचेतन तथा अनियन्त्रित होने से नैतिकता समाप्त हो जाती है।

३. लेस्ली स्टीफेन का विकासात्मक सुखवाद।

समाज-शरीर—उपयोगितावादी (बैंथम, मिल प्रभृति) समाज को स्वतन्त्र व्यक्तियो का एक समुदाय-मात्र मानते हैं, जो निर्जीव पदार्थ में परमाणुओं की भाँति यान्त्रिक-रूप से परस्पर सयुक्त हैं। यद्यपि वे 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' के अनुयायी हैं, तथापि वे व्यक्तिवादी हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर भी व्यक्ति को समाज की इकाई मानता है। उसके लिये व्यक्ति फिर भी स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं। और इस प्रकार जीवन का चरम लक्ष्य प्रत्यक्षत. आत्म-रक्षण और केवल परोक्षत जाति रक्षण है। सर्वप्रथम लेस्ली स्टीफेन ने ही समाज-शरीर की कल्पना की, जिसके व्यक्ति अन्योन्याश्रयी सदस्य हैं। व्यक्ति समाज से अलग नही रह सकता। समाज-शरीर अपने वातावरण के ऊपर प्रतिक्रिया करने से बढता और विकसित होता है। व्यक्ति और समाज के बीच समायोजन की प्रक्रिया निरतर चल रही है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध

एक वाह्य और आकस्मिक वस्तु नही है, वल्कि आन्तरिक और आवश्यक है।

जिस प्रकार शारीरिक द्रव्य से विभिन्न प्रयोजनो के लिये विविध अङ्गो की रचना होती है, उसी प्रकार समाज को भी एक शरीर माना जा सकता है। सामाजिक-द्रव्य से समाज के उद्देश्य की सिद्धि के लिये विभिन्न अगो की सृष्टि होती है जिनके अपने अलग-अलग कार्य हैं। समाज का क्रमिक विकास हो रहा है, और उसके साथ उसके उद्देश्य को सपादित करने के साधन-स्वरूप अगो का भी विकास हो रहा है। इस विकास का उद्देश्य विभिन्न अवयवो की कार्यक्षमता को बढाना है, जिससे समाज के जीवन का लक्ष्य अधिकतम सुचारु रूप से सम्पन्न हो सके।

समाज-शरीर का स्वास्थ्य ही चरम-लक्ष्य है—लेस्ली स्टीफेन के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य न बहुसख्यक का अधिकतम सुख है, जैसा कि बैंथम और मिल का मत है, और न जीवन की लम्बाई-छौडाई में वृद्धि, जैसा स्पेन्सर का मत है, बल्कि समाज-रूपी शरीर का स्वास्थ्य अथवा कायक्षमता है। नैतिक जीवन का लक्ष्य सुख नही, वल्कि समाज का स्वास्थ्य है। वही कर्म शुभ है जो समाज के स्वास्थ्य का साधक है, जो उसके लिये घातक है वह अशुभ है। समाज के स्वास्थ्य और व्यक्ति का सुख में वास्तविक विरोध नही है। उनकी प्रवृत्ति सहयोग की दिशा में होती है। हानिकारक कर्म सामान्यतया कष्टप्रद होते हैं, लाभदायक कर्म सामान्यतया सुखदायक होते हैं। नैतिक नियम सामाजिक जीवन की शर्तें हैं। वे समाज-शरीर के लिये स्वास्थ्य-वर्धक हैं। अन्त करण व्यक्ति के अन्दर जनता की आवाज की प्रतिध्वनि है। सहानुभूति एक सहज सामाजिक प्रवृत्ति है। समाज के सदस्य के रूप में, व्यक्तिगत-रूप में नहीं, मनुष्य को सहानुभूतिशील होना पडता है। समाज के विकास के साथ उसके सदस्यो में सहानुभूति की सामाजिक भावना का भी विकास होता है। यह समाज-शरीर के लिये नितात लाभप्रद है। विकास के क्रम में न केवल वाह्य व्यवहार के उत्कृष्ट-रूप का उदय होता है, वल्कि आन्तरिक चरित्र के उत्कृष्ट रूप का भी। हम नैतिकता के वाह्य रूप से आन्तरिक रूप की ओर—'ऐसा करो' के नियम से 'ऐसा बनो' के नियम की ओर गमन करते हैं। नैतिक प्रगति वाह्य व्यवहार के उत्कर्ष से आन्तरिक चरित्र के उत्कर्ष की ओर गति है।

लेस्ली स्टीफेन, हर्बर्ट स्पेन्सर के निरपेक्ष नीति-शास्त्र का खडन करता है। वह किसी ऐसे चरम लक्ष्य को नही मानता, जिसकी ओर समाज की प्रगति हो रही है। वह समाज को उसके वर्तमान रूप में स्वीकार करता है और उसके स्वास्थ्य, साम्यावस्था अथवा कार्य-क्षमता को ही साध्य लक्ष्य मानता है। वह सद्गुण को समाज की साम्यावस्था को बनाये रखने के लिये व्यक्ति की कार्यक्षमता मानता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर एक व्यक्तिवादी है, यद्यपि वह परहित को स्वार्थपरता के समान प्रकृत और सहज मानता है। वह कहता है, "क्रम-विकास की गति सदैव आत्म-रक्षण

की दिशा में होती है, और वह सीमा को उस समय प्राप्त होता है जब व्यक्तिगत जीवन लम्बाई और चौड़ाई दोनों में अधिकतम हो जाता है।" किन्तु लेस्ली स्टीफ़ेन समाज में, जिसकी कल्पना वह शरीर के रूप में करता है, व्यक्तियो के अन्योन्याश्रयत्व को मान्यता देता है। वह कहता है "नैतिक-नियम सामाजिक हित की शर्त के विषय में एक उक्ति है।" "नैतिक-नियम समाज-शरीर के किसी गुण की परिभाषा है।"

४ लेस्ली स्टीफ़ेन के विकासात्मक सुखवाद की समीक्षा।"

समाज अपने कर्मों का स्वाधीनता पूर्वक नियन्त्रण करने वाले आत्मचेतनायुक्त आत्माओ का एक सघ है। समाज विच्छिन्न व्यक्तियो का एक यान्त्रित समूह नहीं। यह अन्योन्याश्रित अवयवो से निर्मित शरीर के अधिक तुल्य है। किन्तु, इस तुलना को अत्यधिक आगे नही बढ़ाना चाहिये। शरीर के अवयव स्वतन्त्र जीवन-यापन नही कर सकते, शरीर के जीवन में ही उनका भी जीवन है। लेकिन समाज को शरीर कहना एक आलकारिक-उक्ति मात्र है। समाज-रूपी शरीर को सुख-दु ख की अनुभूति नही होती, अनुभूति केवल व्यक्ति को ही होती है। व्यक्ति चेतना के केन्द्र हैं। समाज का अपना स्वतन्त्र चेतना-केन्द्र नही होता। व्यक्ति मन से पृथक् समष्टिमन नहीं है। समाज-मन की पृथक् सत्ता नही है। समाज की सत्ता व्यक्ति में उसकी सामाजिक अथवा बुद्धिमय-आत्मा के रूप मे होती है। सामाजिक प्रवृत्तियाँ व्यक्तिमन में होती हैं।

जैसे 'समाज-शरीर' एक आलकारिक उक्ति है, वैसे ही 'समाज-शरीर का स्वास्थ्य' भी एक आलकारिक उक्ति मात्र है। सुख के दृष्टिकोण से समाज एक शरीर नही है, वल्कि व्यक्तियों का एक समूह है, क्योंकि समाज नहीं बल्कि व्यक्ति सुख का अनुभव करते हैं। अनुभूति के पृथक् पृथक् केन्द्रों को एक केन्द्र में विलीन नहीं किया जा सकता। सच्चे परार्थ की प्राप्ति स्वार्थ के उन्मूलन से नही हो सकती। निम्न-कोटि के स्वार्थ के अतिरिक्त एक उच्च-कोटि का स्वार्थ भी होता है, जिसमें परार्थ का भी समावेश होता है। उच्च-स्वार्थ की प्राप्ति के अनन्तर स्वकीय और परकीय उद्देश्यो का भेद समाप्त हो जाता है। और यही सच्चा स्वार्थ है। स्वार्थ के अपनयन की चेष्टा के साथ ही नैतिकता का भी उन्मूलन हो जायगा। अत नैतिक जीवन का केन्द्र व्यक्तिगत जीवन में ही पाया जा सकता है, उससे बाहर नहीं। नैतिक जीवन अवैयक्तिक जीवन नही हो सकता। नैतिक जीवन सदैव वैयक्तिक जीवन है।

लेस्ली स्टीफ़ेन समाज-शरीर के स्वास्थ्य को नैतिक मानदण्ड मानकर अपने सुखवाद का मूलोच्छेदन कर देता है। यद्यपि सामाजिक स्वास्थ्य व्यक्तिगत सुख का आवश्यक हेतु है, तथापि उसका अर्थ अनिवार्यत. व्यक्तिगत सुख नही है। समाज के स्वास्थ्य को नैतिक आदर्श मानना आत्मपूर्णतावाद की ओर लौट जाना है, जिसके अनुसार आत्म-विकास केवल समाज के ही द्वारा सम्भव है। व्यक्ति और समाज के विरोध का परिहार सुखवादी दृष्टिकोण से नहीं हो सकता, बल्कि पूर्णतया आत्म-

विकास के दृष्टिकोण से ही सम्भव है। आत्म-पूर्णता का अर्थ है आदर्श की प्राप्ति। आदर्श-आत्मा सामाजिक आशा अथवा विवेकमय-आत्मा है, जिसका विकास समाज द्वारा ही हो सकता है। व्यक्तिगत-शुभ समाज का भा है। उच्चतम शुभ वैयक्तिक भी है और सामान्य भी। व्यक्तिगत परम मगल का सामाजिक परम हित से कोई विरोध नही है।

५. अलेक्जेन्डर का विकासात्मक सुखवाद।

सामाजिक व्यवस्था की साम्यावस्था ही सर्वोच्च शुभ है—परम शुभ व्यवहार की पूर्णतया स्म योजित अवस्था अथवा समाज-शरीर की साम्यावस्था है। किसी कर्म को नैतिक आदर्श के द्वारा मापा जाता है। "यह नैतिक आदर्श प्रतियोगी प्रवृत्तियों के ऊपर आधारित व्यवहार की समायोजित अवस्था है, और उनमें साम्य स्थापित करता है। अच्छाई साम्यावस्था में समायोजन के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" (अलेक्जेंडर)। व्यक्ति का आचार का समाज से पूर्ण समायोजन सत् कर्म हैं, उसका आचार का समाज से कुसमायोजन या अपूर्ण समायोजन असत् कर्म है। स्पेन्सर का भी यह मत है।

नीति में प्राकृतिक चुनाव—पशु-जगत् में प्राकृतिक चुनाव का अर्थ योग्यतम अथवा वलवत्तम की जीत है। लेकिन नीति में अधिक पूर्ण आदर्शों के द्वारा निर्वल आदर्शों का निराकरण—पशुबल के द्वारा नही, वल्कि नैतिक प्रोत्साहन के द्वारा—इसका अर्थ होता है। अलेक्जेंडर की धारणा है कि मानव-जाति के नैतिक जीवन में प्राकृतिक चुनाव का व्यापार चलत। है, जिससे अधिकतम कार्यक्षम अथवा अधिकतम पूर्णता के साथ सामजस्य-प्राप्त व्यवहार सुरक्षित रहता है। वह उसे 'नीति में प्राकृतिक चुनाव' सज्ञा देता है। इसमें वलवानो के द्वारा निर्वलो का ध्वस नहीं होता। वल्कि, इसमें नैतिक प्रोत्साहन से—पशुवल से नही—अपूर्ण-समायोजन-प्राप्त व्यवहार के निम्न आदर्शो का स्थान अधिक पूर्ण समायोजन-प्राप्त व्यवहार के उच्च आदर्श ग्रहण कर लेते हैं। "मानव-व्यापारो में निर्वल अथवा वैरभाव वाले व्यक्तियो के विरुद्ध नहीं, वरन् उनके आदर्शों अथवा उनके जीवन की रीतियो के विरुद्ध प्राकृतिक चुनाव का सग्राम चलता है। यह सामाजिक हित की अविरोधी जीवन-विधि को ही केवल विजित अथवा स्थिर रखने का प्रयास करता है" (अलेक्जेंडर)। जैविक विवर्तन में वलप्रयोग द्वारा निर्वल प्राणियो का सहार होता है। नैतिक विवर्तन में उच्च आदर्श, प्रोत्साहन और शिक्षा के द्वारा निम्न आदर्शों का स्थान लेते हैं। नैतिक प्रोत्साहन प्रतियोगियो की पराजय के तुल्य है," क्योकि "वृद्धि की वृद्धि के ऊपर विजय प्रोत्साहन से ही होती है" (अलेक्जेंडर)। इस प्रकार अलेक्जेंडर नैतिक आदर्श की व्याख्या प्राकृतिक चुनाव की सहायता से करता है।

६ अलेक्ज़ेंडर के विकासात्मक सुखवाद की समीक्षा—

अलेक्ज़ेंडर का मत सार-रूप में वही है जो लेसूली स्टीफेन का है। सामाजिक व्यवस्था की साम्यावस्था को सर्वोच्च शुभ क्यो समझना चाहिये ? हमें समाज में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न क्यो करना चाहिये ? इसका हमारे लिये क्या मूल्य है ? हमें सामाजिक सामजस्य की प्रगति क्यो करनी चाहिये ? उसमें बाधा क्यों न दी जाय ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि सामाजिक सामजस्य शुभ है।

विवर्तन का प्राकृतिक व्यापार नैतिकता की व्याख्या नही कर सकता। वास्तव में, विकास की प्रक्रिया की व्याख्या लक्ष्य अथवा आदर्श के द्वारा ही हो सकती है। आदर्श की व्याख्या उससे नही हो सकती। सामाजिक प्रगति की व्याख्या आदि से नही, बल्कि अन्त से होगी। आदर्श प्रक्रिया को स्पष्ट करता है, प्रक्रिया आदर्श को नही। आरम्भ नही, बल्कि अन्त ही व्याख्या का सिद्धान्त है। नैतिकता की व्याख्या नैतिक आदर्श—परम मगल—से हो सकती है प्रारम्भिक जैव प्रक्रिया से नही।

अलेक्ज़ेंडर के द्वारा प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त का नीति में लागू किया जाना अयौक्तिक है। वह स्वय मानता है कि नीति में इसका अर्थ योग्यतम या बलवत्तम की विजय अथवा निर्बलतम की पराजय नही है। इसका अर्थ प्रोत्साहनपूर्वक उच्च आदर्शों की निम्न आदर्शों के ऊपर विजय है। किन्तु, इसको प्राकृतिक चुनाव कहना असगत है। यह नैतिक मूल्यो की व्याख्या के लिये जीवविज्ञान के प्रत्ययो की असफलता की स्पष्ट स्वीकृति है। नैतिकता अनैतिक जैव व्यापार से उत्पन्न नही हो सकती। नैतिक चेतना मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति में ही सुप्त है, पशु-प्रकृति में नही है। बुद्धि असत् कर्म तथा सत् अर्थ का भेद कर सकती है।

७ विकासात्मक सुखवाद की साधारण समीक्षा—

जैव विकास से नैतिकता का उद्भव नही हो सकता। पशुओ की अबौद्धिक तथा अनैतिक मूल प्रवृत्तियों से मनुष्य के अन्त करण अथवा नैतिक शक्ति का उद्भव नही हो सकता। सत्-असत्-भाव का जन्म जैव तथ्यों से नही हो सकता है। 'है'-से 'होना चाहिये' का जन्म नही हो सकता।

विकास अथवा विवर्तन किसी चीज की सृष्टि नहीं कर सकता। यह केवल किसी चीज को अव्यक्त दशा से व्यक्त दशा की ओर ले जा सकता। यह नीति की भी सृष्टि नही कर सकता। यह नीति की प्रगति की कथचित् व्याख्या कर सकता, परन्तु इसकी सृष्टि की नही।

विकास एक अन्तिम लक्ष्य की ओर प्रगति है। यदि अन्तिम लक्ष्य न हो तो विकास अर्थशून्य हो जाता है। विकास क्रमिक उत्क्रान्ति है। उत्क्रान्ति का स्पष्टीकरण अन्तिम लक्ष्य अथवा आदर्श से ही हो सकता, आदि से नही। आदि से जड पदार्थ

या भौतिक व्यापारो का कथचित् स्पष्टीकरण हो सकता, लेकिन जैव तथा मानसिक व्यापारो का नही। बिना आदर्श का विचार किये नैतिकता की व्याख्या किसी तरह से नही हो सकती।

जैव विकास नैतिक बाध्यता अथवा कर्त्तव्य-बुद्धि का स्पष्टीकरण नही कर सकता। चेतनाहीन, उद्देश्यहीन तथा आदर्शरहित जैव व्यापार नैतिक बाध्यता की व्याख्या बिलकुल नही कर सकता। नैतिक बाध्यता में आदर्श परम मगल का अस्पष्ट विचार गर्भित है।

पशुयोनि में बलिष्ठ की विजय और दुर्बल की पराजय होती है। मनुष्ययोनि में न्याय की विजय तथा अन्याय की पराजय होनी चाहिये। नैतिक जगत् में दुर्बल की रक्षा होनी चाहिये। पशुयोनि में स्वार्थसिद्धि प्रायश एकमात्र प्रेरणा है। मनुष्य-योनि में नैतिक जीवन का आदर्श परार्थपरता है। अत जैव विकास से नीति की उत्पत्ति नही हो सकती।

मनुष्य-शरीर का प्रकृति से सम्यक् समायोजन नैतिकता का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। जीवनशक्ति देह का प्रकृति से समायोजन है। नैतिकता बुद्धि द्वारा वासनाओं का आदर्श के अनुसार नियत्रन है। यह जैव व्यापार नहीं है। अत विकासवाद अयौक्तिक है।

८. सुखवाद की अच्छाइयाँ।

सुखवाद का मनुष्य की ऐन्द्रिय प्रकृति पर बल देना उचित ही है। किन्तु इसके बौद्धिक प्रकृति को उससे गौण ठहराना अनुचित है। ऐन्द्रिय प्रकृति मानव-स्वभाव का आवश्यक भाग है। वही नैतिकता का उपादान है। नैतिकता मूल-प्रवृत्तियो, वासनाओ और अनुभूतियो को नियन्त्रित करने में निहित है। सुखवाद ने उसका महत्व-प्रदर्शन करके अच्छा किया। नैतिक जीवन एकान्त-रूप से बुद्धिमय जीवन नहीं है, जिसमें वासनाओ के लिये कोई स्थान न हो। नैतिक जीवन बुद्धि द्वारा नियन्त्रित वासनामय जीवन है। मनुष्य के पूर्ण बौद्धिक हित में सुख का भी समावेश होना चाहिए। यही सुखवाद में स्थायी तत्व है। वासनाओं तथा मूल प्रवृत्तियों का पूर्ण दमन नैतिक जीवन के आदर्श के लिये अपर्याप्त हैं।

सुख स्वत शुभ नही है। यह शुभ की अभिव्यक्ति का साधारण सूचक है। दु ख स्वत अशुभ नही, बल्कि अशुभ का सूचक है। सुख धनात्मक या भावात्मक मूल्य की भावना है, और दु ख ऋणात्मक या अभावात्मक मूल्य की। सुख स्वय मूल्य नही है। इच्छित वस्तुयें मूल्य हैं।

आत्म सुखवाद व्यक्तिगत सुख को परम मगल मानता है। इसमें भी सत्य का अश है। परम हित को व्यक्तिगत शुभ का कोई रूप होना चाहिये। शुभ की

सिद्धि व्यक्ति के जीवन-काल में ही होनी चाहिये। शुभ सदा किसी व्यक्ति का होता है। नैतिक जीवन व्यक्तिगत जीवन है।

परसुखवाद के अनुसार 'अधिकतम का अधिकतम सुख' ही श्रेष्ठ हित है। इसमें भी आंशिक सत्य है। शुभ व्यक्तिगत ही नही, बल्कि सामाजिक भी है। परम शुभ वैयक्तिक भी और सामाजिक भी है। व्यक्ति को अपने परम शुभ की प्राप्ति के लिये अन्यो के शुभ को भी लक्ष्य बनाना पडता है।

विकासात्मक सुखवाद समाज को शरीर मानता है। इसमें भी आवश्यक आशिक सत्य है। यह व्यक्तिगत शुभ और सामान्य अथवा सामाजिक शुभ की पारस्परिकता के ऊपर बल देता है।

सुखवाद की बुराई यह है कि वह भावनाओं को सुव्यवस्थित करनें वाले सिद्धान्त के रूप में बुद्धि के अधिकार की अवहेलना करता है। वासनाए नैतिक जीवन का उपादान हैं। बुद्धि उन्हे रूप प्रदान करती है। नैतिकता नैतिक आदर्श के अनुरूप वासनाओ तथा मूलप्रवृत्तियो के बुद्धि के द्वारा नियमन होने में निहित है।



अध्याय ६

बुद्धिमूलक उपयोगितावाद

१. सिज्विक (Sidgwick) का बुद्धिमूलक उपयोगितावाद ।

सुखवाद—सिजविक का मत है कि सुख ही एकमात्र प्रकृत मूल्य है ; सुख स्वत शुभ है। अन्तिम वाञ्छनीय वस्तु सुख ही है। केवल वही इच्छा का बुद्धि-सिद्ध विषय है। यही बुद्धि का निर्णय है। बुद्धि इसका निर्देश करती है कि सुख वास्तविक लक्ष्य है, वह लक्ष्य जिसका अनुसरण करना चाहिये। ज्ञान, सौंदर्य, धर्म या चरित्रोत्कर्ष प्रभृति सभी वस्तुयें सुख के साधन हैं। उनका मूल्य सुख के उपकरण होने में है। सिजविक सुख और आनन्द भेद-निर्देश नहीं करता। चरम शुभ सुख है।

"सुख या आनन्द अन्तिम शुभ है। ज्ञान, सौंदर्य प्रभृति वस्तुयें जिनका कुछ पण्डितो की दृष्टि में साध्य या प्रकृत मूल्य है, सुख के साधन-मात्र हैं।" उनका सुख उत्पन्न करने के अतिरिक्त कोई अन्य मूल्य नहीं है। यहाँ तक सिजविक का मिल से मतैक्य है। ज्ञान, सौन्दर्य, नैतिकता तथा धर्म सुख का साधन हैं। सुख परम मगल है। यह अन्तिम लक्ष्य है।

नैतिक सुखवाद—बैंथम और मिल मनोविज्ञानिक सुखवाद के समर्थक हैं। उनका मत है कि मनुष्य सदैव सुख-लाभ और दुःख-निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं। सुख उनकी इच्छा का साधारण विषय है किन्तु, सिजविक का आग्रह है कि इस सिद्धान्त में—सुखवाद में, विरोधाभास है। "सुखोन्मुखी वासना की अत्यधिक प्रबलता अपने ही लक्ष्य के लिये घातक है।"* वह कहता है कि सुख-प्राप्ति की सर्वोत्तम विधि सुख को विस्मृत्त कर देना है। यह 'अनुसरण किये जाने वाले सुखों' के विषय में विशेष-रूप से सत्य है। अत सिजविक मनोवैज्ञानिक सुखवाद को अस्वीकार करता है और नैतिक सुखवाद का समर्थन करता है। सुख इच्छा का स्वाभाविक विषय नही है। किन्तु वह इच्छा का उचित विषय है। सुख ही परम मगल है। केवल इसी का प्रकृत मूल्य है। सभी अन्य वस्तुयें इससे गौण है। सिजविक, मिल के समान यह युक्ति नहीं देता कि सुख वांच्छनीय है, क्योकि लोग उसकी इच्छा करते हैं। उसकी युक्ति यह है कि बुद्धि हमें बतार्ता है कि सुख ही स्वतः वांच्छनीय, परम शुभ है। यह बुद्धि का सहज अनुभव है।

---

* सिजविक।

बुद्धिमूलक उपयोगितावाद—सिजविक का मत है कि सुख परम मंगल है यह अन्त करण अथवा व्यावहारिक बुद्धि की सहज उपलब्धि है। यह व्यवहारिक बुद्धि का निर्णय है। सिजविक की परिकल्पना में यह अपरोक्ष ज्ञानवाद अथवा बुद्धिवाद का तत्व है। अन्तःकरण से हमें केवल सर्वोच्च शुभ का अपरोक्ष अनुभव ही नही होता, बल्कि उसके विभाजन-सम्बन्धी सिद्धान्तो, यथा, दूरदर्शिता, परोपकारशीलता, और न्याय का भी ज्ञान होता है। सिजविक के मत से परम मगल स्वभावत सवेद्य है, उसमें चेतना की वाञ्छनीय-स्थिति जिसे सुख कहते है, होना अनिवार्य है। परन्तु, इसका ज्ञान कराने वाला, बुद्धि का सहज अनुभव है, इन्द्रियज अनुभव नही। बुद्धि ही उसकी व्यवस्था के नियमों का भी बोध कराती है। इस प्रकार, सिजविक, बैंथम, और मिल के अनुभव-मूलक उपयोगितावाद से भिन्न बुद्धिमूलक उपयोगितावाद का प्रवर्त्तक है।

सिजविक अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा कर्म के चरम लक्ष्य को मालूम करने के प्रयत्न को सर्वथा त्याग देता है, उसका मत है कि घटनाओ के पूर्वापर-सम्बन्धों के भूयोदर्शन से ज्ञान का कितना ही सचय क्यो न हो, वर्त्तमान और भावी घटनाओ का कुछ भी अनुभव क्यो न हो, उससे 'होना क्या चाहिये', इसका ज्ञान होना असम्भव है। अत नैतिकता का आधार बुद्धि का इन्द्रियप्रत्यक्ष-निरपेक्ष अपरोक्ष ज्ञान है।

हमारे वैयक्तिक और सामाजिक-जीवन में सुख के विभाजन के तीन सिद्धान्त है वे हैं—दूरदर्शिता, परोपकारशीलता और न्याय।

दूरदर्शिता अथवा विचारात्मक आत्म-प्रेम—आत्म-प्रेम मात्र क्षणिक-सुखो के अनुसरण के लिये प्रवृत्त करता है। किन्तु बुद्धि सहज आत्म-प्रेम को शिक्षित और प्रबुद्ध करती है, और सुखी-जीवन के अनुसरण का आदेश करती है। हमें अपने जीवन के सभी क्षणो के प्रति निष्पक्ष होना चाहिये, और अपने सुखो का चुनाव करने में वतमान और भविष्यत् को समान विचारना चाहिये। हमें अधिक भावी-शुभ को छोडकर अल्प वर्तमान शुभ को नही अपनाना चाहिये। हमे अधिक भावी शुभ के लिये वर्तमान अल्प शुभ का उत्सर्ग कर देना चाहिए। हमारा लक्ष्य अपना सम्पूर्ण आनन्द होना चाहिए, न कि क्षणिक सुख। युक्तियुक्त आत्म-प्रेम 'अपने जाग्रत-जीवन के सभी अशों के प्रति निष्पक्ष" होने का आदेश करता है। हमारा कल्याण क्षणिक सुख में नही है, बल्कि सुखी-जीवन में है (Epicurus)। यही विचारात्मक आत्म-प्रेम अथवा दूरदर्शिता का सिद्धान्त है जो सुख का अपने व्यक्ति जीवन में विभाजन करने में सहायक है।

परोपकारशीलता—परोपकारशीलता बतलाती है कि परसुख उतन ही महत्व का है जितना आत्म-सुख। अनुभव स्वार्थ और परार्थ—व्यक्तिगत सुख और सामान्य

सुख के मध्य की खाई को नही पाट सकता। बुद्धि ही उनको सयुक्त करने वाली कडी का आविष्कार कर सकती है। सुख या आनन्द ही वह वस्तु है जिसका प्रकृत मूल्य है। वही अन्तिम तर्क-सम्मत मगल है। अत, दूसरो के सुख का भी उतना ही मूल्य है, जितना अपने सुख का। हमें सबके सुख के विषय में निष्पक्ष होना चाहिये। हमें दूसरों के अधिक सुख की तुलना में अपने अल्प सुख को नही अपनाना चाहिये। बुद्धि की दृष्टि में वैयक्तिक जीवन के प्रत्येक क्षण को सन्तोष प्राप्त करने का समान अधिकार है, एवमेव प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक सवेदनशील प्राणी को भी तृप्ति का समान अधिकार है। "प्रत्येक मनुष्य किसी भी अन्य व्यक्ति के शुभ का अपने ही शुभ के समान आदर करने के लिये नैतिक दृष्टि से बाध्य है।" "मुझे अपने ही अल्पतर सुख का दूसरे के अधिक सुख की अपेक्षा वरण नही करना चाहिये।"❀ बुद्धि की आज्ञा है कि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य सब मिलाकर अधिकतम सुख होना चाहिये, और उसे सबके अधिक सुख के लाभ के हेतु अपने व्यक्तिगत सुख का बलिदान करना चाहिये। बुद्धि यह आज्ञा नही दे सकती कि प्रत्येक को सबके सुख की हानि होते हुये देखकर भी अपने वैयक्तिक सुख का ही अनुसरण करना चाहिये। यही परोपकारशीलता का सिद्धान्त है जो अपने और दूसरोमें सुख को विभक्त करने में सहायता देता है।

न्याय—न्याय या समानता का सिद्धान्त, व्यक्तिगत जीवन के प्रतियोगी क्षणो तथा प्रतियोगी व्यक्तियो के मध्य सुख का उचित और समान वितरण करने के हेतु विचारात्मक आत्म-प्रेम या दूरदर्शिता तथा परोपकारशीलता के सिद्धान्तों की सहायता करता है। हम अपने जीवन के सभी क्षणो में सुखोपभोग के लिये समान-रूप से क्षम नही होते। और सभी व्यक्ति भी सुखोपभोग के लिये समान-रूप में समर्थ नही होते। अत हमें अपने जीवन के विविध क्षणो के विषय में भेद-ग्राही-विवेक होना चाहिये। अन्य व्यक्तियो के विषय में भी ऐसा ही विवेक इष्ट है। न्याय अथवा समानता में असमानता का भी समावेश होता है, दोनो में अनिवार्य विरोध नही है। न्याय प्रतियोगी व्यक्तियो की सामर्थ्य और पात्रता का भी विचार करता है। जो उपभोग की अधिक क्षमता रखते है, यथा, बुद्धिजीवी, कलाकार, शिल्पकार प्रभृति, उनको सुख लाभ करने का अधिक अवसर मिलना चाहिये। "हममें से कोई भी जिस किसी कर्म को अपने लिये सत् समझता है, उसे सभी तुल्य व्यक्तियो के लिये तुल्य परिस्थितियो में गुप्त रूप से सत् निर्णीत करता है।" 'समान समस्याओ का हल भी समान होना चाहिये।"† हमारे व्यक्तिगत जीवन के कुछ क्षण दूसरो की अपेक्षा अधिक महत्त्व के होते हैं, क्योकि उनकी उपभोग क्षमता अधिक होती है। कुछ व्यक्ति दूसरो से अपेक्षाकृत अधिक उपभोग क्षम होते हैं। सभी व्यक्ति पूर्णतया समान नही होते। अत. न्याय हमें

❀ सिजविक।

† सिजविक।

व्यक्ति अथवा जाति के जीवन में सब मिलाकर अधिकतम-सुख को लक्ष्य बनाने के लिये प्रेरित करता है। हमें व्यक्तिगत-जीवन में प्राथमिकता उन क्षणों को देनी चाहिये जो अधिक उपभोग-क्षम हैं। एवमेव उन व्यक्तियों को अधिकतम सुख-लाभ के हेतु प्राधान्य दूना चाहिये जो अधिक उपभोग-क्षम हैं।" सभी मनुष्य की उपभोग क्षमता समान नही है।

इस प्रकार दूरदर्शिता चचल क्षणो के नही बल्कि अपने सम्पूर्ण जीवन के सुख लाभ का आदेश देती है। परोपकारशीलता व्यक्तियो के ही नही बल्कि मानव-जाति के सुख-लाभ का आदेश देती है। न्याय मानव-समाज का अधिकतम सुख के लिये अधिक-योग्य के अधिक-सुख का आदेश देता है।

व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत—सिजविक स्वार्थ और परार्थ का सम्बन्ध कराने में असमर्थ है। दूरदर्शिता अपने ही अधिकतम सुख के अनुसरण के लिये प्रवृत्त करती है। परोपकारशीलता सम्पूर्ण मानव-जाति के अधिकतम सुख के अनुसरण का आदेश देती है। इस प्रकार, दोनो बुद्धिमूलक सिद्धान्त परस्पर-विरोधी सिफारिशें करते हैं। स्वय सिजविक मानता है कि बुद्धि के दो विभिन्न आदेशों में विरोध है। वह इसे "व्यावहारिक-बुद्धि का द्वैत" कहता है। अपना हित प्रधानत. अपना ही सुख होता है। केवल गौण-रूप में ही इसका बोध होता है कि दूसरों का सुख-साधन भी करना चाहिये। अत दोनों के विरोध का कदापि निरास नहीं हो सकता। हम अपने अधिकतम सुख के अनुसधान के लिये प्रयास करते हैं, फिर भी हमें सवेदनशील प्राणियों के सम्पूर्ण समुदाय के अधिकतम सुख के लिये यत्नशील होना चाहिये। सिजविक बुद्धि के इन दो आदेशों के विरोध का परिहार करने में असमर्थ है।

इस प्रकार, सिजविक उपयोगितावाद को बुद्धिवाद अथवा अपरोक्ष ज्ञानवाद से संयुक्त कर देता है, अत उसका सिद्धान्त बुद्धिमूलक उपयोगितावाद कहलाता है।

२ बुद्धिमूलक उपयोगितावाद की समीक्षा।

सिजविक की यह भ्रान्त धारणा है कि सुख अथवा आनन्द परम मगल है—एकान्त-रूप से सुख का ही प्रकृत मूल्य है, प्रत्येक अन्य वस्तु गौण है। परम शुभ सुख अथवा सवेद्य शुभ नहीं हो सकता। वह आत्मा को, जो सवेदनशील तथा विचारशील, ऐन्द्रिय तथा बौद्धिक दोनो है, तृप्त नहीं कर सकता। सिजविक का अनुभूति को मानव स्वभाव का प्रधान तत्व मानना अवैध है। बुद्धि और सकल्प प्रधान तत्व हैं। मनुष्य बुद्धि, अनुभूति और सकल्प का सयोग है, और मनुष्य की आदर्श-स्थिति मानव-स्वभावगत तत्वत्रय की वह आदर्श अवस्था है जिसमें तीनों में आदर्श सम्बन्ध स्थापित हो चुका हो।"* सिजविक सुख को "वाञ्छनीय चेतना" के अर्थ में

---

* शुभाशुभ के सिद्धान्त, जि० २, पृ० ७८।

ग्रहण करता है। किन्तु, एक विचारशील प्राणी सुख को ही वाच्छनीय नही मान सकता, क्योकि उससे वुद्धि को सतोष नही हो सकता। यह कथन आत्म-विरोधी है कि वुद्धि अपने ही लिये ऐसे शुभ को निर्धारित करती है जो स्वभावत अबौद्धिक है। चरम हित सुख नही, वल्कि पूर्णता है जो सवेदनशीलता को भी और वुद्धि को भी तृप्त करती है। सुख स्वय मूल्य नही है, वह मूल्य का सूचक है, वस्तु मूल्य होती है, वस्तु का मूल्याकन किया जाता है और उसके साथ सुख पाया जाता है। सुख भावात्मक मूल्यों का सूचक है और दु ख अभावात्मक मूल्यो का सूचक है।

हमें सुख के लिये सुख का लक्ष्य नही बनाना चाहिये। हमें ज्ञान, सस्कृति, सौंदर्य, शील अथवा नैतिक उत्कर्ष का अनुसरण करना चाहिये, जो प्रकृत्या मूल्यवान् हैं और आत्मा की आध्यात्मिक आकांक्षाओ की तृप्ति करते है। आनन्द आत्म-पूर्णता का निर्देश करता है। वह प्रकृत मूल्यो की उपलब्धि का लक्षण है। सिजविक ज्ञान और सकल्प का बलिदान करके अनुभूति के महत्व पर वल देता है। किन्तु, वास्तव में, ज्ञान और सकल्प, अनुभूति के तुल्य ही महत्व रखते हैं। वे सुख-प्राप्ति के साधन-मात्र नही हैं। मानव-प्रकृति में वुद्धि का प्राधान्य है। वुद्धि वासनाओ का दास नही है, परन्तु प्रभु है।

सिजविक स्वार्थ और परार्थ का समझौता नहीं करा सकता। इसे वह स्वयं स्वीकार करता है। उसका विचार है कि दूरदर्शिता और परोपकारशीलता के सिद्धान्तों में विरोध है। यह उसके शब्दो में 'व्यावहारिक वुद्धि का द्वैत' है। स्वार्थ और परार्थ का सहयोग न करा पाने का कारण उसका सुख को सर्वोच्च शुभ मानना है। सुखवादी दृष्टकोण से, मार्टिन्यू (Martineau) के शब्दो में "स्वार्थ से परार्थ के लिये कोई मार्ग नही है।" आत्म पूर्णता-वाद स्वाथ और परार्थ में सहयोग कराने में समर्थ है। व्यक्ति जितना ही अधिक अपने व्यक्तिगत, सकुचित आत्मा की उपेक्षा करता है और अपने को समुदाय, जाति और मानवता के व्यापक जीवन के साथ एकाकार करता है, उतना ही अधिक वह अपने वास्तविक, उच्चतर, सामाजिक अथवा वौद्धिक स्वरूप की तृप्ति करता है। उच्चतर आत्मा के दृष्टिकोण से प्रत्येक जीव दूसरे जीव में अपना ही प्रतिविम्व देखता है।

सिजविक के तीनो सिद्धान्त मुख्यतया नीति के परिमाणात्मक पक्ष का विचार करते हैं। वे यह नहीं वतलाते कि विशेष-स्थिति में शुभ क्या है। वे यही वतलाते हैं कि व्यक्ति, स्थान और काल का विचार न करते हुये, शुभ की अधिक मात्रा ही वरणीय है। इस रूप में, विभिन्न प्रकार के शुभो का वितरण करने में वे स्वीकार्य हैं।

सिजविक का "वुद्धिमूलक-उपयोगितावाद", सुखवाद और वुद्धिपरतावाद का, उपयोगितावाद और सहज-ज्ञानवाद का असगत मेल है। अन्त करण अथवा व्यावहारिक वुद्धि हमें अन्तिम शुभ देती है, फिर भी वह सुख है जो वुद्धि को अनिवार्यत.

सन्तोष नहीं देता। बुद्धि परम शुभ देती है जो अबौद्धिक है। परम मगल ऐन्द्रिय सुख है। यह बौद्धिक आनन्द नहीं है। वासनाओ की तृप्ति सुख है। यह मत स्वविरोधी है कि बुद्धि परम शुभ देती है जो अबौद्धिक या ऐन्द्रिय है। सिजविक की भ्रा त-धारणा है कि ज्ञान और शील का साधन रूप में मान है, सुख-मात्र प्रकृत शुभ है और ये उसके साधन हैं। परन्तु वस्तुत ज्ञान और शील प्रकृत-मूल्य हैं। सिजविक इसे पहिचानने में असफल होता है, क्योकि उसकी भ्रान्त कल्पना है कि चेतना में अनुभूति के अतिरिक्त अन्य तत्व नही हैं, अथवा ज्ञान और सकल्प अन्तत मूल्यवान नही हैं। शील स्वत साध्य है। बुद्धि के द्वारा जीवन के बौद्धिक आदर्श के अनुसार इच्छाओ को नियत्रित करना ही शील है। चरित्र-गुण स्वत साध्य है। इसका आधार सत् सकल्प का अभ्यास है। इसमें ज्ञान और अनुभूति का भी समावेश होता है। किन्तु सकल्प चरित्र का सर्वप्रधान तत्व है। चरित्र बार बार किये जाने वाले स्वतन्त्र सकल्पो का फल है। सच्चरित्र स्वत शुभ है। शब्दान्तर में, शील या धर्म स्वत साध्य या शुभ है। वह चरित्र की उत्कृष्टता है।

सिजविक परम मगल की सुखवादी कल्पना और फलस्वरूप नैतिकता के सुख-वादी लक्षण का नैतिकता के सहज-ज्ञानवादी, बुद्धिवादी अथवा अन्तिम आधार के साथ सामजस्य-स्थापन नही कर सकता। बिना शील या चरित्र को परम शुभ के एक अथवा सर्वोच्च तत्व के रूप में स्वीकार किये, व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत समाप्त नहीं हो सकता।

सिजविक सुख को ही एकमात्र शुभ मानता है, फिर भी उसका मत है कि कर्म के सुख के अतिरिक्त अन्य लक्ष्य भी होते हैं। कभी वह वस्तुओ की सुखप्रदता के विषय में कहता है, कभी उनकी युक्तियुक्तता के विषय में। किन्तु, वह स्वय स्वीकार करता है कि ये दोनो पृथक् पृथक् मानदण्ड हैं। वस्तुत., सिजविक बुद्धि की नीव पर सुखवाद का स्थापन करके उसके आधार को निर्बल बना देता है। "बुद्धिमूलक उपयो-गितावाद" स्वविरोधी है। सुखवाद अथवा उपयोगितावाद के दोषों का निवारण पूर्णतावाद के दृष्टिकोण से हो सकता है, जो सवेदनशीलता तथा बुद्धि दोनो के अधि-कारो के साथ न्याय रखता है। अनुभवमूलक सुखवाद अथवा उपयोगितावाद के दोषों का निवारण सिजविक के बुद्धिमूलक उपयोगितावाद के द्वारा नही हो सकता, जो स्वय आत्म-विरोधी विचारो से पूर्ण है।

अध्याय १०

राशडैल : आदर्श उपयोगितावाद

१. सिजविक (Sidgwick) का बुद्धिमूलक-उपयोगितावाद तथा राशडैल (Rashdall) का आदर्श-उपयोगितावाद।

सिजविक ने अपने उपयोगितावाद को वुद्धि पर आधारित किया है। बुद्धि नैतिक शक्ति है। सुख सर्वोच्च हित है। इसकी सहज बुद्धि प्रेरणा द्वारा होती हैं। आत्म-प्रेम, उदारता अथवा परोपकारशीलता और न्याय सुख के वितरण के युक्तियुक्त सिद्धान्त हैं। उनका उद्देश्य मानव-समाज का अधिकतम सुख है। सिजविक ने ये तीन सिद्धान्त बटलर (Butler) से लिये हैं। राशडैल भी अपने उपयोगितावाद को वुद्धि पर आधारित करता है। उसकी दृष्टि में नैतिक शक्ति ही बुद्धि है। कान्ट (Kant) की भाँति वह इसे नैतिक बुद्धि अथवा व्यावहारिक वुद्धि कहता है। इसे सहज ज्ञान द्वारा सर्वोच्च हित का ज्ञान हो जाता है। धर्म अथवा सच्चरित्रता, ज्ञान, सस्कृति, सुन्दरता तथा सुख ही सर्वोच्च हित का निर्माण करते हैं।

नैतिक निर्णय मूल्य के निर्णय होते हैं। वे श्रेष्ठ हित का निर्णय करते हैं। वे प्रत्यक्ष रूप से तथा तुरन्त यह निर्णय नही करते कि सत् क्या है। सत परम हित की प्राप्ति का एक साधन है। यह परम हित की प्राप्ति में सहायक होता है। यदि कोई कार्य सार्वभौमिक कल्याण अथवा पूर्णता की प्राप्ति में सहायक होता है तो वह सत् है। इसमें धर्म अथवा चरित्र की श्रेष्ठता, ज्ञान, सस्कृति सौन्दर्य तथा सुख का समावेश होता है, जो कि नैतिक बुद्धि की दृष्टि में मूल्यवान हैं। धर्म सर्वोच्च मूल्य है। ज्ञान, सौन्दर्य तथा सुख उससे निम्नकोटि के मूल्य हैं। कुछ सुख अच्छे होते हैं तथा कुछ बुरे। नैतिक बुद्धि द्वारा समर्थन-प्राप्त अच्छे सुख ही आनन्द हैं। किसी कार्य की सत् प्रकृति उसके परिणाम पर अवलम्बित होती है। यदि वह सार्वभौमिक कल्याण में सहायक है तो वह सत् है और यदि वह उसके विरुद्ध है तो असत्। इसी कारण राशडैल के सिद्धान्त को उपयोगितावाद कहा जाता है। परन्तु वह सुख को मानवता के कल्याण का एक अग तथा धर्म से निम्नकोटि का मानता है। इसी कारण उसके सिद्धान्त को आदर्श उपयोगितावाद कहा जाता है। यह सुखवादी नही है। यह सुख को ही अन्तिम ध्येय नही मानता। धर्म अथवा श्रेष्ठ चरित्र ही सर्वोच्च मूल्य है। " वह मूल्य सब मूल्यों में श्रेष्ठ है।" (Theory of Good and Evil, Vol.

I. p. 138.) सुख एक हित है। अपने में और दूसरों के भीतर सुख की वृद्धि करना ठीक है। परन्तु यह सर्वोच्च हित नहीं है। धर्म का बलिदान करके सुख का अनुसरण करना नैतिक दृष्टि से उचित नही है। सुख का अनुसरण धर्म की समुचित आधीनता में किया जाना चाहिये।

ज्ञान तथा सुन्दरता ऐन्द्रिय सुख से कही ऊची वस्तुए हैं, वे हमारी बौद्धिक सौन्दर्यसम्बन्धी तथा भावात्मक इच्छाओ की पूर्ति करती है। ऐन्द्रिय सुख हमारी प्रकृति के ऐन्द्रिय अग की ही सन्तुष्टि करता है। "हम ज्ञान, सस्कृति, सुन्दरता के उपभोग तथा प्रत्येक प्रकार की बौद्धिक क्रिया को खाने, पीने, शारीरिक व्यायाम या अन्य पशु प्रवृत्तियो से तुष्टीकरण से समुत्पन्न सुखो की अपेक्षा अधिक उच्चकोटि का महत्व देते हैं।" (पूर्व पुस्तक पृ० १६१)। "नैतिकता सच्चे मानवीय हित की वृद्धि में सन्निहित है, परन्तु वह हित ऐसा है जिसमें सुख केवल एक तत्व मात्र है।" (पूर्व पुस्तक पृ० २१७)। एक अच्छे जीवन में सच्चे हित के विविध तत्वो के मध्य परस्पर सामजस्य होता है। वास्तविक हित की विविध हितो के मध्य एक व्यावहारिक एकता की स्थिति है।

बुद्धिसगत आत्म-प्रेम, बुद्धिसगत परार्थ-परायणता तथा न्याय ये सब हि- के वितरण के सिद्धान्त हैं। आत्म-प्रेम स्वय व्यक्ति के भीतर हित अथवा सुख के वितरण का सिद्धान्त है। सुख के विभिन्न क्षणो की ओर ध्यान न देकर इसक उद्देश्य व्यक्तिगत जीवन में अधिकतम सुख की प्राप्ति है। परार्थ परायणता मानव समाज के भीतर हितो के वितरण का सिद्धान्त है। इसका उद्देश्य मनुष्य-समाज के अधिकतम हित की प्राप्ति है। यह दूसरो के हित को अपने हित के समान मूल्यवान समझता है। यह हमारे छोटे हितो के सामने दूसरो के बडे हितो को प्रधानता देने का सिद्धान्त है। न्याय समाज और व्यक्ति के मध्य हित के वितरण का सिद्धान्त है। प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि उसके हित पर समान रूप से विचार किया जाए, निश्चय ही हित के उपभोग की उसकी क्षमता तो ध्यान में रखी ही जानी चाहिये कुछ व्यक्ति जिनके पास ज्ञान व सस्कृति प्राप्त करने, सौन्दर्य तथा सुख का उपभोग करने व चरित्र की महत्ता प्राप्त करने की शक्ति अधिक मात्रा में हैं, उनके हितो पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। अत न्याय की यह माँग है कि मनुष्यो में हित का वितरण समानता के आधार पर किया जाए, इसका यह अर्थ नही कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता अथवा योग्यता पर ध्यान दिये बिना ही हित की समान मात्रा प्राप्त हो जानी चाहिये। वितरण के सिद्धान्त का उद्देश्य मानवीय हित, कल्याण अथवा पूर्णता की अधिकतम वृद्धि है। राशडैल अपने सिद्धान्त को आदर्श उपयोगितावाद मानता है, सुखवाद नही। कभी कभी वह उसे आत्म-पूर्णतावाद (Eudaemonism) कहकर भी पुकारता है।

२. आदर्श उपयोगितावाद की समीक्षा।

आदर्श उपयोगितावाद में सत्य के कुछ तत्व निहित हैं। नैतिक निर्णय मूल्यो के निर्णय होते हैं। वे नैतिक बुद्धि के निर्णय होते हैं। यह सहज ज्ञान द्वारा सर्वोच्च हित की कल्पना कर लेता है। मूल्य एक तर्कयुक्त अथवा बौद्धिक वस्तु है। धर्म, ज्ञान, सौन्दर्य तथा सुख सर्वोच्च हित के अग हैं। धर्म या चरित्रोत्कर्ष सर्वोच्च मूल्य है। यह हमारी नैतिक प्रकृति को सन्तुष्ट करता है तथा ज्ञान हमारी बौद्धिक प्रकृति को। इसी प्रकार सौन्दर्य हमारी सौन्दर्य-प्रिय स्वभाव का, सुख ऐन्द्रिय प्रकृति को संतुष्ट करता है। ये तत्व पूर्णता अथवा मानव-समाज के कल्याण के अग हैं। वे मानवीय प्रकृति के विभिन्न पहलुओ का समाधान करते हैं। अतएव इसका अर्थ यह है कि आत्मप्राप्ति या आत्मपूर्णता ही सर्वोच्च हित है। आत्मप्राप्ति का अर्थ है—आत्मा के सर्वोच्च मूल्यों की सिद्धि। परन्तु राशडैल यह स्वीकार नहीं करता। यदि हम उपयोगितावाद में सन्निहित सभावनाओं को स्पष्ट कर दें तथा उन्हें एक सामजस्यपूर्ण एकता के रूप में सिद्ध कर दें तो छद्मवेश में आत्मपूर्णतावाद ही ठहरेगा। वैसे, राशडैल ने आत्मप्राप्ति के सिद्धान्त का व्यग्य चित्र खीचा है।



अध्याय ११

अपरोक्ष-ज्ञानवाद

१ अदार्शनिक सहज-ज्ञानवाद।

सहज या अपरोक्ष-ज्ञानवाद की परिकल्पना के अनुसार, बिना उद्देश्यों और परिणामो का विचार किये अन्त करण को विशेष कर्मों के सत्—या असत् भाव की सहज उपलब्धि हो जाती है, सिजविक सहज-ज्ञानवाद के इस रूप को अदार्शनिक कहता है। कर्म स्वत अपने स्वभाव के अनुसार सत् वा असत् होते हैं, जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु वे किये जाते हैं उनके कारण नहीं। अन्त करण को बिना लक्ष्यों से उनके सम्बन्धो का विचार किये ही उनके सत् वा असत् होने का अपरोक्ष-ज्ञान हो जाता है। अन्त करण नैतिक शक्ति है। कर्मों का नैतिक गुण, अनुपम और अपूर्व होता है। उसको सत्य, सौंदर्य, प्रेम, अथवा सामाजिक उपयोगिता में परिणत नहीं किया जा सकता। वह मौलिक और अव्युत्पन्न होता है। अन्त करण को उसकी सहज उपलब्धि होती है। यही अदार्शनिक अथवा युक्ति-निरपेक्ष सहज ज्ञानवाद का सिद्धान्त है।

सहज ज्ञानवाद नैतिक निर्णय के लिये कर्मों को अन्त करण के न्यायालय में उपस्थित करता है, जो किसी विरोध या अपील को नही सुनता। अन्त करण सब व्यक्तियो में एक सामान्य शक्ति है। यह अलग अलग व्यक्तियो में स्थित व्यक्तिगत शक्ति नही है। अन्त करण, जो कि नैतिक निर्णय का मानदण्ड है व्यक्ति में स्थित सामान्य अन्त करण, है। अन्त करण व्यक्ति में है, परन्तु यह व्यक्तिगत विशेष शक्ति नही है। यह अवैयक्तिक सामान्य शक्ति है। यह सार्वजनीन सामान्य नैतिक शक्ति है, जो विशेष परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को सत् कर्म तथा असत् कर्म बतलाती है। भिन्न भिन्न अन्त करणो के अनुभव विरोधी नहीं होते।

म्यूरहेड (Muirhead) से अनुसार सहज-ज्ञानवादी परिकल्पनाओ में ये सामान्य तत्व हैं— (१) अन्त करण शुद्ध और मौलिक है, (२) उसके निर्णय अपरोक्ष हैं, (३) वह प्रभुत्वसम्पन्न है, और (४) सामान्य-रूप से सबके अन्दर पाया जाता है। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्वत्र, सब व्यक्तियो में वह समान रूप से विकसित अवस्था में पाया जाता है। बुद्धि के विकास के साथ अन्त करण की सहज उपलब्धि स्पष्ट हो जाती है।

२ अदार्शनिक सहज-ज्ञानवाद की समालोचना।

यदि अकारण कुछ कर्म सत् हैं, कुछ असत्—यह नैतिक शक्ति के आदेश नितान्त स्वच्छन्द हैं और किसी सामान्य या विचारमूलक नियम से नि सृत नही होते तो नैतिक निर्णय स्वच्छन्द मन की चपलता-मात्र रह जाते हैं, जो कि किसी भी कर्त्तव्य के वाह्य मानदण्ड से विश्वास के विरुद्ध है।

यदि अन्त.करण को समस्या की परिस्थितियों के साथ अपना निर्णय परिवर्तित करने वाला माना जाय, और यदि सब व्यक्तियो के अन्त करणों को तुल्य परिस्थितियों में अपने विकास के अनुपात के अनुसार एक ही निर्णय देने वाले माना जाय, तो कर्त्तव्य को वदलने वाली परिस्थितियो को न वदलने वाली परिस्थितियो से विविक्त करने के लिये कोई नियम वा सिद्धान्त मानना पड़ेगा, चाहे वह व्यक्ति की नैतिक चेतना में किसी अमूर्त्त-रूप में कितना ही कम विद्यमान क्यो न हो। इन निर्णयो के विश्लेषण के अन्तर, जिन सामान्य सिद्धान्तो पर वे आधारित हैं उनका अनुसधान सभव होना चाहिये। अदार्शनिक सहज-ज्ञानवाद की प्रवृत्ति दार्शनिक वन जाने की ओर हो जाती है, क्योंकि वह नीति के सामान्य सिद्धान्तो का विचार करने को वाध्य होता है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि अन्त करण विशेष-कर्मों के सत्-या असत् भाव को सहज-रूप से जान जाता है, तथापि हम प्रश्न कर सकते हैं कि हमें अन्धे, विवेकहीन मनोवेगो के ऊपर विश्वास ही क्यो करना चाहिये जो अपनी युक्तियुक्तता का परिचय नही दे सकते। इस प्रकार के नैतिक निर्णयो की सत्ता मान लेने पर भी, उनकी प्रामाणिकता के प्रश्न का उत्तर नही मिलता। यदि यह कहा जाय कि वे नैतिक वुद्धि के निर्णय हैं, तो भी क्या विना उद्देश्यो और परिणामो का विचार किये कर्म में प्रवृत्त होना तर्क-सगत है? तर्क-सगत कर्म वही कहलाता है जो अन्तिम लक्ष्य अथवा उद्देश्य के ज्ञान से युक्त हो और जिसमें उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम उपायो के विचार हो। नैतिक निर्णय, लक्ष्यो और परिणामो के विचार के विना स्वेच्छाचारी, अयौक्तिक और अविश्वसनीय हैं।

जिन नैतिक प्रयत्नों को सहजात, स्वय-सिद्ध और प्रामाणिक माना गया है उनको हम जाति, युग और व्यक्तियो के साथ वदलते हुये पाते हैं। हम माता पिता का सम्मान करते हैं, किन्तु ऐसी भी जातियाँ हो चुकी हैं जिनमें उनका भक्षण एक पवित्र कर्त्तव्य माना जाता था। प्राचीन यूनान में पड़ोसी शहरों से जानवर चुराना अपराध नही समझा जाता था। सहजात-ज्ञानवाद समान कर्मो के ऊपर दिये गये नैतिक निर्णयों के वैषम्य का कारण वतलाने में असमर्थ हैं। मद्यपान युरोप में सत्कर्म माना जाता है, परन्तु भारत में असत्।

यदि कुछ नैतिक निर्णयो को किसी जाति या युग के सभी अथवा अधिकाश लोगों में व्यापक भी पाया जाय, तो भी वे जिन नैतिक नियमो का विधान करते हैं वे यथार्थ परिभाषा के अयोग्य पाये गये हैं। "सभी अथवा प्राय सभी पूर्णतया वर्णित नैतिक नियमो के अपवाद होते हैं।" उदाहरणार्थ, "तुम हिंसा नही करोगे" यह आदेश आत्म-रक्षा, वैध-युद्ध और न्यायाधीश के आदेश के अनुसार फांसी देने में अमान्य है। देखने में स्पष्ट, अन्त करण की सहज स्फूर्तियो को, स्पष्ट-रूप से पूर्वज्ञात अशुभ परिणामो को देखते हुये त्याग देना पडेगा। यथा, कातिल को उसके शिकार के विषय में सब कुछ सच-सच बतला देना स्पष्टत. बुरा है, क्योकि उसका परिणाम घातक होता है।

इस विचारणा से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक नियम का परिणामो से कुछ सम्बन्ध अवश्य-होना चाहिये। हम किसी कर्म को उसके वर्तमान या पूर्वज्ञेय परिणामों से अलग नही कर सकते। "परिणाम जहाँ तक उनका पूर्व-ज्ञान हो सकता है, वस्तुत कर्म के ही भाग है। आप बिना कुछ परिणामो का विचार किये किसी नियम का पालन नही कर सकते।" ❀ आप परोपकार के नियम का पालन बिना यह पूछे नही कर सकते हैं कि सडक पर भिखमगे को दान करने से उसका हित होगा या नही। परन्तु सहज-ज्ञानवाद के अनुसार कर्मों के सद-भाव तथा असद्-भाव परिणामों के विचार से शून्य है। जो कर्म सत् है वह स्वत सत् है—सर्वत्र सत् है, सब अवस्था में सत है, कभी असत् नही हो सकता। जो कर्म असत् है वह स्वत असत् है, कभी सत् नही हो सकता।

जहाँ नैतिक सहज-स्फूर्तिया परस्पर-विरोधी होती हैं, हमें वहाँ उद्देश्यो या परिणामो का विचार करने के लिये बाध्य होना पडता है। विरोधी नैतिक निर्णयो की उपस्थिति में हमें विरोध को दूर करने वाले बुद्धि-सिद्ध उद्देश्य का विचार करना होगा, और मनुष्य जाति के हित के लिये साधक या बाधक परिणामों का भी। इस प्रकार, उद्देश्यों और परिणामों से अनपेक्षित विशेष-कर्मो को सत् वा असत् नही जाना जा सकता।

अन्त में, "सहज-ज्ञानवादी कर्म के ऊपर अन्त प्रज्ञात निर्णय देता है, हमें उद्देश्यो के विषय में अन्त प्रज्ञा होती है, उसकी स्वत प्रज्ञा 'यह सत् है' इस आकार की होती है, हमारी सदैव 'यह शुभ है' इस आकार की।" † अपरोक्ष-ज्ञानवाद 'सत्' को सर्वोच्च नैतिक सज्ञा मानता है। वह बिना किसी अन्य बात का विचार किये कर्म को स्वत सत् मानता है। किन्तु यह अयथार्थ है। 'सत्' 'शुभ' का साधन होता है। जो कुछ भी सत् है, शुभ की प्राप्ति के उपाय होने से सत् है। 'शुभ' ही सर्वोच्च

❀ राशडैल। † राशडैल

नैतिक सज्ञा है। इस प्रकार, अदार्शनिक सहज ज्ञानवाद अन्ध-विश्वासी और विचार-हीन है। वह नीति-विषयक प्रचलित लोकप्रिय विचारो की प्रामाणिकता का अन्ध समर्थन है। 'शुभ' का ज्ञान 'सत्' का ज्ञान का आधार है। परन्तु सहज-ज्ञानवाद विना शुभ का विचार किये सत् कर्म का निर्धारण करता है। यह मत अयौक्तिक है।

युक्ति-निरपेक्ष अथवा अदार्शनिक सहज-ज्ञानवाद अन्तःकरण को ऐन्द्रिय और नैतिक निर्णयो को सहज-ज्ञात और प्रत्यक्षमूलक मानता है।

इस वाद के दो रूप हैं,—(१) नैतिक इन्द्रियवाद और (२) रसेन्द्रियवाद।

३ नैतिक इन्द्रियवाद।

इस वाद के अनुसार हम किसी कर्म के नैतिक गुण को तत्काल अन्त करण अथवा नैतिक इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष जान जाते हैं। किसी कर्म के सत् होने का तुरन्त ही अन्त करण में उत्पन्न अनुमोदन की सुखात्मक भावना के द्वारा प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाता है। एवमेव उसके असत् होने का भी ज्ञान व अनुमोदन की दु खात्मक भावना के द्वारा तुरन्त हो जाता है। कर्मों के सत् और असत्-भाव का उनसे अन्त करण में उद्भूत नैतिक भावनाओ के द्वारा तुरन्त प्रत्यक्ष हो जाता है। अन्त करण आन्तरिक प्रत्यक्ष की शक्ति है, जो कर्मों के नैतिक गुण को तत्क्षण पहिचान जाती है। जिस प्रकार हमें वाह्य वस्तुओ के स्थूल गुणो का स्थूल इन्द्रियो द्वारा तुरन्त ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार आन्तरिक नैतिक इन्द्रिय द्वारा कर्मों के नैतिक गुणो का भी। हमें वाह्य वस्तुओ के स्थूल गुणों का प्रत्यक्ष-ज्ञान मन में उनके द्वारा उत्पन्न सवेदनो से होता है, नैतिक गुणो का ज्ञान भी मन में उत्पन्न नैतिक भावनाओ से होता है। नैतिक निर्णय से पूर्व नैतिक भावनाओ का उदय होता है। नैतिक निर्णय, नैतिक भावनाओ के ऊपर आश्रित है। अनुमोदन का सुखात्मक भाव कर्म के सत् होने का सूचक है, अननुमोदन का दु खात्मक भाव उसके असत् होने का। यही परिकल्पना नैतिक इन्द्रियवाद है।

४ नैतिक इन्द्रियवाद की समीक्षा।

यह वाद अन्त करण को नितान्त अपूर्व मानता है—उसे बौद्धिक और सौन्दर्य-परीक्षात्मक निर्णयो से भिन्न समझता है। उसके अनुसार अन्त करण कर्मो के 'सत्' 'असत्' होने के ज्ञान के लिये एक विशेष-इन्द्रिय है। वह नैतिकता को एक विशेष भावना पर आश्रित करता है। सुखात्मक नैतिक अनुमोदन सत्-कर्मो के ज्ञान से उत्पन्न एक नितान्त अपूर्व भावना है; दु खात्मक नैतिक अननुमोदन असत् कर्मो के ज्ञान से उत्पन्न भावना है।

"यदि नैतिक अनुमोदन एक भावना-मात्र है, तो उसकी दूसरी भावनाओं से उत्कृष्टता कैसे सिद्ध हो सकती है ?" ❀ यदि यह इन्द्रियजन्य भावनाओ से उच्चतर

❀ राशडैल।

प्रकार की एक भावना होने के कारण मानने-योग्य है, तो यह भावना से बड़ी कोई वस्तु है,—इसमें मूल्य-निर्धारक निर्णय या बुद्धि का आदेश गुप्त-रूप से विद्यमान है। "भावना-मात्र मान्य नहीं होती, बल्कि उसका मूल्य-निर्देश करने वाला निर्णय मान्य है।" †

यदि नैतिकता का आधार भावना को माना जाय, तो नैतिक प्रत्यक्ष की सामान्य प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। "असगत अथवा विरोधी भाव, केवल भाव-रूप में उनके लिये जिन्हें उनकी अनुभूति होती है, समान-रूप से यथार्थ और प्रामाणिक हैं।" ‡ अपने नग्न-रूप में भावनायें न तो सत्य हैं, न मिथ्या, किन्तु उनके ऊपर आश्रित निर्णय सत्य या मिथ्या होते हैं। अब, यदि सत्कर्म का अर्थ केवल वह कर्म है जो नैतिक अनुमोदन नामक भावना का उद्रेक करता है, तो इससे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भिन्न भिन्न व्यक्तियो में भिन्न और विरोधी प्रकार के भी कर्म अनुमोदन की भावना को जन्म देते हैं। "वृषभ युद्ध अधिकांश स्पेन-निवासियो में उत्साहवर्धक अनुमोदन की भावना को जन्म देता है और अग्रेजो के हृदय में तीव्र अननुमोदन की।" § विभिन्न व्यक्ति एक ही कर्म के ऊपर विभिन्न नैतिक निर्णय देते हैं। यदि व्यक्ति का अन्तःकरण अभ्रान्त है, तो नैतिक निर्णयो की विविधता कैसे सम्भव है? और यदि एक ही कर्म के ऊपर विविध निर्णय दिये जा सकते हैं, तो नैतिक निर्णयो की प्रामाणिकता कैसे सम्भव हो सकती है? यदि नैतिक निर्णयो की प्रामाणिकता होती है, तो उनका आधार अनुमोदन या अननुमोदन की भावना नहीं हो सकता। उनका आधार बुद्धि के द्वारा नैतिक मूल्यांकन है। नैतिक ज्ञान में नैतिक निर्णय निहित होता है। नैतिक निर्णय आत्मा के उद्देश्य अथवा कल्याण की तुलना में अन्तःकरण अथवा नैतिक बुद्धि द्वारा दिये जाते हैं। अतः नैतिकता भावना-मात्र पर आश्रित नहीं हो सकती। पुनः, 'सत्' 'शुभ' का साधन है। बुद्धि हमें उस 'शुभ' के विचार को देती है जो आत्मा के सभी तत्वों की तृप्ति करता है।

नैतिक निर्णय, नैतिक भावनाओं पर आश्रित नहीं हो सकते। नैतिक भावनायें आत्मगत और परिवर्तनशील अनुभूति-मात्र हैं। वे सभी मानसिक प्रक्रियाओं में सबसे अधिक अविश्वसनीय होते हैं। अतः उनको नैतिक निर्णयो का आधार नहीं बनाया जा सकता, जो अपेक्षाकृत समरूप होते हैं। नैतिक निर्णय बुद्धि का निर्णय है। अभ्रान्त नैतिक भावना बौद्धिक नैतिक निर्णय पर आश्रित है।

पुनः नैतिक भावनायें नैतिक निर्णयो के द्वारा परिमार्जित की जा सकती हैं। अतः वे उनके आधार नहीं बन सकते। नैतिक इन्द्रियवाद नैतिक निर्णयो में दोष-दर्शन के विरुद्ध है। अन्तःकरण का नैतिक निर्णय सदैव अभ्रान्त है। यह कभी दोषयुक्त

---

† राशडैल। ‡ राशडैल। § राशडैल।

नहीं हो सकता। तो दोष-दर्शन कैसे होगा ?

नैतिक इन्द्रियवाद कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक वाध्यता की भावना की पर्याप्ति व्याख्या नही कर सकता। यह तथ्य मात्र कि कोई कर्म हमारे मन में अनुमोदन की भावना को जन्म देता है इसका कारण नही वतलाता कि हमें उसे करने के लिये क्यो वाध्या होना चाहिये। भावना-मात्र सदा विचारहीन तथा अन्धी होती है; वह किसी को कुछ करने को वाध्य नही करती। अनभूति से नैतिक वाध्यता उत्पन्न नही हो सकती।

यह वाद पश्चात्ताप और चरित्र-परिवर्तन की व्याख्या नही कर सकता, जो विचार-जन्य-विश्वास के द्वारा आत्मा में उत्पन्न परिवर्तन को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार नैतिक इन्द्रियवाद युक्तियुक्त नहीं है। पूर्वकृत असत् कर्म के तीव्र ज्ञान से पश्चात्ताप होता है। उच्चतर आदर्श के तीव्र ज्ञान तथा महत्तर जीवन-यापन की प्रवल आकांक्षा से चरित्र का परिवर्तन होता है।

५ रसेन्द्रियवाद।

रसेन्द्रियवाद के अनुमार सौन्दर्य नैतिकता का अन्तिम मानदण्ड है। यह 'सत्' को सुन्दर में, और 'असत्' को असुन्दर में परिणत कर देता है। इन नैतिक गुणो का अपरोक्ष-ज्ञान सौन्दर्य-परीक्षक रसेन्द्रिय से होता हैं। शेफ्ट्सवरी (shaftesbury) हचीसन (Hutcheson), हर्बर्ट (Herbart), रस्किन (Ruskin) और कई अन्य पण्डित इस मत के समर्थक हैं। 'जो सुन्दर है, वही समरस और सानुपात हैं, जो समरस और सानुपात है, वही सत्य है, और जो सुन्दर और सत्य है, वही प्रिय और शुभ है।" "सुन्दर और शिव तुल्य और अभिन्न हैं।" ❀ हचीसन भी "कर्मों के सौन्दर्य-असौन्दर्य" के विषय में कहता है। इसी प्रकार रस्किन कहता है. "रस नैतिकता का सूचक-मात्र नही है; रस ही एकमात्र नैतिकता है। मुझे वतला दीजिये कि आपकी रुचि क्या है, और मैं वतला दूंगा कि आप क्या हैं।" हर्बर्ट भी शुभ और सुन्दर की अभिन्नता के ऊपर अत्यधिक वल देता है। नैतिक शक्ति या अन्त करण रसेन्द्रिय है जो कर्मो की सुन्दरता और कुरूपता की सहजोपलब्धि करता है। नैतिक मूल्यांकन सौन्दर्यानुभूति है। अन्त करण रसेन्द्रिय है। यह सौन्दर्य तथा कुरूपता की सहज उपलब्धि करता हैं। सौन्दर्य सत्-भाव है। कुरूपता असद्-भाव है। अन्त करण रसवोध-शक्ति है। इसको सुन्दर असुन्दर की सहज अनुभूति होती है।

सौन्दर्य-रस अनुभूति की वस्तु है। कुछ लोगो की सौन्दर्य-रुचि अच्छी होती है, कुछो की दोपयुक्त। विभिन्न लोगो की सौन्दर्य-रुचि विभिन्न होती है। अत शेफ्ट्सवरी

❀ शेफ्ट्सवरी

श्रौर हचीसन रसेन्द्रिय को नीति का पर्याप्त श्राधार नही मानते । ये दोनो मनुष्य की सामाजिकता को नैतिकता का श्राधार बनाते हैं । उनका विचार है कि जिसका परिमार्जित नैतिक रुचि श्रनुमोदन करती है वह सम्पूर्ण मानव-समाज का हित है, वह बहुसख्यक को श्रधिकतम-सुख देने वाला है ।

६ रसेन्द्रियवाद की समालोचना ।

रसात्मक श्रौर नैतिक भावनायें निरपेक्ष श्रौर प्रिय होती है । हम सुन्दर श्रौर शुभ से प्रेम उन्हीं के लिये करते हैं । तथापि सत् श्रौर शुभ, सुन्दर से श्रभिन्न नहीं हो सकते । "सौन्दर्य हमें मुग्ध कर सकता है किन्तु श्राज्ञा नही दे सकता ।" यह हमें उसकी प्रशसा के लिये बाध्य नही कर सकता । नैतिक चेतना का श्रावश्यक तत्व नैतिक बाध्यता है । उसी का सौन्दर्य की रसात्मक भावना में श्रभाव है । पुन, कर्त्तव्य-पालन में विद्रोही इच्छा का दमन श्रौर प्रलोभन के ऊपर विजय पाने के लिये दुख का समावेश होता है । किन्तु, सौन्दर्य की प्रशसा प्रिय होती है, श्रौर उसमें दुख का समावेश नहीं होता ।

सौंदर्य का मूल्याकन मौलिक रूप से श्रात्मगत श्रौर परिवर्तनशील भावना पर आश्रित होता है । श्रत वह समरूप नही होता । किन्तु, नैतिक मानदण्ड श्रपेक्षाकृत समरूप श्रौर श्रपरिवर्त्तनीय होता है । श्रत सौन्दर्य का शुभ से श्रभेद नहीं है ।

जो रसात्मक-भावना का उद्रेक कर सकता है उससे नैतिक भावना का उद्रेक होना श्रावश्यक नही है । समरसता श्रौर श्रनुपात रसात्मक भावना को उद्भूत कर सकते है । श्रत सौन्दर्य श्रौर शील एक ही नही हो सकते ।

सौन्दर्य का मगल से श्रभेद नही है । सुन्दर श्रनिवार्यतः सत् नहीं । श्रश्लील गाने, श्रशिष्ट नृत्य, भद्दी तस्वीरें, श्रौर श्रनैतिक नाटक सुन्दर हो सकते हैं; किन्तु उनका नैतिक श्रौचित्य नहीं है । जो कुछ सुन्दर है वह सत् नही हैं । जो कुछ श्रसुन्दर है वह श्रसत् नहीं है ।

नैतिक श्रनुभव में कुछ विशिष्टतायें होती हैं जिनका सौन्दर्य के श्रनुभव में श्रभाव होता है, यथा, श्रनुमोदन-श्रननुमोदन के भाव, पाप पुण्य का ज्ञान, प्रभृति । वस्तुश्रो के सौन्दर्य को समझने श्रथवा न समझने के लिये हम किसी व्यक्ति को पुण्य श्रथवा पाप का भागी नहीं मान सकते । किसी सुन्दर वस्तु की सुन्दरता की प्रशसा करने में श्रसफल होने के कारण हमको श्रनुताप नहीं होता । उस श्रवस्था में हमें श्रननुमोदन की श्रनुभूति भी नहीं होती । कोई व्यक्ति जिसमें सौन्दर्य-बुद्धि नहीं हैं या बहुत कम है, समाज का सम्माननीय सदस्य या सज्जन हो सकता है । किन्तु नैतिक बुद्धिहीन व्यक्ति की सभी नैतिक बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति निन्दा करते हैं । श्रत सौन्दर्य श्रौर शुभ एक ही वस्तु नहीं है । रसबोध मानव-प्रकृति का श्रावश्यक तत्व नही है ।

नैतिक निर्णय इसका आवश्यक तत्व है।

नैतिक वुद्धि को सौन्दर्य-वुद्धि में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, क्योकि उस दशा में एक की प्रभुत्वसपन्नता का दूसरे में अभाव मिलेगा। कर्त्तव्य स्वाद की वस्तु नही हो सकता। शेफ्टसबरी और हचीसन सौंदर्य वुद्धि के इस दोष से अभिज्ञ थे। इसीलिये, उन्होने सामान्य-हित अथवा अधिकाश का अधिकतम-सुख का आश्रय लिया। उन्होंने सौदर्यवाद का परसुखवाद से योग किया। अत उनका सिद्धान्त परसुखवाद के सब दोषो से युक्त है।

सौंदर्य-परीक्षक निर्णय और नैतिक निर्णय मूल्य-सूचक निर्णय हैं। दोनो का वस्तुओं से सम्बन्ध है। सौंदर्य-असौंदर्य बाह्य-वस्तुओं और व्यक्ति के कर्मों में होते हैं, सत्-असत् की सत्ता व्यक्ति के ऐच्छिक कर्मों में होती है। किन्तु सौंदर्य-परीक्षक निर्णय, नैतिक-निर्णयो की अपेक्षा अधिक आत्मगत होते हैं। इसका कारण यह है कि उनका व्यक्तियो के शारीरिक सगठन की परिवर्तनशीलता के साथ अपेक्षाकृत अधिक सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, मनुष्य के लिये हरे-रग की शीतलता का कारण मनुष्य की आँखो और नाडियो पर उसका विशिष्ट प्रभाव तथा प्रकृति में उसका बाहुल्य है, जबकि लाल रग की अरुचिकरता का कारण उसका कम पाया जाना है। सौंदर्य-परीक्षक निर्णयो का सवेदनों से घनिष्ट सम्बन्ध है। ये अधिकतया आत्मगत तथा परिवर्तनशील है। नैतिक निर्णय अधिकतया विषयगत तथा परिवर्तनहीन हैं।

नैतिक निर्णय मानव-व्यवहार के सभी पक्षो पर दिये जाते हैं। उनका क्षेत्र सबको समाविष्ट करता है। "मानव जीवन का कोई भी क्षेत्र, मानव-अनुभव का कोई भी रूप ऐसा नही है जिसके ऊपर नैतिक वुद्धि अपना निर्णय न दे।"* किन्तु सौंदर्य-विषयक निर्णय मानव-व्यापारो के केवल एक अश से ही सम्बन्धित है। वे प्राकृतिक वस्तुओ और मनुष्यो के कार्यो की सुन्दरता या कुरूपता के मूल्यांकन तक ही सीमित हैं। नैतिक निर्णयो का स्थान उनसे उच्च है। नैतिक निर्णय कलाकृति के ऊपर भी दिये जाते है। कला को नैतिकता की सात्रक होना चाहिये। सामाजिक कर्त्तव्य के लिये कला के हित को भी छोड देना पडता है। कुछ नाटक होते हैं जिनमें सौंदर्य की दृष्टि से मूल्य होता है। किन्तु, वे अनैतिक होते हैं और लोक-नीति का विचार करके सरकार उन पर प्रतिवन्ध लगा देती है। किस प्रकार की कला का सृजन शुभ है? स्वस्थ नैतिक भावनाओ की वृद्धि के लिये किस सीमा तक सौंदर्य-वुद्धि की तृप्ति के ऊपर सयम होना चाहियें? ये नैतिक समस्यायें हैं। अत नीति कला से उच्चतर है। वह अन्तिम लक्ष्यो से सम्बन्ध रखती है। सच्चे अन्तिम ध्येय की विरोधी कलाप्रियता कभी भी उचित नही हो सकती।

---

* राशडेल

नैतिक निर्णय और सौंदर्य-विषयक निर्णय में क्या सम्बन्ध है ? सौंदर्य-विषयक निर्णय निर्देश करता है कि 'यह सुन्दर है।' नैतिक निर्णय हमें बताता है कि 'यह विशेष प्रकार का सौंदर्य प्रकृत्या मूल्यवान् है, अत उसका अनुसरण होना चाहिये।' सौंदर्य-विषयक निर्णय सौंदर्य के विशेष-प्रकार से सबन्धित हैं। नैतिक निर्णय आत्मा के हित के लिये उसके प्रकृत मूल्य से सम्बन्धित है। उसका सम्बन्ध है सुन्दरता के विशेष-प्रकार के नैतिक मूल्याकन से।

जब सौंदर्य और नीति-विषयक निर्णयों में विरोध होता है तो सौंदर्य-विषयक निर्णयों को अप्रामाणिक हो जाना चाहिये। सौंदर्य मानव-स्वभाव के केवल एक अश को ही तृप्त करता है। नैतिकता सम्पूर्ण मानव-स्वभाव को तृप्त करती है। जो सौंदर्य-परीक्षा के उपरान्त अच्छा ठहरता है लेकिन नैतिक दृष्टि से बुरा है, यह मानव-प्रकृति के अश मात्र को सतोष देता है, जिसे सम्पूर्ण मानव-स्वभाव के आदर्श से विविक्त करके हम अच्छा समझते हैं। किन्तु, जब हम उसकी अपने सम्पूर्ण हित से तुलना करते हैं, तो हम उसका अनुमोदन करने में असमर्थ होते हैं और उसे अशुभ घोषित करते हैं। अनैतिक सौंदर्योपभोग अनुचित हैं, क्योकि वे आत्मा के हित की दृष्टि से घातक हैं। अत नैतिक बुद्धि सौंदर्य-बुद्धि नही, तथा नीति कला नही है। सौंदर्यवाद नीति को रस की वस्तु बना देता है और उसकी वस्तुगतता और व्यापकता को छीन लेता है।

७ मार्टिन्यू (Martineau) का सहज-ज्ञानवाद तथा कर्म की प्रेरणायों का मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण।

मार्टिन्यू का सिद्धान्त बहुत कुछ सीमा तक नैतिक इन्द्रियवाद के समान है। सर्वप्रथम वह कर्म की प्रेरणाओ का एक मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण देता है। तत्पश्चात् वह कर्म की प्रेरणाओ का एक नैतिक वर्गीकरण प्रस्तुत करता है जिससे कि किसी की सत्-असत् प्रकृति का निर्णय हो सकता है।

मार्टिन्यू कर्म की प्रेरणाओं को प्रयोजन कहता है। वह उन्हें कर्म की प्रेरणायें मानता है। पहले वह प्राथमिक एव गौण प्रेरणाओं के मध्य अन्तर का स्पष्टीकरण करता है। प्राथमिक कर्म-प्रेरणायें वे प्रवृत्तियां हैं जिनका जन्म स्वाभाविक सहज-प्रवृत्तियों में से होता है तथा जो विचार के बिना ही उनके लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाने की प्रेरणा देती हैं। गौण कर्म-प्रेरणायें वे प्रवृत्तिया हैं जो मूलत स्वाभाविक वृत्तियो में से उदय होती हैं परन्तु उनमें विचार तथा अनुभव के आधार पर परिष्कार हो जाता है। वे अपने उद्देश्यो द्वारा प्राप्त होने वाले सुख के हेतु उनकी प्राप्ति के लिये हमें प्रेरित करती हैं। प्रारम्भिक कर्म-प्रेरणाओं में उद्देश्य का विचार अथवा उसका पूर्व-चिन्तन नहीं होता। गौण कर्म,

प्रेरणाओ में किसी भावना का तुष्टीकरण करने वाले किसी उद्देश्य का पूर्व-चिन्तन तथा विचार रहता है। जब कोई व्यक्ति बल की प्राप्ति के लिये भूख की सहज प्रवृत्ति से भोजन करने की प्रेरणा पाता है तो उसे प्राथमिक कर्म प्रेरणा हुई मानी जायेगी। परन्तु भूख की तृप्ति के उपरान्त जब वह जिह्वा के सुख के लिये किसी विशेष प्रकार का भोजन खाता है तो उसकी कर्म-प्रेरणा गौण मानी जायेगी, अर्थात् उसकी सहज-भूख कृत्रिम भूख में परिवर्तित हो गई है।

१ प्राथमिक कर्म-प्रेरणायें निम्न चार प्रकार की होती हैं—

(१) प्राथमिक प्रवृत्तिया—ये आत्म-सरक्षण व प्रजाति की अभिवृद्धि के निमित्त स्वाभाविक प्रवृत्तियो द्वारा समुत्पन्न प्रेरणायें होती हैं। इनमें (अ) जैविक पशुवृत्तियो, जैसे भूख, प्यास व यौनिक प्रवृत्तियाँ, तथा (ब) पाशविक सक्रियता अर्थात् परिश्रम के उपरान्त शारीरिक व्यायाम की सहज प्रवृत्ति का समावेश होता है। आकर्षक तथा प्रिय पदार्थ इन प्रवृत्तियो को मनुष्य के भीतर जाग्रत करते हैं।

(२) प्राथमिक विकर्षण—इनका जन्म दु खद एव अरुचिकर पदार्थो द्वारा होता है। ये घृणाओ जैसे होते हैं। ये हानिप्रद वस्तुओ को दूर हटाते हैं अथवा हमें उनसे पीछे हटा लेते हैं। इनके भीतर (अ) किसी वर्तमान हानिकारक पदार्थ के प्रति स्वाभाविक विकर्षण अथवा घृणा की भावना, (ब) जिन वस्तुओ ने हमें हानि पहुंचाई है उनकी ओर क्रोध अथवा प्राकृतिक विरोध, तथा (स) भविष्य में हमारे सन्मुख सकट उपस्थित करने की सभावना वाले पदार्थों के प्रति भ्रम अथवा स्वाभाविक विरक्ति का समावेश होता है।

(३) प्राथमिक आकर्षण—हमें हमारी प्रजाति की स्मृति दिलाने अन्य व्यक्तियो अथवा पशुओ के प्रति स्वाभाविक आकर्षणो को प्राथमिक आकर्षण कहते हैं। ये हमारे सरीखे व्यक्तियो के लिये स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। वे कभी कभी ऐसे पशुओ के प्रति भी जाग्रत हो जाते हैं जो अर्द्ध-वैयक्तिक अथवा हमारी प्रजाति के सन्निकट माने जाते हैं। इनमें भावनाओ का आदान प्रदान पाया जाता है। इनमें, (अ) माता पिता के हृदय में सन्तान के प्रति होने वाला सहज वात्सल्य; (ब) अपने निकट से सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों के सामाजिक स्नेह अथवा सहानुभूति, तथा (स) दुखियो के प्रति स्नेह अथवा सहानुभूति के भावो का समावेश होता है।

(४) प्राथमिक भावनायें—ये सत्य-शिव-सुन्दर के प्रति उत्पन्न होने वाली सहज उत्कठायें हैं। इनमें (अ) घटनाओ के कारण तथा उनकी प्रकृति का ज्ञान प्राप्ति करने की सहजवृत्ति अथवा बौद्धिक भावना अर्थात् आश्चर्य; (ब) सौन्दर्य की प्रशसा, तथा उसके उपभोग की सहजवृत्ति अथवा सौन्दर्य-विषयक भावना अर्थात् प्रशसा; तथा (स) बुद्धियुक्त प्राणियों के चरित्र की श्रेष्टताओं अथवा नैतिक आदर्श

के माम की प्रवृत्ति अथवा नैतिक भावना अर्थात् श्रद्धा का समावेश होता है। यह हमारे पूर्णता प्राप्त करने के प्रयास के मूल में सन्निहित हैं।

२　इनकी गौण कर्म-प्रेरणायें इस प्रकार होती हैं—

(१) गौण प्रवृत्तियाँ— ये अनुभव और सम्पर्क के द्वारा प्राथमिक प्रवृत्तियो के परिवर्तन से उत्पन्न होती है। इनमें, (अ) स्वादप्रियता अर्थात् भूख के अभाव में भी जिह्वा के सुख के लिये सुस्वादु भोजन करने की प्रवृत्ति, (ब) कामुकता, अर्थात् यौनिक प्रवृत्तियो से प्रेरित न होने पर भी ऐन्द्रिय सुख के लिये प्रयत्नशील होना, (स) विनोदप्रियता अर्थात् पाशविक सक्रियता से प्रेरित न होने पर भी क्रीडा अथवा व्यायाम में सलग्न होना, (द) विश्राम की इच्छा, (प) सत्ता का मोह, (फ) धन का लोभ आदि का समावेश होता है। धन और सत्ता की प्राप्ति का उद्देश्य आरम्भ में सुख होता है परन्तु धीरे धीरे हितो को परिवर्तनशीलता के नियम के अनुसार वे स्वय ध्येय बन जाते है। स्वादप्रियता भोजन प्राप्ति की प्रवृत्ति का परिवर्तित स्वरूप है, कामुकता यौनिक प्रवृत्ति का, तथा विनोदप्रियता पाशविक सक्रियता का।

(२) गौण विकर्षण—ये स्वाभाविक नही वरन् ज्ञान तथा अनुभव के द्वारा विकसित अरुचियाँ होती हैं। ये अनुभव तथा ज्ञान के द्वारा प्रवृत्तिमूलक विकर्षणो के परिवर्तित स्वरूप है। इनमें, (अ) दुर्भावना अथवा दोषदृष्टि अर्थात् दूसरों के दोष खोजने की प्रवृत्ति, (ब) विद्वेष अथवा परिशोधात्मक प्रवृत्ति अर्थात् हानि पहुचाने वाले व्यक्तियो के प्रति क्रोध का पोषण करना तथा उन्हें हानि पहुचाना, (स) शकाशीलता अथवा अविश्वास अर्थात् दूसरो पर शका करना तथा उनकी ओर से सकट की अपेक्षा करना, आदि का समावेश होता है। दुर्भावना घृणा का परिवर्तित स्वरूप है, विद्वेष क्रोध का तथा शकाशीलता भय का।

(३) गौण आकर्षण अथवा भावुकता—वे स्वाभाविक अथवा प्राथमिक आकर्षणो के विकृत स्वरूप हैं। जब हम सन्तान, सहकर्मियो, मित्रो तथा दुखियो के प्रति उनके हित की दृष्टि से नही वरन् उनसे मिलने वाले सुख के कारण स्नेह करने लगते है तो वे हमारे गौण आकर्षण बन जाते हैं। इनमें, (अ) बच्चो के साथ आत्म-विषयक क्रीडाशीलता, (ब) सामाजिक सम्मिलन के सुख का मोह, (स) दया उभाडना और दर्शाना का समावेश होता है। ये वात्सल्य, सामाजिक स्नेह, तथा दया की प्राथमिक आकर्षणो के विकृत स्वरूप हैं। ये प्राथमिक आकर्षण भावुकता के रूप में विकृत हो जाते हैं।

(४) गौण भावनायें—जब हम सत्य, शिवं, सुन्दर के आदर्शों की साधना उनके निमित्त न करके उनसे प्राप्त होने वाले सुख के निमित्त करते है तो हम गौण भावनाओं से प्रेरित होते है। इनमें, (अ) आत्म-शिक्षण का लोभ अर्थात् बौद्धिक

साधना से प्राप्त होने वाले सुख के निमित्त ज्ञान अथवा सत्य की आराधना, (ब) कलाप्रियता अथवा सौन्दर्य-परायणता अथवा अपने ऐन्द्रिक सुख की प्राप्ति के लिए सुन्दर पदार्थों की प्राप्ति का प्रयास, तथा (स) नैतिकता व धर्म में अभिरुचि अथवा नैतिक तथा धार्मिक चर्चाओ में उनसे प्राप्त होने वाले सुख के कारण रुचि, का समावेश होता है। आत्मशिक्षण का लोभ प्राथमिक बौद्धिक भावना अर्थात् आश्चर्य अथवा जिज्ञासा का परिवर्तित रूप है, कलाप्रियता, प्रशसा अथवा सौन्दर्यप्रियता का, तथा धर्म और नैतिकता में अभिरुचि प्राथमिक नैतिक भावना अर्थात् श्रद्धा का परिवर्द्धित स्वरूप है। सयुक्त कर्म प्रेरणायें सपर्क के नियमो के अनुसार प्राथमिक व गौण कर्म प्रेरणाओं के सयोग से उत्पन्न होती हैं।

८. मार्टिन्यू के कर्म-प्रेरणाओं के मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण की आलोचना।

मार्टिन्यू विविध कर्म-प्रेरणाओ की व्याख्या में अत्यधिक मनोवैज्ञानिक कुशलता का प्रदर्शन करता है। परन्तु उसकी योजना विस्तृत तथा विशद् नही है। उसने प्राथमिक आकर्षणो की सूची में माता पिता के प्रति सतति के प्रेम, भ्रातृप्रेम तथा दाम्पत्य प्रेम का उल्लेख नही किया है। उसने दूरदर्शी तथा बुद्धियुक्त अथवा नैतिक प्रवृत्तियो का उल्लेख भी नही किया। दूरदर्शिता का उद्देश्य उपभोग तथा आत्मवृद्धि होता है। विवेक अथवा अन्त करण आत्म-नियन्त्रण अथवा आत्म-बलिदान की माग करता है। दूरदर्शिता की वृत्ति नैतिक मूल्यों की अवगणना करके सुखप्रद अथवा लाभ-दायक की खोज किया करती है। बौद्धिक अथवा नैतिक प्रवृत्ति हानि लाभ की चिन्ता किये बिना सत् का अन्वेषण करती है। मार्टिन्यू क्रोध तथा भय को प्राथमिक प्रवृत्तियां मानता है, परन्तु अब उन्हें प्राथमिक सवेग माना जाता है। क्रोध का उदय युद्धकारी प्रवृत्ति में से होता है तथा भय का जन्म पलायन-प्रवृत्ति में से। मार्टिन्यू भावनाओ को सक्रिय प्रेरणायें मानता है। परन्तु आधुनिक काल में उन्हें शान्त-प्रकृति माना जाने लगा है। वे सत्य शिव-सुन्दर के चिन्तन से उत्पन्न होती हैं। वे प्रेरणाओ को जन्म देती हैं परन्तु स्वय सक्रिय प्रेरणायें नही हैं। आवश्यकता की भावना में से उदय होने वाली कार्य करने को प्रवृत्ति की प्रेरणा कहते हैं। प्रेरणा का जन्म संवेग तथा भावना के सयोग से होता है। मार्टिन्यू कर्म-प्रेरणाओ को प्रयोजन कहता है। परन्तु प्रयोजन कोई सवेदना, सवेग अथवा भावना नही होता यह तो वह लक्ष्य-पदार्थ है जो हमें कार्य करने की प्रेरणा देता है। भय तथा क्रोध सरीखी अधी सवेदनायें कार्य की प्रेरणा नहीं दे सकती। कर्म की प्रेरणा हमें लक्ष्य के चिन्तन से प्राप्त होती है। मार्टिन्यू की कर्म-प्रेरणा-सूची का आधार आंगिक-मनोविज्ञान है जो अब मान्य नहीं रहा। आधुनिक मनोविज्ञान मानवीय मस्तिष्क को परस्पर निर्भर कृतियो की एक जैविक एकता मानता है। मस्तिष्क के भीतर पृथक् तथा स्वतन्त्र शक्तियां नहीं होतीं जैसी कि मार्टिन्यू की

सूची में दिखाई देती हैं। मार्टिन्यू के वर्गीकरण में पर्याप्त गुण है परन्तु यह मनोविज्ञान की प्राचीन गलत धारणा पर आधारित है यही इसका दोष है।

६. मार्टिन्यू कर्म-प्रेरणाओं का नैतिक वर्गीकरण—

मार्टिन्यू नैतिक मूल्य की दृष्टि से निम्नतम से उच्चतम कर्म-प्रेरणाओं की निम्न सूची देता है—

निम्नतम

१. गौण विकर्षण—अविश्वास, द्वेष, शंकाशीलता।

२. गौण जैविक प्रवृत्तियाँ—आराम का प्रेम और ऐन्द्रिक सुख।

३. प्राथमिक जैविक प्रवृत्तिया—भोजन तथा यौनिक उपभोग की पशु प्रवृत्तियाँ।

४. प्राथमिक पाशविक वृत्तियाँ—अनियन्त्रित सक्रियता।

५. लाभ का लोभ—(पशु प्रवृत्ति की उपज)

६ गौण आकर्षण—(सहानुभूतिमूलक-सवेदनाओं की भावनात्मक वृत्ति)

७. प्राथमिक विकर्षण—घृणा, भय, क्रोध।

८ गौण पाशविक प्रवृत्तियाँ—सत्ता का मोह अथवा महत्वाकांक्षा, स्वतन्त्रता का प्रेम।

९ गौण अभिभावनायें—सस्कृति प्रेम।

१० प्राथमिक भावनायें—आश्चर्य तथा प्रशसा।

११ प्राथमिक आकर्षण—वात्सल्य, सामाजिक मैत्री, उदारता, कृतज्ञता।

१२ दया का प्राथमिक आकर्षण।

१३ श्रद्धा की प्राथमिक भावना।

उच्चतम

"कर्म-प्रेरणाओं के नैतिक मूल्य की एक निश्चित तथा अपरिवर्तनीय व्यवस्था होती है तथा उनमें मूल्य की दृष्टि से एक उत्तरोत्तर क्रम होता है, जिसमें एक कर्म-प्रेरणा नैतिक मूल्य के माप में दूसरे से उच्च होती है। क्रम में सबसे नीचे गौण विकर्षण अथवा अर्जित विकर्षण तथा शीर्ष पर नैतिक भावना अथवा श्रद्धा।" (मार्टिन्यू)। गौण विकर्षण अथवा द्वेषयुक्त प्रेरणायें इस मानदण्ड में निम्नतम मानी गई हैं, वस्तुत वे दुर्गुणों से अकारण ही प्रेम करने की वृत्तियाँ हैं। गौण जैविक प्रवृत्तियाँ अथवा अर्जित प्रवृत्तियाँ प्राप्त होने वाले सुख के निमित्त यथा—खाना, पीना, विश्रामप्रियता आदि गौण विकर्षणों की अपेक्षा उच्च हैं। प्राथमिक जैविक प्रवृत्तियाँ अथवा भोजन, तथा पेय व यौनिक तृप्ति की स्वाभाविक पशु-प्रवृत्तियाँ गौण जैविक प्रवृत्तियों की अपेक्षा उच्च हैं क्योंकि वे आत्मसरक्षण तथा प्रजाति-

सरक्षण के लिये आवश्यक हैं। पाशविक सक्रियता अथवा शारीरिक व्यायाम (श्रम) की प्राथमिक जैविक प्रवृत्ति स्वाभाविक जैविक पशु-प्रवृत्तियो की अपेक्षा उच्च है। इनसे उच्च लाभ का लोभ है क्योकि इसमें मानसिक क्रिया होती है तथा धन परोपकार का साधन है। गौण आकर्षण अथवा भावनात्मक सहानुभूतिपूर्ण सवेदनायें इनसे उच्च होती हैं क्योकि उनमें नि स्वार्थ भाव होता है। प्राथमिक विकर्षण इनसे उच्च होते हैं क्योकि वे वर्तमान, भूत अथवा भविष्य की बुराइयो के प्रति स्वाभाविक विकर्षण होते हैं। इनसे भी उच्च सत्ता का प्रेम अथवा महत्वाकाँक्षा तथा स्वतन्त्रता प्रेम होता है क्योकि उनमें आत्मनियत्रण, दूरदर्शिता, बुद्धिमता और आत्म-त्याग निहित होता है। इनसे भी उच्च गौण भावनायें होती हैं, यथा—सस्कृति, प्रेम अथवा बौद्धिक व्यायाम के प्रति आकर्षण, उनमें बुद्धि की उच्च शक्ति का प्रयोग निहित रहता है। इनसे उच्च आश्चर्य एव प्रशसा की प्राथमिक भावनायें होती हैं क्योकि उनका उद्देश्य सत्य एव सौन्दर्य की आराधना होता है। इनसे उच्च प्राथमिक आकर्षण होते हैं, यथा—वात्सल्य तथा सामाजिक मैत्री। इनसे भी उच्च दुखियो के प्रति दया का प्राथमिक आकर्षण होता है। दीन-दया मे भी उच्च शुभ के प्रति श्रद्धा की प्राथमिक भावना होती है। श्रद्धा शीर्ष पर है; गौण विकर्षण तली में है।

मार्टिन्यू का मत है कि "सयुक्त प्रेरणाओ के नैतिक मूल्य एव पद का आधार उनके निर्माण के तत्व ही होते हैं तथा वह मूल्य उन तत्वो के सम्मिलित मूल्यो के समानुपात में होते हैं।" (टाइप्स आफ एथिकल थौरी, खड, पृ० २३५)

मार्टिन्यू के मतानुसार नैतिक गुण केवल ऐच्छिक कार्यों में ही होता है। प्रत्येक ऐच्छिक कर्म में 'प्रयोजनो' अथवा प्रेरणाओं का सघर्ष सन्निहित होता है। सघर्ष की अवस्था में अन्त करण सहज ज्ञान द्वारा एक प्रेरणा को उच्च और दूसरी को निम्न मान लेता है। हमारा कर्तव्य यह है कि हम उच्चतर को स्वीकार कर लें तथा निम्नतर को अस्वीकार कर दें। "प्रत्येक वह कर्म 'सत' है जो किसी निम्नतर सिद्धान्त के रहते हुए भी उच्चतर का अनुसरण करता है। प्रत्येक वह कर्म 'असत्' है जो किसी उच्चतर सिद्धान्त की उपस्थिति में भी निम्नतर का अनुसरण करता है।" (पूर्व पुस्तक पृ २७०)। यदि प्रेरणाओ में सघर्ष न हो तो अन्त करण उनके नैतिक मूल्य का अकन नही कर सकता। "उनका नैतिक मूल्यांकन उनके एक साथ उपस्थित होने का सहज परिणाम होता है।" मार्टिन्यू का विचार है कि प्रेरणाओ के नैतिक मूल्य विविध श्रेणियों के होते हैं। यदि हम नैतिक मानदण्ड की दृष्टि से उच्च प्रेरणा की अपेक्षा निम्न प्रेरणा को अपनाते है तो हमारा कर्म 'असत्' है। परन्तु यदि हम उसी प्रेरणा को किसी अन्य निम्नतर प्रेरणा की अपेक्षा चुन लेते हैं तो हमारा कर्म 'सत्' होता है। कर्म के स्रोत अथवा प्रेरणाए नैतिक पद के एक उत्तरोतर क्रम में

व्यवस्थित होती है। "उनमें से प्रत्येक अपने से निम्न व उच्च के मध्य होती है। निम्न की तुलना में वह सत् तथा उच्च की तुलना में असत् होती है तथा अपने विकल्प के प्रसग के बिना उस पर कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता।" (मार्टिन्यू)। इस प्रकार किसी कर्म का सत्-असत् निर्णय नैतिक मानदण्ड में उस प्रेरणा की स्थिति पर निर्भर है जिसे कि यह विकल्प प्रेरणा की तुलना में चुन लेता है। क्या क्रुद्ध होना सत् है? क्रोध का सघर्ष किस प्रेरणा से हुआ है? मान लीजिये कि उसका सघर्ष गौण सामाजिक आकर्षण अर्थात् एक दूषित चरित्र वाले व्यक्ति के साथ सामाजिक सुख प्राप्त करने की प्रेरणा के साथ हुआ है, तो क्रुद्ध होने का कर्म सत् है। निम्नकोटि के ससर्गों से प्राप्त होने वाले सुख के निमित्त क्रोध का दमन करना असत् कर्म है। मान लीजिये क्रोध का सघर्ष उस दयालुता के साथ होता है जो पश्चात्ताप करने वाले अपराधी को देखकर जाग्रत होती है तो ऐसी स्थिति में क्रुद्ध होना असत् है।

मार्टिन्यू का अन्त करण सम्बन्धी सिद्धान्त नैतिक इन्द्रियवाद का परिवर्तित स्वरूप है। अन्त करण नैतिक मानदण्ड में प्रेरणाओ की विविध श्रेणियो के प्रति एक सहज अथवा आन्तरिक सवेदनशीलता है। जब कोई कर्म किसी अन्य प्रेरणा की अपेक्षा एक विशेष प्रेरणा से प्रेरित होता है तो यह (अन्त करण) उस विशेष प्रेरणा के नैतिक मूल्य का अनुमान सहज-ज्ञान द्वारा कर लेता है। जब हमें यह चेतना होती है कि एक कर्म-प्रेरणा दूसरी से उच्चतर है, तब हमारे भीतर एक नैतिक उत्तरदायित्व की सवेदना जाग्रत होती है कि हमें निम्न की अपेक्षा उच्च प्रेरणा का अनुसरण करना चाहिये। इस प्रकार अन्त करण कर्मो के सत् असत् के प्रत्यक्ष अथवा सहज-ज्ञान की शक्ति है। यह परिणाम् निकालने की शक्ति नही है। नैतिक निर्णय सहज होता है। यह परिणाममूलक नही होता। अन्त करण नैतिक उत्तरदायित्व के ज्ञान की शक्ति भी है। यह कर्म-प्रेरणाओ के नैतिक मूल्य की श्रेणियो को हमारे सन्मुख खोल देता है जिसे कि हमें स्वीकार कर लेना चाहिये क्योंकि वह हमारे लिये ईश्वरीय इच्छा का रहस्योद्घाटन होता है। अन्त करण मनुष्य के भीतर दैवी ध्वनि है। ईश्वर नैतिक उत्तरदायित्व का स्रोत है। हम नैतिकता व धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रसग में मार्टिन्यू के नैतिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की विवेचना कर चुके हैं।

१०. मार्टिन्यू के सहज-ज्ञानवाद की आलोचना।

मार्टिन्यू के सहज-ज्ञानवाद की निम्न आलोचनायें की जा सकती हैं—

मार्टिन्यू का नैतिक सिद्धान्त एक प्रकार का नैतिक इन्द्रियवाद है। अत इसके भीतर उसके समस्त दोष पाये जाते हैं। मार्टिन्यू ग़लती से कर्म-प्रेरणाओ को प्रयोजन कहता है। प्रेरणायें प्रयोजन नही हैं। प्रयोजन उद्देश्य का विचार है जो कि हमें कार्य करने के लिये प्रेरित करता है। इस अर्थ में प्रयोजन का नैतिक मूल्य होता है।

परन्तु उद्देश्य के विचार से शून्य सहज प्रेरणाओं का कोई नैतिक मूल्य नहीं होता।

प्रेरणाओं का उनके नैतिक मूल्य के अनुसार निम्न तथा उच्च श्रेणियों में वर्गीकरण अन्तःकरण को सहज-ज्ञान की शक्ति द्वारा ज्ञात हो जाता है। यह तनिक भी सत्य नहीं है। कर्म-प्रेरणाओं का नैतिक वर्गीकरण अपरोक्ष-ज्ञान का विषय नहीं है। यह मार्टिन्यू के दार्शनिक विचार की सूझ है। नीति-शास्त्र एक विज्ञान के रूप में कभी भी सहज-ज्ञान की वृत्तियों की एक सूची से संतुष्ट नहीं हो सकता। इसे सामान्य सिद्धान्तों की सहायता से उनकी व्याख्या करनी होगी तथा उनकी उपज नैतिक आदर्श में से सिद्ध करनी होगी। नीति-शास्त्र केवल इस वक्तव्य से संतुष्ट नहीं हो सकता कि एक कर्म-प्रेरणा दूसरी से उच्च है। इसे यह कारण बताना होगा कि वह क्यों उच्च है तथा दूसरी क्यों निम्न है। इसे नैतिक भेद का आधार निश्चित करना होगा।

कर्म-प्रेरणाओं के नैतिक मूल्य का एक निश्चित मानदण्ड नियत करना अव्यावहारिक है। किन्हीं भी दो प्रेरणाओं के मध्य उच्चता व निम्नता का सार्वभौमिक सम्बन्ध नहीं होता। दोनों कभी सत् और कभी असत् होती हैं। कर्म-प्रेरणाओं के मध्य नैतिक पद का कोई निश्चित माप नहीं होता। यदि दयालुता तथा प्रतिरोध के मध्य संघर्ष उत्पन्न हो जाये तो दयालुता हर स्थिति में प्रतिरोध से उत्तम नहीं हो सकती। असत् के प्रति प्रतिरोध की भावना दयालुता अथवा आर्द्रता की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है। आर्द्रता के मोह में असत् का समर्थन अथवा प्रोत्साहन उचित नहीं है।

मार्टिन्यू श्रेणियों अथवा नैतिक मूल्य का उल्लेख करता है। उसकी नैतिक योजना हमें नैतिक मूल्य की श्रेणियाँ बताती है। एक प्रेरणा अपने से निम्न प्रेरणा की तुलना में उच्च है और वही प्रेरणा एक अपने से उच्च-प्रेरणा की अपेक्षा निम्न है। वह और भी अधिक निम्न-प्रेरणा की अपेक्षा और भी अधिक श्रेष्ठ है तथा उच्चतर प्रेरणा की अपेक्षा निम्नतर है। यह कथन ठीक नहीं है। हमें पूर्ण सत् और पूर्ण असत् के मध्य अन्तर करना होगा। नैतिक मूल्य की श्रेणियों की चर्चा करना गलत है। "हम कभी भी अपने नैतिक कर्मों को कम या अधिक श्रेष्ठ अथवा छोटा या बड़ा दोष कह कर नहीं पुकारते। किसी भी विशिष्ट मामले में हमारे सन्मुख दो मार्ग खुले होते हैं, जोकि उस समय सर्वश्रेष्ठ अथवा निकृष्टतम होते हैं।" (ए० सी० मिश्रा एलीमेंट्स आफ मारेल्स, पृष्ठ २५३)। यदि किसी कर्म का उद्देश्य नैतिक आदर्श के अनुकूल है तो वह सत् है अन्यथा असत्।

परिस्थितियों से पृथक किये जाने पर प्रेरणायें नैतिक दृष्टि से महत्वहीन होती हैं। उनका नैतिक मूल्य उन परिस्थितियों पर निर्भर रहता है जो कि उन्हें जन्म देती हैं। किसी गम्भीर उत्तेजना से प्रादुर्भूत क्रोध का नैतिक मूल्य अनुत्तेजनाजनित क्रोध की अपेक्षा कम होता है। प्रतिरोध सत्य पर आधारित विरोध अथवा द्वेषपूर्ण-

शत्रुभाव दोनो में से कोई भी स्वरूप ग्रहण कर सकता है। दयालुता विचारपूर्ण तथा भावुक दोनो प्रकार की हो सकती है। किसी कर्म-प्रेरणा को उसकी परिस्थितियाँ ही नैतिक मूल्य प्रदान करती हैं।

उनके नैतिक मूल्यांकन सहित प्रेरणाओ की एक पूर्ण सूची तैयार करना असम्भव है। मार्टिन्यू भ्रातृप्रेम, पितृप्रेम, मातृप्रेम तथा दाम्पत्य-प्रेम का उल्लेख नही करता। वह बुद्धियुक्त तथा दूरदर्शितापूर्ण प्रेरणाओ का वर्णन भी नही करता। वह स्वय यह स्वीकार करता है कि उसकी तालिका केवल अनुमान पर आधारित है। "सयोगों की अत्यन्त जटिलता किसी ऐसी तालिका के निर्माण में कठिनाई उत्पन्न करती है। (टाइम्स आफ़ एथिकल थ्योरी, खड २, पृष्ठ ७२६)। यदि सूची पूर्ण भी हो तो वह एक नैतिक मानदण्ड जुटाने में असफल रहेगी। नीति-शास्त्र का उद्देश्य नैतिक आदर्श की प्राप्ति है जो कि नैतिक भेद का आधार है। वास्तव में मार्टिन्यू ने कर्म-प्रेरणाओ का कुछ सामान्य सिद्धान्तो के आधार पर वर्गीकरण किया है। उदाहरण के लिए, उसने अनेक प्राथमिक प्रवृत्तियो को गौण प्रवृत्तियो की अपेक्षा उच्चता प्रदान की है। यदि उसने सामान्य सिद्धान्तो का स्पष्ट उल्लेख किया होता तथा उनका उद्भव नैतिक आदर्श से सिद्ध किया होता तो उसका कार्य सरल हो जाता।

११. दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद।

युक्ति-निरपेक्ष अथवा आदर्शनिक सहज ज्ञानवाद के अनुसार अन्तःकरण की प्रकृति सवेदनग्राही है, जो विशेष कर्मों के नैतिक गुण की सहजोपलब्धि करता है। दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद के अनुसार अन्तःकरण का स्वरूप बुद्धिमूलक है, जो नैतिक नियमो को सहज रूप में ग्रहण करता है, विशेष कर्मों में उनको लागू करता है, और इस प्रकार उनके सत्-असत् भाव का निर्णय करता है। पहिला नैतिक निर्णयो को अन्त प्रज्ञात मानता है दूसरा उन्हें अनुमेय मानता है।

६ तर्कवाद अथवा तार्किक सहज-ज्ञानवाद।

तर्कवाद दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद का एक रूप है। इसके अनुसार नैतिक शक्ति तार्किक शक्ति से अभिन्न है, जो शाश्वत नैतिक नियमो को तत्काल जान कर, विशेष कर्मों में उनका उपनय करती हुई सदसत् का निर्णय करती है। नैतिक निर्णय अनुमान ज्ञेय होता है। उसका ज्ञान कर्म-विशेषो मे सामान्य नैतिक नियमो का उपनय करने के अनन्तर होता है। इस प्रकार यह वाद नैतिक इन्द्रियवाद और रसेन्द्रियवाद दोनो से भिन्न है जिनके अनुसार नैतिक निर्णय सहज-अनुभव-ज्ञेय होता है। पहिले के अनुसार नैतिक शक्ति बौद्धिक है, जबकि दूसरो के अनुसार वह एक बोधेन्द्रिय है।

कडवर्थ (Cudworth)—कडवर्थ का विचार है कि नैतिक विभेद मानवीय अथवा ईश्वरीय दोनो प्रकार की स्वच्छता इच्छाओ से स्वतन्त्र हैं। मानवीय बुद्धि

शाश्वत, अपरिवर्तनीय, सामान्य नैतिक नियमो का सहज-ज्ञान रखती है, जो सामान्य, आवश्यक, और स्वत सिद्ध हैं। नैतिक शक्ति एक सूक्ष्म इन्द्रिय नही है, बल्कि बौद्धिक है। नैतिक निर्णय नैतिक नियमों के विशेष कर्मो में उपनय के परिणाम हैं। इस प्रकार वे अन्त करण की सहज उपलब्धि नही, बल्कि अनुमानज हैं। सद्व्यवहार सही नैतिक निर्णयो से होता है, जिसमें नैतिक नियमो का पर्याप्त ज्ञान गर्भित होता है। इस प्रकार बुद्धिमत्ता नैतिक जीवन का आवश्यक तत्व है।

क्लार्क (Clarke)—क्लार्क का विचार भी यह है कि वस्तुओ और व्यक्तियो में कुछ सामान्य, चिरतन और अपरिवर्तनीय सम्बन्ध हैं, और यही सत्य तथा नीति के आधार हैं। मानवीय-सम्बन्ध भी गणितशास्त्रीय-सम्बन्धों के तुल्य नियत, शाश्वत और अपरिवर्तनीय हैं, जो कर्तव्यो के निर्धारक हैं—और बुद्धि को उनका सहज-ज्ञान होता है। नीति का आधार उन सम्बन्धो का औचित्य अथवा अनौचित्य है जो हमारे आपस में और हमारे तथा शेष-सृष्टि के बीच में हैं। कर्तव्यो का प्रादुर्भाव निश्चित और अपरिवर्तनीय मानव-सम्बन्धो से होता है। जब सम्बन्ध दूसरे हो जाते हैं तो कर्तव्य भी दूसरे हो जाते हैं। यथा, गुरु-शिष्य का सम्बन्ध शिष्य-गुरु के सम्बन्ध से भिन्न होता है, अत गुरु के शिष्य के प्रति कर्तव्य हैं वे शिष्य के गुरु के प्रति जो कर्तव्य है उनसे भिन्न होते हैं।

इस प्रकार कुछ कर्म अनिवार्यत स्वय सत् या असत् होते हैं। यहाँ तक कि ईश्वर की इच्छा भी सत् को असत् और असत् को सत् नही बना सकती। सच्चरित्र बनने के लिये वस्तुओ के यथार्थ चिरन्तन सम्बन्धो में हमारी अन्तर्दृष्टि होनी चाहिये। अत ज्ञान सचय का नैतिक जीवन में बडा महत्व है।

वूलास्टन (Wollaston)—वह क्लार्क का शिष्य है। उसने भी शील को ज्ञान में परिणित किया है। उसका विचार है कि सत्य ही सत् है, और मिथ्या ही असत् है (महात्मा गाधी से तुलना कीजिये)। सत्कर्म सत्य का विधान है, असत् कर्म उसका निषेध। चोरी करना असत् इसलिये है कि उससे 'चुराई हुई वस्तु दूसरे की सम्पत्ति है' इसका निषेध होता है। सब पाप मिथ्या-भाषण है। पाप बौद्धिक भ्रान्ति हैं। इन सब दार्शनिको के मतानुसार नैतिक शक्ति बौद्धिक, तार्किक या विचारमूलक है, नैतिक गुण सत्य के तुल्य है, और ज्ञान ही परम मगल है।

१८ दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद की समीक्षा।

दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद नैतिक नियमों की व्याख्या और उनके बौद्धिक आधार का अन्वेषण नही कर सकता। वह केवल इतना बतलाता है कि ऐसा-ऐसा कर्म अच्छा है, किन्तु उसका कारण नहीं बतलाता। वह नियमो को स्पष्ट नही करता, जबकि उनकी परीक्षा, व्याख्या और औचित्य बतलाना आवश्यक है। नैतिक सिद्धान्तों को

स्पष्ट करने वाला आदर्श क्या है ? इसका अनुसन्धान होना चाहिये। दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद नैतिक सिद्धान्तो अथवा नियमो की अनिवार्यता का विधान करता है, किन्तु उसकी व्याख्या नही करता। वह नैतिक सिद्धान्तो के आधार वा अन्वेषण नही करता। नीति-शास्त्र का वास्तविक प्रश्न, जैसा कि सहज ज्ञानवादी सोचते है, यह नही है कि 'हमें नैतिक विभेदो का ज्ञान कैसे होता है ?' बल्कि यह है कि 'ये विभेद हैं क्या ?' 'नैतिक आदर्श क्या है जिससे इन सब विभेदो का उद्भाव होता है ?' सहज-ज्ञानवाद कानूनवादी है, उद्देश्यवादी नही। अत वह परम शुभ से नैतिक नियमों की, जो उसके साधन हैं, प्रामाणिकता का अनुमान करने को अस्वीकार कर देता है। अत सहज-ज्ञानवाद नैतिक नियमो की यौक्तिक व्याख्या नही दे सकता।

"नैतिक सिद्धान्त का सहज-ज्ञेयत्व स्वय अपनी तर्कसम्मतता या पूर्ण प्रामाणिकता को सिद्ध नही कर सकता। इस सहज-ज्ञेयत्व का स्पष्टीकरण नीति-विषयक अनुभववाद कर सकता है। यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि कोई सिद्धान्त सहज-ज्ञेय गौण-अर्थ में और केवल व्यक्ति के लिये हो सकता है। व्यवहार का कोई नियम जो कि व्यक्ति को सहज-ज्ञात और स्वत सिद्ध मालूम पडता है, जाति के अनुभव से प्राप्त सामान्यीकरण हो सकता है, जो अनुभव कि साधनो को साध्यो से समायोजित करने में अथवा व्यवहार को जीवन की शर्त्तों से समायोजित करने में हुआ हो।"*
जो व्यक्ति को स्वयसिद्ध दिखाई देता है, जाति की दृष्टि में वैसा वही है। जो व्यक्ति के लिये सहज-ज्ञात है, जाति के लिये अनुभवमूलक हो सकता है। जो सामान्य बुद्धि के लिये अन्त प्रज्ञात है, वह नैतिक विचार के लिये वैसा नही। जो नियम व्यक्ति का अन्त करण में सहज-ज्ञान-गम्य मालूम पडता है, वह मानव-जाति का वशपरम्परा-गत अनुभव से प्राप्त हो सकता है। अत सहज-ज्ञान-गम्यता नैतिक नियम की यथार्थता को सिद्ध नहीं कर सकती।

तथा-कथित नैतिक नियमविशेष इतने सैद्धान्तिक और अमूर्त्त हैं कि उनसे मूर्त्त परिस्थितियो में व्यवहार का पथ-प्रदर्शन नही हो सकता। उनके बहुसख्यक अपवाद होते हैं। परिस्थितियो के अनुसार, स्थायी या अस्थायी परिवर्तन उसमें करने पडते हैं। वे सामान्य परिस्थितियो में सामान्य लोगो के लिये उपादेय हो सकते हैं। किन्तु, विशेष परिस्थितियो में वे पथ-प्रदर्शन करने में अक्षम हैं।

सहज-ज्ञानवाद नैतिक नियमो के विरोध को समाप्त नही कर सकता। हम जानते हैं कि नैतिक नियमो में यदा-कदा सघर्ष पैदा हो जाता है। सहज-ज्ञानवाद उस पर विजय प्राप्त नही कर सकता, वह सभी नैतिक नियमो को तुल्य-रूप में प्रामाणिक और प्रभुत्वसपन्न मानता है।

---

* सेथ नीति के सिद्धान्त, पृष्ठ १७५।

अलग-अलग युगो और देशो में नैतिक नियमो में अत्यधिक वैषम्य पाया जाता है, यहाँ तक कि एक ही काल और स्थान पर भी निश्चित् नियम अनिश्चित स्वभाव के पाये जाते हैं। सहज-ज्ञानवाद नियमो की परिवर्तनशीलता का, जो कि समान-रूप से पालनीय माने जाते हैं, विरोधी है। नैतिक नियमो का विरोध परम-शुभ ही दूर कर सकता है, जिससे उनकी प्रामाणिकता का उद्भाव होता है। तथा-कथित 'कर्तव्यो का सघर्ष' अन्तःकरण के बौद्धिक और भावात्मक तत्वो के सघर्ष का परिणाम हो सकता है। हमारी बुद्धि किसी कर्म-विधि का चुनाव कर सकती है जो आत्म-ग्लानि को जन्म दे सकती है। कोई धार्मिक ईसाई सोच सकता है कि उसे रविवार को किसी सगीत पार्टी में जाना चाहिये, किन्तु इससे पश्चात्ताप की भावना पैदा हो सकती है। यहाँ पर उसकी बुद्धि एक कार्य-विधि को चुनती है जो उसकी भावना को उत्तेजित करती है। इस विरोध का कारण साधारण है। बुद्धि अथवा विचार उदार है, किन्तु भाव अथवा सवेग अनुदार हैं। यहाँ पर भी बुद्धि नैतिक आदर्श की सहायता से समस्या का हल निकाल देती है।

यदि नैतिक नियमो का अन्त करण के द्वारा निर्धारित होना मान भी लिया जाय, फिर भी वे वाह्य नियम है। "अन्त करण को, जैसे कि कोई भी सच्ची परिकल्पना कर सकती है, अपने ही कर्मों का निर्णय करने वाला सम्पूर्ण आत्मा नही माना जाता, वल्कि एक विशेष शक्ति माना जाता है। वह नैतिक निर्णय की शक्ति है— सदसत्-विवेक की एक सहजात और अनिर्वचनीय शक्ति जो मानवीय चेतना से अलग वैठकर मानवीय सकल्प के ऊपर अपने निर्णय लादती है।"※ यदि अन्त करण को सम्पूर्ण आत्मा मान लिया जाय तो नैतिक नियम को अन्त निःसृत माना जा सकता है। यदि उसे एक शक्ति-विशेष-मात्र माना जाता है अर्थात् आत्मा का एक अश-मात्र माना जाता है तो एक अश के द्वारा लादा हुआ नैतिक नियम सम्पूर्ण आत्मा के लिये बाहरी है। नैतिक नियम को आन्तरिक मानने के लिये उसे सम्पूर्ण आत्मा का नियम मानना पड़ेगा। यदि नैतिक नियम अन्त करण का आन्तरिक नियम है, तो अन्त करण आत्मा के अश होने से इसका नियम सम्पूर्ण आत्मा का वाह्य नियम हो जाता है।

विना नैतिक आदर्श के नैतिक नियम निरर्थक है। वह किसी साध्य अथवा आत्मा के हित का साधन है। अन्त करण के रूप में सम्पूर्ण आत्मा अपने अशो के लिये विधान निर्माण करता है। अन्त करण की आवाज अपने सच्चे और पूर्ण स्वरूप की आवाज है, जो कि अयथार्थ और अपूर्ण वासनामय-आत्मा को सम्बोधित करती है, अत आदेश के स्वर में होती है। नैतिकता इसी आदेश का पालन करने में होती है। नैतिक नियम अवश्य ही प्रभुत्वसपन्न और सर्वोच्च है, किन्तु उसका ऐसा होना उसके

※ नीति-शास्त्र, पृष्ठ ८७—८८।

एक अधिक व्यापक-आत्मा से, एक उद्देश्य से जिसे मनुष्य एक विचारशील प्राणी के रूप में प्राप्त करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है, सम्बन्ध के कारण है।

१३ तर्कवाद की समीक्षा।

क्लार्क के अनुसार नैतिकता सम्बन्धो के औचित्य के ऊपर निर्भर है। यह हेतुसाध्य-विवर्त के दोष से युक्त है। नैतिकता औचित्य का आधार है, औचित्य नैतिकता का नही। किसी सम्बन्ध अथवा कर्म का नैतिक औचित्य उसके द्वारा सिद्ध होने वाले नैतिक उद्देश्य के द्वारा ही जाना जा सकता है। उससे अलग होकर वह सम्बन्ध नैतिक दृष्टि से मूल्यहीन है। नैतिक विभेदों को जन्म देने वाला जो औचित्य उसे किसी वस्तु के लिये औचित्य होना चाहिये— उसमें किसी लक्ष्य या आदर्श को गर्भित होना चाहिये। 'है' के विश्लेषण से 'चाहिये' की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मार्टिन्यू का भी विचार है कि औचित्य कर्म को नैतिक नही बनाता, बल्कि नैतिकता उसे उचित बनाती है। जब वूलास्टन कहता है कि असत्-कर्म असगत होता है तो स्पष्टत उसका अभिप्राय उसके तथ्यो से असगत होने का— वस्तुगत विसवाद का, नही है। "असत्कर्म का आदर्श से विसवाद होता—वह आदर्श जिसके अनुरूप एक मनुष्य का दूसरे से सम्बन्ध होना चाहिये।"*

नैतिकता को ज्ञान-मात्र समझना, नैतिक गुण के व्यावर्तक धर्म को भूल जाना है। ज्ञान का सम्बन्ध तथ्य से है, नैतिकता का आदर्श से। ज्ञान के द्वारा हम कर्म पर विचार करते हैं, नैतिकता के द्वारा हम आदर्श की ओर बढते हैं। सत्य के साथ विश्वास होता है, किन्तु उसमें प्रभुत्व नही होता जो कर्तव्य में गर्भित होता है। सत्य, यद्यपि निरपेक्ष होता है, तथापि वह आदेश अथवा कुछ करने को वाध्य करने वाला नही होता। नैतिकता में कर्तव्यबोध या नैतिक बाध्यता गर्भित होती है।

ज्ञान के हेतु, सच्चरित्रता के हेतुओ से अभिन्न नही हैं। ज्ञान के विषय वस्तुयें हैंअवश्यम्भावी हैं। नीति तथा सच्चरित्र का आधार इच्छा-स्वातन्त्र्य है। ज्ञान का अवश्यम्भाविकता से विरोध नही है। नीति का इससे विरोध है। नैतिक कम स्वतन्त्र है। ज्ञान का विषय अस्वतन्त्र है। अत नैतिकता ज्ञान नही है। ज्ञान शील नहीं है। जानना और करना एक ही वस्तु नही है। प्राय हम जानते हैं कि सत् क्या है लेकिन करते हम असत् हैं।

बौद्धिक सहज-ज्ञानवाद के सभी प्रकारो के अनुसार, नैतिक नियमो का ज्ञान नैतिकता के लिये अनिवार्य है। इस प्रकार ज्ञान नैतिक जीवन का आवश्यक तत्व है। कुछ नीतिशास्त्रविद् शील और ज्ञान को अभिन्न कर देते है। किन्तु, यह आपत्ति-जनक है।

* नीति-शास्त्र, पृष्ठ १५३

ज्ञान के साथ कर्तव्य-बुद्धि या नैतिक वाध्यता नही पाई जाती जो नैतिक निर्णय का आवश्यक अग है। ज्ञान निरपेक्ष होता है किन्तु आदेश नही। किन्तु नैतिक नियम निरपेक्ष भी और विधिमूलक भी होता है। प्रभुत्वसम्पन्नता या वाध्यता दोनो उसके लक्षण हैं। जो कर्म हमारे कर्तव्य हैं, हमें उन्हे करना चाहिये। उन्हे न करना असत् कर्म है।

ज्ञान के साथ नैतिक भावनायें नही पाई जातीं, जो नैतिक निर्णयो के अनिवार्य लक्षण हैं। नैतिक निर्णयो के साथ सदैव नैतिक भावनायें पाई जाती हैं। मिथ्या-भाषण असत् कर्म है। इस नैतिक निर्णय में अननुमोदन की दु खप्रद भावना समाविष्ट है। सत्य-भाषण सत् कर्म है। इस नैतिक निर्णय में अनुमोदन की सुखप्रद भावना समाविष्ट है। परन्तु ज्ञान में नैतिक भावना नही हैं। पदार्थ-ज्ञान में अनुमोदन वा अननुमोदन की भावना नही है।

ज्ञान में अवश्यम्भाविता होती हैं, जवकि नीति में चुनाव की स्वतन्त्रता होती है। ज्ञान स्वीकृति के लिये वाध्य करता है, नीति में सकल्प-स्वातन्त्र्य सन्निविष्ट होता है। हम प्राकृतिक घटनाओ के ऊपर शासन करने वाले भौतिक नियमो को जानते है। प्रकृति की सृष्टि में ही उनकी सत्ता है। ज्ञान में अवश्यभाविता गर्भित है। किन्तु, हम सत-असत् कर्मो में स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्त होते हैं। नैतिक आदर्श की प्राप्ति हम स्वतन्त्रतापूर्वक करते है। नैतिकता में स्वतन्त्रता गर्भित है। ज्ञान में स्वतन्त्रता गर्भित नही है।

गणित के सिद्धान्त और सम्बन्धो का प्रामाण्य मन की अपेक्षा नही रखता। उनका आधार वस्तुओ का अवश्यम्भावी सगठन है। किन्तु, विना मन की कल्पना किये, नैतिक सिद्धान्त अवोध्य हैं। गणित-शास्त्रीय सिद्धान्त वस्तुगत हेतुओ के ऊपर निर्भर है, जवकि नैतिक सिद्धान्त आत्मगत हेतुओ के ऊपर निर्भर है। अत वस्तुओ और व्यक्तियों का शाश्वत और अपरिवर्तनीय औचित्य, शाश्वत और अपरिवर्तनीय नैतिक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। नैतिक नियम ईश्वरीय इच्छा में मूर्तिमान् है। और परिच्छिन्न आत्मायें उसका पालन करती हैं। सहज-ज्ञानवाद परीक्षामूलक, वौद्धिक तथा तर्कसगत नहीं है। यह नैतिक नियमो की युक्तिपूर्ण व्याख्या नही कर सकता। यह प्रचलित नैतिक नियमो को मान लेता है।

१२ आधुनिक नीतिशास्त्र मे अपरोक्ष ज्ञानवाद।

G. E Moore कहता है, "शुभ एक सरल तत्व है, जैसे पीला रग सरल तत्व है। जिसको पीले रग का ज्ञान नहीं है, उसे इस गुण का स्वरूप नही समझा सकते हैं। इस प्रकार जिसको शुभ का ज्ञान नही है उसे इसका स्वरूप नही समझा सकते है।" शुभ की सज्ञा करना असम्भव है। यह सुख, लाभ, सौन्दर्य आदि में परि-

णित नही हो सकता। शुभ को अन्य तत्व में परिणित करने में प्रकृतिवादी दोष (naturalist fallacy) होता है। अत सुखवाद, उपयोगितावाद तथा रसेन्द्रियवाद इस दोष से दूषित हैं। शुभ एक सरल, शुद्ध, अमिश्रित, अव्युत्पन्न तथा अविश्लेष्य तत्व है। इसका विश्लेषण व स्पष्टीकरण नही हो सकता। (प्रिन्सिपिआ एथिका, अध्याय २)।

A C Ewing भी 'शुभ', 'सत्, 'कर्तव्य', 'करना चाहिये', तथा 'नीति' को सरल, अविश्लेष्य तत्व मानता है। रग शब्द में जैसे परिणित नही हो सकता, एवमेव 'शुभ', 'सत्' आदि आत्मगत अनुभूति में परिणित नही हो सकते। ये विषय-गत सरल तत्व हैं। इनका अपरोक्ष ज्ञान होता है। ये अज्ञेय व अज्ञात नही हैं। ये सरल, अव्युत्पन्न, अविश्लेष्य, सज्ञाहीन तत्व हैं। सुख आदि मानसिक अनुभूति के द्वारा इनका स्पष्टीकरण नही हो सकता। 'करना चाहिये' (ought) या नैतिक वाध्यता (moral obligation) नैतिक चेतना का एक आवश्यक तत्व है। इसकी व्याख्या मानसिक अनुभूति अथवा प्राकृतिक वस्तुओ के द्वारा नही हो सकती। 'शुभ' तथा 'कर्तव्य' अविच्छेद तत्व हैं। दोनो का ही अधिक सरल तत्वो में विश्लेषण असम्भव है। ("Subjectivism and Naturalism in Ethics" *Mind* 53,1944 *The Definition af Good*, 1949.)

अध्याय १२

बुद्धिपरतावाद अथवा कृच्छवाद

१ सुखवाद और बुद्धिपरतावाद।

सुखवाद इन्द्रियपरता के ऊपर वल देता है और सुख को परम शुभ मानता है। वुद्धिपरतावाद, सुखवाद का विपक्षी है। वह वुद्धि के अधिकार के ऊपर वल देता और धर्म अथवा सच्चरित्र को परम शुभ मानता है। वह इन्द्रियपरता के विनाशपूर्वक वुद्धि पर जीवन को ही धर्म मानता है। सुखवाद के अनुसार आत्मा-तृप्ति ही परम कल्याण है, वुद्धिपरतावाद के अनुसार आत्म-विजय। आत्म-तृप्ति इच्छाओ की तृप्ति को कहते है, और आत्म-विजय इच्छाओ की दमन अथवा नियन्त्रण या इच्छा-नाश को। सुखवाद वुद्धि के अधिकार की अवहेलना करता है और उसे वासना की परिचारिकामात्र समझता है। वुद्धिपरतावाद वासनाओं के अधिकार को ठुकराता है और उसे आत्मा को शरीर से जकडने के लिये जाल के तुल्य मानता है। वह शुद्ध वुद्धिमय जीवन का पक्षपाती है, जिसमें इन्द्रियपरता का लेशमात्र भी न हो। वुद्धि-

परतावाद के दर्शन प्राचीन यूनान में सिनिसिज़म (कठोर तपश्चर्यावाद) और स्टेइसिज्म (विरक्तिमार्ग) के रूप में, मध्ययुगी ईसाई धर्म में सन्यासवाद के रूप में, और कान्ट के नीति-शास्त्र में बुद्धिपरतावाद अथवा कठोरतावाद के रूप में होते हैं।

२ (अ) विरक्तिवाद (Cynicism)।

विरक्तिवादियों के मतानुसार धर्म उद्देश्य है। परिस्थितियों के बन्धन से मुक्ति तथा सुख-दुख के प्रति उदासीनता ही धर्म है। सुख का जीवन मूर्खता का जीवन है। बुद्धिमान् व्यक्ति सुख भोगने की अपेक्षा पागल होना अधिक पसन्द करेगा। विरक्तिवाद के संस्थापक का कथन है, "मैं सुख अनुभव करने की अपेक्षा पागल होना पसन्द करूंगा।" आनन्द के हेतु धर्म पर्याप्त है। उसकी प्राप्ति में कुछ अन्य वस्तुयें भी सहायक हो सकती हैं। परन्तु उनमें से कोई आवश्यक नहीं है। आनन्द के लिये सुख की आवश्यकता नहीं है। सुख मनुष्य को भाग्य का दास बना देता है। मुक्ति की प्राप्ति सुख-दुःख के प्रति उदासीनता तथा आत्मा को देह के पास में आबद्ध करने वाली इच्छाओं के हनन से हो सकती है। धर्म चरित्र की उत्कृष्टता, वासनाओं पर विवेक की प्रभुता तथा परिस्थितियों पर मानवीय आत्मा का प्रभुत्व है। हमारी आवश्यकतायें अल्पतम होनी चाहियें, हमारी कृत्रिम आवश्यकतायें समाप्त हो जानी चाहियें तथा हमें प्रकृति की सरलता की दिशा में लौट आना चाहिये। हमें समाज तथा लोकमत की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। हमें आत्मस्थ तथा आत्म-निर्भर जीवन व्यतीत करना चाहिये। नैतिक जीवन विवेकपूर्ण जीवन है अर्थात् उसमें इन्द्रियजन्य सुख का सम्पूर्ण निषेध सन्निहित है। भाग्य के आक्रमणों पर पूर्ण प्रभुत्व, लोकमत की उपेक्षा, तथा समाज के प्रति अवहेलना की वृत्ति, ये ही विरक्तिवादी बुद्धिमत्ता के लक्षण हैं। विरक्तिवाद, सन्यासवादी तथा व्यक्तिवादी है। यह सन्यासवादी सिद्धान्त की प्रथम अभिव्यक्ति है।

३ (ब) बुद्धिवादी विरक्तिवाद (Stoicism)।

जिस प्रकार एपिक्यूरियनिज्म सायरेनिसिज्म का विकसित स्वरूप था उसी प्रकार बुद्धिवादी-विरक्तिवाद विरक्तिवाद का। बुद्धिवादी-विरक्तिवाद विरक्तिवाद की नाई धर्म अथवा विवेकमय जीवन को सर्वोच्च हित मानते थे। परन्तु यह कई महत्वपूर्ण बातों में विरक्तिवाद से भिन्न है।

बुद्धिवादी-विरक्तिवाद के समर्थक विरक्तिवादियों के असंस्कृत 'निसर्गवाद' के स्थान पर जीवन के एक आदर्शवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं। वे प्रकृति के अनुसार जीवन' इस विरक्तिवादी कथन का नया अर्थ यह करते हैं कि, 'विवेक अथवा बुद्धि के अनुसार जियो।' विवेक अथवा बुद्धि की अभिव्यक्ति बाह्य प्रकृति तथा मानवीय प्रकृति दोनों में होती है। प्रकृति तथा मनुष्य के भीतर सामान्य तत्व

विवेक या बुद्धि विद्यमान है। यह मनुष्य-समाज के प्रचलित नियमो तथा परम्परा-परिपाटियो में अभिव्यक्त होता है। समाज के नियमो क पालन करना मनुष्य का कर्तव्य है। इस प्रकार बुद्धिवादी-विरक्तिवाद के अनुयायी नैसर्गिक जीवन अथवा समाज से साथ सामजस्यपूर्ण विवेकमय या बौद्धिक जीवन का समर्थन करते हैं।

विरक्तिवादियो के निकट व्यक्तिवाद के स्थान पर बुद्धिवादी विरक्तिवाद के समर्थक विश्व-नागरिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। बुद्धिवादी-विरक्तिवादी भी व्यक्तिवादी हैं। उनका भी मत है कि जीवन आत्मस्थ तथा आत्मपूर्ण होना चाहिये। परन्तु वे एक आदर्श-समाज अथवा मानवता के आध्यात्मिक राज्य के साथ सामजस्यपूर्ण विवेक-शील जीवन का समर्थन करते है। बुद्धिवादी विरक्तिवादियो का विश्व-नागरिकता कान्ट के 'साध्यो के साम्राज्य' जैसा है। बुद्धिवादी विरक्तिवादी ग्रीक नगर-राज्यो की सकीर्ण-सीमाओ से असन्तुष्ट थे तथा एक विश्व-राष्ट्रमण्डल का स्वप्न देखते थे जिसमें प्रत्येक नागरिक विवेकपूर्ण जीवन व्यतीत करता हो।

बुद्धिवादी विरक्तिवाद विरक्तिवाद के निराशावाद के स्थान पर आशावाद का समर्थक है। विरक्तिवादी निराशावादी थे। वे सुख के जीवन से घृणा करते थे। वे सुख की खोज को उन्माद कहते थे। इसके विपरीत बुद्धिवादी विरक्तिवादी आशा-वादी हैं। वे यह मानते हैं कि समस्त विश्व में अवैयक्तिक सामान्य बुद्धि या विवेक व्याप्त है। बुद्धिवादी विरक्तिवाद के अनुसार इन्द्रियपरता से शून्य विशुद्ध विवेक से पूर्ण नवीन ही आदर्श है। बुद्धिवादी व्यक्तिवाद के कथन 'प्रकृति के अनुसार जियो' का अर्थ है वस्तुओ की गूढतम प्रकृति अर्थात् 'बुद्धि या विवेक के अनुसार जीवन व्यतीत करो।' विश्व में अभिव्यक्त बुद्धि को अपने में भी प्रकट होने दो क्योकि तुम इस विशाल विश्व के अग हो। वासना तथा इन्द्रियपरता को निर्मूल कर दो जो कि निश्चय ही अविवेकपूर्ण हैं।

४ (स) ईसाई सन्यासवाद।

सन्यासवादी नैतिक विचार मध्ययुगीन ईसाई-धर्म में पुनः प्रतिष्ठित हुआ। ईसाई विचार का मूल-विन्दु दैवी-धर्म परायणता है। हमे अपने स्वर्गस्थ पिता ईश्वर के समान पूर्ण होना चाहिये। ईसाई विचारधारा बाह्य कार्यों पर नही वरन् हृदय तथा सकल्प की शुद्धता पर बल देती है। यह बाह्य आचरण की अपेक्षा आन्तरिक जीवन की शुद्धि पर ध्यान केन्द्रित करती है। यशुमसीह ने जीवन के नैसर्गिक सुखो के उपभोग की सहमति दी है, तथापि उनका अपना पीडा सहने, आत्म-नियन्त्रण करने तथा आत्म-बलिदान के आदर्श ने ईसाई-चिन्तन पर एक स्थायी प्रभाव डाला है। ईसाई-जीवन उस भावना का जीवन है जिसका प्रतीक क्रास है। आध्यात्मिक जीवन प्राकृतिक मनुष्य की मृत्यु में से उदय होता है। भौतिक जीवन अपने में ही दोषपूर्ण

नहीं है, परन्तु उस पर विवेकशील आत्मा का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये। यदि वह आत्मा के जीवन का पथ अवरुद्ध करता है तो उसका बलिदान किया जाना चाहिये।

'जीवित रहने के लिये मर जाओ।' आत्मा के जीवन के निमित्त देह का बलिदान कर दो। देह आत्मा के मार्ग में रोडा है, अत आत्मा के पुनरुद्धार के हेतु देह का उत्पीडन एव बलिदान किया जाना चाहिये। देह के बलिदान का परिणाम होगा आत्मा का पुनर्जीवन। सन्यासवाद के रूप में ईसाई-धर्म ने यह सिद्धान्त नव-प्लेटोवाद से लिया है जो इस बात पर बल देता है कि आत्मा सवेदना और ससार के बन्धन में पड गई है तथा वह अपने अमर-गृह अर्थात् स्वर्ग में जाने के लिये तडप रही है। आधुनिक ईसाई-धर्म भी यद्यपि सन्यासवादी नही है, तथापि परलोकवादी है, यह इहलोक के जीवन को केवल एक यात्रा मानता है जो कि स्वर्ग के दैवी जीवन में जाने की तैयारी है।

५ कान्ट (Kant) का बुद्धिपरतावाद, कठोरतावाद, कृच्छ्रवाद, नैतिक विशुद्धतावाद, विधिवाद अथवा नियमानुवर्त्तितावाद।

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक इमानूयेल कान्ट का बुद्धिपरतावाद—सुखवाद का विरोधी है। सुखवाद वासनाओ के अधिकार पर बल देता है, और बुद्धिपरतावाद बुद्धि के अधिकार पर। ब्रैडले (Bradley) सुखवाद को 'सुख सुख के लिये' और बुद्धिपरतावाद को 'कर्तव्य कर्तव्य के लिये' का सिद्धान्त कहता है। सुखवाद आत्मतुष्टि या इन्द्रितृप्ति का प्रचारक है, और बुद्धिपरतावाद आत्म-निषेध, आत्म-विजय, अथवा इन्द्रिय दमन का। सुखवाद नैतिक मानव को प्राकृतिक मानव बनाने का प्रयत्न करता है, बुद्धिपरतावाद प्राकृतिक मानव को आदर्श अथवा नैतिक मानव बनाने का। निम्न सवेदनशील आत्मा अर्थात् इन्द्रियपरता की तृप्ति सुखवाद का आदर्श है; उच्चतर आत्मा की तृप्ति अथवा विशुद्ध बुद्धिमय-जीवन बुद्धिपरतावाद का आदर्श है। बुद्धि मनुष्य को सब निम्न-श्रेणी के पशुओ से अलग करती है। यह मानव-स्वभाव का विशिष्ट धर्म है। इन्द्रियपरता मानव-स्वभाव में पाशविक प्रकृति का अवशिष्ट अश है, अत उसका उन्मूलन होना चाहिये। शुद्ध बुद्धि पर जीवन को प्रोत्साहित करना चाहिये। बुद्धिपरतावाद उद्देश्य अथवा आदर्श की स्पष्टोक्ति नही करता। वह नैतिक नियम की निरपेक्षता अथवा व्यावहारिक बुद्धि के निरपेक्ष आदेश की परिपुष्टि करता है। वह सर्वोच्च नैतिक सज्ञा के रूप में कर्तव्य को प्राधान्य देता है। उसके अनुसार 'सत्' 'शुभ' से उच्चतर है। कान्ट नैतिक आदर्श परम मगल का अवहेलन करता है। वह सार्वजनीन निरपेक्ष नैतिक नियम पर ज़ोर देता है।!

कान्ट का बुद्धिपरतावाद दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद का समकक्ष है। कान्ट अन्त करण को व्यावहारिक बुद्धि मानता है, जो नैतिक नियम को अपने ही ऊपर

लादती है। नैतिक नियम का सहज-ज्ञान होता है। वह अनुभव-निरपेक्ष है, ऐन्द्रिय-अनुभवज्ञेय नही। वह स्वत सिद्ध है। कान्ट ने नैतिक नियम से नैतिक सूत्रो को अनुमित किया है। वे सूत्र भी स्वय-सिद्ध हैं। विशेष-कर्मों के सदसत्-भाव का अनुमान उनके नैतिक नियम से साम्य या वैषम्य से होता है। किसी कर्म का नैतिक गुण उसके परिणामों से निर्धारित नही होता, बल्कि प्रेरणा की विशुद्धता से होता है। सहज-ज्ञानवाद नैतिक नियमो के पक्ष में कोई दार्शनिक युक्ति नही देता। कान्ट नैतिक कानून को दार्शनिक आधार देने का प्रयास करता है। कान्ट का बुद्धिपरतावाद सहज-ज्ञानवाद का एक रूप है। वह नैतिक नियम अथवा अन्त करण के अन्तरस्थ नियम को नैतिक मानदण्ड मानता है। कान्ट उद्देश्यवादी नीति-शास्त्र से भिन्न वैधानिक नीति-शास्त्र का समर्थक है।

कान्ट के मत से बुद्धि मानव-स्वभाव का आवश्यक तत्व है, इन्द्रियपरता मनुष्य के अन्दर पाशविकता का अवशेष है, वह उसकी वास्तविक प्रकृति के लिये विजातीय है। अत विशुद्ध बुद्धिमय-जीवन का यापन होना चाहिये, वासनाओं का निग्रह होना चाहिये। सच्चरित्र ही परम मगल है। सच्चरित्रता सदिच्छा में सन्निहित है। सदिच्छा बौद्धिक इच्छा है। बौद्धिक इच्छा नैतिक नियम का पालन करने की इच्छा है, जिसे वह अपने ऊपर लागू करती है। इच्छा व्यावहारिक बुद्धि अथवा सक्रिय बुद्धि है। व्यावहारिक बुद्धि अपने लिये विधान-निर्माण करती है। वह अपने ही ऊपर नैतिक नियम को लागू करती है। व्यावहारिक बुद्धि मानव-स्वभाव में अवस्थित सार्वजनीन सामान्य तत्व है। उसके द्वारा लागू किया हुआ नैतिक नियम भी सार्वभौम है। वह स्वयसिद्ध है। बुद्धि को उसकी सहज उपलब्धि होती है। नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश है। वह एक शर्तहीन आज्ञा है। वह किसी उद्देश्य का साधन नही है। वह सुख या सामाजिक हित का भी साध्य नही। उसका पालन उसी की खातिर होना चाहिये। बिना शर्त उसका पालन होना चाहिये। नैतिक नियम निरपेक्ष विधि है, जिसका पालन करना चाहिये। यह कोई शुभ का साधन नही है।

सदिच्छा स्वतन्त्र है। निरपेक्ष आदेश का अनुसरणकारी सकल्प स्वतन्त्र अथवा स्वय-शासित है। सदिच्छा नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध-सम्मान प्रदर्शन पूर्वक कर्म में प्रवृत्त होती है। जो इच्छा किसी वाह्य लक्ष्य की कामना से प्रेरित होती है वह परतन्त्र होती है, वह स्वतन्त्र नहीं, बल्कि किसी वाह्य वस्तु के आधीन होती है। भाव अथवा कामना बुद्धि के वाहर की वस्तु है, बुद्धि आत्मा का आवश्यक तत्व है। अत सकल्प का प्रेरक भाव अथवा कामना को नही होना चाहिये। प्रेम अथवा सहानुभूति पूर्वक किया हुआ कर्म अनैतिक है।

सदिच्छा बौद्धिक है। यह निरपेक्ष नैतिक विधि या नियम का पालन करती है। नैतिक नियम कोई उद्देश्य का साधन नही है। सदिच्छा, स्वयशासित इच्छा,

लक्ष्यहीन इच्छा है। यह कानूनहीन, उद्देश्यहीन, परिणाम-विचारहीन इच्छा है। यदि इच्छा कामना, सहज प्रवृत्ति, अनुभूति, सवेग, या स्थायी भाव से प्रेरित हो, तो यह परतन्त्र होती है। परतन्त्र इच्छा अनैतिक है। उदार तथा अनुदार सब भावो से इच्छा को वर्जित होनी चाहिये। कोई उद्देश्य नही होना चाहिये, चाहे यह स्वार्थसिद्धि केलिये हो या परहित के लिये। उद्देश्य का विचार-मात्र भी नही होना चाहिये। कान्ट अनुभूति, भाव तथा स्थायी भाव को नैतिक जीवन में स्थान नही देता। केवल निरपेक्ष नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान को स्थान देता है। सदिच्छा वासना-हीन, उद्देश्य हीन, परिणाम-विचारहीन, तथा नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान से प्रेरित इच्छा है। यह अनुभूति या भाव से युक्त हो सकती है, परन्तु इसके द्वारा प्रेरित नही होती। सदिच्छा पूर्णतया बौद्धिक है। इसमें इन्द्रियपरता का लेशमात्र नही है। इसमे कर्मो के परिणामो का विचार नही है। कान्ट की नियमवादी नीति पूर्णतया उपयोगितावाद का विरोधी है। कर्मो के परिणामो की सामाजिक उपयोगिता तथा अनुपयोगिता का विचार नही होना चाहिये।

हमें कर्तव्य के लिये कर्तव्य करना चाहिये, चाहे परिणाम और उद्देश्य कुछ भी क्यो न हो। कर्तव्य का पालन नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध-सम्मान-पूर्वक होना चाहिये। कोई कर्म किसी प्रवृत्ति से किया जा सकता है, किन्तु ऐसा होना नही चाहिये, शब्दान्तर में, प्रवृत्ति-द्वारा उसका निर्धारण नही होना चाहिये। किसी कर्म का सम्पादन किसी प्रवृत्ति की तृप्ति के लिये नही होना चाहिये। निरपेक्ष आदेश का एक विषयरहित विशुद्ध आकार है। कान्ट इस आकार की पूर्त्ति निम्नलिखित नैतिक-सूत्रो से करता है —

(१) 'केवल उसी सूत्र के अनुसार कार्य करो जिसे तुम उसी काल में सामान्य नियम बन जाने की इच्छा कर सकते हो।'

(२) 'इस प्रकार कार्य करो कि मानवता, चाहे तुम्हारे अन्दर हो चाहे किसी अन्य के, सदैव साध्य बनी रहे, साधन नही।'

(३) 'साध्यो के राज्य के सदस्य होकर कर्म में प्रवृत्त हो।'

कान्ट के अनुसार, यद्यपि सदिच्छा, सच्चरित्र अथवा धर्म परम मगल है तथापि धर्म और सुख के योग से पूर्ण मगल का निर्माण होता है। धर्म हमारी इच्छा के ऊपर निर्भर है। सुख वाह्य अनुकूल परिस्थितियो पर अवलम्बित है, जिनके ऊपर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है। धर्म और सुख में सयोगात्मक सम्बन्ध है। इस जीवन में धर्म सुख से पुरस्कृत नही होता। ईश्वर परलोक में धर्म को सुख से सयुक्त करेगा। ईश्वर धर्म और सुख के सामञ्जस्य का स्थापन परलोक में करता है। धर्म सदिच्छा-प्रेरित सच्चरित्र का नामान्तर है।

इच्छा स्वातन्त्र्य नीति का मूलभूत सिद्धान्त है। कान्ट कहता है—'तुम्हे करना चाहिये, अत तुम कर सकते हो।' कर्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता में इच्छा स्वातन्त्र्य गर्भित है। आत्मा की अमरता नीति का दूसरा सिद्धान्त है। नैतिकता इच्छा और कर्तव्य के विरोध के निवारण में निहित है। इस सीमित जीवन में उस विरोध की समाप्ति असभव है। अत आत्मा मरणोत्तर-जीवन के अनन्त-स्थिति-काल मे ही इस विरोध के ऊपर विजय प्राप्त करेगा। ईश्वर की सत्ता नीति का एक तीसरा सिद्धान्त है। वही पूर्ण मगल की प्राप्ति का अर्थात् धर्म और सुख के सामजस्य के लिये उत्तरदायी है। व्यावहारिक बुद्धि का नैतिक जीवन हमें परम तत्व की सन्निधि मे ले आता है, जहा तक शुद्ध बुद्धि या विचारात्मक बुद्धि हमारी पहुच नही करा पाती। शुद्ध बुद्धि विचारात्मक या सैद्धान्तिक है। यह व्यावहारिक क्रियात्मक नही है। शुद्ध बुद्धि इच्छा-स्वातन्त्र्य, आत्मा की अमरता तथा ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन नहीं कर सकती। व्यावहारिक बुद्धि नीति का आधार है। यह इन तीन सिद्धान्तो को मान लेती है। नीति इनकी यथार्थ का सूचक है।

निरपेक्ष आदेश—कान्ट के अनुसार, व्यावहारिक बुद्धि अथवा अन्त करण का आन्तरिक नियम अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। अन्त करण के द्वारा अपने ही ऊपर लागू किया जाने वाला नैतिक नियम निरपेक्ष विधि है। यह तथ्य के विधान से भिन्न विधि अथवा आदेश है। यह निरपेक्ष अथवा शर्तहीन है। यह सापेक्ष विधि नही है। वे नियम जो अन्य उद्देश्यो के साधन हैं सापेक्ष विधि हैं। स्वास्थ्य-विज्ञान के नियम स्वास्थ्य के साधक हैं। अत वे सापेक्ष आदेश हैं। आर्थिक नियम अर्थ के साधक हैं। अत वे भी सापेक्ष आदेश है। किन्तु, नैतिक नियम जो कि व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा अपने ही ऊपर लागू किया जाता है निरपेक्ष आदेश है। हमें उसका पालन किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के हेतु नही करना चाहिये, बिना शर्त उसका पालन करना चाहिये, वह एक उच्च साध्य का साधन नही है, वह स्वय साध्य है। वह एक नितान्त निरपेक्ष आज्ञा है जिनके विरुद्ध आपत्ति नही की जा सकती। हमे कर्तव्य कर्म करना ही चाहिये। कोई भी उच्चतर नियम हमें इससे विमुख नही कर सकता। प्रत्येक वाह्य उद्देश्य अनुभवमूलक होता है। वह सापेक्ष विधि मात्र को ही जन्म दे सकता है। इस विधि का आकार इस प्रकार होता है यदि हमें एक निर्दिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति करनी है, तो उसके लिये एक निर्दिष्ट कार्य-विधि को अपनाना होगा। यदि हम जीवन में सफलता की कामना करते है, तो हमें परिश्रम करना होगा और अवसरो से अधिकतम लाभ उठाना होगा। यदि हमें अच्छे स्वास्थ्य का आनन्द लेना है, तो हमे स्वास्थ्य के नियमो का पालन करना होगा। ये सब सापेक्ष विधियां हैं। निरपेक्ष विधि अथवा नैतिक नियम किसी वाह्य उद्देश्य की अपेक्षा नहीं रखता, वल्कि केवल उचित दिशा में सकल्प को प्रवृत्त करने की अपेक्षा रखता है। निरपेक्ष विधि एक सार्वभौम

नैतिक नियम है। यह सब व्यक्तियो पर लागू होता है, यह सम्पूर्ण मानव-जाति के लिये सामान्य है।

इच्छा-स्वातन्त्र्य—कान्ट का मत है कि सदिच्छा ही एकमात्र शुभ है। "सृष्टि के अन्दर या बाहर कोई भी वस्तु ऐसी नही है जिसे बिना किसी शर्त के शुभ कहा जा सके, ऐसी एकमात्र वस्तु सदिच्छा ही है।" सदिच्छा बिना शर्त शुभ है। कान्ट के शब्दो में सदिच्छा ही ऐसा रत्न है जो अपने ही प्रकाश से चमकता है। सदिच्छा स्वय शुभ है, किसी वाह्य तथ्य के कारण नही। इसका नियम पूर्णतया इसी के अन्तरस्थ है। सदिच्छा ही एकमात्र शुभ है। वह विवेक युक्त अथवा बौद्धिक सकल्प है। यह बुद्धि के नियम का अर्थात् निरपेक्ष आदेश का पालन करने वाला है। बुद्धि मानव स्वभाव में अवस्थित सार्वभौम तत्व है। वह निरपेक्ष विधि को अपने ऊपर लागू करती है। वह अपने ही लिये नियम का निर्माण करती है। यह विचारवान् प्राणी का विशेष अधिकार है। इच्छा का पथ-प्रदर्शन नैतिक नियम अथवा निरपेक्ष आदेश द्वारा ही होना चाहिये। अनुभूति तथा भावना के द्वारा उसका पथ निर्देश नही होना चाहिये यदि ऐसा होता है तो वह स्वय-शासित नही, बल्कि पर-शासित है। अत कान्ट हमारे अन्दर भावना-तत्व के पूर्ण विलोप का पक्षपाती है। उसके मतानुसार सकल्प तभी स्वतन्त्र है, जब उसके ऊपर अपना ही कानून चलता हो—जब वह एकान्त रूप से कर्त्तव्य-बुद्धि के द्वारा ही सचालित होता हो। सकल्प परतन्त्र तब है जब कोई लक्ष्य या इच्छा उसको मार्ग बताती हो। जीवन का सच्चा नियम 'कर्त्तव्य कर्त्तव्य के लिये' है। गीतोक्त निष्काम कर्म से इसका सादृश्य है।

नैतिक जीवन में अनुभूति के लिये कोई स्थान नहीं है—नैतिक जीवन शुद्ध बुद्धिमय जीवन है। भाव और सवेगो के लिये उसमें कोई स्थान नही है। उनका पूर्णतया निग्रह होना चाहिये। प्रेम या सहानुभुति तक के वशीभूत होना अनैतिक है। वे सवेग हैं और इस रूप में आत्मा के यथार्थ स्वरूप के लिये विजातीय हैं। नैतिक जीवन का आदर्श शुद्ध बुद्धिमय जीवन है जिसमें भाव और सवेगो के द्वारा कोई विघ्न पैदा न हो। कान्ट नैतिक जीवन में केवल एक ही भाव को स्थान देता है, और वह भाव है नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान का भाव। किन्तु, इसे मुश्किल से रियायत कह सकते हैं। नैतिक नियम के प्रति आदर का भाव अन्य सवेगो और भावनाओ से नितान्त भिन्न है। कान्ट उस व्यक्ति के कार्य को निन्दित समझेगा जो प्रेम अथवा सहानुभूति के वश में होकर किसी रोगी की परिचर्या करता है अथवा किसी निर्धन की सहायता करता है। ऐसे कर्म को अनैतिक कहा जायगा। कान्ट के विचार से, सत्कर्म को दो शर्तें पूरी करनी चाहिये (१) उसे बुद्धि द्वारा प्रकाशित नैतिक नियम के अनुरूप होना चाहिये, (२) कर्त्ता को उसका सम्पादन नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सन्मान के भाव से प्रेरित होकर करना चाहिये।

नीति के सूत्र—नैतिक नियम एक वस्तुरहित या निर्विषय विशुद्ध आकार है। उसका कोई विशेष विषय नही है। वह यह नहीं बतला सकता कि हमारा क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य, क्योकि प्रत्येक विशेष वस्तु में एक अनुभवमूलक, औपाधिक तत्व अवस्थित होता है, और नैतिक नियम का उससे कोई सम्बन्ध नही हो सकता। नैतिक नियम यह नही बतला सकता कि हमारे कर्मों की वस्तु अथवा विषय क्या है। वह केवल वही निर्देश करता है कि कर्मों को एक आकार क अनुरूप होना चाहिये। नैतिक नियम सामान्य नियम का एक आकार है। वह केवल यही बतलाता है कि हमारे कर्मों में स्वगत सवाद होना चाहिये। निरपेक्ष विधि एक विषय-शून्य विशुद्ध आकार अथवा विधि है।

कान्ट निम्नलिखित सूत्रो को निर्धारण करके नैतिक नियम को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट कर देता है—

(१) "केवल उस नैतिक नियम के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जायें की इच्छा कर सकते हो।"

कान्ट इस सूत्र को वचन-भग का दृष्टान्त देकर स्पष्ट करता है। वचन-भग करना बुरा है, क्योंकि इसका सामान्यीकरण नहीं हो सकता। यदि इसे एक सामान्य नियम बना दिया जाय, तो प्रत्येक व्यक्ति वचन-भग करेगा और वचन देना ही वस्तुत रुक जायगा। और जब कोई वचन देगा ही नही, तो उसको भग करने का प्रश्न ही नही उठता। अत प्रत्येक के लिये वचन-भग करना असभव हो जायगा। किसी हताश व्यक्ति को आत्म-घात करने की इच्छा हो सकती है। उपर्युक्त सूत्र इसके अनौचित्य को स्पष्ट कर देता है, क्योकि वह एक सार्वभौम नियम नही बना सकता। यदि सब व्यक्ति आत्म हत्या कर डालें, तो शीघ्र ही कोई भी आत्म-हत्या करने के लिये शेष नही रहेगा। चौर्य को सार्वभौम नियम बनाना असम्भव है। यदि सब मनुष्य चोरी करने लगें तो चोरी करने के लिये कोई सम्पत्ति अवशिष्ट नही रहेगी। अत चोरी करना असत् कर्म है। परन्तु सत्य-भाषण को सामान्य नियम बना सकते है। सब मनुष्य सत्य-भाषण कर सकते हैं। अत सत्य-भाषण सत् कर्म है। इस प्रकार "उस विधि से कार्य करो जिससे, तुम चाह सकते हो कि, तुल्य परिस्थितियो में सभी अन्य व्यक्ति भी कर सकें।" यह नैतिकता का प्रथम सूत्र है।

(२) 'इस प्रकार काम करो कि मानवता, चाहे तुम्हारे अन्दर हो चाहे किसी अन्य के अन्दर हो, सदैव साध्य बनी रहे, साधन कभी नही।"

मनुष्य तत्वत विचारवान् है। बुद्धिपरता जो कि मानवता का व्यावर्तक धर्म है, सदा आदरणीय है। किसी को भी स्वय को दूसरे के स्वार्थ का साधन, अथवा दूसरे को अपने स्वार्थ का साधन नही बनाना चाहिये। व्यक्ति स्वय-साध्य है। उसका साधन के रूप में प्रयोग नही होना चाहिये। किसी को भी स्वय अथवा अन्य को दास नही

बनाना चाहिये । आत्म-हत्या पाप है, क्योकि यह मानवता के स्वय-साध्यत्व के आदर्श से असगत है । यह अपने-आपको प्रकृत्या मूल्यवान् समझना नही है, बल्कि स्वार्थपरक-सुख का साधन-मात्र समझना है । अपनी प्रतिभा का विकास करने से निषेध करना स्वय का साध्य-रूप में नही, बल्कि साधन-रूप में प्रयोग करना है । किसी महाजन से झूठा वायदा करना उसे अपने लाभ का साधन बना देना है व्यक्ति समझकर उसका सम्मान करना नही । हमें स्वय को दूसरे के लाभ अथवा उन्नति का साधन नहीं बनने देना चाहिये । हमें स्वय अपने तथा दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिये । यह नीति का दूसरा सूत्र है । इससे यह उपसूत्र निकलता है —

"सदैव अपने को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करो, और अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करके दूसरे का सुख-साधन करो, क्योकि तुम दूसरे को पूर्ण नही बना सकते ।"

एक व्यक्ति अपने को पूर्ण बनाने में समर्थ होता है, क्योंकि वह अपने सकल्प को सुनियन्त्रित कर सकता है और उसे नैतिक नियम के अनुरूप बना सकता है । किन्तु, वह दूसरे को पूर्ण बनाने में असमर्थ है, क्योकि वह दूसरे के सकल्प को नियन्त्रित नही कर सकता । व्यक्ति को स्वयमेव नैतिक सकल्प का विकास करना होगा—दूसरा व्यक्ति उसके लिये ऐसा कर सकने में अशक्त है । नैतिक पूर्णता प्रयत्न-साध्य है, दूसरा इसका दान नही कर सकता । अत एक व्यक्ति दूसरे के सुख के हेतु अनुकूल परिस्थितियाँ मात्र उत्पन्न कर सकता है । धर्म या सच्चरित्र स्वतन्त्र-सदिच्छा प्रेरित कर्मों का फल है । कोई मनुष्य अपने को धार्मिक बना सकता है, परन्तु किसी अन्य को धार्मिक नही बना सकता, क्योकि धर्म स्वतन्त्र इच्छा से बनता है । किन्तु वह अन्य को सुखी कर सकता है, क्योकि सुख अनुकूल बाह्य परिस्थिति पर निर्भर है ।

(३) "साध्यो के साम्राज्य के सदस्य बन कर काम करो ।"

यह नीति का तृतीय सूत्र है । इसका अर्थ है सब मनुष्यो को समान प्रकृत मूल्य वाले समझो, समाज में इस प्रकार व्यवहार करो कि दूसरे के हित-साधन में तुम्हारा अपना हित भी हो, ऐसे समाज की स्थापना हो कि जिसका प्रत्येक सदस्य साध्य भी रहे और साधन भी । 'साध्यो का साम्राज्य' नैतिक नियम का पालन करने वाले बुद्धिपर व्यक्तियो का एक आदर्श समाज है । प्रत्येक व्यक्ति सम्राट् है, क्योकि वह अपने ऊपर लागू होने वाले नैतिक नियम का विधाता है । प्रत्येक व्यक्ति प्रजा भी है, क्योकि वह स्वय उसका पालन करता है । नैतिक नियम सार्वभौम है । अत. उसका पालन करने वाले सभी व्यक्ति परस्पर पूर्ण सामजस्य के साथ निवास करते हैं । 'साध्यो का साम्राज्य' एक आदर्श समाज होगा, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति विचारपूर्ण रीति से काम करेगा और निरपेक्ष आदेश का पालन करेगा, और इस प्रकार प्रत्येक अन्य व्यक्ति के साथ मैत्री-पूर्वक जीवन-यापन करेगा । उसमें प्रत्येक व्यक्ति राजा और प्रजा दोनों होगा । उस मनुष्य जाति के आदर्श राष्ट्र-सघ में प्रत्येक और सब की इच्छा

कानून होगी और सभी उसका पालन करेंगे। हमें अपने व्यक्तिगत और सामाजिक सम्बन्धो में अपने और दूसरे व्यक्तियो के प्रति आदर का भाव रखना चाहिये। और जितना ही अधिक हमारे अन्दर पारस्परिक सहयोग और सदिच्छा का उत्कर्ष होगा, उतनी ही अधिक हमें अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रभुता की प्राप्ति होगी। हमें आदर्श प्रजातन्त्र राज्य का नागरिक बनना चाहिये, जहां प्रत्येक व्यक्ति राजा तथा प्रजा है, स्वय-शासित अथवा नैतिक नियम के द्वारा शासित है, जहां कोई परतन्त्र नही है। कान्ट आदर्श प्रजातन्त्र विश्व-मानव-समाज में विश्वास करता था।

पूर्ण मगल—कान्ट के अनुसार परम मगल धम या सच्चरित्र है। धर्म सदिच्छा अथवा कर्त्तव्य के लिये कर्त्तव्य करने में निहित है। धर्म निरपेक्ष आदेश के पालन करने के अभ्यास को कहते हैं। किन्तु, कान्ट के अनुसार पूर्ण मगल में धर्म के अतिरिक्त, सुख का भी समावेश होता है। धार्मिक व्यक्ति को धर्म के ही लिये धर्म का अनुसरण करना चाहिये, सुख के लिये नही। फिर भी कान्ट कहता है कि मनुष्य के पूर्ण कल्याण में सुख और धर्म दोनो का समावेश है। कान्ट के अनुसार, नैतिक उद्देश्य अपनी पूर्णता का और दूसरो के सुख का उत्कर्ष, दोनो को कहा जा सकता है। यह नीति के दूसरे सूत्र से अनुमित होता है। कान्ट धर्म और सुख में सामजस्य स्थापित करने के लिये ईश्वर की सत्ता को आवश्यक समझता है। ईश्वर धर्म और सुख में सामजस्य का स्थापन करता है। धर्म सच्चरित्र का नामान्तर-मात्र है।

नीति की मान्यतायें—इच्छा-स्वातन्त्र्य नीति की मूल-भूत मान्यता है। "तुमको करना चाहिये, अत तुम कर सकते हो।" नीति में सकल्प-स्वातन्त्र्य गर्भित है। यदि सकल्प स्वातन्त्र्य नहीं, तो नैतिकता असम्भव हो जाती है। सकल्प-स्वातन्त्र्य के निषेध से नैतिकता का आधार जाता रहता है। आत्मा की अमरता नीति की दूसरी मूल मान्यता है। नैतिकता इच्छा और कर्त्तव्य के शाश्वत सघर्ष पर विजय पाने में है। इच्छा का नाश इस सीमित जीवन में नही हो सकता। इसके हेतु असीम जीवन वांच्छनीय है जिसमें इन्द्रियपरता अथवा इच्छा का क्रमिक अपनयन हो जायगा। ईश्वर की सत्ता नीति की तीसरी मूल मान्यता है। धर्म अथवा सच्चरित्र ही परम मगल है। किन्तु उसके साथ सुख के सयोग से ही पूर्ण मगल की प्रप्ति होती है। सच्चरित्र होना हमारी सामर्थ्य के अन्दर है। किन्तु, सुख अनुकूल परिस्थितियो पर निर्भर है, जो हमारी शक्ति के लिये सुलभ नही हैं। धार्मिक लोग बिरले ही सुखी होते है। यदि वे इस ससार में सुखी नही हो सकते, तो परलोक में ईश्वर उनको सुख से पुरस्कृत करेगा। ईश्वर ही अचेतन प्रकृति और चेतनायुक्त आत्माओं के जगत् का नियन्ता है। ईश्वर धम को सुख से सयुक्त करेगा, और पूर्ण मगल का लाभ करायेगा। इस प्रकार, सकल्प-स्वातन्त्र्य, आत्मा का अमरत्व और ईश्वर की सत्ता नीति के मूल सिद्धान्त हैं।

कान्ट का नैतिक सिद्धान्त बुद्धिपरतावाद, नैतिक विशुद्धतावाद, कठोरतावाद अथवा नियमानुवर्त्तितावाद कहलाता है। वह कृच्छ्रवाद या सन्यासवाद के अनुरूप है। वह हमें नैतिकता का विशुद्ध आकार—निरपेक्ष आदेश, देता है, किन्तु, नैतिकता की वस्तु या विषय, की, जो भाव या इच्छा से प्राप्त होता है, महत्ता को नही मानता।

६ कान्ट के कठोरतावाद अथवा बुद्धिपरतावाद की समालोचना।

मनोवैज्ञानिक द्वैतवाद—कान्ट के मत का आधार बुद्धि और इन्द्रियपरता का मनोवैज्ञानिक द्वैतभाव है। वह बुद्धि और इन्द्रियपरता अथवा वासना के मध्य शत्रु-भाव पैदा कर देता है। इस प्रकार वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य की अवहेलना कर देता है कि वासना और बुद्धि आत्मा के आवश्यक तत्व हैं, जो वस्तुत एक-दूसरे से विच्छिन्न नही किये जा सकते। मन दोनों तत्वो का अन्योन्याश्रित ऐक्य है। वासना नैतिक जीवन की वस्तु है। उसे बुद्धि के आकार के अनुकूल बनाना चाहिये। वासना आवश्यक-रूप से नीति-विरुद्ध नही है। भाव या अनुभूति इच्छा को जन्म देती है, और इच्छा क्रिया को। कोई भी क्रिया वासना के अभाव में नहीं होती। अनुभूति और इच्छा ही कर्म के प्रवर्तक हैं। इस प्रकार नैतिक जीवन में वासना एक आवश्यक तत्व है। मनुष्य का विशुद्ध वासनाहीन, बौद्धिक जीवन कल्पना-मात्र है। वास्तविक मानव-जीवन वासनामय बौद्धिक जीवन है। वासना और बुद्धि दोनो तत्व मानव-प्रकृति के आवश्यक तत्व हैं। वासनायें नैतिकता की सामग्री हैं।

सन्यासवाद—कान्ट नैतिकता में त्यागवाद का समर्थक है। वासना को नितान्त नीति-विरुद्ध और नैतिकता को वासना का चरम विनाश मानने में कान्ट बडी भूल करता है, क्योकि वासना का आत्मा के स्वभाव में आवश्यक स्थान और कार्य है, और धर्म वस्तुत बुद्धि के द्वारा वासना के नियन्त्रण मे निहित है। भाव और इच्छायें नैतिक जीवन के विषय या उपादान हैं। बुद्धि को उनका नियन्त्रण करना चाहिये। अत हम सम्पूर्ण इन्द्रियपरता का उसे अविवेकपूर्ण समझ कर परित्याग नही कर सकते। बुद्धि का कार्य भाव और इच्छाओ को नियन्त्रित और परिष्कृत करना है। यदि हम उन सबका विनाश कर डालते हैं, तो बुद्धि का कोई कार्य शेष नही रहेगा और उसका अवसान हो जावेगा।

नियमानुवर्तितावाद—यदि हम भावों और इच्छाओं को हटा देते हैं, तो नैतिकता के सम्पूर्ण विषय से भी हाथ धो बैठते है, और केवल विशुद्ध वस्तुहीन आकार या नियम अवशिष्ट रह जाता है। कान्ट का नैतिक सिद्धान्त नियमानुवर्तितावाद इस अर्थ में है कि वह नैतिकता के आकार को वस्तु से विच्छिन्न कर देता है। बुद्धि आकार प्रदान करती है (निरपेक्ष विधि)। किन्तु, हमें वस्तु कौन देता है जिसे आकार दिया जाता है? अपना ही सकल्प करने वाली सकल्प-शक्ति असगत है, उससे केवल शुष्क नियमानुवर्तितावाद की ही प्राप्ति हो सकती है, वासना ही वह वस्तु है जिसे आकार

दिया जाता है। शब्दान्तर में, बुद्धि के द्वारा नैतिक नियम के अनुसार वासनायो का परिष्कार और नियन्त्रण होना चाहिये। जैकोबी (Jacobi), कान्ट के वस्तुशून्य शुद्ध या वासनाहीन सकल्प को कहता है कि 'वह ऐसा सकल्प है जो किसी वस्तु का सकल्प नही करता।' सदिच्छा वह सकल्प नही है जो निरपेक्ष आदेश का पालन करता है, जो एक शून्य निर्विषय आकार है, बल्कि वह सकल्प है जो शुभ का अन्वेषण करता है। धर्म सकल्प को सन्मार्ग में लगाने को नही कहते, बल्कि उसे सर्वोच्च शुभ अथवा परम हित की दिशा में—सर्वोच्च शुभ के अनुसरण में लगाने को कहते हैं। परम शुभ मनुष्य की पूर्णता है, जिसमें ज्ञान, सौन्दर्य और धर्म का समावेश होता है। वही सर्वोच्च वैयक्तिक और सामूहिक अथवा सामाजिक हित है।

कान्ट का प्रथम सूत्र, निस्सन्देह, नैतिक नियम के सार्वभौम लक्षण को अभिव्यक्त करता है। यह सत्य है कि ऐसा कोई भी कर्म सत् नही हो सकता जिसके सिद्धान्त का सामान्यीकरण नही हो सकता हो। किन्तु, यह एक विशुद्ध आकारगत-सिद्धान्त है। इसका निषेधात्मक मूल्य है, विधानात्मक नही। यह एक निषेधात्मक उपदेश है। यह केवल उसी का निर्देश करता है जिसको हमें परिस्थिति-विशेष में करना नही चाहिये। यह व्यवहार का विधानात्मक नियम नही है। इससे हमें मूर्त कर्त्तव्यो का अनुमान नही हो सकता। यह स्वगत सवाद का आकार सवन्धी सिद्धान्त-मात्र है जिससे व्यवहार की विशेष-वस्तु नही निकाली जा सकती। पुन कान्ट के नैतिक नियम को विशेष कर्मों में लागू करने के लिये समाज में प्रचलित कर्त्तव्यो और अधिकारो का पूर्व-ज्ञान आवश्यक होता है। हम सिद्ध कर सकते हैं कि चोरी करने से स्वगत-विरोध पैदा होता है, यदि हम व्यक्तिगत-सपत्ति की वैधता को मानते हैं।

स्वगत-सवाद-मात्र सत् की पर्याप्त परीक्षा नही है। नीति के प्रथम सूत्र के आधार पर ब्रह्मचर्य एक अपराध सिद्ध हो जायगा, क्योंकि सबके ब्रह्मचारी हो जाने से द्रुत-गति से मनुष्य-जाति का विनाश हो जावेगा, और फलस्वरूप ब्रह्मचर्य की भी समाप्ति हो जायेगी। परोपकार भी असत् हो जावेगा, क्योंकि अन्त में परोपकार करते-करते कोई भी निर्धन नही रहेगा जिसका उपकार किया जा सके। इस प्रकार प्रथम सूत्र एक निर्विषय आकार-सम्बन्धी सिद्धान्त-मात्र है। विशेष मूर्त्त अवस्थाओ में उसे लागू करने के लिये परिणामो का विचार करना पड़ता है, जो कान्ट के सिद्धान्त के विरुद्ध है। कान्ट की नीति में परिणामो के विचार का स्थान नही है।

कान्ट के दूसरे सूत्र म एक महत्वपूर्ण तथ्य है। हमें अपने और दूसरो के व्यक्तित्व के प्रति आदर का भाव रखना चाहिये। हमें अपने-आप को अपने और दूसरो के भोग का साधन नही बनाना चाहिये। दूसरो को भी अपने उपभोग का साधन नही बनना चाहिये। किन्तु, इस सूत्र की व्यापकता को भी कुछ सीमित करने की आवश्यकता है। पहिला, कुछ व्यक्तियो को अपने जीवन का बलिदान किसी उच्च

आदर्श के लिये करना चाहिये, यथा, अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये, ज्ञान के विकास के लिये, इत्यादि। इस प्रकार, किन्ही परिस्थितियो में, हमें दूसरो को भी साधन बनाना चाहिये। हमें दूसरो के कल्याण के लिये टाइफाइड के सक्रामक-रोग से पीडित व्यक्ति को दूसरों से पृथक् कर देना चाहिये। लेकिन, मानवता को साध्य मानने के लिये आत्म-विकास या आत्म-पूर्णता को नैतिक मानदण्ड मानना पड़ेगा। दूसरे सूत्र से जो उपनियम निकलता है, अर्थात् हमें अपनी पूर्णता और दूसरो के सुख का लाभ करने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिए, उसका सीधा सकेत पूर्णतावाद और परसुखवाद की ओर है। हमारा लक्ष्य अपनी ही पूर्णता होना चाहियें। यह पूर्णतावाद है। हमें दूसरो के सुख को अपना लक्ष्य बनाना चाहिये। यह परसुखवाद है। परन्तु कान्ट की नीति उद्देश्यहीन नियमानुवर्तिता है।

तीसरा सूत्र भी पहिले दो के समान ही अपूर्ण है। वह भी एक आकार-विषयक सिद्धान्त-मात्र है। उसके आधार पर हम विशेष मूर्त परिस्थितियो में अपने कर्तव्यों का अनुमान नही कर सकते। हमें सहयोग और सामजस्य के साथ एक-दूसरे के साथ रहना चाहिये और ऐसे आदर्श समाज की सृष्टि करनी चाहिये जिसका प्रत्येक सदस्य राजा और प्रजा दोनो हो। इस आदर्श समाज में प्रत्येक मनुष्य साध्य और साधन दोनो होगा, जिसमें प्रत्येक पर-हित के उत्कर्ष करने में अपने हित की प्राप्ति करेगा। मानव-समाज का यह आदर्श नैतिक चेतना को मान्य होना चाहियें, किन्तु व्यवहार के मार्ग-प्रदर्शन में यह भी पूर्व-सूत्रो के समान ही अस्पष्टता के दोष से मुक्त नही है। हमें परहित के जिस आदर्श की वृद्धि करनी है वह नितान्त अस्पष्ट है। इसमें भी हमें वस्तु-शून्य आकार-मात्र ही दृष्टिगोचर होता है।

कठोरता—कान्ट का सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक कठोर है। पहली बात तो यह है कि कान्ट के मत से कोई भी ऐसा कर्म नीति-सम्मत नही हो सकता जो भाव या सवेग से प्रेरित होता हो। यहाँ तक कि प्रेम अथवा समवेदना से प्रेरित परोपकार या वीरता का कार्य भी नैतिक नहीं है। वही कर्म सत् है जिन्हें नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है। किन्तु, प्राय लोग उन कर्मों की कर्त्तव्य-बुद्धि से किये जाने वाले कर्मों की अपेक्षा अधिक प्रशसा करते हैं जिनका उद्भव प्रेम या समवेदना से होता है। जब कान्ट नैतिक जीवन से भावना को बिल्कुल हटा देता है, तो वह कर्तव्य-पालन को बल-प्रयोग से किया हुआ और कृत्रिम बना देता है। किन्तु, वास्तव में, हम कर्त्तव्य के लिये कर्त्तव्य करने से सहज-रूप से कर्त्तव्य-पालन करना अधिक पसन्द करते हैं। भावातिरेक से किये जाने वाले कर्म नैतिक नियम के प्रति सम्मान-पूर्वक किये जाने वाले कर्मों से श्रेष्ठ हैं। परोपकारी मनुष्य समवेदना से प्रेरित होकर दूसरो के उपकार करते हैं, कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर नही। तब भी उनके कर्मों का हम अधिक आदर करते हैं। स्वदेश-

प्रेम से प्रेरित होकर मनुष्य मृत्यु को भी वरण करते हैं। उनके कर्मों का कोई अनादर नही करते हैं। अत कान्ट का मत कठोरतावाद अथवा सन्यासवाद है।

दूसरी बात यह है कि, कान्ट का सिद्धान्त अन्य कारण से भी कठोर है। अपने नैतिक नियमो का अपवाद उसे मह्य नही है। किन्तु, ऐसे नैतिक नियम हैं ही नही जिनके विशेष परिस्थितियो में अपवाद न हो। कान्ट नैतिक नियमो से अपवादो का निषेध करने से अपने सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक कठोर बना देता है। कुछ कर्म तो अपवाद होने के ही कारण सत् होते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ व्यक्ति विवाह नही करते और किसी उत्कृष्ट उद्देश्य के साधन में अपना जीवन अर्पित कर देते है। कुछ लोग प्रसन्नतापूर्वक किसी उच्च-ध्येय के लिये मृत्यु का आलिगन कर लेते है और शहीद हो जाते हैं। शहीद होना और आजीवन ब्रह्मचर्य अपवाद होने से ही नीति-सम्मत हैं।

त्यागवाद का विरोधाभास—कान्ट के अनुसार इच्छाओ के प्रलोभन के प्रति-रोध और कर्म की नैतिक उत्कृष्टता में अनुलोम अनुपात है। जितना ही अधिक इच्छा और कर्त्तव्य में विरोध तीव्र होता है उतनी ही उसको पराजित करने वाले कर्म की भी अधिक उत्कृष्टता होती है। इस प्रकार नैतिक जीवन की निरन्तरता के लिये कान्ट की नीति इस विरोध की निरन्तरता को आवश्यक समझती है। पुन, किसी कर्म को सत् होने के लिये नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान से प्रेरित होना चाहिये। जिस स्तर में लोगो का पथ-प्रदर्शन कर्त्तव्य-बुद्धि और नैतिक नियम का सम्मान करते हैं, वह नैतिक जीवन का निम्न स्तर है। जब उनके नैतिक जीवन की प्रगति हो जाती है, तो वे सहज ही कर्त्तव्य-कर्म करने लगते है और कर्त्तव्य की चेतना कम हो जाती है। नैतिक जीवन में सघर्ष तो किसी न किसी रूप में रहता ही है। किन्तु, इच्छा और कर्त्तव्य का सघर्ष कुछ कम तीव्र अवश्य होता जाता है यद्यपि उसका पूर्ण अभाव आवश्यक नही है। किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य का नैतिक जीवन कदापि नैतिकता-शून्य और जैसा कि हर्बर्ट स्पेन्सर का भ्रान्त मत है, एक स्वाभाविक व्यापार नही हो सकता। इस प्रकार कान्ट के मत में यह विरोधाभास है। धर्म और पुण्य के लिये इच्छा और कर्त्तव्य, वासना और बुद्धि का विरोध आवश्यक है। अत यदि यह विरोध समाप्त हो जाता है, तो धर्म की भी सत्ता समाप्त हो जावेगी। "वस्तुत, धर्म की सत्ता उसके विरोधी (अर्थात्, इच्छा) के जीवित रहने में है। उसकी अन्तिम और पूर्ण विजय का अर्थ इच्छा के विलोप के साथ धर्म का भी विलोप हो जाना है।"❀ इसे त्यागवाद का विरोधाभास कहा जा सकता है।

व्यक्तिवाद—कान्ट का सिद्धान्त व्यक्तिवादी है। भाव या अनुभूति को, जिसके द्वारा अन्य लोगों के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित होता है, हटा देने से वह अपने

❀ म्यूरहेड।

नैतिक सिद्धान्त को व्यक्तिवादी वना देता है।" अनुभूतिहीन वुद्धि एक पर्याप्त वन्वन नहीं है, हमें अपने साथियो से अपनी एकता की अनुभूति होनी चाहिये। यद्यपि वुद्धि सामान्य तत्व है, तथापि विशुद्ध वुद्धि का नीति-शास्त्र अनिवार्यत व्यक्तिवादी है। जो कडियाँ हमें अपने साथियो से सम्बन्धित रखती है, वे प्रेम की कडियाँ हैं। अनभूति का हनन कर दो और अपने साथियो से पृथक् हो जाओगे।"✽ कान्ट के मत से नैतिक जीवन में प्रेम के लिये कोई स्थान नही है। अत उसके सिद्धान्त का व्यक्ति-वादी होना आवश्यक हो जाता है। कान्ट के 'साध्यों का राज्य' अथवा व्यक्तियो के सहयोग के आदर्श का स्थापन तर्क के आधार पर हो सकना असम्भव है। सहयोग का आघार प्रेम है। वुद्धि हमें सामान्य शुभ का विचार देती है। किन्तु वह हमारा अपने साथियों से ऐक्य नही करा सकती। मानव-वन्धन प्रेम का वन्धन है वुद्धि का नही।

चरम उद्देश्य की प्रच्छन्न स्वीकृति—कान्ट नैतिक नियम को अबोध्य मानता है। यह व्याख्या न करने योग्य है। इसकी व्याख्या नही हो सकती। निरपेक्ष विधि एक नितान्त अपवादशून्य आदेश है जिसकी कोई व्याख्या नही दी जा सकती। किन्तु जहाँ भी कोई नियम होता है, वहाँ उससे साध्य कोई उच्चतर लक्ष्य होना चाहिये; नि॰म किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये होता है। मनुष्य एक विवेकयुक्त प्राणी है। वह निरपेक्ष विधि का दासत्व स्वीकार करके उसी को खातिर उसका पालन नही कर सकता। वह स्वतन्त्र होकर नैतिक नियम का पालन आत्म-पूर्णता के लिये करता है।

जैकोवी का कथन सत्य है कि 'नियम मनुष्य के हेतु वनाया जाता है, मनुष्य नियम के हेतु नही।" मनुष्य अपनी वुद्धि के कारण "नियम के प्रति अन्ध-श्रद्धा-पूर्वक" कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। 'सत्' और 'शुभ' नीति के आधारभूत प्रत्यय हैं। "'शुभ' का प्रत्यय तार्किक दृष्टि से अधिक मौलिक है। वही कर्म सत् है जो शुभ की प्राप्ति का साधन हो। 'शुभ' वह है जिसे होना चाहिये। दोनो पदों में अन्तर यह है कि 'सत्' कोई इच्छाकृत-कर्म ही हो सकता है, 'शुभ' कर्म के अतिरिक्त विविध अन्य वस्तुओ का विशेषण हो सकता है।"† 'शुभ' साध्य है। 'सत्' उसका साधन है। "किन्तु, कान्ट ने 'सत्' के प्रत्यय से विचार प्रारम्भ किया, और उसकी तमाम कठिनाइयो का जन्म इससे हुआ कि उसने विना 'शुभ' की सहायता के 'सत्' को सार्थक वनाने और उसे विषय प्रदान करने का प्रयास किया।"‡ नैतिक नियम आत्म-पूर्णता अथवा आत्म-विकास का साधन है। विना उसके उसकी व्याख्या नही हो सकती।

✽ सेथ।

† शुभाशुभ की मीमासा, जिल्द १, पृष्ठ १३५–३६।

‡ वही, पृष्ठ १३५।

कान्ट के प्रथम सूत्र का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि स्व-विरोधी कर्म असत् है, बल्कि यह है कि आत्मा का विरोधी कर्म असत है। आत्म-विकास का बाधक कर्म असत् है। आत्म-विकास का अनुकूल कर्म सत् है— स्वसवादी कर्म सत् नहीं है। 'स्वसवादी कर्म' निरर्थक है। द्वितीय सूत्र मानवता अथवा व्यक्तित्व को प्रकृत उद्देश्य बनाता है। वह किसी साध्यान्तर का साधन नहीं है। यह आत्म-पूर्णता अथवा व्यक्तित्व के चरम विकास को अन्तिम लक्ष्य गुप्त-रूप से स्वीकृत करता है। कान्ट द्वितीय सूत्र से एक उपसूत्र अनुमित करता है कि हमारा लक्ष्य अपनी पूर्णता और दूसरो का सुख होना चाहिये। अत: यह पूर्णता और सुख को नैतिक लक्ष्य स्वीकार करने की स्पष्ट उक्ति है। वह अपने आकारवादी नीति-शास्त्र में आत्मपूर्णतावाद और परसुखवाद का समावेश कर देता है। उसका तीसरा सूत्र भी आत्मपूर्णतावाद को छिपाये हुये है, क्योंकि वह अपने और दूसरो के व्यक्तित्व के प्रति आदर का विधान करता है। कान्ट धर्म से साथ सुख का सामजस्य-स्थापन को पूर्ण मगल मानता है। इसमें भी उन्हें साध्य मानने की स्पष्ट स्वीकृति गर्भित है। इस प्रकार, निरपेक्ष विधि का कट्टर समर्थक होने पर भी कान्ट नैतिक उद्देश्यो को स्वीकार करता है। उसके नियमानुवर्तितावाद में उद्देश्यवादी नीति-शास्त्र के तत्व वर्तमान है।

पूर्ण मगल—कान्ट का धर्म और सुख के सयोग को पूर्ण मगल मानना उचित ही है। किन्तु, "कान्ट पूर्ण मगल को धर्म और सुख तक ही सीमित करके उसे सकीर्ण बना देता है। मनुष्य के पूर्ण मगल में बौद्धिक सौन्दर्य-सम्बन्धी और धार्मिक मूल्यो का भी समावेश होना है। नीति-शास्त्र को उन सभी मूल्यो का विचार करना चाहिये जो प्रत्येक के लिये साध्यस्वरूप सागोपाग जीवन के अश हैं।"* पूर्ण मगल में धर्म की उचित अधीनता में अवस्थित सुख, ज्ञान, संस्कृति और सौन्दर्य का समावेश होता है।

यह एक अजीब सी बात है कि नैतिकता इच्छा को दबाने और सुख को हटाने की माँग करती है, और फिर भी कान्ट के मत से ईश्वर पुण्य करने वालो को परलोक में सुख देना चाहता है। धर्म इच्छा को नष्ट कर देने पर निर्भर है। सुख बुद्धि की अधीनता में इच्छा की पूर्ति पर निर्भर है। कान्ट सुख को सुखवादी अर्थ में ग्रहण करता है। ईश्वर धार्मिको को कैसे सुख दे सकता है, जो सब इच्छाओ का नाश कर चुके हैं। अत. कान्ट का धर्म-सुख-समन्वयकारी ईश्वर' का विचार स्वविरोधी है।

कान्ट की मौलिक भ्रान्ति यह है कि उसने वासनाओ को अबौद्धिक और नष्ट करने के योग्य कल्पित किया। वासनायें नैतिक जीवन में गति का सचार करती हैं। वह नैतिक जीवन का उपादान है। बुद्धि द्वारा नियन्त्रित वासना से ही आत्म-विकास होता है। यही धर्म है और इसी से सुख का लाभ होता है। कान्ट के नीति-शास्त्र की कमियो को आत्मपूर्णतावाद के द्वारा दूर किया जा सकता है।

---

* राइट नीति-शास्त्र की भूमिका, पृष्ठ २११–१२।

कान्ट के नीति के मूल-सिद्धान्तो की परीक्षा आगे की जावेगी।

सन्यासवादी या त्यागवादी आदर्श भ्रान्त और अपर्याप्त है। परम शुभ आत्म-विकास है। बुद्धि द्वारा वासनाओ का नियन्त्रण, बौद्धिक आत्मा के द्वारा ऐन्द्रिय या वासनामय आत्मा का परिष्कार, यही आत्म-विकास है, अनुभूति और इच्छाओ का पूर्ण विनाश नही। मनुष्य का परम मगल पूर्ण आत्मा का अर्थात् इन्द्रिय पर और वुद्धि पर दोनो का वुद्धिसगत पूर्ण विकास है। त्यागवादी आदर्श भी उतना ही भ्रामक और अपूर्ण है जितना भोगवादी। वासनामय जीवन स्वभावत अशुभ नही है, उसका बौद्धिक आत्मा के साथ सामजस्य होना चाहिये। वुद्धि के द्वारा वासनाओ का सम्यक् नियन्त्रण होना चाहिये। भोग और त्याग का समन्वय होना चाहिये। वासनाहीन, निष्क्रिय, शुद्ध बौद्धिक जीवन ससार-विरक्त सन्यासियो का लक्ष्य है, सामाजिक ससारी का नहीं। यह पूर्ण मानव-जीवन नही है। वासनाओ का ह्रास, वुद्धि द्वारा नियन्त्रण अवश्य होना चाहिये। इनको सर्वभूत के हित के लिये नियन्त्रित करना चाहिये। आत्म-प्रेम को मानव-प्रेम में परिणत करना चाहिये। त्यागी जीवन अपूर्ण है।

४. वुद्धिपरतावाद की अच्छाइयाँ।

वुद्धिपरतावाद एक महत्त्वपूर्ण तथ्य के ऊपर वल देता है कि वुद्धि युक्ति के जीवन का नियामक तत्व है। किन्तु यह मनुष्य-जीवन को वासना-शून्य विशुद्ध-वुद्धि पर जीवन समझने की भूल करता है। वासना नैतिक जीवन का उपादान है। वुद्धि उसे आकार या नैतिक नियम देती है। वह नैतिक नियम के अनुसार उसको नियन्त्रित और परिमार्जित करती है।

वुद्धिपरतावाद कर्त्तव्य अथवा नैतिक वाध्यता के प्रत्यय के ऊपर वल देता है। वह 'है' और 'होना चाहिये' के भेद का निर्देश करता है। वह मानता है कि नैतिक उद्देश्य निसर्गत एक आदश है जिसकी सिद्धि होनी चाहिये। किन्तु, वह हमें नैतिक आदर्श का आकार-मात्र देता है। उपादान वासना से मिलना चाहिये। कान्ट नैतिक जीवन में वासना को स्थान नही देता।

वुद्धिपरतावाद विवेकवुक्त होने के कारण मनुष्य के गौरव और स्वातन्त्र्य पर वल देता है, क्योकि मनुष्य को प्रकृति से अपनी अनन्त वौद्धिक उच्चता को जताना है। उसका अच्छा जीवन वुद्धिपर जीवन है, पशु-जीवन अर्थात् विलासी जीवन नही। मनुष्य की अच्छाई वुद्धि अथवा आत्मा के द्वारा वासनाओ को अधीनस्थ रखने में है।

यह निस्सन्देह सत्य है कि आत्म-त्याग आत्म-लाभ के हेतुओ में से एक है। व्यक्ति और जाति के नैतिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में नैतिक जीवन के निषेधात्मक तत्व अथवा त्याग को प्राधान्य मिलना चाहिये। नैतिक जीवन का प्रारम्भ

आत्म-नियन्त्रण और आत्म-निषेध से होता है, और इस निषेधात्मक-तत्व का पूर्णविलोप कदापि नही होगा। किन्तु, यह आत्म-लाभ का साधन-मात्र है, जो कि वासनामय के जीवन का उच्च जीवन में परिष्कार कर देने से होता है।

कान्ट 'सत्' को उपयोगिता से भिन्न समझता है। कान्ट के मत से सत् दूरदर्शी-स्वार्थ की छाया से भी दूर है। दूरदर्शी-स्वार्थ का धर्म मे कोई सम्वन्ध नही है। 'मनुष्य के अधिकारों' का अनुमान कान्ट के 'प्रत्येक व्यक्ति में अवस्थित मानवता' के सिद्धान्त से हुआ, न कि बेंथम के 'प्रत्येक की गिनती एक है और एक मे अधिक किसी की नहीं' के सिद्धान्त से। मनुष्य स्वय-साध्य है, अपने का या दूसरो का साधन नहीं। मनुष्य के अधिकारो का इससे निगमन होता है।

५. धर्म नैतिक नियम के विषय में प्रभाकर के विचार।

न्याय-दर्शन धर्म को एक निश्चित गुण मानता है। परन्तु एक प्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर धर्म को नियोग अथवा एक वस्तुगत नैतिक आदेश मानते हैं जो वैदिक आज्ञाओ में सन्निहित है। उनका कहना है कि धर्म वैयक्तिक नही है आत्मगत नहीं है, परन्तु वस्तुगत है। जो व्यक्ति धर्म का पालन करता है वह गुणवान् कहलाता है। धर्म इन्द्रियो की अनुभूति से परे नैतिक नियम अथवा नियोग है। यह श्रेयस की प्राप्ति कराता है। इसका बोध वैदिक आज्ञाओ में प्राप्त होता है। धर्म व्यक्तिगत आदेश नही हैं। न्याय इसे ईश्वरीय आदेश मानता है। परन्तु वह अन्यापेक्ष नही है। यह अव्यक्तिगत आदेश है और यह इसका अधिष्ठान स्वय भूत है। धर्म की स्वतत्र सत्ता होती है। यह अपनी सत्ता किसी व्यक्ति से प्राप्त नही करता। यह स्वय प्रकट होने वाला तथा आत्म-सत्तात्मक है। यह अपनी सत्ता किसी परोक्ष अथवा अलक्ष्य से प्राप्त नही करता। यह सर्वोच्च अव्यक्तिगत नैतिक नियम है। धर्म स्वय सिद्ध होता है। मनुष्य अपनी इच्छा से उसका निर्माण नही करता। यह एक प्रकार से कर्त्तव्य स्वरूप है। यह बाध्य-कारक नही है। यह स्वय ही अपना लक्ष्य है। यह किसी अन्य परोक्ष लक्ष्य की प्राप्ति का साधन नही है। धर्म का पालन धर्म के लिये ही करना चाहिये। कर्त्तव्य का पालन कर्त्तव्य के लिये होना चाहिये। फल की इच्छा अथवा उसका विचार किये बिना नियोग (धर्म) अनुसरण करना ही नैतिकता है। प्रभाकर का यह विचार कान्ट के विचार के सदृश है। परन्तु कान्ट का निरपेक्ष आदेश व्यवहारिक बुद्धि का वस्तुगत नियम है। परन्तु प्रभाकर का नियोग नैतिक व्यवस्था का एक इन्द्रियातीत नियम है। निरपेक्ष आदेश कर्त्तव्य स्वरूप है। परन्तु प्रभाकर का नियोग अथवा नैतिक नियम एक परम सत्ता अथवा स्वयसिद्ध है। इस प्रकार प्रभाकर और कान्ट दोनो ही बुद्धिवाद और कठोरतावाद का समर्थन करते हैं परन्तु उनके विचारो में पर्याप्त भिन्नता है।

(जे० एन० सिन्हा इन्ट्रोडक्शन टु इन्डियन फिलासफी, पृष्ठ २८९—२९०)

६. भगवद् गीता तथा कान्ट का नीति-शास्त्र ।

गीता समज में व्यक्ति के स्थान अथवा जाति से सम्बन्धित कर्त्तव्यो के पालन पर जोर देती है । उसका मत है कि कर्त्तव्यो के पालन में फल को कोई आकांक्षा, राग-द्वेष, स्वार्थ-परायण एवं निम्न-कोटि की भावनाओ और मनोवेगो का कोई स्थान नही होना चाहिये । कर्त्तव्यो का पालन कर्त्तव्यो के लिए ही होना चाहिये (अध्याय १८ श्लोक) । यहाँ तक गीता के उपदेशो और कान्ट के विचारो में समानता पाई जाती है । सर्वप्रथम तो गीता ईश्वर की प्राप्ति को सर्वोच्च शुभ मानती है । ईश्वर की प्राप्ति के लिये ही कर्त्तव्यो का पालन होना चाहिये । (अध्याय १२, श्लोक ४) । कान्ट ईश्वर की प्राप्ति को सर्वोच्च शुभ नही मानता । दूसरे गीता लोकसंग्रह की दृष्टि से कर्तव्य पालन पर बल देती है । कर्तव्यों का पालन समस्त प्राणियो की हित की दृष्टि से होना चाहिए । गीता के १२ अध्याय और चौथे श्लोक में कहा है— 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितरता ।" यहाँ हित का अर्थ सुख नही है वरन् नैतिक शुभ है । समाज का सर्वोच्च सामान्य हित ही व्यक्ति का मान्य हित है । यह व्यक्ति को ईश्वर की ओर ले जाता है । (अध्याय १२, श्लोक ४) । कान्ट चरित्र गुण अथवा सत् इच्छा को सर्वोच्च हित मानता है । यह व्यक्ति का हित है । कान्ट चरित्र गुण और आनन्द के पूर्ण समन्वय को पूर्ण शुभ मानता है । यही व्यक्तिगत शुभ भी है । साध्यो के साम्राज्य (Kingdom of ends) का कान्ट का विचार गीता के लोक-संग्रह विचार से मिलता जुलता है । वह सत् की धारणा, नैतिक नियम तथा निरपेक्ष आदेश पर बल देता है । उसने शुभ को सत से उच्च नही माना है । उसका नीति-शास्त्र वैधानिक सा है परन्तु गीता का नीति-शास्त्र लक्ष्य-प्रधान है । कान्ट का नीति-शास्त्र व्यक्तिगत है और गीता का विश्वगत है । तीसरे, काण्ट का नीति-शास्त्र एक प्रकार का सन्यासवाद है परन्तु गीता सन्यास का समर्थन नही करती । काण्ट भावनाओ और मनोवेगो को कुचल डालने के पक्ष में हैं परन्तु गीता सभी भावनाओ को कुचलने का आदेश नही देती । राग, द्वेष, अविद्या (अज्ञान), मोह, भय, क्रोध, दु.ख, घृणा, द्रोह, ईर्षा, द्रोह, दुर्भावना तथा अन्य दोषपूर्ण मनोवेगों और पशु प्रवत्तियो को नष्ट कर देना चाहिये । (अध्याय १८ श्लोक ५३, २. ६४, ३ ३७, ४१, ४ १०, २२, ५. २३, २६, २८, १२ १५, १५ ५, १६ ४, १०, १२, १६, १८, २१) । परन्तु जीवमात्र के प्रति सदिच्छा और प्रेम, दु खियो के प्रति सहानुभूति, अपराधियो के प्रति क्षमा, सतोष, उदासीनता शांति, मानसिक सतुलन, ईश्वर में आस्था और श्रद्धा का विकास किया जाना चाहिये (१६ २, १३ ८, १२ १३, १६, १८, २०, ११ ५५) । ईश्वर, मनुष्य और जीव-मात्र के प्रति प्रेम को नही मिटाना चाहिये । काण्ट का नीति-शास्त्र सन्यासवादी है । परन्तु गीता का नीति-शास्त्र ऐसा नही है । यह नि स्वार्थ भाव से मानवता की सेवा द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का नीति-शास्त्र है । यह

मानवता के नैतिक हित के लिये अपने निश्चित कर्तव्यो के पालन का शास्त्र है (१२,४)। चौथे, गीता का नीति-शास्त्र धार्मिक अथवा नैतिक है। काण्ट के धर्म सिद्धान्त से इसका कोई सम्बन्ध नही है। गीता कर्म-ज्ञान और भक्तियोग का समन्वय है। कर्मी के लिये कर्मयोग, ज्ञानी के लिये ज्ञानयोग एव भक्त के लिये भक्तियोग है। काण्ट इन तीनो की चर्चा नही करता है। इसलिये काण्ट के नीति-शास्त्र में ऊपरी समानता दिखाई पडती है। गीता का नीति-शास्त्र बुद्धिवाद की अपेक्षा आत्म-पूर्णतावाद आत्म-पलब्धिवाद के अधिक निकट है।

७. गीता का नीति शास्त्र अथवा कर्मयोग।

अकर्म से कर्म उत्तम है। जीवन कर्म पर निर्भर है। कोई भी व्यक्ति एक भी क्षण के लिये निष्क्रिय नही रह सकता। (अध्याय ३ श्लोक ५, १८·११)। निष्क्रियता मृत्यु के सदृश है (अध्याय ३, श्लोक ८)। गुण और कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण माने गये हैं (अध्याय ४, श्लोक १३)। सत्व, रज, तथा तम उनके स्वभाव की विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां हैं। ब्राह्मणो में सत्व प्रधान होता है तथा क्षत्रियो में रज। क्षत्रियो से सत्व रज की अधीनता में रहता है। वैश्यो में भी रज प्रधान होता है, उनमें तम रज के आधीन रहता है। शूद्रो मे तम प्रधान होता है, उनमें रज तम के आधीन रहता है। (शकराचार्य गीता-भाष्य, अध्याय ४, श्लोक १३)। उनके कर्तव्य स्वभाव-नियत कर्म होते हैं (अ० १८, श्लो० ४१)। वे अपने नियत-कर्म के पालन द्वारा सर्वोच्च व्यक्तिगत एव सामाजिक हित की प्राप्ति कर सकते हैं। यदि वे भिन्न मानसिक स्वभाव के लोगो के कर्तव्यो अर्थात् पर-धर्म का अनुसरण करेंगे तो वे समाज में अनुपयुक्त रहेंगे (अ० १८, श्लो० ४७)।

गीता भी ब्रेडले की भांति (मेरा स्थान और उससे सम्बन्धित कर्तव्य) यह धारणा लेकर चलती है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ मानसिक रुचियां लेकर उत्पन्न होता है। समाज में उसका स्थान इन रुचियो द्वारा ही निर्धारित होता है। समाज के भीतर अपने स्थान के उपयुक्त नियत कर्तव्यो का पालन करके ही वह समाज का हित तथा अपने वास्तविक स्वरूप का हित कर सकता है। ब्रेडले की इस धारणा को गीता ने स्व-धर्म का नाम दिया है जो स्वभाव के अनुसार निश्चित होता है (अध्याय १८ श्लोक ४७)। गीता स्व-धर्म के पालन को लोक-सग्रह एव भगवद् प्राप्ति की दृष्टि से महत्व देती है। परन्तु ब्रेडले का मत है कि समाज के भीतर अपने स्थान से सम्बन्धित कर्तव्यो का पालन करके व्यक्ति आत्मलाभ करता है अर्थात् उसे अपने अनन्त और अमर स्वरूप की प्राप्ति होती है।

गीता चारो वर्णों के कर्तव्यो का वर्णन क्रमश इस प्रकार करती है। ब्राह्मणों को इन्द्रिय निग्रह, मनस् निग्रह अथवा मानसिक सतुलन, तपस्या, शुचिता, क्षमाशीलता,

निर्भीकता, बुद्धिमत्ता, ज्ञान एव श्रद्धा के गुणो का संचय करना चाहिये (१८ ४२)। क्षत्रियो को शूरता, साहस, दृढता, कष्ट-साध्यता एव युद्ध से पराङ्मुख न होने, सहृदयता तथा शक्तिशालिता के गुणो का विकास करना चाहिए। उन्हें न्यायसगत युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिये (२ ३१, ३२)। वैश्यो को पशु-पालन, कृषि, व्यापार एव वाणिज्य कार्य करना चाहिये एव शूद्रो को उच्च वर्णों की सेवा (१८ ४४)। वर्ण गुण पर आधारित है, भिन्नवृत्तिक समूह हैं। वे वशगत नही प्रतीत होते। महर्षि अरविन्द का भी यही मत है। व्यक्ति अपने नियत कर्मों का पालन करके ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। वह कर्म के द्वारा ईश्वर की पूजा करता है (१८ · ४५–६)।

गीता के अठारवें अध्याय में कहा है —"श्रेयान् स्वधर्मो विगुण परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वाभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् (४७)।" पर धर्म श्रेष्ठ होने पर भी अपना विगुण धर्म भी अच्छा है। स्वभाव के अनुरूप कार्य करने वाले को पाप नही लगता है।

नियत कर्म का पालन राग और द्वेष अथवा फलोपभोग की इच्छा के विना किया जाना चाहिये (२ ४७, ५१, ३ ८, १९, ५ १०, १२, ६ १, २, ४, १७ २५, १८ ६)। हमें केवल कर्म करने का अधिकार है, फल की प्राप्ति का नही (२ ४७)। नियत कर्मों के पालन का एक नैतिक दायित्व है। परन्तु उनका फल ईश्वर की इच्छा पर निर्भर होता है। हमें अपने कार्यों के फल को परमेश्वर को समर्पित करना चाहिये (१२ ६)। फल के पीछे भटकने वाले दया के पात्र है (२ ४९)। हमें अपने कार्य परमेश्वर को समर्पित करना चाहिये (३ ३०, ५ १३; १२ ६)। हमें अपने कर्तव्यो का पालन लाभ-हानि की चिन्ता किये विना निश्चित रूप से कर्म करना चाहिये (२ ४७, ४ २२)। गीता कर्मफल त्याग पर वल देती है। फलेच्छा वन्धन का कारण है तथा फलेच्छा का परित्याग परम शान्ति प्रदान करता है (५ १२, ६ २८)। जो व्यक्ति कर्म-फल का परित्याग करके कर्म करता है वह सन्यासी है, वह योगी है (६ २, २)। सच्चा त्याग समस्त कर्म के फल का त्याग है। (१८ २, ११)। अपने सहज और नियत कर्म का पालन आसक्ति और फलेच्छा को त्याग कर करना ही सात्विक त्याग है (१८ ६, २३, ४७, ४८)। गीता का नीति-शास्त्र कान्ट की भाँति सुखवाद और उपयोगितावाद का विरोधी है।

हमें अपने कर्मों में प्रेम और घृणा, राग और द्वेष, अस्मिता और अहकार, काम और क्रोध, ईर्पा तथा लोभ, आत्म-प्रशसा और पाखण्ड, द्रोह और हिंसा तथा इनके अतिरिक्त अन्य-निम्नकोटि के मनोवेगो और सवेगो द्वारा परिचालित नही होना चाहिये। (१८ ५३, १६ . ४, १०, १२, १६, १८, २१, १५ . ५, १२ १५)। हमें समता का विकास करना चाहिये (१४ २४, २५, १२ १८)। सफलता और

असफलता, सुख और दुख, जय-पराजय, लाभ और हानि इन सब निम्नतर इच्छाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिये (२ ३८, ४८, १२ १३, १७, १९)। लाभ की अवस्था में हर्ष और सुख तथा हानि की अवस्था में खेद और दुख पर विजय प्राप्त करनी चाहिये (१२ १७, २ ५७)। स्वार्थ-प्रधान इच्छाओं का दमन करना चाहिए (२ ७१)। समस्त अहं-प्रधान इच्छाओं को ईश्वर की ओर मोड कर मानवता की सेवा में लगा देना चाहिये। उनको श्रेष्ठतर बना कर तथा उनका दैवीकरण करके उन्हें परमार्थमूलक इच्छाओं में परिवर्तित कर देना चाहिये। यहाँ तक गीता का नीति-शास्त्र कान्ट के बुद्धिवाद के समान ही है। परन्तु गीता समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम एवं सदिच्छा, दुखियों के प्रति सहानुभूति, सब के प्रति सद्व्यवहार व दया, अपराधियों के लिये क्षमा, सभ्यता, नम्रता, सन्तोष, निर्भयता, आत्म त्याग के प्रयोग का निषेध नहीं करती (११ ५५, १२ १३, १६, १६ २, ३)। पत्नी, पुत्र एवं परिवार के संकुचित प्रेम से ऊपर उठना चाहिये (१३ १०)। सबके प्रति व्यापक प्रेम का विकास करना चाहिये। सबभूत-हित तथा लोकसंग्रह हमारे कर्म के प्रयोजन होने चाहियें (१२ ४, ३ २०)। स्वार्थ को नष्ट कर देना चाहिये। स्वार्थ-रहित मानवता का विकास करना चाहिये (२ ७१)। गीता अहं-प्रधान-इच्छाओं को दैवीकरण द्वारा परार्थमूलक इच्छाओं में परिवर्तित करने के पक्ष में है। गीता संवेदना तथा इच्छारहित अकर्म के पक्ष में नहीं है। कर्म का त्याग संन्यास नहीं है। इससे कभी भी पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती (३ ४)। कर्मों के फल का ईश्वर में समर्पण ही सच्चा संन्यास है। नियत कर्तव्यों के सतत एवं त्रुटिरहित पालन ही सच्चा संन्यास है। संकीर्ण स्वार्थमूलक इच्छाओं का त्याग तथा स्वार्थरहित इच्छाओं का विकास सच्चा संन्यास है। गीता का नीति-शास्त्र कर्मयोग का शास्त्र है (३ ४)। यह अकर्मवाद अथवा कर्म के त्याग का नीति-शास्त्र नहीं है। यह असामाजिक नहीं है। यह कर्म-संन्यास का मार्ग भी नहीं है (५ २)। यह मानवता के हित की स्वार्थरहित खोज के द्वारा व्यक्ति के सर्वोच्च हित अथवा ईश्वर-प्राप्ति का नीति-शास्त्र है। अत इसे संन्यासवाद नीति-शास्त्र नहीं कह सकते।

गीता कर्मकाण्ड तथा औपचारिकता का खण्डन करती है। बाह्य-कर्मकाण्ड से यह आवश्यक नहीं है कि आत्मा का आन्तरिक जीवन पवित्र हो ही जाये। यह आन्तरिक प्रयोजनों और अभिप्रायों की पवित्रता पर बल देती है (४ · २३, ३३)। यह संकल्प शक्ति के नैतिक-करण तथा आत्मा के पवित्रीकरण पर तथा ईश्वरीय इच्छा के सन्मुख मानवीय-इच्छा के सम्पूर्ण समर्पण अर्थात् सीमित आत्मा की परमात्मा के साथ पूर्ण आत्मीयता पर बहुत बल देती है (१८ ६१, ६२, ६६)।

गीता अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य-सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार रहितता, जन्म-मरण

व्याध आदि दुखो का निरन्तर भान, अनासक्ति, अमोह, समचित्तता (१३ : ८–१०) तुष्टि, तप, दान ज्ञान, सत्य, दम, शम (१० : ४, ५), समस्त प्राणियो के प्रति प्रेम, करुणा तथा दृढ निश्चय (१२ : १३, १४) आदि गुणो के विकास का पाठ सिखाती है।

अध्याय १३
आत्म-पूर्णतावाद

१. आत्म-विकास का नीति-शास्त्र।

आत्मपूर्णतावाद के अनुसार पूर्णता अथवा आत्म विकास ही परम मगल है। इसे आत्म-कल्याणवाद भी कह सकते हैं। आत्मा का कल्याण वासनाओ और इच्छाओ को बुद्धि के अधीनस्थ करने में है। आत्म-प्रसाद की प्राप्ति इच्छाओ के सामजस्य मे होती है जिसका कारण बुद्धि है। इस मत को व्यक्तित्व-का नीति-शास्त्र भी कहते हैं। आत्म-पूर्णता व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास से होता है। आत्म-विकास समाज के अन्य व्यक्तियों से घनिष्ट सहयोग में आदर्श, बुद्धिमय अथवा सामाजिक-अह का विकास है। बुद्धिमय आत्मा ही आदर्श-अह है। सब अनुभूतियो, वासनाओ, मूल-प्रवृत्तियों और इच्छाओ को बुद्धि द्वारा नियन्त्रित करने में बुद्धिमय-आत्मा का लाभ हो सकता है। आदर्श-आत्मा सामाजिक आत्मा भी है। वह सकीर्ण, व्यक्तिगत अथवा निम्न-अह नही है। सामाजिक-अह का लाभ अधिक से अधिक व्यापक सामाजिक समुदायों के साथ अपने को एकाकार कर देने से होता है। कोई व्यक्ति अपने सकीर्ण व्यक्तित्व से अपने-आप को ऊपर उठा सकता है, यदि वह अपने को कुटुम्ब, सम्प्रदाय, जाति, और मानवता, तथा उनके हितो से एकाकार कर सके। प्रेम, सहयोग, और समाज-सेवा से सामाजिक-आत्मा की सिद्धि होती है। केवल समाज से ही आत्म-लाभ सम्भव है। समाज से पृथक् रहते हुए उसकी सिद्धि सम्भव नहीं। अपने व्यापक, सामान्य और सामाजिक स्वरूप को पाने के लिये अपने सकीर्ण, व्यक्तिगत और दूसरो से छिपे हुये स्वरूप का त्याग करना पडेगा। प्रेम आदर्श-आत्मा का आवश्यक लक्षण है। प्रेम की अभिव्यक्ति दूसरों के लिये जीवन व्यतीत करने में होती है। प्राणी-मात्र से प्रेम और समाज-सेवा से आत्म-सिद्धि मिलती है।

आत्म-सिद्धि का अर्थ है व्यक्तित्व का विकास। ऐसा आत्मा का अनन्त सुप्त शक्तियो का जाग्रत करने से होता है। आत्मा के अन्दर भौतिक, बौद्धिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी और नैतिक अव्यक्त शक्तियां हैं। आत्म-विकास किसी सीमा तक इन सब

शक्तियो के समान विकास से होता है, जो पूर्णतया विकसित व्यक्तित्व के लिये अनिवार्य है। किन्तु, आत्म-विकास का अर्थ इन सब बहुसंख्यक शक्तियों का चरम उत्कर्ष नहीं है। मनुष्य की शक्ति परिमित है और एक शक्ति का अधिकतम उत्कर्ष दूसरी के अधिकतम उत्कर्ष के लिये बाधक है। एक ही व्यक्ति एक बड़ा योद्धा, एक बडा विद्वान्, एक बडा कवि, एक बडा चित्रकार, एक बडा राजनीतिज्ञ, एक बडा समाज-सुधारक इत्यादि नही हो सकता। अतः उसे अपनी प्रतिभा को पहिचानना चाहिये और उसी दिशा में अपनी शक्तियों का उत्कर्ष करना चाहिये। कार्लाइल (Carlyle) कहता है कि "तुम क्या काम कर सकते हो उसे पहिचानो, और हरक्यूलीस् की तरह उस पर डट जाओ।" "तुम अपने विशेष क्षेत्र में अपने तमाम दिल, दिमाग़, आत्मा और शक्ति के साथ जुट जाओ।" (मैकेंज़ी) "मानव-प्रगति में आस्था रखो और उसके लिये जितना तुम कर सकते हो, उतना करो।" प्रत्येक व्यक्ति को समाज में अपने स्थान के अनुसार कर्त्तव्य-कर्म करना चाहिये। ब्रेडले (Bradley) का 'मेरा स्थान और तत्सम्बन्धी कर्तव्य" का विचार आत्म-लाभ के अर्थ को स्पष्ट कर देता है। मनुष्य एक विशेष सामाजिक वातावरण में विशेष योग्यताओं को लेकर उत्पन्न होता है, उसके कर्त्तव्य उन्हीं के ऊपर निर्भर हैं। उसे अपनी ही विधि से उस नैतिक ससार का पोषण और वृद्धि करनी चाहिये जिसका वह एक सदस्य है। मनुष्यों के कर्त्तव्य उनकी विशेष योग्यताओं के ऊपर अवलम्बित हैं। आत्म-विकास का अर्थ है स्वास्थ्य, ज्ञान, सौन्दर्य, और शील की सिद्धि, जो कि मानव-जीवन के आदर्श की है, और विशेष रूप से उस आदर्श सिद्धि जो किसी व्यक्ति की नैसर्गिक योग्यताओं से मेल खाता है, जो उसे अपने व्यक्तित्व की पराकाष्ठा पर पहुचा देता है, और जिसके द्वारा वह मानवता के उत्कर्ष में यथासम्भव सहायता कर सकता है। अत अलग अलग व्यक्तियों की आत्म-पूर्णता अलग अलग योग्यताओं के विकास पर निर्भर हैं। किन्तु, प्रत्येक दशा में उसका अर्थ समाज के सहयोग और घनिष्ट सन्निधि में आदर्श, बुद्धिमय, और सामाजिक-अहं की प्राप्ति है। आत्म-लाभ केवल आत्म-त्याग से ही सम्भव है। आत्म-लाभ बुद्धिमय-अहं के द्वारा इन्द्रियमय-अहं के नियन्त्रण और परिष्कार में है। उसके साथ आनन्द-लाभ भी होता है जो पूर्णता का चिह्न है। आनन्द आत्म-लब्धि की अनुभूति है। वह इच्छाओं को व्यवस्थित करने में है।

आत्मा का प्रकृत ठोस स्वरूप—सुखवाद आत्मा को विशुद्ध इन्द्रियमय और उसकी तृप्ति को परम मगल समझता है। बुद्धिपरतावाद आत्मा को विशुद्ध बुद्धिमय और उसकी सिद्धि को परम शुभ समझता है। आत्म-पूर्णतावाद आत्मा को इन्द्रियमय तथा बुद्धिमय दोनो, और पूर्ण आत्मा की सिद्धि को सर्वोच्च शुभ समझता है। सुखवाद आत्मा को सवेदनों, अनुभूतियो और मनोवेगो की एक धारा (विज्ञान-सन्तान) समझता है। बुद्धिपरतावाद आत्मा को पूर्णतया बौद्धिक-स्वभाव का और वासनाओं

को उसके स्वभाव के लिये विजातीय तत्व समझता है। आत्म-पूर्णतावाद के अनुसार आत्मा कामनाओं और बुद्धि का आवश्यक ऐक्य है। आत्मा एक अविनाशी आध्यात्मिक तत्व है जिसमें बुद्धि वासनाओं को व्यवस्थित और नियन्त्रित करती है,—दोनों का आत्मा के अन्दर उचित स्थान और कार्य है। सुखवाद सुख को परम शुभ समझता है। बुद्धि-परतावाद के अनुसार वासनाओं का विलोप और शुद्ध बुद्धिमय-जीवन ही आत्यन्तिक मगल है। आत्मपूर्णतावाद के अनुसार ठोस, पूर्ण आत्मा अर्थात् वासनामय और बुद्धिमय दोनों की पूर्णता ही सर्वोच्च शुभ है। इसका अर्थ है उच्च अथवा बुद्धिमय-आत्मा के द्वारा निम्न अथवा इन्द्रियमय-आत्मा का नियन्त्रण और परिष्कार। इस प्रकार आत्मपूर्णतावाद का आधार आत्मा का ठोस स्वरूप है।

हीन और उच्च व्यक्तित्व— मनुष्य की एक हीन और एक उच्च प्रकृति है। हीन-प्रकृति इन्द्रियमय है, और उच्च प्रकृति विवेकमय। एक वासनामय हीन व्यक्तित्व है, और दूसरा बुद्धिमय उच्च व्यक्तित्व। हीन-व्यक्तित्व प्रत्येक का अपना अलग अलग होता है, उच्च व्यक्तित्व एक सामान्य जीवन में होता है। जहाँ तक व्यक्ति वासना के क्रीत-दास होते हैं, वहाँ तक उनके हितो में विरोध रहता है। जब वे बुद्धि के अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हैं तो उनके हित समान हो जाते है। मनुष्य का दूसरे मनुष्यो के हितो से विरोध तब होता है जब वह वासनाओं और प्रवृत्तियो का दास हो जाता है जो तृप्ति चाहती हैं और उसे दूसरे व्यक्तियो के साथ सघर्ष करने के लिये प्रेरित करती हैं। जब मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियो को दवाने के लिए बुद्धि का प्रयोग करता है, और दूसरो में अपना ही प्रतिविम्ब देखता है, तो उनके हितो से उसके हितो का अभेद हो जाता है। नैतिक जीवन सकीर्ण स्वार्थ पर जीवन से व्यापक परार्थ पर जीवन है।

सुखवाद और बुद्धिपरतावाद का समन्वय— "जिस प्रकार सुखवाद की पुकार आत्म-तुष्टि है, और बुद्धिपरतावाद की आत्म-त्याग या आत्म-निषेध है, उसी प्रकार आत्मपूर्णतावाद की पुकार आत्म-लाभ कही जा सकती है।"* आत्म-लाभ सभी प्रकार के नैतिक सिद्धान्तो के द्वारा परम मगल माना जा सकता है। "प्रश्न यह है कि आत्मा का स्वरूप क्या है? कौन से आत्मा का लाभ होना चाहिये? सुखवाद का उत्तर है वासनामय आत्मा का, बुद्धिपरतावाद का उत्तर है बुद्धिमय आत्मा का, आत्मपूर्णतावाद का है पूर्ण आत्मा का, वासनामय का भी और बुद्धिमय का भी।"†

सुखवाद इन्द्रियपरता के अधिकार को मान्यता देता है। बुद्धिपरतावाद बुद्धि

---

* सेथ।

† सेथ।

के अधिकार को मान्यता देता है। आत्मपूर्णतावाद दोनो के अधिकारो को मान्यता देता है। दोनो मानव-स्वभाव के आवश्यक अग है। मानव-स्वभाव में दोनो के उपयुक्त स्थान और कार्य हैं। अनुभूतिया और इच्छायें नैतिक जीवन के उपादान हैं। वुद्धि नैतिक जीवन के आकार को, नैतिक नियम को देती है। नैतिक जीवन वासनाओ को नियन्त्रित करके उसे विवेकमय जीवन के वाहन के रूप में परिवर्तित कर देने में है। आत्मपूर्णतावाद वासनामय जीवन को वुद्धिमय जीवन मे एक कर देने का प्रयास करता है। वासनायें अनिवार्यत अबौद्धिक नही हैं। वे नैतिक जीवन का उपादान हैं। वुद्धि का कार्य उन्हें परिष्कृत करना है। वुद्धि अनुभूतियो, वासनाओ और इच्छाओ को नियन्त्रित करके उनमें सामजस्य स्थापित कर देती है। "नैतिकता अथवा नैतिक जीवन उसे कहा जा सकता है जो मनुष्य की उच्च और हीन प्रकृतियो के विरोध को हल करता है, जिससे हीन प्रकृति उच्च प्रकृति को अभिव्यक्त करने वाले रूप में परिवर्तित हो जाती है।"* वासनाओ के विनाश से नैतिक जीवन का ही अपहरण हो सकता है, क्योंकि उसके साथ नैतिकता के उपादान का भी विनाश हो जाता है। वुद्धि शून्य में कार्य नही कर सकती। वह अनुभूतियो और इच्छाओ के ऊपर काम करती है, उनका नियन्त्रण और शासन करती है, और वुद्धिमय जीवन के साथ उनका सामजस्य स्थापित करती है। इच्छाओ और अनुभूतियो का ध्वस आध्यात्मिक जीवन को अकिंचन बना देता है। आत्म-लाभ का अर्थ यह है कि विविक्त इच्छाओ को स्वतन्त्र-रूप से अपनी तुष्टि कर देने की अपेक्षा परस्पर सगठित और मैत्रीयुक्त बनाया जाय, ताकि वे वुद्धिमय जीवन के वाहक बन जाय। इस प्रकार आत्मपूर्णतावाद सुखवाद और वुद्धिपरतावाद का समन्वय कर देता है। वुद्धि द्वारा वासनायो का नियन्त्रण तथा परिवर्तन नैतिक जीवन के आवश्यक अग हैं, इनका विनाश नहीं।

सुख और आनन्द—सुखवाद सुख को परम मगल मानता है। आत्मपूर्णतावाद आत्म-लाभ को परम मगल मानता है। आत्म-लाभ इन्द्रियपरता का वुद्धिपरता से योग करने में होता है। जब अनुभूतियाँ और इच्छायें बुद्धि के द्वारा एक व्यवस्था में बाँध दी जाती हैं तो उससे आनन्द उत्पन्न होता है। सुख की अनुभूति क्षणिक वासनाओं और विविक्त इच्छाओ की तृप्ति से होता है, आनन्द का उद्भव वासनाओ और इच्छाओं को नियन्त्रित और व्यवस्थित करने से होता है। सुख क्षणिक होता है, आनन्द स्थायी। सुख वासनायो की तृप्ति से होता है, आनन्द वासनायो के वुद्धिसगत होने से। सुख अल्पस्थायी और इन्द्रियजन्य होता है, आनन्द चिरस्थायी और वुद्धि-जन्य। आनन्द का लाभ अलग अलग इच्छाओं की पूर्ति से अथवा इच्छाओ की अधिक-तम सख्या की तृप्ति से नहीं होता, वल्कि इच्छाओं को नियन्त्रित और व्यवस्थित करने से होता है।

---

* जान केयर्ड।

पूर्णता अथवा सम्पूर्ण आत्म का विकास वासनामय और बुद्धिमय दोनो का लाभ आत्यन्तिक मगल है। किन्तु आत्म-लाभ से आनन्द का भी लाभ होता है। आनन्द जो सुख से भिन्न है, चरम कल्याण नही है। आनन्द आत्म लाभ का सूचक है। वह अनिवार्यत. उसके साथ पाया जाता है। इस प्रकार आत्म-पूर्णतावाद नैतिक जीवन में आनन्द के महत्व को स्वीकार करता है। एक सच्चा सदाचारी-जीवन आनन्द-युक्त जीवन है। सुसगत जीवन आनन्दमय जीवन होता है। जब मानव-स्वभाव के प्रतियोगी तत्वों का सघर्ष समाप्त हो जाता है और आत्मा के अन्दर शान्ति आ जाती है, तो वह आनन्दातिरेक से पूरा हो जाता है। किन्तु आनन्द स्वयमेव परम-शुभ नही है। आत्मपूर्णतावाद आत्मप्रसादवाद भी कहलाता है।

नैतिक जीवन आनन्दहीन नही है। पूर्णता शान्तिमय और आनन्दमय है। परन्तु आनन्द नीति का चरम उद्देश्य नहीं है। पूर्णता ही चरम लक्ष्य है। अत आत्मपूर्णतावाद को सुखवाद कहना भ्रान्त है, जैसा राशडैल कहता है। यह आनन्द पूर्णता का चिन्ह है। यह परम मगल नही है। सुखवाद तथा बुद्धिपरतावाद का समन्वय है।

स्वार्थ और परार्थ का समन्वय—आत्म-लाभ परम शुभ है। इसका अर्थ हीन-आत्मा के नियन्त्रण-पूर्वक उच्च अथवा आदर्श आत्मा की सिद्धि है। उच्च आत्मा बुद्धिमय-आत्मा है। हीन-आत्म वासनामय अथवा पाशविक आत्मा है। हमें उच्च-आत्मा की प्राप्ति हीन-आत्मा को परिष्कृत करके करनी चाहिये। बुद्धिमय-आत्मा विश्वात्मा है, वह सभी परिच्छिन्न आत्माओ का सामान्य तत्व है। दो व्यक्तियो में सघर्ष वहीं तक होता है जहाँ तक उनमें इन्द्रियपरता पाई जाती है। उनके हितो में अविरोध वहीं तक होता है जहाँ तक उनमें बुद्धिपरता पाई जाती है। उच्च आत्मा बुद्धिमय-आत्मा है, बुद्धिमय-आत्मा सामाजिक-आत्मा है। उसका लाभ समाज में ही होता है। जितना ही अधिक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत, विशेष, सकीर्ण आत्मा का निषेध करता है और सम्प्रदाय, जाति, तथा मानवता के साथ अपने को एकाकार करता है, उतनी ही अधिक उसे अपने वास्तविक, उच्च, आदर्श, बौद्धिक, अथवा सामाजिक स्वरूप की उपलब्धि होती है। इस प्रकार उच्च आत्मा के दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति अथवा जीवात्मा प्रत्येक दूसरे जीवात्मा में अपनी झलक, अपना पूरक देखता है।

आत्मपूर्णतावाद के दृष्टिकोण के स्वार्थ और परार्थ में कोई विरोध नहीं है। आत्मा का उच्चतम मगल उच्चतम सामाजिक मगल है। उच्चतम वैयक्तिक शुभ और उच्चतम सामाजिक शुभ में पूर्ण अभेद है। सुखवादी शुभ आत्मगत और वैयक्तिक है। सामान्य शुभ पूर्ण-आत्मा का—वासनामय और बुद्धिपर दोनो का शुभ है। वह वासनाओ का बुद्धि से सामजस्य है और उसमे आनन्द का जन्म होता है।

आत्म-त्याग के द्वारा आत्म-लाभ—आत्म-लाभ केवल आत्मोत्सर्ग अथवा आत्म-निषेध के द्वारा ही सम्भव है। हमें अपने बुद्धिमय आत्मा के लाभ के हेतु अपने पाशविक आत्मा का उत्सग करना होगा। हमें अपन उच्चतर और व्यापक स्वरूप को प्राप्त करने के लिये अपने व्यक्तिगत और सकीर्ण वरूप का वलिदान करना होगा। "हमारे लिये सच्चे आत्मा अथवा सम्पूर्ण शुभ की उपलब्धि केवल सामाजिक लक्ष्यो की सिद्धि के द्वारा ही सम्भव है। ऐसा करने के लिये हमें अपने वैयक्तिक आत्मा का निषेध करना होगा, जो कि सच्चा आत्मा नही है। हमें आत्मोत्सर्ग के द्वारा आत्म-लाभ करना होगा।"* हम अपने उच्चतर-आत्मा का विकास अपने साथियो से विविक्त होकर नही कर सकते, वल्कि कुटुम्व, सम्प्रदाय, राज्य, और मानवता में रहते हुये उनके साथ सजीव और सक्रिय सहयोग करके कर सकते हैं। सामाजिक सस्थायें वे माध्यम है जिनके द्वारा हम अपने उच्च आत्मा या व्यक्तित्व को प्राप्त कर सकते है। इस प्रकार आत्म-लाभ का अर्थ समाज के द्वारा मानव-व्यक्तित्व की पूर्णता प्राप्त करना है। आत्मा का परम कल्याण व्यक्तिगत कल्याण भी है और सामाजिक कल्याण भी। हमें न तो एकान्त-रूप से अपने ही व्यक्तिगत शुभ का लाभ करना चाहिये, न केवल समाज के शुभ का, वल्कि एक समाज-रूपी इकाई के अगभूत अपने तथा अन्यो के भी शुभ का लाभ करना चाहिये। मैकेंजी कहता है कि आत्यन्तिक मगल एक बुद्धिमय-विश्व का निर्माण करना है, न कि केवल आत्मा का। बुद्धिमय-विश्व भौतिक, सामाजिक आर्थिक तथा राष्ट्रीय अमगल से वर्जित होना चाहिये। अशुभहीन विश्व का निर्माण चरम लक्ष्य है। इससे व्यक्ति की पूर्णता-प्राप्ति हो सकती है।

जब व्यक्ति अपने सकीर्ण, व्यक्तिगत और विशेष आत्मा से ऊपर उठकर स्वय को कुटुम्ब, सम्प्रदाय, राज्य, और मनुष्य-जाति के अधिक विस्तीर्ण और सम्पन्न जीवन से एकाकार कर देता है, तो विश्वव्यापी जीवन की शक्ति अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है।

अन्त करण का अर्थ—आत्मपूर्णतावाद के अनुसार, अन्त करण सम्पूर्ण अथवा सच्चा आत्मा है, अपने अशो के लिये नियम निर्माण करना जिसका अधिकार है। आत्म-ज्ञान और बुद्धि से सम्पन्न होने के कारण इच्छाकृत कर्मों में अपनी ही अभिव्यक्ति के सदसत् का निर्णय करना उसका अधिकार है। उसकी आवाज़ सच्चे आत्मा की आवाज़ है जो आंशिक-आत्मा के लिये आदेश है।† इस प्रकार अन्त करण सम्पूर्ण-आत्मा के साथ एकाकार है। नैतिक नियम को आत्मा अपने ही ऊपर लागू करता है। वह एक बाह्य नियम नहीं है, बल्कि अपना ही आन्तरिक नियम है। आन्तरिक नियम होने के लिये उसे सम्पूर्ण आत्मा का नियम होना है, उसके अश-

* मैकेंजी।

† म्यूरहेड।

विशेष का नही। यदि वह अंश-मात्र का नियम है, तो फिर भी वह आत्मा का बहिर्गत है, और उस अवस्था में आत्मा को एक बाह्य नियम के सम्मुख नत मस्तक होना पडेगा।

कर्तव्य अथवा नैतिक बाध्यता का अर्थ—नैतिक बाध्यता को आत्मा स्वय अपने ऊपर लादना है। आदर्श अथवा बुद्धिमय-अह वास्तविक अथवा वासनामय अह को कर्तव्य करने के लिये बाध्य करता है। नैतिक बाध्यता का उद्गम आत्मा के बहिःस्थ कोई समाज, राज्य, अथवा ईश्वर भी नही है। उसका उद्गम स्वय आत्मा—आदर्श अथवा बुद्धिमय आत्मा है।

नैतिक चेतना में अवस्थित नैतिक बाध्यता एक आवश्यक तत्व है। उसका कदापि अतिगमन नही हो सकता। नैतिक प्रगति में उसका लोप कभी नही हो सकता। आत्म-लाभ उच्चतम शुभ है। आदर्श-आत्मा शाश्वत और अनन्त है। उसकी पूर्ण प्राप्ति कभी भी सम्भव नही है। अतः नैतिक बाध्यता नैतिक चेतना का चिरस्थायी तत्व है। आदर्श-स्वरूप का भी कभी पूर्ण विकास नही हो सकता। वह एक अनन्त आदर्श है जिसकी उपलब्धि होनी है। वास्तविक और आदर्श में निरन्तर सघर्ष है। जितनी ही अधिक नैतिक प्रगति होती है, उतना ही अधिक नैतिक आदर्श दूरस्थ और उच्चतर होता जाता है। "एक सीमित व्यक्तित्व के लिये नैतिक आदर्श की पूर्णरूप में असाध्यता और कर्त्तव्यमय जीवन की अक्षयता का कारण आदर्श-आत्मा की अनन्तता है। यह सत्य है कि आदर्श का नित्य अधिकाधिक लाभ हो रहा है। किन्तु उसको पूर्ण-रूप में उपलब्ध कर देने का अर्थ होगा नैतिक जीवन की समाप्ति।"* इस प्रकार नैतिक नियम की निरपेक्षता और नित्यता को मानना पडता है।

२. आत्मपूर्णतावादी नीति-शास्त्रिगण।

(१) प्लेटो (Plato)—प्लेटो बुद्धिपरतावाद तथा आत्मपूर्णतावाद का समर्थक है। बुद्धि मानवीय आत्मा का सर्वोच्च तत्व है। आत्मा का सर्वोच्च जीवन बुद्धिमय जीवन है। प्लेटो इसे दार्शनिक-चिन्तन का जीवन कहता है। यह आत्यधिक भावनापूर्ण जीवन है। यह भावनारहित जीवन नही है। जो सत्य और शिव है वह सुन्दर भी है। ससार के प्रेम पवित्र और श्रेष्ठ होकर दैवी प्रेम बन जाते हैं। प्लेटो के नीति-शास्त्र में यह बुद्धिपरतावादी तत्व है।

प्लेटो का नीति-शास्त्र उसके मनोविज्ञान पर आधारित है। आत्मा के तीन तत्व विवेक (reason), इच्छा (desire) और तेज (spirit) हैं। इनमें बुद्धि अथवा विवेक सर्वोच्च तत्व है। इच्छाएं अनन्त हैं वे नियन्त्रित तथा आधीन रखी जाती हैं। तेज इच्छाओं के क्षेत्र में बुद्धि की आज्ञाओं को लागू करती हैं। यह बुद्धि

* सेथ: नीति के सिद्धान्त, पृष्ठ २११।

के आदेशानुसार इच्छाओं पर नियन्त्रण करती है। श्रेष्ठ-जीवन मशीनमय जीवन है अर्थात् उसमें आत्मा के सभी तत्वों का पूर्ण समन्वय रहता है। न्याय आत्मा का स्वास्थ्य है। यह आत्मा के समस्त तत्वों के पूर्ण समन्वय में सन्निहित है। इसमें अंग पूर्ण के आधीन रहते हैं। अन्याय आत्मा का "रोग और विकृत स्वरूप" है, इसमें अंग पूर्ण के विरुद्ध विद्रोह करते हैं तथा निम्न व उच्च के मध्य संघर्ष चलता है। धार्मिक जीवन सामंजस्य पूर्ण होता है जिसमें आत्मा के निम्न तत्व बुद्धि के आधीन रहते हैं। प्लेटो के नीति-शास्त्र में यह आत्मपूर्णतावाद का तत्व पाया जाता है।

(२) अरस्तु (Aristotle)—अरस्तु आत्मपूर्णतावाद तथा बुद्धिपरतावाद का समर्थक है। अरस्तु विचारमय जीवन को कर्म-मय जीवन से श्रेष्ठ मानता है। चिन्तन कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वास्तविक आत्मा बुद्धिप्रधान है। उसका प्रधान कर्म विचार अथवा चिन्तन है। चिन्तन की सक्रियता बुद्धिप्रधान आत्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति करती है। अरस्तु के नीति-शास्त्र में यह बुद्धिपरतावादी तत्व है।

अरस्तु के मतानुसार व्यक्ति से सम्बन्धित मध्य-मार्ग (mean) का चुनाव ही गुण है। बुद्धि के सामान्य मापदण्ड के अनुसार इच्छाओं के नियन्त्रण में ही धर्म का निवास है तथा अधर्म का इच्छाओं की अतितृप्ति वा अतृप्ति में अथवा इच्छाओं के पूर्ण करने की अव्यवस्था में। धर्म का अर्थ है इच्छाओं को समुचित मात्रा में पूर्ण करना। यदि एक व्यक्ति के भीतर विचारात्मक-उद्देश्य से प्रेरित होकर कर्म करने का सुनिश्चित अभ्यास पड गया है तो उसके भीतर नैतिक गुण माना जाएगा जिसके द्वारा उसकी प्रेरणाएं तथा इच्छाएं बुद्धि के आधीन रहती हैं। अरस्तु के नीति-शास्त्र में यह आत्मपूर्णतावाद का तत्व है।

(३) बटलर (Butler)—बटलर सहजज्ञानवाद तथा आत्मपूर्णतावाद का समर्थक है। उसका मत है कि अन्तःकरण अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। यह मनुष्य-प्रकृति में सर्वोच्च तत्व है। यह नैतिक विवेक अथवा बुद्धि है। यह विचारात्मक तथा प्रभुत्वपूर्ण होता है। यह नैतिक इन्द्रिय नहीं है। "जैसे इसमें बौद्धिकता है वैसे ही यदि इसमें शक्ति होती तथा जैसे प्रभुत्व है वैसे ही बौद्धिकता भी होती तो यह पूर्णतया विश्व पर शासन करता।" (बटलर) बटलर के नीति-शास्त्र में यह सहजज्ञानवाद का तत्व है।

बटलर मानवीय प्रकृति को एक जैविक सम्पूर्णता मानता है जिसमें कुछ प्रेरणाएं होती हैं जो आत्मा-प्रेम (self-love) और उदारता (Benevolence) के आधीन होती हैं। आत्म-प्रेम और उदारता ये दोनों अन्तःकरण (Conscience) के आधीन होते हैं। ये विशेष प्रेरणाएं अथवा प्रवृत्तियां अपने उद्देश्य की प्राप्ति का प्रयास करती हैं। या तो वे स्वार्थपरायण होती हैं अथवा परार्थप्रवृत्त। स्वार्थपरायण

प्रेरणाए प्रधानत कर्त्ता को लाभ पहुचाती हैं तथा परार्थप्रवृत्त प्रेरणाए प्रधानत. अन्य व्यक्तियो को । मन के दो सामान्य सिद्धान्त है (१) आत्म-प्रेम तथा (२) उदारता या परोपकार-प्रवृत्ति । आत्म-प्रेम स्वार्थ-परायण प्रेरणाओ को नियमित करता है तथा उन्हें परस्पर एक दूसरे से सयोजित करके हमारे व्यक्तिगत सुख कोअधिकतम करने का प्रयास करता है। उदारता अथवा परार्थवादिता परार्थ प्रवृत्त प्रेरणाओ को नियमित करती एव अन्य-व्यक्तियो के सुख को अधिकतम करने का प्रयास करती है। आत्म-प्रेम और उदारता दोनो बुद्धियुक्त निष्कर्षात्मक सिद्धान्त हैं। अन्त करण आत्म-प्रेम तथा उदारता से उच्च होता है।

आत्म-प्रेम तथा उदारता कुछ प्रेरणाओ से उच्च होते हैं। ये स्वय ही यह निर्णय करते हैं कि दोनो की सनुष्टि कब और किस सीमा तक होनी चाहिये। आत्म-प्रेम तथा उदारता दोनो का नियमन अन्त करण द्वारा होना चाहिये। आदर्श मानवीय प्रकृति में कुछ प्रेरणाए जो आत्म-प्रेम तथा उदारता के आधीन होती हैं तथा ये दोनो तत्व अन्त करण के आधीन होते हैं। कोई विशिष्ट प्रेरणा स्वाभाविक रूप से दोष-पूर्ण नही होती। असत् कर्म सदा कर्म के किसी तत्व की भ्रान्ति अथवा अव्यवस्थित कार्य के कारण होता है। वही तत्व जब उचित मात्रा और उपयुक्त स्थान पर प्रयोग में आता है तो कर्म सत् होता है। मनुष्य की आदर्श-प्रकृति के अनुसार कार्य करने में धर्म का समावेश होता है, तथा अधर्म उसके विपरीत कार्य में है। किसी भी मनुष्य की वर्तमान प्रकृति आदर्श-प्रकृति नहीं मानी जा सकती। गुण में आत्म-प्रेम तथा उदारता-पूर्ण आचरण भी आता है। इसका स्वभाविक परिणाम समाज तथा व्यक्ति दोनो का सुख है। बटलर के नीति-शास्त्र में यह आत्मपूर्णतावाद का तत्व है।

(४) हेगेल (Hegel)—हेगेल के विचार से सृष्टि का व्यापार ईश्वर की अभिव्यक्ति या है जिसका चरम उत्कर्ष मानव-जीवन में होता है, और मनुष्य उत्क्रान्ति का परम मगल अपने आध्यात्मिक-स्वरूप का पूर्ण विकास है। मनुष्य का इतिहास आत्म-चेतना के सर्वोत्कृष्ट-रूप की उपलब्धि की दिशा में एक क्रमिक प्रक्रिया है।

हेगेल वासनायो के अधिकार को स्वीकार करके और उसका बुद्धि से सामजस्य स्थापित करके कान्ट के सिद्धान्त के नियमानुवर्तितावाद में परिशुद्ध करता है। कान्ट ने बुद्धि के अधिकार के ऊपर अनुचित बल दिया है और वासनायो के अधिकारो की अवहेलना की है। हेगेल दोनो के अधिकारो को स्वीकार करता है और दोनो में मैत्री पैदा करता है। बुद्धि के द्वारा वासनायो का नियमन परम मगल है।

हेगेल का मत है कि अनन्त चैतन्य अथवा आत्मा इतिहास, परम्परा, नियम, नीति, और नैतिक सस्थाओ (यथा, कुटुम्ब, सम्प्रदाय, और राज्य) के क्रमविकास की विविध अवस्थाओ मे से होकर गुज़रता है। व्यक्ति स्वय को अपनी समसामयिक

सस्थाओ के जीवन से एकाकार करके अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करना है। प्रगति सस्थाओ में मूर्तिमान स्वतन्त्रता का विकास है। सिद्धावस्था ही विकास का लक्ष्य है।

हेगेल आत्मपूर्णतावाद के नीति-शास्त्र का समर्थक है। वह नीति के निम्न-लिखित सूत्रो का अपना व्यक्तिगत अर्थ देता है —

(अ) जीने के लिये मरो (Die to live)—मध्ययुगी ईसाई धर्म में इसका अर्थ था कि आत्मा की मुक्ति के लिये शरीर को सूली पर चढा दो। शरीर का नाश आत्मा के बचाव के लिये आवश्यक है। हेगेल सन्यासवाद के अनुसार इस सूत्र का अर्थ नही करता। उसके दृष्टिकोण से इसका अर्थ यह है कि आत्मा के सकीर्ण और व्यक्तिगत-रूप की मृत्यु होनी चहाहिये और सकुचित क्षेत्र के वहिस्थ आध्यात्मिक जगत् का अधिक सम्पन्न और अधिक व्यापक जीवन विताना चाहिये। हेगेल आत्मा के उच्च जीवन के लिये वासनायो का ध्वस नही चाहता—वल्कि वुद्धि के द्वारा उनका नियत्रण और उच्च बुद्धिमय-जीवन में उसका परिष्कार चाहता है।

(ब) व्यक्ति बनो (Be a person)—हेगेल इसका अर्थ यह लगाता है कि हमें अपनी वासनाओ से उच्च-आत्मा अथवा व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहिये। वासनामय हीन-आत्मा को नियन्त्रित करके बुद्धिमय उच्च-आत्मा का लाभ होना चाहिये। पाशविक प्रवृत्तियो का परिष्कार करके वुद्धिमय स्वरूप को प्राप्त करना चाहिये। व्यक्तित्व स्वय साध्य है। वह दूसरे का साधन नही है। वह उच्चतम लक्ष्य है। अत हमें अपना व्यक्तित्व-निर्माण करने के लिये अधिकतम चेष्टा करनी चाहिये और दूसरो के व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिये। "व्यक्ति बनो और दूसरो के व्यक्तित्व का सम्मान करो।" (हेगेल)

(५) ग्रीन (Green)—हेगेल के मत का विस्तार, ग्रीन, ब्रेडले, वोसन्के प्रभृति दार्शनिको ने किया। ग्रीन का मत है कि प्रकृति का अन्तरस्थ एक आध्यात्मिक तत्व है। वह अनन्त चैतन्य का नित्य-तत्व है। जीव उसी अनन्त आत्मा के परिच्छिन्न रूप हैं। उनका परम मगल इसी में है कि वे मनुष्य-जाति के अधिक सम्पन्न और अधिक व्यापक जीवन के साथ एकाकार होकर अपनी व्यापकता और ईश्वर से एकता लाभ करें। नैतिक जीवन मनुष्य के अन्तरस्थ सर्वव्यापी तत्व को अधिकतम व्यक्त करने के प्रयत्न में और मनुष्य के बुद्धिमम, आत्म-चेतनायुक्त और आध्यात्मिक स्वरूप को वासनाओ और इच्छाओ के पाशविक जीवन के परिष्कार-पूर्वक अधिकतम पूर्णता के साथ प्राप्त करने के प्रयत्न में निहित है। अमगल-वर्जित बुद्धिमय-जगत का निर्माण सच्चे आत्मा का निर्माण है। सामाजिक में आत्म-विकास होता है।

आत्म-लाभ सर्वोच्च व्यक्तिगत तथा सामाजिक हित अथवा शुभ है। शुभ वह है जो इच्छाओं की पूर्ति करे। नैतिक शुभ वह है जो एक नैतिक माग को सतुष्ट करें।

व्यक्तिगत आत्मा बुद्धियुक्त है। अत नैतिक शुभ बुद्धियुक्त शुभ है। इसके लिये मनुष्य की बौद्धिक-प्रकृति को सन्तुष्ट करना आवश्यक है। यह एक ऐसा सुख-मात्र नही हो सकता जो कि व्यक्ति के आत्मा की भौतिक प्रकृति को सन्तुष्ट कर देता है। यह केवल गुण, सद् भावना, बुद्धियुक्त सकल्प तथा अन्य समस्त भावनाओ मे शून्य विशुद्ध सकल्प भी नही हो सकता। नैतिक शुभ आत्मा के आदर्श स्वरूप की उपलब्धि अथवा आत्म-लाभ है। यह आत्मा का पूर्णत्व है। यह मनुष्य के भीतर अनन्त तथा अमर आत्मा अथवा परमेश्वर के पूर्णत्व की अभिव्यक्ति है। मनुष्य की बौद्धिक एव नैतिक सक्रियता का अर्थ है उसके भीतर अमर चेतना का प्रादुर्भाव। मनुष्य के भीतर एक दैवी-तत्व अपने को व्यक्त करता है, उसमें आत्मा का आदर्श स्वरूप ही यह दैवी-तत्व है। यह उच्च-आत्मा, विवेक (बुद्धियुक्त) आत्मा अथवा सामाजिक-आत्मा (चेतना) है। यह निम्नतर, भौतिक (ऐन्द्रिय) तथा व्यक्तिगत आत्मा नही है। आदर्श-आत्मा की प्राप्ति समाज के भीतरथा उसके द्वारा ही हो सकती है। आत्म लाभ समाज, राष्ट्र तथा मानव-सृष्टि के भीतर ही सम्भव है। यह आत्मा का ज्ञान, स्नेह तथा मानवता के साथ हितसाम्य द्वारा सेवा की अनन्त शक्तिओ के विकास में निहित है। मनुष्य द्वारा पूर्णत्व की प्राप्ति एक पूर्ण समाज-रचना की ओर मानवता की प्रगति में भाग लेकर ही की जा सकती है। अपने राष्ट्रीय जीवन से पृथक् होकर कोई व्यक्ति आत्म-लाभ अथवा पूर्णत्व की प्राप्ति नही कर सकता। राष्ट्र से परे व्यक्ति का जीवन अवास्तविक बन जाता है। अपने व्यक्तियो से परे राष्ट्र अथवा राष्ट्रीय भावना का स्वरूप भी केवल भावात्मक अथवा अवास्तविक ही होता है। मानवता की प्रगति व्यक्तिगत चरित्र से व्यक्तिगत चरित्र की प्रगति में ही निहित है। नैतिक प्रगति व्यक्तियो के व्यक्तिगत चरित्र की प्रगति है। यह कभी भी व्यक्ति से परे नही हो सकती। मानवता समाज में नैतिक प्रगति का अर्थ है मानवता की एक पूर्णतर समाज की ओर प्रगति जिसमें व्यक्तियों का व्यक्तित्व नष्ट नही होगा अथवा वैयक्तिक-सकल्प-शक्ति साधन स्वरूप नहीं होगी। नैतिक प्रगति का अर्थ है समाज के भीतर व्यक्तियो के व्यक्तित्व का पूर्णत्व। जो शक्तिया व्यक्ति के भीतर दिक्-काल में पूर्णता प्राप्त करती हैं वे ईश्वर अथवा अमर-आत्मा में पहले से ही पूर्ण रहती हैं। मनुष्य के भीतर दैवी-पूर्णत्व की क्रमिक अभिव्यक्ति ही नैतिक प्रगति है। समाज के भीतर विभिन्न सदस्यों की शक्तिया और उनके कृत्य विभिन्न होते हैं उनके कृत्य उनकी शक्तियो के सदृश होते हैं। वे सब समाज की नैतिक प्रगति में योग देती हैं। वे दैवी-पूर्णत्व को विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त करती हैं। परन्तु मनुष्य के पूर्णत्व अथवा आत्म-लाभ की वास्तविक प्रकृति की परिभाषा तब तक सम्भव नही है जब तक कि व्यक्ति उस अवस्था को वास्तव में प्राप्त न कर ले।

(६) ब्रैडले (Bradley)—"मेरा स्थान और तत्सम्बन्धी-कर्तव्य" (My

station and its duties)—ब्रैडले का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति का मानव-समाज में एक विशिष्ट स्थान और कार्य है। उसका समाज में एक नियत स्थान है, और उसे उस स्थान के उपयुक्त कर्तव्यो का पालन करना चाहिये। वह एक सामाजिक इकाई का सदस्य है, उसमें उसका विशिष्ट स्थान है, उसके जीवन में अपने स्थान के अनुरूप विशेष कर्तव्य हैं। उसे उन्ही का पालन करना चाहिये। इसी से उसका आत्म-लाभ रहेगा। प्रत्येक व्यक्ति कुछ विशेष योग्यताओ को साथ लेकर पैदा होता है। समाज में उसका स्थान और काय निर्धारित होता है, उसके कर्त्तव्यो का इसी से सम्बन्ध है। वह एक व्यवस्थित समाज में अपने निर्धारित कार्य को पूरा करके ही सुख प्राप्त कर सकता है। इस मत का गीतोक्त स्वभाव-सगत स्वधर्म से सादृश्य है। समाज में प्रत्येक को नियत-कर्म करना चाहिये। इसमे व्यक्ति तथा समाज का कल्याण होता है।

विविध व्यक्ति नैतिक समाज के अग हैं। वे परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। ठीक जिस प्रकार एक जैविक शरीर के अगो के अपने नियत कृत्य होते हैं जिनकी पूर्ति करके ही वे उसके कल्याण में सक्रिय योग दे सकते हैं, इसी प्रकार सामाजिक अथवा नैतिक शरीर के विभिन्न सदस्य समाज में अपने स्थान से सम्बद्ध नियत कर्तव्यो की पूर्ति द्वारा उसके सामान्य हित में हाथ बटाते हैं। (इसकी तुलना भगवद्गीता के कर्मयोग से कर सकते हैं)। नैतिक शरीर अर्थात् समाज के विविध सदस्यो के कर्तव्यो में विविध-रूपता होती है तथा उसके सामान्य हित में समरूपता। इस प्रकार नैतिक शरीर के भीतर विविध-रूपता और समरूपता दोनो होती हैं। सर्वोच्च व्यक्तिगत हित और सर्वोच्च सामाजिक अथवा सामान्य हित के मध्य पूर्ण-साम्य है।

नैतिक समाज की सामान्य इच्छा सामाजिक सस्थाओ में मूर्तिमान होती है। नैतिक समाज के भिन्न भिन्न सदस्यो को जनता के नैतिक-स्तर के अन्तर्गत अथवा अनुकूल अपने नियत कर्म का पालन करना चाहिये। जनता के नैतिक-स्तर की अभिव्यक्ति अशत सामाजिक सस्थाओ में होती है। इस प्रकार समाज के सदस्य अपनी व्यक्तिगत इच्छा तथा समाज की सामान्य-इच्छा के मध्य सामजस्य स्थापित कर सकते हैं। समाज से परे आत्म-लाभ कदापि सम्भव नही है। सामाजिक नैतिकता से पृथक् व्यक्तिगत नैतिकता का कोई अस्तित्व नही हो सकता। ब्रैडले जनता के नैतिक-स्तर (Ethos) की महत्ता के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति करता है। उसका मत है कि जो व्यक्ति जनता के नैतिक-स्तर की सीमा से आगे जाता है, वह अनैतिकता की सीमा में प्रवेश करता है।

आत्म-लाभ का अर्थ ब्रैडले ने अनन्त आत्मा (व्यापक आत्मा—परमात्मा) की प्राप्ति किया है। यह मनुष्य द्वारा अपने परिवार, जाति, राष्ट्र तथा अन्ततोगत्वा

मानवता के साथ अपने हितों की तद्रूपता द्वारा बुद्धि-पूर्वक अपनी भौतिक अथवा ऐन्द्रिय प्रकृति के पूर्ण परिवर्तन में निहित है। समाज से पृथक् होकर आत्म-लाभ सम्भव नहीं है। नैतिकता प्रत्यक्ष नही, परोक्ष है। एक व्यक्ति जब हृदय और आत्मा से सामाजिक सेवा में जुट जाता है तो वह अपने सकीर्ण व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है। जितना ही वह परोक्ष-हित अथवा सामाजिक शुभ में अपने को खोता जायेगा, उतना ही अधिक वह अपने आदर्श स्वरूप की प्राप्ति करता जायेगा।

(७) बोसाङ्के (Bosanquet)—वह मूल्य के प्रत्यय पर बल देता है। उसके अनुसार आत्म-लाभ का अर्थ है सत्य, सौन्दर्य, और शुभ इत्यादि जीवन के उच्चतम मूल्यो की उपलब्धि। हमें व्यापक-आत्मा का त्याग करना चाहिये। हमें उस आत्मा की प्राप्ति करनी चाहिये जिसमें सर्वोच्च मूल्य हों।

बोसाङ्के आत्मपूर्णतावाद को मूल्यो के अनुशीलन से जोड देता है। यह सही है कि सत्य, सौन्दर्य तथा मगल के अनुशीलन में आत्म-विकास होता है। इन आदर्शों को छोड कर आत्म-लाभ निरर्थक होता है।

३ आत्मपूर्णतावाद और अन्य नैतिक मानदण्ड।

आत्मपूर्णतावाद का वासनाओ को मानव-स्वभाव के आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार करने में सुखवाद से मतैक्य है। वासनायें नैतिक जीवन का अनिवार्य उपादान हैं। सुखवाद सुख को नैतिक मानदण्ड मानता है। आत्मपूर्णतावाद आनन्द को सदाचार का सूचक मानता है। सुख इन्द्रियजन्य वासनामय और अल्पस्थायी होता है। आनन्द बुद्धिजन्य और स्थायी होता है, और इच्छाओ के सामजस्यमे उद्भूत होता है। आत्म-सुखवाद व्यक्ति के सुख को सर्वोच्च शुभ मानता है। आत्मपूर्णतावाद के अनुसार सर्वोच्च शुभ व्यक्ति का शुभ है, वह कभी भी व्यक्ति के अतिरिक्त किसी का शुभ नही हो सकता। परसुखवाद अधिकतम सख्या के अधिकतम सुख को सर्वोच्च शुभ मानता है। आत्म-पूर्णतावाद मानता है कि सर्वोच्च शुभ केवल व्यक्ति का ही शुभ नही है, बल्कि समाज का भी है। वह आत्म-विकास अथवा सकीर्ण वैयक्तिक, विशेष-अह के बलिदान-पूर्वक, आदर्श, बुद्धिमय, अथवा सामाजिक-अह का विकास है, जिससे व्यक्ति का आनन्द दूसरो के आनन्द के ऊपर निर्भर हो जाता है। विकासात्मक-सुखवाद समाज को अन्योन्याश्रित व्यक्तियो का एक शरीर मानता है। आत्मपूर्णतावाद के अनुसार समाज आत्म-चेतना-युक्त व्यक्तियो का एक सगठन है, जो क्रमश अपने सकीर्ण व्यक्तित्वो से ऊपर उठकर और समाज के अधिक समृद्ध, अधिक व्यापक जीवन से एकाकार होकर आत्म-लाभ करते है। हम एक-दूसरे से विविक्त नही हैं। हम एक सामाजिक-सघ के सदस्य हैं। हमें दूसरों से अलग अपने ही व्यक्तिगत कल्याण का अन्वेषण नही करना चाहिये। बल्कि हमें एक अमगलहीन बौद्धिक-जगत् का निर्माण

करना चाहिये। हमें एक सर्वोत्कृष्ट मानव-जीवन की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये। आत्मपूर्णतावाद मानव-देह में बुद्धि की उत्कृष्टता दिखाने में बुद्धिपरतावाद के साथ एकमत है। पूर्णतावाद के नैतिक गुण को अनुपम और अविश्लेष्य—अर्थात् जिसे सत्य या सौन्दर्य में विघटित नही किया जा सकता, मानने में अपरोक्ष-ज्ञानवाद से मतैक्य है। किन्तु, वह नैतिक नियम को स्वय सिद्ध नही मानता। पूर्णतावाद नैतिक नियम को आत्म-विकास का साधन-मात्र स्वीकार करता है, जो परम मगल है। इस प्रकार आत्म-पूर्णतावाद नैतिक-मानदण्ड-विषयक सभी सिद्धान्तो के सत्य के अशो को आत्मसात् कर देता है। आत्म-पूर्णतावाद के गर्भित तत्वों को मूल्यो का विचार सुस्पष्ट कर देता है।

४ आत्मपूर्णतावाद की समीक्षा।

सुखवादी, उपयोगितावादी तथा सहजज्ञानवादी ने आत्मपूर्णतावाद की तीव्र विरुद्ध समालोचना की है। उनके मत के अनुसार आत्मपूर्णतावाद सुखवाद है, क्योंकि वासनाओ को बुद्धि द्वारा नियन्त्रण से आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द सुख से पृथक् नही है। सुख ही चरम लक्ष्य है, आत्म-विकास नही, जो गौण उद्देश्य है।

यह आपत्ति यौक्तिक नही है। आत्म-विकास ही मुख्य उद्देश्य है, आनन्द उसका सहगामी तत्व है। पूर्णतावादी आत्म-लाभ-जनित आनन्द को मुख्य लक्ष्य नही मानता है। आनन्द पूर्णता का सूचक-मात्र है।

राशडैल आत्म-पूर्णतावाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद से अभिन्न मानता है। मनुष्य स्वभावत प्रत्येक कर्म में आत्म-सन्तोष का अन्वेषण करते हैं। यह आत्मपूर्णतावाद है। मनुष्य स्वभावत आत्म-सुख खोजते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। ये दोनों उक्तियाँ अभिन्न हैं।

यह भी प्रमादपूर्ण आपत्ति है। आत्म-सन्तोष सुख नही है। सुख इन्द्रियजन्य है। आत्म-सतोष उच्च बौद्धिक आत्मा की तृप्ति या आनन्द है। आनन्द सुख से पृथक् उच्च-कोटि के है। सुख विविक्त वासना की तृप्ति से उत्पन्न होता है। परन्तु आनन्द वासनाओ का बुद्धि द्वारा नियमन या परिकार से उत्पन्न होता है। सुख क्षणस्थायी है, परन्तु आनन्दस्थायी है।

राशडैल कहता है कि ग्रीन ब्रयाडले आदि विद्वानो का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में दूसरो की आत्मायें समाविष्ट हैं। इसीलिये वैयक्तिक परम मगल का सामाजिक परम मगल से विरोध नही है। दोनो अभिन्न हैं। परन्तु आत्मायें चैतन्य हैं। अत एक आत्मा अन्य आत्मा में समाविष्ट नही हो सकता। एक जलबिन्दु अन्य जलबिन्दु में समाविष्ट हो सकता है। परन्तु एक स्वतन्त्र आत्म-चेतनायुक्त आत्मा अन्य आत्मो से युक्त नही हो सकता। आत्माओं का ऐक्य नहीं हो सकता।

यह सही आपत्ति है। आत्म-चेतनामय स्वतन्त्र आत्मा कदापि अन्य आत्मा में मग्न नही हो सकता। एक आत्मा का अन्य आत्माओ से समिश्रण नही हो सकता। परन्तु आत्मपूर्णतावादी यह नही कहता कि आत्माओ का समिश्रण होता है। यह प्रमादपूर्ण उक्ति है। एक जीवात्मा अन्य जीवात्माओ से सामजस्य की उपलब्धि कर सकती है।

सहज-ज्ञानवादी कहता है कि आत्मपूर्णतावाद अस्पष्ट है। यह परम हित की स्पष्ट व्याख्या नही देता है। यह ज्ञान, सौन्दर्य, शुभ, सुख या समाजहित नही है। इन चरम मूल्यो को छोडकर आत्मपूर्णता निरर्थक होती है।

यह सही आपत्ति है। आत्मपूर्णतावाद अस्पष्ट है। चरम मूल्यो के अनुशीलन से पूर्णता की प्राप्ति होती है। इनसे वर्जित पूर्णता विल्कुल अर्थशून्य है। वोसङ्के ने इस आपत्ति का निवारण किया।

फिर सहज-ज्ञानवादी कहता है कि आत्मपूर्णतावाद विशेप कर्तव्यो कर्मो का निर्धारक मान नही देता। विशेष परिस्थितियो में मूर्त कर्तव्यो का निर्धारण आत्म-पूर्णता-रूप-मगल से नहीं हो सकता। कौन कर्म आत्म-विकास का साधक है और कौन कर्म आत्म-विकास का बाधक या घातक है इस पर आत्मपूर्णतावाद प्रकाश नहीं डालता। अत पूर्णतावाद भी आकारमूलक तथा वस्तुशून्य सा हो जाता है।

आत्मपूर्णतावाद अस्पष्टता से मुक्त नही है। यह सही है। सत्य, सौन्दर्य, शुभ, वौद्धिक आनन्द, समाज के कल्याण के अनुशीलन मे आत्म-विकास होता है। इन मुख्य मूल्यो का अनुसरण आत्म-विकास का आवश्यक साधन है। इनसे कर्तव्य निर्धारक मान अनुमित किया जा सकता है। मूल्यो का मानदण्ड आत्म-विकासवाद को स्पष्ट तथा युक्तियुक्त सिद्ध करता है।

५. अद्वैत वेदान्त का नीति-शास्त्र।

समस्त ऐच्छिक कर्मो का प्रधान उद्देश्य सुख की प्राप्ति है। इसमें दुख का पूर्ण निरोध निहित है। ऐच्छिक कर्मो के अन्य उद्देश्य इसके आधीन होते हैं। वे सुख की प्राप्ति के साधन होते हैं। सुख दो प्रकार का होता है— (१)सर्वोच्च अथवा अनन्त सुख। इसे आनन्द कहते हैं। (२) सीमित अथवा इन्द्रिय-जन्य सुख। इन्द्रिय-जन्य सुख उपभोग के अनुभवगम्य पदार्थो से उत्पन्न होता है। यह आनन्द का एक अपूर्ण प्रतिविम्ब है। आनन्द परम सत्ता अथवा ब्रह्मन् है। ब्रह्मन् अपरिमित आनन्द की स्थिति है। इसकी प्राप्ति सर्वोच्च शुभ है। यह मुक्ति की अवस्था है। यह समस्त दुख और पीडा को नष्ट कर देती है। आनन्दात्मक ब्रह्मावाप्ति अर्थात् अमर एव अपरिमित आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति सर्वोच्च हित है। जीव और ब्रह्म की प्रकृति एक जैसी ही है। आत्म-प्राप्ति अथवा ब्रह्म-प्राप्ति जीवन का सार तत्व है। (वेदान्त परिभाषा, अध्याय ८)।

वैदिक साहित्य जो कि आत्मा को परम सत्ता के साथ तदाकार कर देता है उसका श्रवण उनके अर्थ का समझना, उन पर मनन करना तथा उनके आधार पर तर्क करना एव चित्त को उपभोग के बाह्य पदार्थों से उपराम करके आत्मन् अथवा ब्रह्मन् पर केन्द्रित करना अर्थात् निदिध्यासन ब्रह्म, आत्मा अथवा अपरिमित अमर आनन्द की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। ब्रह्म पर चित्त के एकाग्र करने का प्रत्यक्ष परिणाम ब्रह्म-साक्षात्कार ह। जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब है। बुद्धि अथवा अहकार मे प्रतिबिम्बित जीवात्मा की पारमार्थिक सत्ता नही है। इसकी व्यावहारिक सत्ता है। परमात्मा अथवा ब्रह्म ही इसकी पारमार्थिक सत्ता है। जब जीवात्मा ब्रह्म में अभद की उपलब्धि करती है, तब इस परम निश्रेयस की प्राप्ति होती है।

दम (इन्द्रिय निग्रह), शम (चित्त निग्रह), उपरति (मानसिक उद्वेग का अभाव), तितिक्षा (उष्ण, शीत, भूख और प्यास सह लेना), समाधान (चित्त का ब्रह्म में एकाग्र होना), गुरु के आदेश में श्रद्धा, नित्यानित्य-विवेक, इहामुत्र-फलभोग-वैराग्य (इस जगत् और स्वर्ग दोनों के भोगो के प्रति वैराग्य) ये मुक्ति अर्थात् ब्रह्म अथवा प्रकृत आत्मा की प्राप्ति की इच्छा की शर्ते है। भोग के पदार्थों की उपस्थिति रहते हुए भी मानसिक उद्वेग का अभाव अर्थात् उपरति ही सन्यास है ऐसे सन्यासी ही वेदान्त ग्रन्थो को पढने के अधिकारी है जिन्होने जगत का त्याग कर दिया है। यह कुछ वेदान्तियो का मत है। अन्य वेदान्तियों की धारणा है कि भोग के पदार्थों के रहते हुए भी जिन गृहस्थो का चित्त विचलित नही होता वे वेदान्त ग्रन्थो का श्रवण करने के अधिकारी हैं। ग्रन्थो का श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये तीन सभी आश्रमो के व्यक्तियो के समान-धर्म हैं। ईश्वर की पूजा भी ब्रह्म-साक्षात्कार का एक कारण है। इससे चित्त एकाग्र हो जाता है जिसके द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार में सहायता मिलती है। (वेदान्त परिभाषा, अध्याय ८)। ईश्वर की भी पारमार्थिक सत्ता नही है। वह माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, जिसकी व्यवहारिक सत्ता है।

काम्य कर्मों की पूर्ति के उद्देश्य से कोई कार्य नहीं किये जाने चाहियें। निषिद्ध कर्म भी नही होने चाहियें। विहित-नित्यकर्म आसक्ति के बिना पूर्ण किये जाने चाहियें। दैनिक पूजा, प्रार्थना आदि नित्य-कर्म हैं। वे चित्त की शुद्धि करते हैं। (गीता पर शकर भाष्य, अध्याय ४ १८)। कर्तव्यों का समर्पण ईश्वर के चरणो में करना चाहिये। वे मनुष्य को सत्-ज्ञान, गूढदृष्टि अथवा सहज-ज्ञान प्रदान करते हैं। स्वामी शकराचार्य सहज-ज्ञान को ब्रह्म-साक्षात्कार का साधन मानते हैं। आत्मा ही ब्रह्मन् है। आत्मा अथवा पूर्णत्व का सहज ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान पर निर्भर है जिसके पूर्व समस्त कर्तव्यो का त्याग होना आवश्यक है। (पूर्व पुस्तक . प्रस्तावना)। इन्द्रिय निग्रह, चित्त-निग्रह आदि द्वारा शुद्ध हुआ मन आत्मा के सहज-ज्ञान का माध्यम है। (पूर्व पुस्तक २ २१) शकर आत्मा अथवा ब्रह्म की प्राप्ति के लिये स्त्री, पुत्र,

सम्पत्ति तथा इहलोक और परलोक में सुखोपभोग की इच्छा अर्थात् भोग के वाह्य पदार्थों की समस्त इच्छाओ के नाश को अनिवार्य मानते है (निवृत्त-सर्वत्राह्यैषरण) (पूर्व पुस्तक १० . ८)। समस्त कर्मों का मूल काम है। काम का मूल अविद्या है। आत्मन् को अनात्मन् के साथ अभेद मानना अविद्या है (पूर्व पुस्तक १८ ' ६६)। अविद्या का नाश विद्या द्वारा हो सकता है। विद्या का अर्थ है आत्मा के व्यापक तथा सर्वकालिक स्वरूप को पहचानना तथा यह जानना कि शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मनस्, वुद्धि तथा अहकार में से कोई भी आत्मा नही है। सत्ज्ञान अथवा विद्या उसी मस्तिष्क में अवतरित होती है, जो कि इन्द्रिय-निग्रह, चित्त निग्रह, आदि द्वारा पवित्र हो गया हो। विद्या की प्राप्ति के लिये नित्य-कर्मों का पालन, उनका ईश्वर के चरणो में समर्पण, इहलोक तथा परलोक में भोग की समस्त कामनाओ का नाश जगत का त्याग आवश्यक है। शकर का नीति-शास्त्र सन्यासवाद तथा शुद्ध आत्म-पूर्णतावाद का मिश्रण है। शुद्ध आत्मा निर्गुण, अतिमानस, इन्द्रियानुभवातीत प्रज्ञागम्य है। यह सच्चिदानन्द ब्रह्म है। वे आत्म-लाभ अथवा ब्रह्म प्राप्ति के लिये पूर्ण स्वभाव-प्रवृत्ति-निरोध को अनिवार्य मानते है (कठोपनिषद २, १, १, ईशोपनिषद १, ६, पर शकरभाष्य)। शुद्ध-चेतना तथा आनन्द, ब्रह्म अथवा आत्मा की तदाकारिता का ज्ञान (विद्या) ही आत्म-लाभ है। यह जगत के पदार्थों और जीवो की अनेकता के विवादास्पद वौद्धिकता, अथवा तर्कयुक्त ज्ञान से परे है। इस सिद्धान्त को शुद्ध आत्म-पूर्णतावाद कह सकने हैं। इसे आत्म-वुद्धिवाद भी कह सकते हैं। क्योकि आत्मा की सर्वोपरि शुद्धि धर्म अधर्म के नैतिक भेद से युक्त वाह्य जगत से परे उठ कर ही प्राप्त की जा सकती है। धर्म की प्राप्ति के लिये नियत कर्मो की पूर्ति आवश्यक है। निषिद्ध कर्मो के करने से अधर्म का सचय होता है। आत्मा की पूर्ण शुद्धि उसके सहज ज्ञान, समस्त कर्मो के त्याग तथा धर्म-अधर्म के नाश द्वारा होती है। धर्म से सासारिक सुख मिलता है। तथा अधर्म से सासारिक दुख (कठोपनिषद १, २, १९—शकरभाष्य) ये दोनो कर्मो से उदय होते है। कर्मो का कारण कामना और अज्ञान हैं। जब एक आत्मा अथवा ब्रह्म के सत्य-ज्ञान अथवा उनकी सहज-अनुभूति के द्वारा अविद्या का नाश हो जाता है, तब आत्मा की परा-शुद्धि अथवा उसके पूर्ण ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शकर के नीति-शास्त्र को हम शुद्ध-आत्म-पूर्णतावाद अथवा आत्म-शुद्धिवाद कह सकते है।

६ अद्वैत वेदान्त के नीति-शास्त्र की आलोचना।

ब्रह्म अथवा आत्मा की प्राप्ति ही सर्वोच्च शुभ है। यह ब्रह्म शुद्ध अस्तित्व (सत्), निर्विषय चैतन्य (चित्) तथा सुख-दुखातीत ऐकान्तिक आनन्द है। तात्विक आलोचनाओ पर ध्यान न दिया जाए तो यह विल्कुल तर्कसगत है। परन्तु इसकी प्राप्ति के साधन की आलोचना की जा सकती है। शकर ने ज्ञान पर वहुत अधिक

बल दिया है। तथा कर्म की अवगणना की है। उन्होंने सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिये सन्यास के महत्व के विषय में अतिशयोक्ति की है। उन्होंने सन्यासवाद के नीति-शास्त्र अथवा सहज इच्छाओं के दमन अथवा एषणा त्याग का गलत समर्थन किया है। वास्तव में इन इच्छाओं को नष्ट करने के बजाए ऊपर की ओर उठाना चाहिये, अर्थात् इनका दैवीकरण करना चाहिये। जीवात्मा परमात्मा अथवा ब्रह्म से भिन्न है। जीव-ब्रह्म-भेद नीति का मूलभूत आधार है। नीति जीव की इच्छा-स्वातंत्र्य पर निर्भर है।

अध्याय १४

मूल्य का मानदण्ड

१ मूल्य की परिभाषा।

साधारणतया मूल्य एक अर्थशास्त्रीय प्रत्यय माना जाता है। किसी वस्तु को मूल्यवान् कहा जाता है, यदि वह किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होती है। जनसाधारण में प्रचलित मूल्य का सबसे सरल प्रत्यय यह है "मूल्य वह है जो मनुष्य की इच्छा की तृप्ति करे। मनुष्य की इच्छा की तृप्ति-कारक सभीवस्तुयें मूल्यवान् हैं अर्थात् शुभ है।"※ (१) यह मूल्य की प्रथम परिभाषा है। यह सरल, स्पष्ट और बोधगम्य है। अन्न शुभ है, उसका मूल्य है, क्योंकि वह बुभुक्षा की तृप्ति करता है। मकान शुभ है, क्योंकि वह खराब मौसम और हिंस्र पशुओं से हमारी रक्षा करता है। लेकिन यह परिभाषा अधिक गहराई में नहीं जाती। क्रमश यह ज्ञान हो जाता है कि इच्छा-पूर्ति तथा जीवन की सुरक्षा और वृद्धि में एक सम्बन्ध है। (२) इससे दूसरी परिभाषा प्राप्त होती है। कोई भी वस्तु जो जीवन की रक्षा और वृद्धि करती है। अन्न, मकान इत्यादि वस्तुयें हमारे जीवन की सुरक्षा और वृद्धि करती है। अत वे मूल्यवान् हैं। दूसरी परिभाषा भी, जहां तक वह जाती है, स्पष्ट और बोधगम्य है। किन्तु, पहली परिभाषा के तुल्य यह भी अधिक गहराई में नहीं जाती। इस अर्थ में मूल्य तत्वत जीवन मूल्य अथवा जैव है। उसका वर्णन प्राय पूर्णतया 'वातावरण से समायोजन' के शब्दों में किया जाता है। यह परिभाषा जीवन के आदिम रूपों के लिये पर्याप्त है। किन्तु आधुनिक, जटिल सभ्यता के लिये मूल्य का यह प्रत्यय नितान्त अपर्याप्त है। आज मनुष्य की आवश्यकतायें अत्यधिक जटिल और विविध हैं, मनुष्यों के जीवन-ध्येय

※ अर्बन।

अत्यधिक व्यापक है। कोई भी जीवन की रक्षा और वृद्धि करने वाली वस्तु शुभ है, किन्तु शीघ्र ही हमें केवल-मात्र जीवन और अच्छे जीवन में, अथवा रहने और अच्छे प्रकार से रहने में भेद का ज्ञान हो जाता है। शीघ्र ही हमारी समझ में आ जाता है कि जीवन आवश्यकता स्वय शुभ नही है, बल्कि जीवित रहने से जिस उद्देश्य की सिद्धि होती है वह जीवन को मूल्य प्रदान करता है। (३) इस प्रकार हमें मूल्य की तीसरी परिभाषा देनी पडती है। अन्तिम-रूप से वही प्रकृत्या मूल्यवान् है जो आत्म-विकास अथवा आत्मोन्नति का सहायक है। मनुष्य एक आत्मा है। अत जो आत्म-विकास में सहायता देता है वही प्रकृत्या मूल्यवान् है। मनुष्य इच्छाओ की एक गठरी-मात्र नही है। वह पशुमात्र भी नही है। अत. जो उसकी विविक्त इच्छाओ की तृप्ति करता है अथवा उसके जीवन को दीर्घ बनाता है वह उसके लिये प्रकृत्या मूल्यवान् नही हो सकता। किन्तु, जो उसके व्यक्तित्व को सतुष्ट करता है अथवा उसके आत्म-लाभ का साधक है वही अन्ततोगत्वा उसके लिये मूल्यवान् है। आरम्भ में जो इच्छा की पूर्ति करता है वही शुभ अथवा मूल्यवान् मालूम पडता है। किन्तु, निकट से देखने पर हमें ज्ञान होता है कि आवश्यकताओ और इच्छाओ का भी अपना मूल्य नही है, बल्कि जीवित रखने और जीवन-वृद्धि से उनका सम्बन्ध होने के कारण वे मूल्यवान् हैं। पुन जीवन भी प्रकृत्या मूल्यवान् नही है, बल्कि जिस प्रकार का वह जीवन है वही प्रकार उसे मूल्य प्रदान करता है। मनुष्य के लिये मूल्य का प्रत्यय इच्छा-तृप्ति और शारीरिक-हित के प्रत्ययों से उच्च होना चाहिये। मनुष्य और कुछ भी क्यो न हो, वह एक व्यक्ति अथवा आत्मा तो है ही और बिना आत्म-विकास के प्रत्यय का समावेश किये मानवीय मूल्य का सम्यक् प्रत्यय बन ही नही सकता।

२. इच्छा, सुख और मूल्य।

इच्छा और मूल्य का क्या सम्बन्ध है, यह एक मनोवैज्ञानिक समस्या है। मूल्य का निवास इच्छा में है अथवा इच्छा के विषय में ? वार्ड (Ward) का यह मत कि मूल्य का निवास इच्छा के विषय में है, यथार्थ है। इच्छा की पूर्ति करने वाली वस्तु मूल्यवान् होती है। इच्छा का अपना कोई मूल्य नही है। जब किसी वस्तु से इच्छा तृप्त हो जाती है तो सुख होता है। सुख की अनुभूति मूल्य की सूचक है। वह स्वय मूल्य नही है। "सुख को मूल्य की अनुभूति कहना ही उचित है। सुख की अनुभूति उन वस्तुओ से होती है जिनका चेतना के लिये कोई मूल्य होता है, जो चेतना के द्वारा ग्राह्य हैं।" ❀

३. भावात्मक और अभावात्मक मूल्य शुभ और अशुभ।

मूल्य विधायक या धनात्मक और विघातक या ऋणात्मक हो सकते हैं। जिस

❀ नीति-शास्त्र, पृ० १७७।

वस्तु का विधायक मूल्य होता है वह शुभ कहलाती है। जिस वस्तु का विघातक मूल्य होता है वह अशुभ कहलाती है। इच्छा-तृप्ति, जीवन-वृद्धि, आत्म-विकास, अथवा आत्मोत्कर्ष की साधक वस्तु शुभ होती है। इच्छा, जीवन अथवा आत्म-विकास की बाधक वस्तु अशुभ होती है।

जो किसी उद्देश्य के साधन-रूप में उपादेय होता है उसे शुभ कहते हैं। जो किसी उद्देश्य के लिये विनाशकारी होता है उसे अशुभ कहते हैं। इच्छा की तृप्ति उद्देश्य है। इच्छाओ की एक क्रमिक श्रेणी है। अत उद्देश्यो अथवा शुभो की भी एक क्रमिक श्रेणी है।

४. साधन-मूल्य और साध्य-मूल्य।

"साध्य-मूल्य अपने ही कारण मूल्यवान् होते है, साधन-मूल्य अपने परिणामो के कारण मूल्यवान् होते है।" ❀ कुछ वस्तुयें, यथा, अच्छा भोजन, सम्पत्ति, यश, इत्यादि अपने बहिस्थ उद्देश्यो, यथा सुख के लिये साधन-रूप में इष्ट होती हैं। उनकी कामना उन्ही के लिये नही होती, बल्कि किसी अन्य वस्तु के लिये होती है। वे स्वय शुभ नही हैं। अत उनका गौण मूल्य होता है। किन्तु कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं, यथा, सत्य, सौंदर्य, सस्कृति और शील, जिनकी स्वत कामना की जाती है, वे अन्य बहिस्थ उद्देश्यो की सिद्धि के साधन-स्वरूप नही है। अत उन्हें साध्य-मूल्य कहा जाता है। सर्वोच्च शुभ में प्रकृत्या मूल्यवान् तत्वो का समावेश होना चाहिये। साध्य-मूल्य ही मुख्य मूल्य होता है। साधन-मूल्य गौण मूल्य होता है।

२ मूल्यो का श्रेणी-विभाग।

अर्बन (Urban) मूल्यो का निम्नलिखित वर्गीकरण करता है (१) शारीरिक मूल्य, (२) आर्थिक मूल्य, (३) मनोरञ्जन के मूल्य, (४) साहचर्य के मूल्य, (५) चरित्र मूल्य, (६) सौंदर्य-मूल्य, (७) बौद्धिक मूल्य, और (८) धार्मिक मूल्य।

इन मूल्यो में मनुष्यो के द्वारा सर्वत्र मान्य और प्रशसित मूल्यो का समावेश हो जाता है। शारीरिक और आर्थिक मूल्य जीवन के लिये नितान्त आवश्यक हैं। वे अन्य मूल्यो के भी आधार हैं। किन्तु वे इतने महत्वपूर्ण नही हैं जितने अन्य। हम उन्हे हीन मूल्य कह सकते हैं, और दूसरो को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट मूल्य जो आत्मा अथवा व्यक्तित्व की उच्चतर आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। शारीरिक, आर्थिक और मनोरजन के मूल्य शारीरिक-अह की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। साहचर्य के और चरित्र-मूल्य सामाजिक-अह की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। उनका उद्भव आत्मा के अन्यो से सम्बन्धो के कारण होता है। सौन्दर्य-सम्बन्धी, बौद्धिक और

❀ राइट।

धार्मिक मूल्य; सौन्दर्य, सत्य, और ईश्वर-रूपी अवैयक्तिक आदर्शों के लिये आध्यात्मिक-अहं की आकाक्षाओं की तृप्ति करते हैं। यद्यपि वे शारीरिक और सामाजिक-अहं से भी सम्बन्धित हैं और उनके ऊपर निर्भर है, तथापि उनका वास्तविक उद्भव आत्मा के उनसे उत्कृष्टतर किसी व्यापार से होता है।

अर्बन मूल्यो को दो प्रकारो में विभाजित करता है: (१) जैविक-मूल्य, और (२) अति-जैविक-मूल्य। पुन: अति-जैविक मूल्य भी दो प्रकार के हैं: (१) सामाजिक मूल्य, और (२) आध्यात्मिक-मूल्य। शारीरिक, आर्थिक और मनोरजन के मूल्य जैविक-मूल्य हैं। साहचर्य के और चरित्र-मूल्य सामाजिक मूल्य हैं। बौद्धिक, धार्मिक और सौंदर्य के मूल्य आध्यात्मिक मूल्य हैं। सामाजिक मूल्य जैविक-मूल्यो से उच्च-कोटि के हैं। और आध्यात्मिक मूल्य सामाजिक मूल्यो से भी उच्च-कोटि के हैं। शारीरिक और आर्थिक मूल्य मौलिक-रूप से साधन-मूल्य हैं, साध्य नहीं। आर्थिक शुभ स्वत मूल्यवान् नही हैं। उनका मूल्य केवल शारीरिक, सामाजिक, और आध्यात्मिक मूल्यो को अर्जित करने के साधन होने में है। सम्पत्ति स्वत वाच्छनीय नही है, वल्कि अन्य शुभो का साधन होने के कारण वांच्छनीय है। सम्पत्ति एक साधन-मूल्य है, साध्य-मूल्य नही।

शारीरिक मूल्य भी वैयक्तिक मूल्यो के साधक हैं। स्वास्थ्य और शक्ति से युक्त परिपुष्ट-शरीर को व्यक्ति अच्छे जीवन के अन्य मूल्यो के अनुसरण में प्रयुक्त कर सकता है। क्रीडा स्वयं मूल्य है, किन्तु वह भी मुख्यतया साधन-मूल्य है, वह शरीर और आध्यात्मिक व्यापारो के मनोरजन का साधन है। वह उच्चतर मूल्यो के अनुसरण के लिये हमें स्वस्थ रखता है। ऐसा कोई भी नही है जो क्रीडा के एक सीमा तक साध्य-मूल्य होने से निषेध करे। किन्तु वह मुख्यतया उत्कृष्टतर मूल्यो का साधन है। इस प्रकार शारीरिक, आर्थिक और मनोरजन के मूल्य मूलत साधन-मूल्य है, साध्य-मूल्य नही। साहचर्य के मूल्य साधन-मूल्य और साध्य-मूल्य दोनो हैं। दूसरो का साहचर्य जिसमें सहकारित्व, मैत्री और प्रेम के मूल्यों का समावेश होता है, साध्य भी है और आत्म विकास का साधन भी। चरित्र-गुण चरित्र के मूल्य हैं। वे स्वय शुभ हैं और आत्मोपलब्धि के साधन भी। साहस, सयम, न्याय, प्रेम, और ज्ञान शुभ हैं, और वे आत्म-लाभ के साधन भी हैं। वे साधन-मूल्य और साध्य-मूल्य स्वय दोनो हैं।

सौन्दय के मूल्य, बौद्धिक मूल्य और धार्मिक मूल्य प्राय साध्य-मूल्य समझे जाते हैं। सौन्दर्य के मूल्य साध्य-मूल्य हैं। वे पूर्णतया निरपेक्ष हैं, और अपने ही के लिये उनका मूल्य होता है। वे आर्थिक और स्वार्थमूलक विचारो से स्वतन्त्र हैं। बौद्धिक मूल्य अथवा ज्ञान तथा सस्कृति भी साध्य-मूल्य हैं। सब प्रकार की विद्वत्ता स्वत महत्व-वपूर्ण है। धार्मिक मूल्य भी साध्य मूल्य हैं। अच्छे जीवन में उनका

सर्वोत्कृष्ट महत्व है। प्रार्थना और ईश्वर-चिन्तन साध्य-मूल्य हैं। वे भक्ति और पवित्रता के सर्वोत्कृष्ठ रूप है। सौन्दर्य-विषयक, बौद्धिक और धार्मिक मूल्य अति-वैयक्तिक मूल्य हैं। वे आध्यात्मिक-अहं के अमूर्त और अवैयक्तिक आदर्शो की उच्चतर आकांक्षाओं को तृप्त करते है।

किन्तु ये अतिवैयक्तिक मूल्य अन्य उद्देश्यो के भी साधन हो सकते हैं, और इसलिये उन्हे साधन-मूल्य भी कहा जा सकता है। सौन्दर्य-विषयक मूल्य, यथा, भवन-निर्माण, मूर्ति-कला, चित्रकला, कविता, सगीत, इत्यादि सौन्दर्य-सुख के उत्पादन के अतिरिक्त कुछ और भी सम्पादित करने का प्रयत्न करते हैं। वे जीवन और प्रकृति का किसी रूप में अर्थ लगाते हैं, हमें स्वय और दूसरो को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता देते हैं, और मानव-जाति की किसी रूप में सेवा करते हैं। बौद्धिक मूल्य अथवा ज्ञान भी साधन-मूल्य हो सकते हैं। ज्ञान से भौतिक विलासिता की वृद्धि, मानवीय संस्कृति और सभ्यता की समृद्धि, और मानव-जीवन की परि-स्थितियो के सुधार में सहायता मिली है। धार्मिक मूल्य भी साधन-मूल्य हो सकते हैं। धर्म का जीवन से विच्छेद नही हो सकता। वह जीवन को आदर्श और पवित्र बनाता है। धार्मिक व्यक्ति को मानव-प्रगति और ईश्वर में अटल विश्वास के कारण, जिन कार्यों में यह प्रवृत्त होता है उनमें अधिक योग्य और अच्छा मनुष्य होना चाहिये। ईश्वर-चिन्तन उसको मानव-मात्र से प्रेम करने और पृथ्वी को ईश्वर का साम्राज्य बनाने के लिये प्रेरित करता है। पृथ्वी पर स्वर्ग का अवतरण करना उसके जीवन का ध्येय हो जाता है। ईश्वर-प्रेम की अभिव्यक्ति मानवता की प्रेमपूर्वक सेवा करने में होनी चाहिये। इस प्रकार धार्मिक मूल्य भी साधन-मूल्य हो सकते हैं। किन्तु इसका ध्यान रखना चाहिये कि सौन्दर्य-विषयक, बौद्धिक, और धार्मिक मूल्य मूलत साध्य-मूल्य हैं, साधन-मूल्य नहीं। नैतिक मूल्य सर्वोत्कृष्ट मूल्य है। कहा जाता है कि उसमें सभी मूल्यों का समावेश हो जाता है। विशेषतया उसमें अतिवैयक्तिक मूल्यो का समावेश होता है जो साध्य-मूल्य हैं। नैतिक अच्छाई में सौन्दर्य, सत्य और पवित्रता का समावेश होता है। कभी कभी नैतिक उत्कृष्टता या सदाचार को भी नैतिक मूल्य कहा जाता है। नैतिक मूल्य आत्मा के सकल्प की तृप्ति करता है। इस अर्थ में वह अन्य अवैयक्तिक मूल्यो से सम्बन्धित होने पर भी उनसे भिन्न है।

६ मूल्य के नियम अथवा आदर्श : सङ्गठन के सिद्धान्त। organisation

अर्बन मूल्यों को सगठित करने के तीन सिद्धान्तो को निर्धारित करता है। उन्हें मूल्यो का आदर्श माना जा सकता है। वह कहता है, "तीन सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें शुभों अथवा मूल्यो में से किसी को चुनने या प्राथमिकता देने में उपस्थित माना जाता है। सामान्यतया साध्य-मूल्यो को साधन-मूल्यों से उत्कृष्ट निर्धारित किया

जाता है, स्थायी मूल्यो को अल्पस्थायी मूल्यो से उत्कृष्ट और उत्पादक मूल्यो को अनुत्पादक मूल्यों से उत्कृष्ट गिना जाता है।"❀

शारीरिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, और मनोरजन के मूल्य मूलत' साधन-मूल्य हैं। वे शारीरिक-अह की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। वे वैयक्तिक और अवैयक्तिक मूल्यो की प्राप्ति के साधन हैं। वे साहचर्य और चरित्र के मूल्यो से निकृष्ट हैं जो सामाजिक-अहं की आवश्यकताओं की तृप्ति करते है और साधन-मूल्य तथा साध्य-मूल्य हैं। वे आध्यात्मिक और अवैयक्तिक मूल्यो से भी गौण कोटि के हैं जो तत्वत साध्य-मूल्य हैं। (पुन साहचर्य और चरित्र के सामाजिक-मूल्य जो साधन-मूल्य तथा साध्य-मूल्य हैं आध्यात्मिक मूल्यो से जो प्रधानतया साध्य-मूल्य हैं, निम्न-कोटि के हैं।

दूसरा सिद्धान्त भी शारीरिक, आर्थिक और मनोरञ्जन के मूल्यो के गौण-धर्म को अधिक स्पष्ट-रूप से प्रदर्शित करता है। वे हमें अल्पस्थायी सुख देते हैं, जबकि आत्मा की बौद्धिक प्रक्रियायें चिरस्थायी आनन्द देती है। इन्द्रियजनित-सुख शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। इन्द्रियाँ शीघ्र ही श्रान्त हो जाती हैं और सुख के साथ, बार बार आने वाले उत्तेजनो की प्रतिक्रिया करना बन्द करदेती हैं। किन्तु आत्मा के बौद्धिक व्यापार अधिक काल तक स्थायी और श्रान्तिहीन अभ्यास में क्षम होते हैं। उसके अन्दर अधिक स्थायी आनन्द देने की क्षमता होती है। साहचर्य और चरित्र के मूल्य, तथा ज्ञान, सदाचार और सौन्दर्य के आध्यात्मिक मूल्य अधिक स्थायी आनन्द देते हैं।

शारीरिक मूल्य और आर्थिक मूल्य जीवन के और अन्ततोगत्वा अच्छे जीवन के अनिवार्य हेतु हैं। किन्तु उन्हे स्वय साध्य अथवा मनुष्य के चेतन-सकल्प के स्थायी विषय नहीं बनाया जा सकता।

तीसरा सिद्धान्त भी शारीरिक और आर्थिक मूल्यो के गौण धर्म को प्रदर्शित करता है। साधन-मूल्य प्रयुक्त होते होते समाप्त हो जाते हैं। यह भौतिक पदार्थों का नियम है। शारीरिक मूल्य का भी यही स्वभाव है। किन्तु अति-जैविक मूल्य व्यक्ति और समाज के लिये अधिकाधिक उत्पादक होते हैं। विशेषतया ज्ञान, कला, और धर्म के आध्यात्मिक मूल्य भौतिक पदार्थों में व्याप्त इस नियम के शासन में नही हैं, वितरण से उनकी अभिवृद्धि होती है और विभाजन से उनकी हानि होने की सम्भावना नही होती। दूसरो के साथ उनका उपभोग करने से आत्मा अकिंचन नही हो जाता, बल्कि समृद्ध और प्रसारित हो जाता है। ये मूल्य अति-वैयक्तिक ही नही हैं, बल्कि अतर्राष्ट्रीय भी हैं। जितने ही अधिक वे व्यापक होते है उतनी ही अधिक उनकी उत्पादकता भी बढती है।

❀ नीति-शास्त्र के मूल तत्व, पृष्ठ १७०–७१।

इस प्रकार, शारीरिक और आर्थिक मूल्य मानवीय साहचर्य और चरित्र के उच्च-मूल्यों की अपेक्षा तथा ज्ञान सौंदर्य और नैतिक उत्कृष्टता के प्रति वैयक्तिक मूल्यों की अपेक्षा गौण-कोटि के हैं। पुरुष-पुरुष और पुरुष-स्त्री का साहचर्य, मैत्री सहकारिता, प्रेम, भ्रातृत्व ये सब शारीरिक और आर्थिक मूल्यों की अपेक्षा उत्कृष्टतर साध्य-मूल्य, अधिक स्थायी, तथा नूतन मूल्यों से अधिक उत्पादक हैं। और ये सामाजिक मूल्य सामाजिक-ग्रह की भी तृप्ति करते ह। किन्तु, इनकी भी कोई सीमा होती है। मानवीय आत्मा की रुचियां अति-सामाजिक है और वह सत्य, सौंदर्य शुभ और ईश्वर के अवैयक्तिक आदर्शों की प्राप्ति में स्थायी संतोष पाने का प्रयत्न करता है। सामाजिक मूल्य इन आध्यात्मिक मूल्यों से निम्न-कोटि के हैं।

७. साध्य-मूल्य।

सामान्यतया सत्य, सौंदर्य और शुभ अथवा सदाचार को साध्य-मूल्य कहा जाता है। वे स्वयं शुभ हैं, वे दूसरों के साधन नहीं है। उनका उन्हीं के लिये अनुसरण किया जाता है। ये मूल्य अति-वैयक्तिक होते हैं; वे सदैव व्यक्तियों से स्वतंत्र होते हैं, यद्यपि व्यक्ति ही उनकी प्राप्ति के लिये सचेष्ट होते हैं। वे सदैव व्यक्तियों की सीमा से परे हैं। उनकी उपलब्धि किसी प्रकार के आध्यात्मिक व्यापार से होती है। ये तीन आदर्श आत्मा की तीन आध्यात्मिक प्रक्रियाओं की तृप्ति करते हैं; वे तीन प्रक्रियायें, बौद्धिक भावात्मक और संकल्पात्मक हैं। सत्य आत्मा के बौद्धिक स्वभाव की, सौंदर्य उसके भावात्मक स्वभाव की, और शुभ, सदाचार अथवा नैतिक उत्कृष्टता उसके संकल्पात्मक स्वभाव की, तृप्ति करते हैं। जिस प्रकार बोध, संवेग, और व्यवसाय आत्मा के अविच्छेद्य, परस्पर-व्याप्त तत्व हैं, उसी प्रकार सत्य, सौंदर्य, और शुभ भी एक अविच्छेद्य और पारस्परिक बन्धन में बंधे हुये हैं। किन्तु उनका पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार का है, इसका उत्तर ज्ञानातीत है। वेल्टन (Welton) का कथन ठीक है कि 'क्योंकि वे प्रत्येक मानव-व्यक्तित्व के लिये मूल्यवान् हैं, इसलिये, यह मान लिया जा सकता है कि वे मूलत एक ही हैं। किन्तु, वह मौलिक ऐक्य बुद्धि के लिये दुर्गम है। जहाँ तक हमें उनका ज्ञान है, वे एक-दूसरे से पृथक् हैं। यद्यपि यदा-कदा वे एक दूसरे की सन्निधि में आ जाते हैं।" अद्यावधि हमें सत्य, सौंदर्य और शुभ के सामंजस्य का तर्कसम्मत ज्ञान नहीं है। साध्य-मूल्य मुख्य हैं।

(१) सत्य—सत्य वह साध्य-मूल्य है जो बुद्धि को तृप्त करता है। हमारी प्रवृत्ति उसके ऊपर आस्था रखने की होती है। केवल सत्य की सत्ता का ही नहीं, बल्कि सत्य के ज्ञान का भी साध्य-मूल्य होता है। आरम्भ में ज्ञान का साधन-मूल्य ही केवल माना जाता था। फिर उसे साध्य-मूल्य भी माना जाने लगा। अब मनुष्य ज्ञान के लिये ज्ञान की साधना करने लगा है। मनुष्य ज्ञान को एक विजातीय-वस्तु नहीं मानता, बल्कि अपनी ही बौद्धिक प्रकृति का विकास करने वाला मानता है।

(२) सौंदर्य—सौंदर्य संवेग को सन्तुष्ट करने वाला साध्य-मूल्य है। हम सौंदर्य की प्रशंसा करते हैं। सौंदर्य व्यक्ति-निरपेक्ष है। "लोगों में मत-वैभिन्नय के समान रुचि-वैचित्र्य भी होता है, किन्तु रुचि सौंदर्य नहीं है, वल्कि सौंदर्य के मूल्यांकन करने की चेष्टा है, जैसे मत सत्य नहीं है, वल्कि सत्य को निश्चित करने की चेष्टा है। प्रत्येक अवस्था में मूल्यांकन भ्रान्तिपूर्ण हो सकता है।" ❀ सभी कलायें अन्तरस्थ विचारों को भौतिक-रूप प्रदान करती हैं। हम विचारों की परीक्षा उन रूपों के ही द्वारा कर सकते हैं। विचारों का मूल्यांकन कलात्मक भी होता है और नैतिक भी किन्तु उनकी अभिव्यक्ति का मूल्यांकन सदैव कलात्मक-मात्र होता है। कला का पूर्ण-मूल्यांकन तभी होता है जब विचार और उसकी अभिव्यक्ति दोनों हमें सौन्दर्य-सुख प्रदान करते हैं। प्रारम्भ में सौन्दर्य भी साधन-मूल्य समझा जाता था। फिर, उसे साध्य-मूल्य समझा जाने लगा। अब मनुष्य सौन्दर्य का सौन्दर्य के लिये अनुसरण करता है।

(३) शुभ—नैतिक मूल्य वह साधन-मूल्य है जो मनुष्य की संकल्पात्मक प्रकृति को तृप्त करता है। इसका सत्य और सौन्दर्य से साम्य है, किन्तु इसे उनमें विघटित नहीं किया जा सकता। सत्, सत्य अथवा सुन्दर नहीं है। असत्, मिथ्या अथवा असुन्दर नहीं। नैतिक मूल्य के ज्ञान से कर्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक वाध्यता की उत्पत्ति होती है, जिनका सत्य और सौन्दर्य की प्रशंसा में अभाव पाया जाता है। नैतिक मूल्य की चेतना के साथ नैतिक भावनायें पाई जाती हैं, जिनका सत्य और सौन्दर्य में अभाव होता है।

नैतिक मूल्य का सौन्दर्य-मूल्य से अभेद करना अयौक्तिक है। हम भौतिक-रूप में मूर्त विचार के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं, यद्यपि विचार का अनुमोदन करना हमारे लिये आवश्यक नहीं। किन्तु, किसी सत्कर्म के नैतिक मूल्य से हम उसको प्रेरित करने वाली प्रवृत्ति का भी नैतिक मूल्य जान लेते हैं। सौन्दर्य की प्रशंसा का कलाकार की प्रवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु व्यवहार का नैतिक मूल्यांकन कर्म-कर्त्ता की प्रवृत्ति पर निर्भर होता है। व्यक्तित्व के अभिव्यञ्जक व्यवहार का नैतिक अनुमोदन किया जाता है। किन्तु सौन्दर्य की प्रशंसा के लिये व्यक्तित्व का विचार नहीं करना होता है। नैतिक मूल्य अनुपम और अपूर्व होता है।

(४) ईश्वर का प्रेम—कभी-कभी ईश्वर-प्रेम एक स्वतन्त्र साध्य-मूल्य माना जाता है। प्रार्थना और चिन्तन पवित्रता के उत्कृष्टतम रूप हैं। वे अपनी उपयोगिता से भिन्न होकर भी स्वयं शुभ हैं। धार्मिक मूल्य ईश्वर-प्रेम पर बल देता है। नैतिक मूल्य मानव-मात्र के प्रेम और सेवा पर बल देता है। इस प्रकार दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है। "परोपकार का प्रधान उद्गम प्रेम है, क्योंकि केवल प्रेम के ही द्वारा एक

❀ वेल्टन।

व्यक्ति दूसरे के सकल्प को प्रभावित कर सकता है। इस प्रकार नैतिक उत्कृष्टता का तत्व ईश्वर-प्रेम और पडोसी के प्रेम में ही निहित है। ईश्वर-प्रेम में सभी अच्छी वस्तुओं का समावेश हो जाता है।"* ईश्वर नैतिक पूर्णता की मूर्ति है। अत एक प्रकार से नैतिक मूल्य में धार्मिक मूल्य का भी समावेश हो जाता है। शुभ के प्रेम में मनुष्य-जाति और ईश्वर का प्रेम भी गर्भित है।

८ साध्य-मूल्यो का सम्बन्ध।

सत्य, सौन्दर्य, और मगल साध्य-मूल्य है। सत्य बुद्धि को, सौन्दर्य सवेगों को, और मगल सकल्प को सतुष्ट करता है। सकल्प व्यक्तित्व का प्रकाशन है। "सत्य और सौन्दर्य आध्यात्मिक प्रक्रिया के विशिष्ट प्रकारो को तृप्ति देते हैं। शुभ सम्पूर्ण व्यक्तित्व को तृप्ति देता है, क्योकि इस मूल्य का सीधा सम्बन्ध सकल्प से है जो कि विशेष-कर्म में प्रवृत्त व्यक्तित्व की ही दूसरी सज्ञा है।"† इस प्रकार सम्पूर्ण आत्मा अथवा व्यक्तित्व की ऐच्छिक क्रिया विशेष-रूप में सत्य, सौन्दर्य अथवा उपयोगिता को निकटस्थ लक्ष्य बना सकती है। किन्तु, चाहे वह किसी भी निकटस्थ लक्ष्य का अनुसरण करे, अनुसरण पुण्य-पाप में से एक ही दिशा में होगा। पुन शुभ एक दूसरे रूप में भी सामान्य है। ज्ञान का अनुसरण बुद्धि की एक विशेष देन पर निर्भर है। सौन्दर्य की सृष्टि और प्रशसा एक विशेष योग्यता और कौशल के ऊपर निर्भर है। सत्य का ज्ञान और सौन्दर्य की प्रशसा एक बहुत छोटी सीमा तक जन-साधारण की पहुच के अन्दर है। किन्तु, नैतिक अच्छाई सदैव सबकी पहुच के अन्दर होती है। उसके लिये विशेष प्रतिभा की आवश्यकता नही है। सदाचरण संकल्प को उचित दिशा में लगाने में होता है। आत्म-विकास में सदाचरण है। "उच्चतम साध्य-मूल्य चरित्र की उत्कृष्टता है। वह कई समकक्ष मूल्यो में से एक मूल्य नही है, बल्कि उन सबको अपने में समाविष्ट करती है। मनुष्य अपनी सामर्थ्य और परिस्थितियो से अपने दैनिक जीवन में नैतिक अच्छाई का लाभ करता है।"‡ वे सत्य, सौन्दर्य, आनन्द भौतिक हित इत्यादि का अनुसरण करते हैं, जो कि चरम ध्येय अर्थात् नैतिक मगल के ही भाग हैं, उसकी प्राप्ति कर सकता है। पूर्ण जीवन में कई गौण लक्ष्यो के अनुसरण में की जाने वाली कई प्रकार की क्रियाओ के लिये स्थान है। इस प्रकार नैतिक मगल को सर्वोच्च साध्य-मूल्य कहा जा सकता है।

सत्य, सौन्दर्य और शुभ का पारस्परिक सम्बन्ध है। मानव-स्वभाव की तात्विक एकता और ज्ञान, वेदना, और सकल्प की अविच्छेद्यता इस को उपलक्षित करते हैं। किन्तु, अद्यावधि हम जीवन के इन आदर्शो के ऐक्य को समझ सकने में

* वेल्टन।

† वेल्टन।

‡ वेल्टन।

असमर्थ हैं। हमें विश्वास है कि किसी न किसी विधि से उनकी एकता निष्पन्न होती है और इसी हेतु वे हमारी सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्रकृति को तृप्त करते हैं। कोई प्रत्ययवादी दार्शनिको के मतानुसार ईश्वर ही सत्य, शिव तथा सुन्दर है। उसमें तीन प्रकृत साध्य-मूल्यो का समन्वय है। वह सत्य, मगल तथा सौन्दर्य की शाश्वत मूर्ति है। प्रिंगल प्यटिसन का यह मत है।

अर्बन साध्य मूल्यों की पारमार्थिक सत्ता में विश्वास रखता है। ये मानव-मन की सृष्टि नही हैं। ये सत्ता में निहित है। अर्बन साध्य-मूल्यो के विश्वात्मक अर्थ को मानता है। मनुष्यो को आत्मलब्धि के लिये साध्य-मूल्यो को प्राप्त करना चाहिये, निम्न कोटि से उच्च कोटि मे उन्नत होना चाहिये।

हार्टम्यान के मतानुसार साध्य-मूल्यो की सत्ता देशकालातीत तथा अपरिवर्तनीय है। दैशिक, कालिक, कार्य-कारण-सम्बन्धित, सीमित वस्तुयें इनका अनुकरण करती हैं। साध्य-मूल्य प्लेटो के Ideas की तरह अतिप्राकृत तत्व हैं। इनका अस्तित्व (existence) अर्थात् दैशिक तथा कालिक सत्ता नही है। परन्तु साध्य-मूल्य यथार्थ (real) हैं। ये अनुभूत सत् (existent) तथा गुण (quality) नही हैं। ये मानवचित्त पर आश्रित नही है। ये अनुभव-योग्य दैशिक-कालिक सत्ता तथा मनुष्य-मन के परे हैं। ऐन्द्रिय सत्-वस्तुयें परिवर्तनशील होती हैं। परन्तु अनुभवातीत तत्व (essences) अपरिवर्तनीय होते हैं। ये सत्-वस्तुओ को परिवर्तित नहीं कर सकते हैं। परन्तु मनुष्य साध्य-मूल्यो को कार्य में परिणत करने में प्रयत्न करते हैं। हार्टम्यान के अतिप्राकृत तत्व (essences) अर्थात् साध्य-मूल्य प्रभाकर के धर्म (ought) के तुल्य हैं। ये यथार्थ (real), देशातीत, कालातीत, अपरिवर्तनीय तत्व (essences) हैं।

६ मूल्यो का आपेक्षिक स्थान-निर्णय (Commensurability of Values)।

हमने साध्य और साधन मूल्यो का विचार किया और मूल्यो की क्रमिक श्रेणी में उनकी आपेक्षित स्थिति का भी विचार किया। साध्य-मूल्यो का पारस्परिक सम्बन्ध भी हम दिखा चुके हैं। सर्वोच्च शुभ कई तत्वो के सश्लेषण से प्राप्त एक सगठित इकाई है। वह ज्ञान या सस्कृति, सौन्दर्य, और सदाचार अथवा नैतिक उत्कृष्टता इत्यादि प्रकृत मूल्यो की एक-दूसरे के सम्बन्ध में उचित स्थिति से निर्मित होता है। आर्थिक, शारीरिक, और मनोरञ्जन के साधन-मूल्य भी जो कि साध्य-मूल्यो की प्राप्ति के मौलिक हेतु हैं, उसके घटक है। एवमेव साहचर्य और चरित्र के सामाजिक मूल्य भी उसके घटक है, जो सामाजिक-अह की आकांक्षाओ की पूर्ति करते हैं। एव, सर्वोच्च-शुभ एक-दूसरे से समुचित-रूप से सम्बन्धित मूल्यो की एक उत्तरोन्मुखी श्रेणी है—जिसमें शारीरिक मूल्यों का सामाजिक मूल्यो से गौण स्थान है, आध्यात्मिक

मूल्यो से सामाजिक मूल्यो का निम्न स्थान है, और ज्ञान तथा सौन्दर्य का सदाचारिता से निम्न स्थान है। हम मूल्यो की तुलना और सगठन के सिद्धान्तो का विचार पहिले ही कर चुके हैं। साध्य-मूल्य, साधन-मूल्यो से उच्च-कोटि के हैं। चिरस्थायी मूल्य अल्पस्थायी मूल्यो से उच्च-कोटि के हैं। उत्पादक मूल्य अनुत्पादक मूल्यो से उच्च-कोटि के है।

अब इससे यह नितान्त स्पष्ट हो गया है कि मूल्यो के परिणाम को हम नाप सकते है और उनकी हीनता या उच्चता का निर्णय कर सकते हैं। मूल्यो की एक दूसरे से तुलना की जा सकती है और उसके अनुसार एक क्रमिक श्रेणी में उनको समुचित स्थान दिया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के शुभ समपरिमाण होते हैं। इसका अर्थ यह नही कि किसी एक शुभ का एक निश्चित परिमाण किसी दूसरे का पर्याप्त और सन्तोषजनक स्थानापन्न हो सकता है, यथा, यद्यपि सदाचारिता सस्कृति से उच्च-कोटि की है, फिर भी सस्कृति की पर्याप्त-मात्रा सदाचारिता के अभाव की पूर्णतया सतोषजनक पूर्ति कर सकनी है, अथवा, यद्यपि सदाचारिता और सस्कृति इन्द्रियजन्य-सुख से उत्कृष्ट कोटि के हैं, फिर भी इन्द्रियजनित सुख का एक पर्याप्त परिणाम सदाचारिता अथवा सस्कृति का सन्तोषजनक स्थानापन्न हो सकता है। वास्तव में उच्चतर शुभो को निम्न-कोटि के शुभो की अपेक्षा सदैव प्राथमिकता दी जानी चाहिये। मूल्यो की समपरिमाणता से हमारा अभिप्राय यह है कि जब विजातीय मूल्यो में विरोध उत्पन्न हो जाता है, तो हम उनकी परस्पर तुलना कर सकते हैं उनको नाप सकते हैं, उनका उचित मूल्य-निर्धारण कर सकते हैं, और मूल्यों की श्रेणी में उन्हें उचित स्थान दे सकते हैं। ज्ञान, सौंदर्य, आनन्द और शुभ का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और उसी रूप में परम-शुभ में भी उनका स्थान है। हम प्रत्येक मूल्य के ऊपर अपने विविक्त-रूप में मूल्याकन-सम्बन्धी निर्णय नही देते, बल्कि उसे एक इकाई का घटक समझकर ऐसा करते हैं। हमें उनकी एक-दूसरे से सबन्धित-रूप में प्राप्ति करनी चाहिये। जब उनका एक इकाई के रूप में अनुसरण नही हो सकता, निस्सन्देह हम उन्हें एक-दूसरे से पृथक् कर सकते हैं, और मूल्यो की श्रेणी में उनको उचित स्थान दे सकते हैं। हमें विविध विजातीय शुभो में से कुछ को चुनने में उनके गुण तथा परिमाण दोनो का विचार करना चाहिये। इस अर्थ में कई प्रकार के शुभ अथवा मूल्य समपरिणाम हैं। यह राशडैल का मत है।

१० परम शुभ।

परम-शुभ वह सर्वोच्च शुभ है जो एक बुद्धिसपन्न-प्राणी को पूर्ण सन्तोष दे सके। उसमें सब साध्य-मूल्यों का एक-दूसरे से समुचित सबन्ध में अवस्थित होकर समावेश होता है। साधन-मूल्यो का भी प्रकृत-मूल्य की उचित अधीनस्थता में उसमें समावेश हो जाता है। प्रकृत-मूल्यो में सदाचारिता अथवा नैतिक उत्कर्ष सर्वोत्तम मूल्य है जिससे ज्ञान और सौन्दर्य को उचित-रूप से अधीनस्थ होना चाहिये।

मैकेंजी उच्चतम-शुभ की परिभाषा देते हुये कहता है कि "उच्चतम-शुभ पूर्णरूपेण व्यवस्थित-विश्व है जिसका इस रूप में चुनाव किया गया है।" बुद्धिसपन्न व्यक्ति का कर्तव्य है कि इस सर्वोत्कृष्ट-मूल्य-युक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करे। इस आदर्श की प्राप्ति सम्भव है। कोई भी व्यक्ति उत्तरोत्तर प्रगति करते हुये उसकी प्राप्ति कर सकता है। यदि सम्पूर्ण-शुभ व्यक्ति के इस परिच्छिन्न और परिमित जीवन में असाध्य-आदर्श भी हो, फिर भी उसकी यथाशक्ति पूर्ण-सिद्धि को लक्ष्य बनाना व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य होना चाहिये।

पूर्ण-शुभ एक पूर्णतया व्यवस्थित-विश्व है। यह सर्वोच्च नैतिक शुभ है क्योंकि विवेकयुक्त प्राणियों के द्वारा वह लक्ष्य के रूप में चुना जाता है और उनके स्वतन्त्र प्रयत्नों से क्रमश उसकी प्राप्ति होती है। पूर्ण-शुभ विवेकयुक्त चुनाव का विषय है और मानवीय चेष्टाओं के द्वारा अधिकाधिक साध्य है। यदि बुद्धिमान-कर्ताओं के चुनाव अथवा स्वतन्त्र-प्रयत्न के बिना ही एक पूर्णतया व्यवस्थित-विश्व की कल्पना कर ली जाय तो उसे सर्वोच्च नैतिक शुभ नहीं माना जा सकता।

सर्वोच्च नैतिक-शुभ व्यक्तिगत-शुभ है। वह व्यक्ति के चरम श्रेय से अभिन्न है। वह उसकी सभी आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति करता है। उससे उसकी पूर्ण आत्म तृप्ति, आत्मोपलब्धि और आत्म-विकास होता है।

उच्चतम नैतिक शुभ सामान्य-शुभ है। वह सम्पूर्ण मानव-जाति का शुभ है। वह व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार का शुभ है। वह उच्चतम वैयक्तिक और सामाजिक शुभ है।

परम शुभ की विविध रूपों में कल्पना की गई है। सुखवादी (यथा, सिजविक) सोचते हैं कि सुख ही केवल प्रकृत-मूल्य है, वही परम-शुभ है और उसका उसी के लिये अनुसरण होना चाहिये। सदाचार, ज्ञान, अथवा सौंदर्य का आनन्द-प्राप्ति के लिये अनुसरण होना चाहिये। इस प्रकार सदाचार, ज्ञान और सौंदर्य साधन-मूल्य हुये। सुख अथवा आनन्द ही एकमात्र साध्य-मूल्य है। यह भ्रामक है। सुख मूल्य का सूचक है, वह स्वयं मूल्य नहीं है। मूल्य का निवास किसी वस्तु या विचार में होता है, यथा भौतिक-वस्तुयें, स्वास्थ्य, शक्ति, सम्पत्ति, मैत्री, प्रेम, साहस, ज्ञान, सौंदर्य, अथवा नैतिक उत्कर्ष में। किन्तु, उस वस्तु अथवा विचार के मूल्यांकन के साथ सुख भी संलग्न रहता है। साध्य-मूल्य प्रकृत मुख्य मूल्य है। साधन-मूल्य विकृत गौण मूल्य है।

बुद्धिपरतावादियों का (यथा, कान्ट का) मत है कि शुभ-संकल्प ही एकमात्र प्रकृत-मूल्य है, वही एक रत्न है जो अपने ही प्रकाश से चमकता है। सर्वोत्तम-गुण नकृत्व को सत्पथ पर लगाने में है। सभी अन्य शुभ, यथा, स्वास्थ्य, सम्पत्ति, ज्ञान,

सौन्दर्य इत्यादि विकृत-मूल्य है। लेकिन यह भी भ्रामक है। वह सकल्प के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का सकल्प नही करता, यह निर्विषय है। यदि शुभ-सकल्प के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का प्रकृत मूल्य नही है, तो एक सकल्प को दूसरे से अच्छा समझने के लिये कोई कारण नही दिया जा सकता। किसी वस्तु का सकल्प न करने वाला सकल्प एक कल्पना-मात्र है। 'सत्' केवल 'शुभ' से ही सम्बन्धित होने के कारण सार्थक है। शुभ-सकल्प सत्पथ में प्रवृत्त सकल्प नही है वल्कि 'शुभ' का सकल्प करने वाला है। शुभेच्छा वह इच्छा है जो 'शुभ' की इच्छा करती है। 'शुभ' साध्य-मूल्य या साधन-मूल्य हो सकता है। किन्तु, सकल्प का सदैव साधन-मूल्य ही होगा क्योकि वह शुभ की प्राप्ति का साधन है। इस सिद्धान्त में सत्य का अश इतना ही है कि सर्वोच्च शुभ का विवेकयुक्त-चुनाव अथवा इच्छा का विषय होना चाहिये, वह विवेकयुक्त चुनाव और स्वतन्त्र प्रयत्न से अनपेक्ष नही हो सकता। सर्वोच्च नैतिक शुभ में विचारपूर्वक चुनाव और स्वतन्त्र चेष्टा महत्वपूर्ण तत्व हैं। किन्तु, सर्वोच्च नैतिक शुभ केवल उन लक्ष्यो से पृथक् चुनाव और प्रयत्न मात्र नही है जो उनके विषय है।

आत्मपूर्णतावादियो (यथा, ग्रीन) का मत है कि सर्वोच्च-शुभ आत्म-विकास अथवा समाज के साथ आदान-प्रदान में लगे हुए आत्मा की शक्तियो का सामजस्यपूर्ण-विकास है। वह समाज के साथ किसी व्यक्ति के उत्तरोत्तर अधिक एकात्मीकरण के द्वारा विवेकसम्पन्न अथवा सामाजिक आत्मा की उपलब्धि में निहित है। उसकी सत्ता आत्मोत्सर्ग के द्वारा आत्म-लाभ में—निम्न, सकीर्ण, अथवा व्यक्तिगत-अह के परिष्कार-पूर्वक उच्च, विचारसम्पन्न अथवा सामाजिक-अह की प्राप्ति में है।

मूल्य के दृष्टिकोण से उच्चतम शुभ एक-दूसरे से उचित सम्बन्ध में अवस्थित सत्य, सौंदर्य, और सच्चरित्रता इत्यादि प्रकृत अथवा आध्यात्मिक-मूल्यो की प्राप्ति में सन्निहित है। उसकी प्राप्ति के लिये साहचर्य और चरित्र के सामाजिक मूल्यो की आध्यात्मिक अथवा साध्य-मूल्यो को उचित अधीनस्थता में प्राप्ति भी आवश्यक है। सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यो के आधीनस्थ आर्थिक, शारीरिक और मनोरजन के मूल्यो की प्राप्ति भी उसके लिये अनिवार्य है। परम नि श्रेयस की सिद्धि साध्य-मूल्यो और उनकी सिद्धि के आधारभूत साधन-मूल्यो की सिद्धि से होती है। इससे आत्म-लाभ अथवा व्यक्तित्व का लाभ होता है। यह आत्मा को पूर्ण सन्तोष प्रदान करता है; यह शारीरिक, सामाजिक, और आध्यात्मिक-अह की तृप्ति करता है। आत्म-लाभ विविध-मूल्यो को विचारपूर्वक व्यवस्थित करने से होता है, जिससे आत्मा की शक्तियो का धीरे धीरे सामजस्यपूर्ण-विकास होता है। परम मगल का इसी सामान्य विधि से वर्णन किया जा सकता है। राइट (Wright) इस मूल्य के मानदण्ड को पूर्णतावाद

देता है। आत्म-लाभ एक-दूसरे से उचित सम्बन्ध में अवस्थित जीवन के मूल्यों का लाभ है। इस प्रकार मूल्यों का मानदण्ड आत्म-पूर्णतावाद से घनिष्ट-रूप से सम्बन्धित है।

अध्याय १५

नीट्शे : 'प्रभुत्व-प्राप्ति की इच्छा' का नीति-शास्त्र

१. शक्तिमत्ता का नीति-शास्त्र।

नीट्शे के नीति-शास्त्र का जीव-शास्त्रीय आधार—हर्बर्ट स्पेन्सर के समान, नीट्शे (Nietzsche) भी अपने नीति-शास्त्र की स्थापना जीव-शास्त्र के आधार पर करता है। वह प्रभुत्व-प्राप्ति की इच्छा के अपने सिद्धान्त को प्राकृतिक चुनाव, योग्यतम अथवा सर्वाधिक शक्तिमान की जीत तथा निर्बल और पतित की पराजय के जीवशास्त्रीय नियमों से व्युत्पन्न करता है। नीट्शे 'शक्तिमान बनने की इच्छा" का प्रचारक है। शोपेनहार (Schopenhauer) ने जीवन का जीने की इच्छा से तादात्म्य किया था। नीट्शे जीवन के तत्व को प्रभुता की इच्छा, वृद्धि, विस्तार और समृद्धि की इच्छा में पाता है। शक्ति की इच्छा ही जीवन का ध्येय है। जीने के लिये संघर्ष नहीं, बल्कि शक्ति के लिये संघर्ष, 'प्रभुत्व की इच्छा', ही क्रम विकास का प्रारम्भिक सिद्धान्त है। जीवन के लिये तीव्रतम और उच्चतम इच्छा का प्रकाशन सत्ता के लिये कष्टप्रद संघर्ष में नहीं होता, बल्कि युद्धैषणा में, शक्ति की इच्छा में, अति-शक्ति की इच्छा में होता है (नीट्शे)। नीट्शे शक्ति, स्वप्रतिपादन, प्रभुत्व, स्वार्थसिद्धि के नीति-शास्त्र का प्रवर्तक है।

शुभाशुभ—शुभाशुभ के प्रत्ययों के आधार जीव शास्त्रीय या शरीर-शास्त्रीय विचार हैं। शुभ वह है जो मनुष्य में शक्ति के अभिमान, शक्ति की इच्छा, और वास्तविक शक्ति का उत्कर्ष करता है। अशुभ वह है जो कि शक्ति का क्षय करता है। उसका प्रादुर्भाव निर्बलता, दया, और प्रतिहिंसा से होता है। जो जीवन की प्रगति करता है वह शुभ है। जो जीवन का ह्रास करता है वही अशुभ है। सभी पुण्य और पापों के आधार शारीरिक हेतु हैं। नीट्शे 'अच्छे' और 'बुरे' के यूनानी-अर्थों का (अच्छा = वीर, कुशल, योग्य, बुरा = अशिष्ट, साधारण, कायर) स्वीकार करता है।

विश्व की नीति-शून्यता—नीट्शे के अनुसार विश्व की प्रकृति नीति-शून्य है। तथा-कथित नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये विश्व एक क्षेत्र नहीं है। वह मनुष्य के नैतिक लक्ष्यों के प्रति कठोर उदासीनता का भाव धारण किये हुये है। वह नैतिक

प्रयोजन की सिद्धि नही करता। दुनिया न तो अच्छी है, न बुरी। मनुष्य के सम्बन्ध में ही ये पद सार्थक है। ससार मे केवल नीति-शून्य अभिप्राय और क्रियायें ही पाई जाती हैं। नैतिक तथ्यो का यहा अभाव है, तथ्यो का केवल नैतिक अर्थ लगाया जाता है।"*

नैतिक आपेक्षिकतावाद— नीट्शे एक आपेक्षिकतावादी है। वह शुभ और 'अशुभ' को चिरन्तन सत्य नही मानता। नैतिक विभेद नित्य और अपरिवर्तनीय नही हैं। वे किसी जाति की भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियो पर निर्भर हैं। सामाजिक वातावरण मे उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर वे निरर्थक हो जाते हैं। समय के अनुसार उनमें परिवर्तन होता रहता है। 'शुभ' और 'अशुभ' आपेक्षिक पद है। वे निरन्तर प्रवाह में है। जिसकी एक जाति शुभ समझकर प्रशसा करती थी, उसी की दूसरी जाति अशुभ कहकर निन्दा करती है। जो कभी अशुभ माना जाता था वही कालान्तर में शुभ माना गया, क्योकि वह उपादेय सिद्ध हुआ।

सकल्प-स्वातन्त्र्य से इन्कार— नीट्शे इच्छा-स्वातन्त्र्य का निषेध करता है। हमारे कर्म अपने कारणो के कठिन बन्धन में है। वे वशानुक्रम और परिस्थितियो के द्वारा दृढतापूर्वक निर्धारित होते है। सकल्प-स्वातन्त्र्य में आस्था रखना भौतिक और शारीरिक कारण तथा कार्यों के निरन्तर प्रवाह में आस्था रखने के विरुद्ध है। हमारे कर्म स्वतन्त्र सकल्प की रहस्यमय क्रियाओ के द्वारा उत्पन्न विविक्त कर्म नही हैं। कार्य-कारण शृखला में ही वे भी आबद्ध है। स्वतन्त्र इच्छाकृत कर्मों में विश्वास रखने का अर्थ सकल्प और कार्यो के भौतिक कारणो से सबध में अविश्वास करना है, जो कार्यकारण के नियम के अपवाद है। सकल्प-स्वातन्त्र्य में विश्वास मनुष्य के निरर्थक अहकार की भावना से जनित एक धार्मिक अन्धविश्वास का अवशेष है। "इस तथ्य के लिए कोई उत्तरदायी नही है कि उसकी सत्ता है, उसकी रचना वैसी है जैसी है, और वह एक विशेष वातावरण में किन्ही परिस्थितियो से घिरा हुआ पाया जाता है। उसकी सत्ता की अवश्यभाविता का, अतीत और भवितव्य जो कुछ भी है उसकी अवश्यभाविता से विच्छेद नही किया जा सकता।"†

जीवन की नीति-शून्यता— जीवन सत्ता के लिए सघर्ष-मात्र नही है। वह शक्ति, अति-शक्ति प्राप्त करने की इच्छा है। वह युयुत्सा है। वह प्रभुत्व है, दूसरे का शोषण है, स्वार्थसिद्धि है। 'जीवन नीति-शून्य है। जीवन आभ्यन्तर सम्बन्धो का वाह्य सम्बन्धो से अविरत समायोजन नही है, बल्कि, शक्ति की इच्छा है, जो अन्तर से निःसृत होकर वाह्य पदार्थो की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा को अधीनस्थ करती है और

---

* नीट्शे।

† नीट्शे।

अपने में मिलाती है। छीनना, क्षति, अपरिचित और निर्बल के ऊपर विजय, दमन, आत्ममात् करना, और कम से कम उसे अनुद्धत बना देना, शोषण, इन्ही का नाम जीवन है। जीवन तत्वत नीति-शून्य है।"❀

प्रभु और सेवको की नीति— नीट्शे के अनुसार नैतिक मूल्यांकन दो परस्पर-विरुद्ध विधियो से किया गया है। एक प्रकार के नैतिक मूल्यांकन को वह "प्रभुओ की नैतिकता" कहता है और दूसरे को "दासो की नैतिकता"। पहिला शक्ति का नीति-शास्त्र है, और दूसरा उपयोगिता का। रोमन लोगो ने पहिले को स्वीकार किया था, वे साहस, पुरुषत्व, उद्योग और वीरता को सद्गुण मानते थे। यहूदी लोगो ने अपने राजनैतिक दासत्व के युग में दूसरे को स्वीकार किया और सौजन्य, नम्रता, वलिदान और धैर्य की नैतिकता का प्रदर्शन किया। सेवको की नीति में शान्ति और सुरक्षा के प्रेम का स्थापन भय के प्रेम के स्थान पर हुआ, चातुर्य वल का दया दृढता की, अनुकरण उपक्रम का, अन्त करण अह भाव का स्थानापन्न हुआ। ईसा ने इस प्रकार के मूल्यांकन को पराकाष्ठा पर पहुचा दिया। उसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य के दूसरो के समान ही मूल्य और अधिकार है। ईसा की इसी शिक्षा मे प्रजातन्त्रवाद, उपयोगितावाद, और समाजवाद के प्रयत्नो का प्रादुर्भाव हुआ। प्रजातन्त्रवाद का अर्थ है पतित मनुष्यो से समानता। प्रजातन्त्रवाद मनुष्य-जाति को मेरुदण्डहीन प्राणियो की जाति वना देता है। इसका अर्थ है नारीवाद—पुरुष और स्त्री की समानता। अत उसका विरोध होना चाहिए। †

पुरुषोचित गुण और स्वेच्छाचारी तन्त्र—सभी रूढ-परम्पराओ और सस्थाओ का उन्मूलन हो जाना चाहिये और मूल्यों की एक नूतन प्रणाली का आविष्कार होना चाहिये। 'मूल्यो का मूल्यान्तरण" ‡ होना चाहिये। सभी वर्तमान सस्थाओं और सामाजिक परम्पराओ को नष्ट कर देना चाहिए। नवीन सस्थाओ का निर्माण शक्ति की इच्छा, वृद्धि, विस्तार और शोषण की इच्छा के आधार पर होना चाहिये। जीवन शक्तिमान् बनने की इच्छा है। अतः नैतिक नियमावली वलवान् और योग्य के विशेषाधिकारो पर आधारित होनी चाहिये। "यदि जीवन एक सघर्ष है जिसमें योग्यतम ही जीवित रह सकता है, तो वल ही अन्तिम गुण है, और निर्वलता ही एकमात्र दोष है। शुभ वह है जो जीवित रहता है, जो विजयी होता है, अशुभ वह है जो हारता है, असफल होता है।" ईसाइयो की नीति जो विनय, सौजन्य और परोपकार की प्रशसा करती है सडी-गली नीति है, अत. उसको छोड देना चाहिये। इस जीवन के युद्ध में

❀ नीट्शे

† डूरन्ट

‡ Transvaluation of values.

सदाचार की नही वल्कि वल की, विनय की नहीं वल्कि अहकार की, परोपकार की नही वल्कि प्रौढ-वुद्धि की आवश्यकता है। समानता और प्रजातन्त्र प्राकृतिक चुनाव और योग्यतम की जीत के नियमो के विरुद्ध है। जनता नही वल्कि अद्भुतप्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हमारे लक्ष्य होने चाहिये। न्याय नही, वल्कि शक्ति को हमारे भाग्य का निर्णायक होना चाहिये। दया का अर्थ है निर्वलता। दया निश्चेष्ट वनाने वाली मानसिक विलासिता है। अत उसको छोड देना होगा। युद्ध एक जैविक आवश्यकता है। भावी मनुष्यो के लक्षण साहस, निर्भीकता और युद्ध-प्रेम होगे। इस प्रकार नीट्शे के ऊपर डार्विन और विस्मार्क का अत्यधिक प्रभाव है।

अतिमानव—ससार ठीक नही होगा और मनुष्य मनुष्य नही वनेगा जव तक कि मनुष्य-जाति की योजना में प्रभुत्व और शक्ति की भावना, अधिकार और वल की प्रवृत्ति का अपने उचित स्थान पर पुन स्थापन नही हो जाता और दया, उदारता, सहानुभूति, और वलिदान की भावनाओ का अन्त नही हो जाता। मनुष्य की समुदाय या जाति में वास्तविक परीक्षा उत्साह, योग्यता या शक्ति है। विश्व को वलवान्, महान्, और कम लोगो के निवास के योग्य वनाना चाहिये। मानवीय प्रयत्न का लक्ष्य अधिक अच्छे और अधिक वलवान् व्यक्तियो का विकास होना चाहिये, सबका विकास नही। अतिमानव—मनुष्य-जाति नही, उद्देश्य है। मनुष्य-जाति के विषय में सोचना या उसकी उन्नति का प्रयत्न करना मूर्खता की पराकाष्ठा है, यह एक कल्पना-मात्र है। इस प्रकार हमारा चेतन-प्रयत्न मनुष्यो के एक नवीन प्रकार को—अतिमानवो की एक जाति को उत्पन्न करने के लिये होना चाहिये। उसका ध्येय शासन करने का होना चाहिये, सेवा करने का नही। अतिमानव का प्रधान लक्षण शक्ति और युद्ध का प्रेम होगा। उत्साह, वुद्धि, अहङ्कार और शक्ति, यही अतिमानव के गुण हैं।

हमारी सस्थायें, नीति और धर्म जो इस शक्तिशाली जाति के आने में विघ्न-स्वरूप है, त्याज्य हैं। ईसाई धर्म जो कि नम्रता और दया की पूजा करता है, और दासो की नीति का उद्धार करता है मनुष्य-जाति का सबसे वडा शत्रु और नई जाति के जन्म का सबसे वडा विरोधी है। प्रजातन्त्र का भी विनाश होना चाहिये, जो सयम की प्रशसा और उत्कर्ष मे घृणा सिखाता है। यह महान् व्यक्तियो का होना असम्भव कर देता है।

नीट्शे ने पहिले अतिमानव को व्यक्ति के रूप में कल्पित किया था। बाद में अतिमानव से उसका अभिप्राय मनुष्य की अपेक्षा एक उच्च प्रकार, एक उच्च-जाति हुआ। नेपोलियन के समान एक अतिमानव के स्थान पर नीट्शे ने मनुष्यों के एक उच्चतर-प्रकार की कल्पना की। "अतिमानव पृथ्वी की सार्थकता है। अपने सकल्प को कहने दो कि अतिमानव ही पृथ्वी की सार्थकता होगा।" फासिष्टवाद का दर्शन नीट्शे के अतिमानववादी-दर्शन का एक नवीन-रूप है।

२. नीट्शे के नीति-शास्त्र की समालोचना।

नीति-शास्त्र जीवविज्ञान की भित्ति पर स्थापित नही हो सकता। योग्यता की जीत का जैविक-नियम कदापि नैतिक नियम नही हो सकता। शक्तिमत्ता की इच्छा नैतिक आदर्श नही बन सकता। मनुष्य तत्वत एक आध्यात्मिक-प्राणी है। शक्ति-मत्ता का आदर्श उसकी आध्यात्मिक आकाक्षाओ की तृप्ति नहीं कर सकता। 'शुभ' और 'अशुभ' जीवशास्त्रीय प्रत्यय नही है। वे नैतिक प्रत्यय हैं। 'शुभ' एक मूल्य है। वह एक नैतिक लक्ष्य है। शुभ शक्ति नही है अशुभ निर्बलता नही है। नैतिक प्रत्ययो में अलग-अलग युगो में परिवर्तन हो ही जाना है। किन्तु नैतिक आदर्श शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। सकल्प-स्वातन्त्र्य का निषेध और मनुष्य की आध्यात्मिक-प्रकृति से इकार नीति का उन्मूलन कर देते हैं। नीट्शे के नीति-शास्त्र में सत्य का अश केवल इतना ही है कि पुण्योचित-गुण उपयोगी हैं। उनका हमारे नैतिक जीवन में स्थान है। नम्र-गुणो से उनकी तीव्रता को एकाएक नष्ट नही कर देना चाहिये। अतिमानव के प्रत्यय का आध्यात्मिकीकरण होना चाहिये। अतिमानव वह व्यक्ति है जो मानव जाति से प्रेम करता है और उसकी सेवा में अपना जीवन अर्पित कर देता है। जीवन का सूत्र स्वार्थ की वृद्धि नही, बल्कि आत्मोत्सर्ग होना चाहिये। सक्षेप में नीट्शे का नीति-शास्त्र नीति का निराकरण है। नीट्शे के सिद्धान्त ने ससार में जर्मनो का प्रभुत्व स्थापित करने के लिये जर्मनो को दो प्रलयकर विश्व-युद्धो के लिये प्रोत्साहित किया था। उनका विश्वास था कि जर्मन ही आने वाली अतिमानवो की जाति है। श्री अरविन्द का 'अतिमानव' प्रभुत्व-सपन्न, युद्धप्रिय, निर्दय, निरीश्वर, नीतिहीन प्राणी नही है। वह ईश्वर के चरणों में आत्म-समर्पित, तद-गत-चित्त, ईश्वर-यन्त्रवत् भागवत-जीवन-सपन्न, मानव-जाति से अभिन्न-चित्त, मनुष्यो के सार्वभौम हितकामी-मानव है। वह स्वप्रतिपादन, प्रभुत्व, स्वार्थसिद्धि, अतिशक्ति का दास नही है। परन्तु वह परार्थपर मानव-प्रेमी है, नव भागवत मनुष्य-समाज का प्रवर्तक है। यह अतिमानव का प्रकृत स्वरूप है।

२. बुद्ध का अहिंसात्मक नीति-शास्त्र।

बुद्ध ने स्पष्ट रूप से अहिंसा के नीति-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है, "समस्त प्राणी प्रसन्न, सुखी, सुरक्षित और प्रसन्न-चित्त हो।" (सुत्तनिपात १४४, १४६)। कोई किसी को धोखा न दे, किसी स्थान में किसी से घृणा न करे तथा क्रोध या प्रतिकारवश किसी को हानि पहुचाने की इच्छा न करे" (सुत्तनिपात, १४०)। क्रोध को प्रेम से और दुष्टता का सज्जनता से जीतो क्योंकि घृणा का नाश कदापि घृणा द्वारा नही किया जा सकता। घृणा प्रेम से नष्ट होती है" (धम्मपद, १ : ५)। "सज्जनता का बदला सज्जनता से देना अच्छा है। परन्तु दुर्जनता के बदले में सज्जनता का व्यवहार और भी श्रेयस्कर है" (बोधिचर्यावतार। श्रेष्ठ मनुष्य

हानि पहुचाने वालो के प्रति भी करुणा से द्रवित हो जाते है" (अवदान-कल्पलता) "जो व्यक्ति मूर्खतावश मुझे हानि पहुचाता है मैं उसे विना शिकायत के अपने प्रेम का सरक्षण दूगा। वह मुझे जितना कष्ट पहुचायेगा मैं उसे उतना ही प्रेम दूंगा"। (बयालीस खण्डो के सूत्र)। "पवित्र विचारो और प्रेम की पूर्णता द्वारा मैं दूसरो के प्रति वही व्यवहार करूगा जो मैं दूसरो के प्रति चाहता हू" (ललित विस्तार बुद्ध धर्म का सार, पृष्ठ ७२)। "घृणा को प्रेम से जीता जाता है" "जिसके हाथ में घाव नही होता है वह विष को छू सकता है। विष उसके हाथ पर कोई प्रभाव नही करता। जो बुराई नही करता उसक लिए ससार में कोई बुराई नही" (धम्मपद ९ १२४)। हानि पहुचाने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ व्यक्तियो की पवित्रता को नष्ट नहीं कर सकता है। वह उसकी आत्मा को स्पर्श तक नही कर सकता। "यदि कोई मनुष्य किसी निर्दोष, सरल व्यक्ति पर चोट पहुचाता है तो उसी पर बुराई टूट पडती है जैसे कि वायु की विरोधी दिशा में फेकी गयी धूल" (पूर्वपुस्तक ९ १२५)। बुराई को भलाई से जातना चाहिए। "किसी से कठोरतापूर्वक मत बोलो क्योकि जिनसे तुम इस प्रकार वोलोगे वह तुम से भी इसी प्रकार वोलेंगे। क्रोधपूर्ण भाषण दुख दायी होता है। तुम्हे घूसे के बदले घूसे मिलेंगे।" (१०:१३३)। "क्रोध और विद्वेष को प्रेम से जीतो। हिंसा में से हिंसा उत्पन्न होती है। उसे प्रेम द्वारा शान्त कर देना चाहिए।" "बुद्धो ने धैर्य का सर्वोच्च तप तथा निरन्तर सहनशीलता को सर्वोच्च निर्माण कहा है। क्योकि जो मारता है वह तपस्वी नही है और जो दूसरो की मानहानि करता है वह सन्त नही है।" (धम्मपद १० १८४)। "मैं गालियो को मौनपूर्वक सहूगा, जिस प्रकार युद्ध में हाथी धनुष से निकले तीरो को सहता है क्योकि ससार दुष्ट प्रकृति का है" (२३ १२०)। वुराइयो को हिंसा द्वारा कुचलने की अपेक्षा धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। धैर्यपूर्वक-सहनशीलता हिंसापूर्ण विरोध से श्रेयस्कर है। सहनशीलता का अर्थ बुराई के सन्मुख आत्मसमपर्ण नही है वरन् यह ऐसी नैतिक शक्ति का सग्रह है जिसके द्वारा दोषो का होना ही असम्भव हो जाता है। "विजय से घृणा उत्पन्न होती है क्योकि विजित व्यक्ति अप्रसन्न होता है। जिसने जय-पराजय दोनो का त्याग कर दिया है वही प्रसन्न है" (१० २०१)। यदि दुष्ट को हिंसा द्वारा कुचल दिया जाय तो वह अपने हृदय में घृणा और शत्रुता को स्थान देता रहेगा तथा फिर से हानि पहुचाता है। अत हिंसा को प्रेम सहनशीलता द्वारा जीतना चाहिये। "क्रोध को प्रेम से और दुष्टता को सज्जनता से जीतो। लोभी को उदारता द्वारा और झूठे को सत्य द्वारा जीतो।"(१७ . २२३)। "दूसरो के दुर्गुणो पर अपने गुणो द्वारा विजय प्राप्त करो। यदि कोई व्यक्ति हिंसा करता है तो वह न्यायपरायण नही। जो व्यक्ति सत्-असत् में विवेक करता है, विद्वान है और दूसरो का पथप्रदर्शन करता है, हिंसा का अनुसरण करता है वह ही न्यायशील है।" (१९ २५६)। हिंसा को नष्ट कर

देना चाहिए। हमें न्याय, समता और धर्म का आश्रय लेना चाहिए। "जो जीवधारी मनुष्य प्राणियों को सताता है वह आर्य नहीं है। आर्य वही है जो उनको कष्ट नहीं पहुंचाता है" (१६ . २७०)। हिंसा बर्बरता का ही रूप है, चिन्ह है। अहिंसा करुणा तथा प्रेम संस्कृति के चिन्ह हैं। जो हिंसा करता है वह असंस्कृत है। "मैं सच्चा ब्राह्मण उसे मानता हूं जो शरीर, वचन और मन से किसी को हानि नहीं पहुंचाता है। दूसरे प्राणियों की भूल नहीं निकालता। जो दुर्बल अथवा सबल प्राणी को न मारता है और न मरवाता है, जो असहनशील के प्रति भी सहनशील रहता है, दोष निकालने वालों के प्रति नम्र रहता है, हानि पहुंचाने वालों को हानि नहीं पहुंचाता तथा जिसने घृणा, अभिमान और असूया को जीत लिया है वही ब्राह्मण है" (२६ ३५१, ४०५, ४०७)। "किसी को ब्राह्मण पर आक्रमण नहीं करना चाहिए परन्तु यदि उस पर आक्रमण किया जाय तो उसे आक्रमणकारी से बदला नहीं लेना चाहिए। जो ब्राह्मण पर आक्रमण करता है उसे धिक्कार है और उस ब्राह्मण को भी धिक्कार है जो उस पर क्रोध करे" (२६ ३७६)। आक्रमण के उत्तर में आक्रमण नहीं करना चाहिए। हिंसा का प्रतिकार अहिंसा द्वारा, असहनशीलता का सहनशीलता द्वारा, क्रोध का शम द्वारा, घृणा को प्रेम द्वारा तथा दोष-दर्शन का नम्रता द्वारा करना चाहिए।

"घृणा से बढ़कर हानिप्रद और कुछ भी नहीं होता" (१८ २५१)। "खेतों को घास से और मनुष्यों को घृणा से हानि पहुंचती है" (२४ ३५७)। "अतः हमें प्रसन्नतापूर्वक रहना चाहिये। जो हमें घृणा करते हैं हम उनसे घृणा न करें। हमें घृणा करने वालों के मध्य हम घृणा से मुक्त होकर जियें" (१० १६७)। मनुष्य जाति में प्रेम बन्धनकारी शक्ति है तथा घृणा विघटन करने वाली शक्ति। मनुष्यों को परस्पर प्रेम के स्वर्णिम बन्धनों में आबद्ध कर दो। उन्हें घृणा दुर्भावना और असूया द्वारा पृथक् मत करो। "किसी भी प्राणी को चाहे वह सबल हो अथवा निर्बल, मत सताओ। (धम्मिका सुत्त)।" विश्व को मैत्री से परिपूरित कर दो। समस्त प्राणियों को ऐसा कुछ भी मत दिखाओ जिससे उन्हें हानि पहुंचे। इस प्रकार वे शान्ति का पथ देख पायेंगे।" (चुल्ल वग्ग)। दुर्भावना, असूया और घृणा का परित्याग करके जगत् को प्रेम और सद्भावना से परिपूरित कर दो, तब जगत् शान्ति और प्रेम से भर जायगा तथा घृणा और दुर्भावना का नाश हो जायगा। प्रकाश अन्धकार को नष्ट कर देता है तथा प्रेम घृणा को। "अहिंसा का अनुयायी वैरियों को मित्र बना देता है, वह शान्तिकर्ता तथा शान्तिप्रिय होता है। वह शान्ति स्थापित करने वाले शब्द बोलते हैं" (नदिजक सुत्त)। प्रेम एकता स्थापित करता है, घृणा पृथक् कर देती है। प्रेम निर्माण करता है, घृणा नाश करती है। प्रेम शान्ति देता है, घृणा संघर्ष की जननी है। घृणा को हृदय में स्थान मत दो। घृणा से भरे वचन मत बोलो। घृणा से किसी को हानि मत पहुंचाओ। सर्वव्यापक प्रेम द्वारा घृणा को

जडें जला डालो। "उदारता, सद्भावना, परोपकारिता एव दयालुता आदि जगत् को इस प्रकार सहारा देती हैं जिस प्रकार गतिमान रथ को धुरे की कीली ठिकाने मे वनाये रखती है।" मनुष्य समाज के ठीक सचालन के लिये ये प्रत्यन्त आवश्यक हैं। मनुष्य-जाति के हृदय के घावो के लिये विश्वव्यापक प्रेम और भ्रातृ भावना के मरहम की आवश्यकता है। "जिस प्रकार माता अपने जीवन को सङ्कट में डालकर भी अपने इकलौते पुत्र की रक्षा करती है उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को समस्त जीव-धारियो के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिये। उसे समस्त ससार के प्रति अर्थात् ऊपर नीचे चारो ओर सघर्ष-मय हितो से मुक्त प्रेम-पूर्ण-हृदय उत्पन्न करना चाहिये। उसे सचेतन और सर्वदा जागरूक रहना चाहिये चाहे वह खडा हो, चलता हो, वैठा हो अथवा लेटा हो। हृदय की यह अवस्था ससार में सर्वश्रेष्ठ होती है।" (दिघ्घनिकाय २ १८६–१८७, मेत्ता सुत्त १४८–१५०)। ससार की समस्त व्याधियो की राम बाण औषधि विश्वव्यापक प्रेम है। यह महात्मा बुद्ध का उपदेश है।

"बुद्ध अस्तित्व और नास्तित्व दोनो को नहीं मानते। उनका विश्वास होने में है। वे एक तात्विक माध्यम का प्रयाग करते हैं। वे भोग और त्याग दोनो को अस्वीकार करके मध्य-मार्ग के नीति-शास्त्र का प्रतिपादन करते हैं। वे नैतिक मध्य-मार्ग के सिद्धान्त का पाठ देते हैं।" (जे० एन० सिन्हा : भारतीय दर्शन का इतिहास खण्ड २ पृष्ठ ३१६)। बुद्ध चार आर्य सत्यो का वर्णन करते हैं (१) जगत में दुख हैं, (२) इसका एक कारण है, (३) दुःख को दूर किया जा सकता है, (४) दुख के निवारण का एक मार्ग है। निर्वाण अथवा दुखों का निवारण जीवन का उद्देश्य है। निर्वाण की प्राप्ति का साधन अष्टागिक मार्ग है। इसमें सम्यक् दष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, तथा सम्यक् समाधि का समावेश होता है। (१) चार आर्य सत्यो में सम्यक् दृष्टि मनुष्य को शान्ति, आत्मनियन्त्रण और वासना से मुक्ति प्रदान करती है। (२) सम्यक् सकल्प का अर्थ सत् कर्मो के करने तथा असत् कर्मों से बचने का निश्चय है। यह इन्द्रियजन्य सुखों की आसक्ति, दूसरो के प्रति दुर्भावना और उन्हे हानि पहुचाने की इच्छा को नष्ट करने का निश्चय है। यह त्याग, उदारता और दया की लगन है। (३) सम्यक् वचन का अर्थ असत्य वचन, पिशुन वचन, कठोर वचन, और व्यर्थ की बकवास छोडना है। सत्यता के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिये और सत्य का समन्वय सत् तथा शुभ के साथ किया जाना चाहिये। (४) प्राणी-हिंसा से विरत होना, बिना दी हुई वस्तु न लेना, कामोपभोग के दुराचार से बचना, असत्य तथा मदिरापान से विरत होना ही सम्यक् कर्मान्त है। इसमें भिक्षुओ के लिये नियमित समय के अतिरिक्त खाने, सामाजिक उत्सवों में भाग लेने, विलास की वस्तुओं के उपभोग, तथा सोना चांदी छूने से बचने का भी समावेश होता है।

माता पिता को चाहिये कि वे अपने बच्चो को समुचित बौद्धिक एव नैतिक शिक्षा तथा अपनी सम्पत्ति दें। बच्चो का अपने वृद्ध माता पिता का पोषण करना चाहिये तथा अपनी पितृ-सम्पत्ति और मातृ-सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिये। शिष्यो को गुरुओ का सम्मान करना चाहिये तथा गुरुओ को चाहिये कि वे अपने शिष्यो को कलाओं और विज्ञान की शिक्षा तथा गुणो की दीक्षा दें। पतियो को चाहिये कि वे अपनी पत्नी का आदर करें उसके साथ दयापूर्ण व्यवहार करें, उसके प्रति सच्चे रहे और उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति करें। पत्नियो को चाहिये कि वे अपने पति के प्रति सच्ची और स्नेहपूर्ण रहे। अपने गृहस्थ का प्रबन्ध समुचित ढग तथा मितव्ययितापूर्वक करें एव अपने जातीय बन्धुओ तथा सम्बन्धियो का आतिथ्य सत्कार करें। स्वामी को सेवको की चिन्ता करनी चाहिये। उसे चाहिये कि वह उन्हे उनकी शक्ति के अनुसार काम दे, समुचित वेतन और भोजन दे, रुग्णावस्था में उनकी सेवा करे और उन्हे यदा कदा अवकाश भी दे। सेवको को अपना कार्य सदा भली प्रकार और प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिये, अपने वेतन से सन्तुष्ट रहना चाहिये और अपने स्वामी का आदर करना चाहिये। सबको उदारता, सद्व्यवहार, दयालुता, तथा आत्मत्याग के गुणो का विकास करना चाहिये। (रीज़ डेविड्स बुद्धिज्म, पृष्ठ १४४–१४७)। (५) सदाचरण द्वारा आजीविका कमाना ही सम्यक्-आजीव है। धोखा देना, उत्कोच, कुटिलता, द्रोह, दमन, डाका तथा लूट वर्जनीय है। (६) निरन्तर जागरुकता, प्रयास तथा सक्रियता जो कि आत्म-नियन्त्रण के लिये आवश्यक हैं, दूषित विचारो का निरोध तथा सद्-विचारो का पोषण तथा व्यापक सदिच्छा पर मस्तिष्क का केन्द्रीकरण ये सब सम्यक् व्यायाम के अङ्ग है। (७) शरीर की अशुद्धता, लोभ, घृणा तथा माया से सयुक्त मन की प्रकृति, धर्मों की प्रकृति तथा चार आर्य सत्यो का स्मरण ही सम्यक स्मृति है। समुचित धारणा के लिये सम्यक् स्मृति अनिवार्य है। (८) सम्यक् समाधि में चार उपासनायें सन्निहित है। प्रथम समाधि इन्द्रियानुभूति के नाश से उत्पन्न सुख की अवस्था है। द्वितीय समाधि गहरी एकाग्रता से उत्पन्न सुख की अवस्था है। इसमें विचार का लोप हो जाता है तथा सहज ज्ञान की प्रधानता होती है। तृतीय समाधि उस निस्पृह चेतनता की अवस्था है जिसमें समस्त वासनायें लुप्त हो जाती है। चतुर्थ समाधिपूर्ण लय और आत्म-प्राप्ति की अवस्था है जिसमें सुख दुःख का लय हो जाता है। बौद्ध धर्म सम्यक् आचार, सम्यक् समाधि, तथा अन्तर्दृष्टि पर बल देता है। सब प्राणियों को समस्त जीव-धारियो के लिये प्रेम और मैत्री, दुखियो के लिये करुणा, गुणवानो के लिये मुदिता, दुष्टो के लिये उपेक्षा का विकास करना चाहिये। जैन धर्म भी इन वृत्तियो का समर्थन करता है। गीता भी इन गुणों पर बल देती है।

बौद्ध-धर्म आन्तरिक जीवन की शुद्धि पर बल देता है बाह्य आचरण पर

शुद्धि पर्याप्त नहीं है मन को लोभ, घृणा और माया से शुद्ध करना चाहिये। क्रोध, असूया, ईर्ष्या, तथा अन्य निम्न वासनाओं का नाश करना चाहिये। मनस् को शुद्ध करना चाहिये।

बौद्ध-नैतिकता परार्थमूलक है। निर्वाण की प्राप्ति के लिये व्यापक सदिच्छा तथा प्रेम अपरिहार्य है। व्यापक प्रेम, करुणा, मुदिता और उपेक्षा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेम, करुणा, मुदिता और उपेक्षा को ज म देता है। अन प्रेम इन सब में महान् है।

बौद्ध नैतिकता, भोग-परायणता तथा आत्मदमन के बीच एक मध्य मार्ग है। यह न सुखवाद का समर्थक है न सन्यासवाद का। सुख की इच्छा अह से जाग्रत होती है। जब अह ही नष्ट हो जाता है तो सासारिक और स्वर्गीय सुखों की प्यास बुझ जाती है। दूसरी ओर भोगपरायणता पतनकारक है। यह मनस् की शान्ति तथा शुद्धि में बाधक है। परन्तु शरीर को स्वस्थ रखने के लिये भूख और प्यास की तुष्टि, उसे शीत और उष्णता से बचाना, थकावट को दूर करना, आराम और सभ्यता के लिये वस्त्र धारण करना मन को स्वस्थ और शुद्ध रखने के लिये आवश्यक हैं। यह मध्य मार्ग है। यह अरस्तु के उस सिद्धान्त के समान है जिसके अनुसार वह अत्यधिक भोगपरायणता तथा भोगो के पूर्ण त्याग इन दो सीमाओं के मध्य सयत व्यवहार को चरित्र-गुण मानता है। बुद्ध सुखो की खोज और आत्म दमन दोनो की निन्दा करते है। अकर्मवाद अथवा निष्क्रियतावाद नैतिक जीवन नही। समस्त नैतिक रोगो की जड आलस्य है। उत्कृष्टता, परिश्रमशीलता तथा जागरूकता नैतिकता के लिये अपरिहार्य हैं। मोह, क्रोध, द्वेष, अभिमान तथा अज्ञान (अविद्या) को व्यापक प्रेम, उदारता, करुणा तथा मुदिता द्वारा विजय किया जा सकता है। आत्मपूर्णता की प्राप्ति, आत्मनिरोध द्वारा हो सकती है। सकीर्ण स्वार्थी प्रेम के स्थान पर व्यापक आत्मत्यागयुक्त प्रेम उत्पन्न करना चाहिये।

बौद्ध नीतिशास्त्र का मूल मन्त्र अहिंसा है। विचार, शब्द और कार्यों से किसी को चोट न पहुँचाना, प्रेम, सदिच्छा, धीरज, सहनशीलता, क्षमाशीलता, करुणा तथा आत्मशुद्धि ऐसे गुण हैं जिनका विकास किया जाना चाहिये। बुद्ध गृहस्थ के जीवन की अपेक्षा एक भिक्षु के जीवन को अधिक पसन्द करते थे क्योंकि गृहस्थ जीवन सांसारिक आकर्षणो से पूर्ण है। परन्तु बुद्ध के नीतिशास्त्र को सन्यासवाद नही कह सकते। यह सुखवाद और सन्यासवाद के बीच एक मध्य मार्ग है। यह निष्क्रियतावाद नही है। यह मानव-समाज के हितार्थ सक्रियता के शान्त एव आत्मत्यागयुक्त जीवन की रचना पर बल देता है। गीता के नीतिशास्त्र के अनुसार यह ईश्वर को अर्पित सक्रिय जीवन का पाठ नही है। यह परार्थमूलक मानवतावाद है (जॅ० एन० सिन्हा भारतीय दर्शन का इतिहास खण्ड २ पृष्ठ ३१७—३८)।

२ महावीर का अहिंसात्मक नीति-शास्त्र ।

महावीर जैन अहिंसात्मक नीतिशास्त्र का प्रवर्तक है। जैन धर्म पचव्रत पर बल देता है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनका अर्थ है— किसी को हानि न पहुँचाना, चोरी न करना, झूठ न बोलना, यौनिक-भोगों मे बचना तथा अणुव्रत, अनावश्यक वस्तुओ को न लेना। जब इनका पालन आंशिक रूप मे होता है तो ये कहलाते है तथा पूर्ण मे पालन होने पर इन्हे महाव्रत कहा जाता है। साधारण व्यक्तियो को अणुव्रतो का पालन करना चाहिये तथा साधुओं को महाव्रतो का। बौद्ध धर्म गृहस्थो और भिक्षुओ के जिन कर्तव्यो का उल्लेख करता है जैनव्रत उनमें आ जाते हैं। वे योग-पद्धति के पांच यमो के समान हैं। इन व्रतो का पालन न करने मे पाच पाप होते हैं— हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और मूर्छा (आसक्ति)। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्राणी के जीवन को स्वार्थवश हानि पहुँचाना हिंसा है। ऐसे असत्य का भाषण अथवा शारीरिक व मानसिक कर्म अनृत है जो दूसरो को पीड़ा पहुँचाये। दूसरो की सम्पत्ति का हरण स्तेय है। लोभ भी स्तेय है। पुरुष और स्त्री की पारस्परिक आसक्ति के कारण यौनिक-भोगो की समस्त क्रियायें अब्रह्म हैं। उपभोग के पदार्थों से आसक्ति तथा उनकी प्राप्ति और रक्षा लोभ है। गृहस्थों को चाहिये कि वे पशुओ को न मारें। उन्हे प्रेम, मोह तथा सकट के समय में भी किसी मनोवेग के कारण हितकारक असत्य तक नही बोलना चाहिये। उन्हें दूसरो की सम्पत्ति का हरण नही करना चाहिये तथा उनकी अनुमति के बिना उसका उपभोग नही करना चाहिये। पर-पुरुष और पर-स्त्री का सेवन नही करना चाहिये। स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति को सीमित कर लेना चाहिये। ये पच अणुव्रत है। साधुओ को किसी भी जीवधारी का प्राण नही हरना चाहिये। उन्हें विचार, शब्द अथवा कार्य में असत्य का आश्रय नही लेना चाहिये। उन्हें किसी भी परिस्थिति में दूसरो की सम्पत्ति का लोभ नहीं करना चाहिये तथा उपभोग के समस्त पदार्थों के प्रति आसक्ति का परित्याग कर देना चाहिये। उन्हे यौन सम्बन्धी विचारो, शब्दो अथवा क्रियाओ मे बचना चाहिये। उन्हे जीवन-धारण मात्र के लिये अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के अतिरिक्त न कोई सम्पत्ति रखनी चाहिये न कोई भेंट स्वीकार करनी चाहिये। उन्हें पच-महाव्रत का पालन अत्यन्त दृढ़ता और जागरूकतापूर्वक करना चाहिये।

साधको को चाहिये कि वे समस्त जीवधारी प्राणियो के लिये मैत्री, दुखियो के लिये कारुण्य, सद्गुणी व्यक्तियो के दर्शन में प्रमोद तथा दुर्गुणी व्यक्तियो के प्रति माध्यस्थ्य का चिन्तन करें। बौद्ध धर्म तथा योगपद्धति भी मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा पर बल देती है। बौद्ध धर्म की भांति जैन मत भी साधको को जगत् और जीवन की क्षणभगुरता तथा शरीर की अपवित्रता, निस्सारता, क्षणिकता और दुखदायी-प्रकृति पर चिन्तन करने का आदेश देता है। यह उन से यह चिन्तन भी

कराना चाहता है कि पाप अभ्युदय और नि श्रेयस की प्राप्ति में वाधक होते हैं।

जैन धर्म में तीन प्रकार की गुप्तियां (नियन्त्रण) कही गयी हैं— (१) काय-गुप्ति, (२) वाग्गुप्ति, (३) मनागुप्ति। गुप्ति का अर्थ है इन्द्रियों की स्वाभाविक क्रियाओं का नियन्त्रण। गुप्तिया आत्मशुद्धि में बहुत सहायक होती हैं।

जैन-मत उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, तथा उत्तम ब्रह्मचर्य के गुणों का विकास करने की शिक्षा देता है। ये दस प्रकार के धर्म हैं।

जैन मत पूर्णत्व अथवा आत्म-लाभ को सर्वोच्च लाभ मानता है। आत्मन् का ज्ञान, उनकी दृष्टि, उसका आनन्द, और उसकी शक्ति अपरिमित हैं। जब आत्मा अपन स्वाभाविक स्वरूप में निवास करती है तो वह पवित्रता की स्थिति होती है। पूर्णत्व की प्राप्ति का साधन सन्यासवाद है। सन्यास का अर्थ है वासनाओ का हनन। पूर्णत्व की प्राप्ति शरीर, वाणी और मन की क्रियाओ के पूर्ण रूप से वन्द होने पर होती है। क्योंकि वे आत्मा की शान्ति में वाधा डालती हैं। अहिंसा मूल गुण है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये सब अहिंसा पर आधारित हैं। जैन नीति-शास्त्र प्रधानत अहिंसा का नीति-शास्त्र है (जे० एन० सिन्हा : भारतीय दर्शन का इतिहास खण्ड २, पृष्ठ २५२—६६)।

३. गांधी का अहिंसावादी नीति-शास्त्र।

महात्मा गाधी ने वुद्ध तथा महावीर की अहिंसा-नीति को पुनर्जीवित किया। उन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त पर आश्रित जीवन के एक नवीन दृष्टिकोण को जन्म दिया, और इसी सिद्धान्त की सहायता से सब सामाजिक, राजनैतिक, और आर्थिक समस्याओं के सुलझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने मनुष्य-जाति की आधुनिक समस्याओ को एक नई दिशा दी, और उनका एक नया हल निकाला।

सत्य और समाज-सेवा—महात्मा गाधी अहिंसा के देवदूत थे। जीवन का यह आधारभूत-सिद्धान्त सत्य के ऊपर आश्रित है। गांधी जी कहते हैं "मैं प्राय. अपने धर्म को सत्य का धर्म कहता हूँ। बहुत अर्से से मैं अपने धर्म की अधिक पूर्ण परिभाषा देने के लिये, 'ईश्वर सत्य है' की अपेक्षा 'सत्य ईश्वर है' कहता आया हू। हम सत्य की चिनगारियाँ हैं। इन सब चिनगारियो का समूह अनिर्वचनीय, अद्यावधि-अज्ञात सत्य है, जो ईश्वर कहलाता है।"

"इस धर्म का सामाजिक जीवन के ऊपर प्रभाव प्रत्येक के दैनिक सामाजिक आदान प्रदान में लक्षित होता है अथवा होगा। ऐसे धर्म के सच्चे अनुयायी होने के लिये प्रत्येक को जीवन-पर्यन्त अविरत सेवा में अपने आप को विस्मृत कर देना होगा। वगैर अपने-आप को जीवन के असीम-सागर में लीन किये और उससे स्वय को

एकाकार किये सत्य का साक्षात्कार असम्भव है। अत. मेरे लिये, समाज-सेवा से पलायन करना असम्भव है, उससे परे अथवा अलग, पृथ्वी पर मेरे लिये कोई आनन्द नही है। समाज-सेवा में जीवन का प्रत्येक क्षेत्र शामिल है। इस योजना में कोई वस्तु न तो हीन है, न उच्च। क्योंकि सब एक है, यद्यपि अनेक दिखाई देते हैं।" ❀

पुन गाधी जी कहते है · "ईश्वर जीवन, सत्य, और प्रकाश है। ईश्वर प्रेम है। वही परम-शुभ है।" "मेरे लिये ईश्वर सत्य और प्रेम है, ईश्वर ही नीति है। ईश्वर निर्भय है, ईश्वर जीवन और प्रकाश का उद्गम है, फिर भी वह इन सबसे ऊपर और परे हैं। ईश्वर ही अन्तरात्मा है। वही दुनिया में सबसे अधिक न्यायप्रिय है। वह हमसे वही व्यवहार करता है जो हम अपने पडोसी मनुष्यों और पशुओं से करते है। उसकी दृष्टि में अज्ञान क्षम्य नही है। तथापि वह सदा क्षमाशील है, क्योंकि वह सदैव हमें प्रायश्चित करने का अवसर देता है। वह सर्व-श्रेष्ठ प्रजातन्त्रवादी है; क्योंकि वह हमें शुभाशुभ का चुनाव करने के लिये निर्बन्ध छोड देता है। सत्य और अहिंसा ईश्वर के तत्व हैं।"

उपर्युक्त उद्धरण महात्मा गांधी के अहिंसावादी नीति-शास्त्र की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि उपस्थित करते हैं। उनके मतानुसार ईश्वर की सत्ता है; ईश्वर सत्य और प्रेम है। जीव ईश्वर के अंश हैं। वे अपरिच्छिन्न-सत्य अथवा ईश्वर के अंश हैं। वे समाज-सेवा के द्वारा—स्वय का सम्पूर्ण-सृष्टि मानव-जाति और पशुओं से एकीकरण के द्वारा—और जीवन की एकता की सिद्धि के द्वारा, पूर्णता का लाभ करने के लिये स्वतन्त्र हैं।

अहिंसा—महात्मा-गाधी अहिंसा के देवदूत है। शताब्दियों पहिले जैन और बौद्ध-धर्म ने भारत में अहिंसावाद का प्रचार किया था। महाभारत में लिखा है: "अहिंसा परमो धर्म।" इसका अर्थ है कि अहिंसा केवल एक ऋणात्मक-धर्म ही नहीं है, बल्कि धनात्मक भी है। हिंसा से विरत होना ही धर्म नही है, बल्कि दूसरों का हित करना भी धर्म है। अहिंसा सर्वोच्च-दया और सर्वोच्च आत्म-बलिदान है। जैन-धर्म ने अहिंसा के ऋणात्मक-पक्ष पर—यहा तक कि सूक्ष्म-कीटाणुओं को हानि न पहुचाने पर भी, अत्यधिक बल दिया है। बौद्ध-धर्म ने अहिंसा के दोनों, धनात्मक और ऋणात्मक पहलुओं पर—पशुओं की हत्या न करने पर और सम्पूर्ण जीव-जगत् के लिये सहानुभूति पर, बल दिया है। महात्मा गाधी अहिंसा को बहुत व्यापक-अर्थ में ग्रहण करते हैं। अहिंसा हत्या का निषेध है। अहिंसा मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा न करना है। यह केवल हत्या अथवा हानि का त्याग करना मात्र नहीं है। वचन, विचार अथवा क्रोध के द्वारा दूसरे को कष्ट न पहुचाना भी अहिंसा है। यह सूक्ष्म और स्थूल किसी भी रूप में हिंसा न करने का नाम है।

❀ 'समकालीन भारतीय दर्शन।'

किन्तु, मन, वचन और कर्म से किसी को हानि न पहुंचाना अहिंसा का ऋणात्मक-पक्ष है। अहिंसा का एक धनात्मक-पक्ष भी है जो ऋणात्मक-पक्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा मनुष्य-जाति और सम्पूर्ण सजीव-सृष्टि के प्रति द्वेष का अभाव-मात्र नहीं है बल्कि उनके लिये स्नेह का भाव भी है। अहिंसा का अर्थ हिंसा-निषेध और प्रेम है। ईश्वर सत्य और प्रेम है। और हम सत्य का साक्षात्कार सम्पूर्ण प्राणी-जगत, जिसमें मनुष्य-जाति भी शामिल है, से प्रेम करके कर सकते हैं। महात्मा गांधी कहते हैं, "अहिंसा सत्य के अनुसंधान का आधार है। सत्यानुसंधान व्यर्थ है यदि अहिंसा की भित्ति पर उसकी स्थापना नहीं होती। सत्य के साक्षात्कार का एकमात्र साधन अहिंसा है। अहिंसा की पूर्ण सिद्धि से ही सत्य का पूर्ण दर्शन सम्भव है।" गांधी जी इस महान्-सत्य के शाब्दिक-अर्थ मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे।

अहिंसा के लिये सत्यवादिता और निर्भीकता आवश्यक है। "एक ही वस्तु ऐसी है जिससे भय होना चाहिये, वह वस्तु ईश्वर है। जब हम ईश्वर से डरते हैं तो मनुष्य से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है, और यदि तुम सत्य का व्रत धारण करना चाहते हो, तो निर्भीकता अत्यावश्यक है।" सत्य से निर्भय होकर अनुसरण करने का यह सिद्धान्त सत्याग्रह कहलाता है। जीवन का शासन परिणामों की पर्वाह न करते हुये सत्य के नियम के द्वारा होना चाहिये। प्रह्लाद सत्य की रक्षा के हेतु मरने को कटिबद्ध था। उसने एक भी आघात से बचने का प्रयत्न न करते हुये प्रसन्न-मुख से सभी सम्भव यन्त्रणाओं को सहन किया, और अन्त में सत्य की ही विजय हुई। सत्य समझौता नहीं जानता। असत्य पाप है। हमें असत्य से असहयोग करना चाहिये।

पाप से अहिंसात्मक-असहयोग—'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।' "हम सब एक ही सृष्टा की सन्तति हैं, और इस रूप में हमारे अन्तर में अवस्थित दैवी शक्तियां असीम हैं। एक अकेले मनुष्य का अनादर करना, उन दैवी शक्तियों का अनादर करना है, और इस प्रकार एक ही प्राणी की हानि में सारे विश्व की हानि निहित है।" अतः हमें अपराधी को मिटाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये, बल्कि हर सम्भव तरीक़े से पाप का प्रतिरोध अपना उससे सम्बन्ध-विच्छेद करके करना चाहिये। पाप के अन्दर अपने ही बल पर खड़ा रह सकने की क्षमता नहीं है। पाप से असहयोग करो, और वह निर्बल होकर गिर पड़ेगा। "किसी सिद्धान्त पर आक्रमण करना और उसका विरोध करना नितान्त उचित है, किन्तु उसके प्रणेता पर आक्रमण करना और उसका प्रतिरोध करना स्वयं अपने विरोध के तुल्य है।" और हम अहिंसात्मक उपायों से असहयोग के द्वारा किसी अनिष्टकारी सिद्धान्त पर सफलतापूर्वक आक्रमण कर सकते हैं। गांधी जी के अहिंसात्मक असहयोग का नैतिक शास्त्र अशुभ सिद्धान्त से युद्ध करने के लिये सबसे शक्तिशाली शस्त्र है। राजनैतिक क्षेत्र में विदेशियों के

प्रभुत्व के पाप से युद्ध करने के लिये इसने निष्क्रिय प्रतिरोध और क़ानून-भग-आन्दोलन का रूप ग्रहण किया।

आत्म-शुद्धि—"सत्य की सामान्य और सर्वव्यापी आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये सृष्टि में तुच्छातितुच्छ-प्राणी को भी अपने ही समान प्रेम करने की क्षमता होनी चाहिये। और वह मनुष्य जो ऐसी महत्त्वकाक्षा रखता है, जीवन के किसी भी क्षेत्र से अलग नहीं रह सकता। यही कारण है कि मेरी सत्य-भक्ति मुझे राजनैतिक क्षेत्र मे खीच लाई है। सबक साथ एकीकरण विना आत्म-शुद्धि के असम्भव है, विना आत्म-शुद्धि क अहिंसा के नियम का पालन स्वप्न-मात्र है, आत्म-शुद्धि का अर्थ जीवन के सभी पहलुओ की शुद्धि होनी चाहिये। क्योकि शुद्धि अत्यधिक सक्रामक होती है, आत्म-शुद्धि से परिगत वस्तुओ की भी शुद्धि हो जाती है।"

गाधी जी ने यदा-कदा अनशन का आत्म-शद्धि और अपने सामाजिक और राजनैतिक वातावरण की शुद्धि के साधन-रूप में अवलम्बन किया। इसके उदाहरण हैं: हिन्दु-मुस्लिम ऐक्य के लिये दिल्ली का इक्कीस दिनो का महान् अनशन, हिन्दु-समाज का उच्च वर्ण और अछूतो में विभाजन के विरोध में यर्वदा-जेल में अनशन, और राजा के विश्वासघात के विरुद्ध राजकोट में अनशन।

अस्तेय अथवा अपरिग्रह—महात्मा गाधी प्रेम और आत्म-त्याग की भित्ति पर एक नूतन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे। वे चाहते थे कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के चरम विकास के लिये सभी अवसर उपलब्ध हो। किन्तु वे विशेषाधिकारयुक्त वर्गों के अधिकार छीनने के लिये शक्ति-प्रयोग नही करना चाहते थे। गांधी जी की वर्ग-सघर्ष में अवस्था नही थी। न तो वे समाजवादी थे, न साम्यवादी। वे हृदय-परिवर्तन में और गरीबो के हितार्थ अतिरिक्त सम्पत्ति को इच्छापूर्वक दान कर देने में विश्वास करते थे। नई समाज-व्यवस्था की उनकी योजना मे पशु-वल और हिंसा का कोई स्थान नही है। जिस सामाजिक ढांचे का वे विकास करना चाहते थे उसके आधार प्रेम और अहिंसा हैं। यह एक मन्द किन्तु अवश्यम्भावी प्रक्रिया है। यह हिंसात्मक विद्रोह, खूनखराबी, और अव्यवस्था का विरोधी है। प्रेम सयोजक है और घृणा वियोजक। प्रेम ऐक्य और सामजस्य, शान्ति और सुख के साम्राज्य का स्थापन करता है।

"मेरा विचार है कि हम एक-रूप में चोर हैं। यदि मैं एक ऐसी वस्तु ग्रहण करता हू जिसकी तुरन्त प्रयोग की मुझे आवश्यकता नहीं है और उसे मैं अपने अधिकार में रखता हू तो मैं किसी अन्य से उसका अपहरण करता हू। यह प्रकृति का अपवाद-रहित आधारभूत नियम है कि प्रकृति हमारी दैनिक आवश्यकताओ के लिये काफी पैदा करती है, और यदि प्रत्येक अपने लिये केवल उतना ही ले जितना उसके

लिये आवश्यक है तो ससार में भिखमगी और भुखमरी का नाम-निशान मिट जाय। मै समाजवादी नही हू और सम्पत्ति वालो का सम्पत्ति-हीन नही करना चाहता, किन्तु मै यह अवश्य कहूगा कि व्यक्तिगत-रूप से हममें जो अन्धकार से प्रकाश में आना चाहते है उन्हे इस नियम का पालन करना ही होगा। मै किसी की सम्पत्ति नही छीनना चाहता, यदि मै ऐसा चाहू तो मैं अहिंसा के सिद्धान्त से दूर जा पडूगा। आपका और मेरा जो अपने पास है उसे रखने का कोई अधिकार नही है जब तक कि करोडो प्राणी नगे और भूखे है। आपका और मुझे, जिन्हे अधिक अच्छे तरीके से जानना चाहिये, अपनी आवश्यकताओ का समायोजन करना होगा, और उन्हें अन्न-वस्त्र देने के लिये इच्छापूशक गरीबी का आलिगन करना होगा।"

अहिंसा वाद का राजनैतिक, सामाजिक, और आर्थिक समस्याओ में प्रयोग— अहिंसावाद व्यक्तिगत-जीवन मात्र में व्यवहार का नियम नही है, बल्कि राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन में भी। यह गांधी जी की ससार की सस्कृति और सभ्यता को सबसे बडी देन है। हिंसा किसी अधर्म को नष्ट कर सकती है, किन्तु, यही प्रभाव उसके प्रणेता पर भी पडता है। इससे उसका नैतिक पतन हो जाता है जो उसका आश्रय लेता है। हिंसा हिंसा की जननी है। इससे अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इससे सामाजिक जीवन का स्रोत विषाक्त हो जाता है। अहिंसा अधर्म की अधर्मता को नष्ट करके उसे शुद्ध कर देती है। वह किसी मानव-सगठन की आत्मा को बदल कर उसके अन्तर से परिवर्तन आरम्भ करती है। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रो में भी वह व्यवहृत हो सकती है। उद्योग की पूजीवादी पद्धति गरीबो के नियमपूर्वक शोषण पर आधारित है। अहिंसा ऐसी पद्धति विरुद्ध असहयोग का रूप धारण करती है और गृह-उद्योग इत्यादि की उन्नति करती है। सामाजिक क्षेत्र में यह विशेषाधिकार-सम्पन्न वर्गों के विरुद्ध असहयोग करती है, जो अपने ही कुछ भाइयो को प्रारम्भिक अधिकार देना तक पाप समझते हैं। गांधी जी युद्ध में विश्वास नही करते। युद्ध मनुष्यो की सामूहिक हत्या है। यह मानव-प्रकृति के नियम—सत्य और अहिंसा के विरुद्ध है। सामाजिक व्यवस्था में युद्ध की सत्ता न रहेगी।

विश्व के नैतिक शासन में विश्वास— अहिंसा का उपासक ईश्वर में और विश्व के नैतिक शासन में विश्वास रखता है। ससार ही वह क्षत्र है जिसमें नैतिक आदर्श की सिद्धि हो सकती है। जैसा कि नीट्शे का मत है, यह नीति-शून्य नही है। ससार नैतिक दृष्टि से रचा गया है। यह नैतिक आदर्श की सिद्धि के लिये अवसर प्रदान करता है। मनुष्य ईश्वरीय सत्ता का अश है। वह तत्वत आध्यात्मिक है। वह जड प्रकृति का एक अश नही है। वह पशु-जीवन के नियम यथा, सत्ता के लिये सघर्ष और योग्यतम की विजय से सन्तुष्ट नही हो सकता। अहिंसा उसके लिये जीवन का नियम है, आत्म-बलिदान—स्वप्रतिपादन नही—उसके जीवन का सूत्र है। शक्ति की

इच्छा नहीं, बल्कि सेवा की इच्छा उसका आदर्श है। निर्दयतापूर्ण स्वप्रतिपादन, बल, अभिमान, अत्याचार नही, बल्कि आत्म-निषेध, सौजन्य, मार्दव, क्षमाशीलता, दया, परोपकार, सहानुभूति, प्रेम, स्नेह उसके गुण है। वह मनुष्य-जाति का स्वेच्छया सेवक है, और अतिमानव के तुल्य उसका स्वामी नही। ससार इन गुणो के अर्जन के लिये उचित क्षेत्र है। ससार का उसके नैतिक आदर्श मे द्रोह नही है। वह नैतिक जीवन के लिये उचित क्षेत्र है, क्योंकि वह ईश्वर की अभिव्यक्ति है मनुष्य जिसका एक स्फुलिंग-मात्र है। इस प्रकार गांधी जी का अहिंसात्मक नीति-शास्त्र नीटशे के शक्ति की इच्छा के नीति-शास्त्र की प्रतिप्रतिज्ञा है। पहिला परहितवादी है, दूसरा व्यक्तिवादी।

४ गांधी जी के नीति-शास्त्र की आलोचना।

गांधी जी कोई सैद्धान्तिक दार्शनिक नहीं थे। अत उनके नीति-शास्त्र का निर्माण दार्शनिक विवेचन की दृढ आधार शिला पर नही हुआ। उनके नैतिक सिद्धान्त में सहज ज्ञानवाद, बुद्धिपरतावाद अथवा सन्यासवाद, और सर्वहितवाद के तत्व वर्तमान हैं, जिनकी सामञ्जस्यपूर्ण एकता सिद्ध नहीं हो पाई है। किन्तु, फिर भी इस अन्धकार के युग में उनकी आवाज देव-दूत की वाणी है।

महात्मा गांधी के विचार से मनुष्य का सकल्प स्वतन्त्र है। वह सत् और असत् में से एक को चुनने के लिये स्वाधीन है। ईश्वर ने मनुष्य को स्वतन्त्रता दी है। अन्त करण मनुष्य के अन्दर ईश्वर की वाणी है। वह कार्यों के अच्छे बुरे होने को अपरोक्षरूप से जान जाता है जटिल परिस्थितियो में ईश्वर अन्त करण की सहज-स्फूर्ति द्वारा हमारे अन्दर सत्य का प्रकाश करता है। महात्मा गांधी की सत् का सत्य से और असत् का मिथ्या से अभेद करने की ओर प्रवृत्ति है। इस स्थल पर उनका सिद्धान्त तर्कवाद के समान जान पड़ता है जो शाश्वत नैतिक नियमो के ज्ञान को नीति के लिये आवश्यक मानता है। "वूलास्टन के मतानुसार नैतिक अशुभ एक सत्य प्रतिज्ञा का व्यवहारिक निषेध और नैतिक शुभ उसका व्यवहारिक-विधान मात्र है। प्रत्येक सत्कर्म सत्य का विधान है, और प्रत्येक दुष्कर्म उसका निषेध।" गांधी जी के सिद्धान्त में यह सहज ज्ञानवाद का तत्व है। अत उसमें भी वही दोष हैं जो तर्कवाद में।

महात्मा गांधी नैतिकता के प्राय सन्यासवादी सिद्धान्त के समर्थक है। मूल-प्रवृत्तियो और इच्छाओ का दमन तथा शुद्ध बुद्धिमय जीवन ही नैतिक जीवन है। आवश्यकताओ को कम करना चाहिये, इच्छाओं का दमन करना चाहिये, सुख का परित्याग करना चाहिये, सुख दु ख के प्रति समता और औदासीन्य का भाव अपनाना चाहिये। सत्य के निर्भीक और अटल अनुसरण का जीवन जिसमें परिणामो के प्रति

विरक्ति हो, सर्वोच्च आदर्श है। काम की तृप्ति नही होनी चाहिये, यह एक पाप है और इसी के हेतु उसका उन्मूलन होना चाहिये। हिंसा अथवा दूसरो की क्षति का सर्वथा नाश होना चाहिये। यह सब सिद्ध करता है कि गांधी जी के नैतिक सिद्धान्त में सन्यासवाद, कठोरतावाद, बुद्धिपरतावाद, अथवा नैतिक विशुद्धतावाद के तत्व हैं, और वह इसके दोषो से भी दूषित है।

महात्मा गांधी ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं। ईश्वर सर्वोच्च शुभ है। वह सत्य और प्रेम है। वह नैतिक शासक है। जीव ईश्वर के अश हैं। वे अपरिच्छिन्न सत्य अथवा ईश्वर के अश हैं। वे समाज सेवा के द्वारा—मनुष्य-जाति और चेतन-सृष्टि से अपना एकीकरण करने के द्वारा, और जीवन की एकता-सिद्धि के द्वारा सत्य अथवा पूर्णता की सिद्धि कर सकते हैं। मन, वचन, और कर्म में अहिंसा ही सत्य के साक्षात्कार का उपाय है। अहिंसा प्रेम और सदिच्छा है। वह सक्रिय सेवा है। ससार की रचना बुद्धिमूलक है। वह नैतिक जीवन का क्षेत्र है। वह नैतिक-मूल्यो के लिये सवेदन-शून्य नही है। वह गांधीवाद में पूर्णतावाद का तत्व है।

गांधी जी के नीति-शास्त्र में सत्य और अहिंसा आधार-शिलायें हैं। वे सत्य की परिभाषा नही देते। सत्य का सकेत सत्तायुक्त तथ्यों अथवा वर्तमान में सत्ताहीन आदर्श की ओर है। सत्यवादिता विचारो का शब्दों से और शब्दों का तथ्यों से सवाद है। इसमें कोई सन्देह नही है। किन्तु गांधी जी ने सत्यवादिता को सत्यरूपी आदर्श के निर्भीक होकर अनुसरण करने के अर्थ में व्यवहृत किया है। आदर्श के अर्थ में, सर्वोच्च आदर्श के विषय में भिन्न-भिन्न दार्शनिको के भिन्न भिन्न मत हैं। महात्मा गांधी आदर्श के रूप मे सत्य की प्रकृति की स्पष्ट परिभाषा नही देते जो कि वर्तमान में सत्ताहीन है किन्तु जिसे हमारे स्वतन्त्र कर्मो के द्वारा सत्तायुक्त होना है। वे सत्य को अत्यधिक अस्पष्ट कर देते हैं। वे कहते हैं, "ईश्वर सत्य है।" किन्तु, उन्ही के अनुसार 'सत्य ईश्वर है" कहना अधिक सगत है। वे अपरिच्छिन्न सत्य के अर्थ को, जो कि परम शुभ है पूर्णतया स्पष्ट-रूप से नही समझाते। सर्वोच्च शुभ के स्वरूप और विषय के सम्बन्ध मे उनका नैतिक सिद्धान्त नितान्त अस्पष्ट है।

महात्मा गाधी का बुद्धि का प्रत्यय भी आशिक सत्य है। मानवीय प्रकृति बडी जटिल है। वह इन्द्रिय और बुद्धि का योग है। और सदा ऐसी ही रहेगी भी। इन्द्रियानुभूति स्वय अबौद्धिक नही है। उसका दमन नही होना चाहिये। वलिक बुद्धि के द्वारा उसका परिष्कार होना चाहिये। यौन प्रवृत्ति भी, जो कि बडी बलवती और अदम्य है आवश्यकतया अबौद्धिक नही है। अपने ही उचित क्षेत्र में, बुद्धि के द्वारा नियमित और परिष्कृत किये जाने पर, वह प्रेम को जन्म देती है जो स्त्री-पुरुष को घनिष्ट बन्धन में जकड देता है तथा उनके व्यक्तित्व का विकास करता है। नैतिक शुद्धतावाद, कठोरतावाद, बुद्धिपरतावाद अथवा सन्यासवाद एक एकाँगी सिद्धान्त है।

महात्मा गाधी अहिंसा का भी अत्यधिक प्रयोग करते हैं। उनका मत है कि सभी स्थितियो में मन, वचन और कर्म से अहिंसा का पालन करना चाहिये। किन्तु मानव-स्वभाव शुभाशुभ का योग है। कभी कभी व्यक्ति अथवा व्यक्तियो के समुदाय की पाप-प्रकृति इतनी प्रबल हो जाती है और नैतिक व्यवस्था में उलझन पैदा कर देती है कि उसका बल-प्रयो। और हिंसा के द्वारा दमन करना हमारा स्पष्ट कर्तव्य हो जाता है। सभी स्थितियो में नैतिक आग्रह काम नहीं देता। हिंसा भी मानव-स्वभाव का अश है। युद्ध-प्रवृत्ति सहजात है। इससे आत्म-रक्षण और जाति-रक्षण के जैविक प्रयोजनो की सिद्धि होती है। यह आवश्यकता अशुभ नहीं है। सुनियन्त्रित युयुत्सा-प्रवृति नैतिक अधिकारो पर होने वाले आक्रमण और उनके व्यतिक्रम के अपसारण-पूर्वक समाज और नैतिक व्यवस्था के पुन स्थापना में सहायता करती है। सभी स्थितियो में अहिंसा न तो व्यवहार्य है और न उचित। एक व्यक्ति अथवा जाति को आत्म-रक्षण के लिये दूसरे व्यक्ति अथवा जाति को क्षतिग्रस्त करना ही चाहिये। कुछ स्थितियों में हिंसा नैतिक दृष्टि से उचित होती है। महात्मा गाधी ने नम्रता, सहानुभूति, परोपकार, आत्म-बलिदान इत्यादि कोमल गुणो के महत्त्व की अतिशयोक्ति की है। किन्तु साहस, आत्मप्रतिष्ठा इत्यादि पुरुषोचित गुण भी नैतिक जीवन में उचित स्थान रखते हैं। गाधी जी पुरुषोचित गुणो को पर्याप्त महत्त्व नही देते, यद्यपि उन्होने बलवान् की अहिंसा का उपदेश किया है। कुछ ही समय पूर्व उन्होंने लोगो को आत्म-रक्षण के लिये हत्या करने की अपेक्षा भीड के क्रोध के सामने झुक जाने की सलाह दी थी। अपने जीवन की रक्षा के हेतु मारने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है। यह सलाह सिद्ध व्यक्ति के लिये है। यह न तो व्यवहार्य है, न उचित ही।

यह विवादास्पद है कि अनशन नैतिक आग्रह का एक प्रकार है या बल प्रयोग का एक सूक्ष्म रूप। आत्म-शुद्धि के लिये अनशन एक नैतिक साधन है परन्तु अन्य-लक्ष्य-सिद्धि के लिये नही। उद्देश्य-सिद्धि के लिये अनशन के द्वारा मृत्यु-वरण अवश्यमेव अनैतिक है। महान्-उद्देश्य की सिद्धि के लिये मृत्यु-वरण सामान्य नैतिक नियम का अपवाद माना जा सकता है। यह विवादास्पद है कि मानव-स्वभाव के पूर्ण परिवर्तन के आधार पर नई समाज-व्यवस्था का विकास हो सकता है या नही। यह एक आदर्श है मानव-जाति जिसकी कामना करती है, किन्तु बुद्ध और ईसा भी उस की प्राप्ति न कर सके। सम्भवतया यह एक उच्च आदर्श है जो सदैव मनुष्य-जाति के उत्तमाश को प्रेरित करता रहेगा। यह आदर्श कभी मिटेगा नही। किन्तु पृथ्वी पर इसको पूर्ण-प्राप्ति की सम्भावना अधिक नही। सेवा स्वार्थसिद्धि के स्थानापन्न प्रत्येक मनुष्य की प्रवर्तक प्रेरणा नही हो सकती, अहिंसा हिंसा का उन्मूलन नही कर सकती। शुद्ध मानव-प्रेम का आधार पर आश्रित समाज एक आदर्श सदैव रहेगा।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की स्थान को सामान्य सम्पत्ति पूर्ण-रूपेण नही ले सकती। मानव-समाज के पुनर्गठन के लिये बल-प्रयोग-राज्य-शक्ति का प्रयोग-अंशत अनिवार्य है। धनी-निर्धन वर्ग-संघर्ष इसका आवश्यक अंग है। व्यक्ति की लाभ-प्रेरणा, स्वार्थ-परता और स्वकी सम्पत्ति-प्राप्ति की वासना को अंशत तृप्त करना पडेगा।

५. नीट्शे और गांधी के नैतिक सिद्धान्तों की तुलना।

नीटशे के नीति शास्त्र का आधार जैविक है जबकि गाधी जी के नीति-शास्त्र का आधार आध्यात्मिक है। नीट्शे मनुष्य को योग्यतम की विजय के जैविक नियम के आधीन पशु के तुल्य समझता है। गाधी जी मनुष्य को निर्बल के संरक्षण के नैतिक नियम के आधीन एवं आध्यात्मिक प्राणी, ईश्वर का अंश मानते हैं। नीटशे शक्ति की इच्छा और स्वार्थ-पूर्ति को लक्ष्य मानता है। गाधी जी सेवा की इच्छा और आत्म-त्याग को लक्ष्य मानते हैं। नीटशे शुभ को शक्ति का समानार्थक और अशुभ को निर्बलता का समानार्थक मानता है। वह शुभ-को अशुभ आपेक्षिक जैविक प्रत्यय मानता है। गांधी जी शुभ को सत्य का और अशुभ को मिथ्या का समानार्थक मानते हैं। वे 'शुभ', अशुभ', 'सत्', 'असत्' को शाश्वत और निरपेक्ष नैतिक प्रत्यय मानते हैं। नीटशे मार्दव समवेदना परोपकार, आत्म-त्याग इत्यादि कोमल गुणों की अपेक्षा साहस, आत्मप्रतिष्ठा, सम्मान, हिंसा, स्वार्थपरत इत्यादि पुरुषोचित गुणो कोप्राथमिकता देता है। गाधी जी पुरुषोचित गुणो की अपेक्षा कोमल गुणो को प्राथमिकता देते हैं। नीट्शे के अनुसार पुरुषोचित गुण प्रभुओ की नैतिकता बनाते है और कोमल गुण दासो की। गाधी जी कोमल गुणो को नैतिक और हिंसा, निर्बल का शोषण, स्वार्थ-साधन इत्यादि पुरुषोचित गुणो को अनैतिक मानते हैं। नीट्शे युद्ध का प्रचारक है। गांधी जी अहिंसा के प्रचारक है और युद्ध की निन्दा करते हैं। नीट्शे अतिमानव अथवा अतिमानवो की जाति के विकास मे विश्वास रखता है, जो सम्पूर्ण संसार पर शक्ति द्वारा आधिपत्य करेगा या करेगी। गाधी जी ऐसे अतिमानव पर विश्वास नहीं करते। वे ऐसे आध्यात्मिक संगठन के ऊपर विश्वास करते है जिसका आधार अहिंसा और प्रेम हो और जिसमें निर्बल का शोषण न हो। नीट्शे संसार और जीवन को नीति-शून्य मानता है। गाधी जी विश्व को नैतिकता का क्षेत्र, बुद्धिमूलक और नैतिक-प्रयोजन-विशिष्ट मानते हैं। नीट्शे इच्छा-स्वातन्त्र्य और नैतिक शासक के रूप में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करता है। इस प्रकार नीट्शे का शक्ति का नीति-शास्त्र गाधी जी के अहिंसा के नीति-शास्त्र की प्रतिप्रतिज्ञा है। नीट्शे के नीति-शास्त्र ने पिछले महायुद्ध में जर्मनो को प्रेरणा दी थी। वही आधुनिक फासिस्ट दर्शन को शक्ति प्रदान करता है। गाधीवाद ने भारतीयो को इस जातीय पुनर्जन्म के लिये प्रेरित किया। गाधी जी का अहिंसावाद जिसका आधुनिक सामाजिक, राजनैतिक और

आर्थिक समस्याओ पर प्रयोग हुआ है, मानव-जाति की नैतिक विचार-धारा के लिये एक महान् देन है।

अध्याय १६

व्यक्ति तथा समाज

१. समाज की प्रकृति, व्यक्ति तथा समाज सम्बन्ध।

(अ) व्यक्तिवाद (Individualism) समाज-रचना-विषयक यांत्रिक सिद्धान्त—

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में भिन्न भिन्न मत हैं। वे मत हैं व्यक्तिवाद समूहवाद और आदर्शवाद। कुछ विचारकों (यथा हौब्स रूसो, इत्यादि) का मत है कि समाज पृथक पृथक् व्यक्तियो का एक यांत्रिक समूह है। व्यक्ति एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। वे स्वतन्त्र जीवन यापन करते हैं। उनका एक-दूसरे से समझौता होता है और समाज की रचना हो जाती है। समाज व्यक्तिगत जीवन का आगन्तुक धर्म है। व्यक्ति पारस्परिक सम्बन्धो से रहित, आत्म-पूर्ण और स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं। वे स्वतन्त्र इकाइयो के समान एक-दूसरे से विच्छिन्न होकर रहते थे। तत्पश्चात् उन्होंने आपस में समझौता किया और पारस्परिक लाभ के हेतु समाज की सृष्टि की। इस मत को सामाजिक समझौते (Social Contract) का सिद्धान्त कहते हैं। रूसो और अन्यों ने इसका प्रचार किया।

हॉब्स (Hobbes का मत है कि मनुष्य स्वार्थी, संघर्षप्रिय तथा आक्रमणशील है। उसकी प्रकृति अत्यन्त स्वार्थपरायण है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सत्ता भर पदार्थों को हड़पना चाहता है। मनुष्य की यह स्वार्थपरायणता निश्चित रूप से मनुष्यो के मध्य निरन्तर संघर्ष को जन्म देती है। यह युद्ध की प्राकृतिक अवस्था है। यह सबके विरुद्ध सबके युद्ध की अवस्था है जिसमें मनुष्य मनुष्य के प्रति भेड़िया बन जाता है। इसमें "मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, कुटिल, निर्दयी तथा अल्प है।" परन्तु मनुष्य और मनुष्य के मध्य यह निरन्तर युद्ध की अवस्था असह्य है। अत मनुष्य की आत्म-रक्षण की प्रवृत्ति ने उसे परस्पर एक संविदा करने तथा एक ऐसा राजा नियुक्त करने के लिये बाध्य किया जो कि अपनी सम्पूर्ण अथवा अबाध सत्ता द्वारा उनके मध्य शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करे।

लॉक (Locke) का मत है कि प्राकृतिक अवस्था पारस्परिक संघर्ष की अवस्था नहीं है। यह शान्ति तथा सदिच्छा की अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य पर प्राकृतिक नियमो का शासन रहता है जो ईसाई नैतिकता के नियमो के समान ही

होता है। परन्तु प्राकृतिक नियम की व्याख्या और उसे लागू करने वाला उस अवस्था में कोई नही। अत: जनता ने एक सविदा करके समाज का निर्माण कर लिया। इससे प्राकृतिक अवस्था समाप्त हो गई एव सामाजिक अवस्था का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् जनता ने एक दूसरी सविदा की जिसके अनुसार सामान्य हित की पूर्ति के लिए विधियो का निर्माण और उन्हे लागू करने को एक शासन की अवस्था की स्थापना की गई।

रूसो (Rousseau) का मत है कि प्राकृतिक अवस्था आदि कालीन सरलता, पारस्परिक सदिच्छा तथा आनन्द की अवस्था थी। परन्तु जनसख्या की अभिवृद्धि तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सस्था ने प्राकृतिक अवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न कर दी तथा परस्पर सघर्ष होने लगे। अत जनता ने एक सविदा की तथा प्राकृतिक स्वतन्त्रता का परित्याग करके अपने व्यक्तित्व एव सम्पत्ति की रक्षा के लिए एक समुदाय का निर्माण कर लिया। सविदा सदा सर्वदा के लिये नही की गई। यह जनता के मध्य एक पारस्परिक समझौता था। यह सामान्य इच्छा के सक्रिय प्रयोग द्वारा वारम्बार अधिष्ठित किया जाना चाहिये। सामाजिक एकता जनता की सामान्य इच्छा बनाए रखी जाती है।

यह वाद अनैतिहासिक है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् उसकी कल्पना नही हो सकती। कुटुम्ब समाज की इकाई है। और मनुष्य सदैव कुटुम्ब का सदस्य रहा है। हम कदापि समाज की उस अवस्था की कल्पना नही कर सकते जिस में मनुष्य परस्पर से पूर्णतया विच्छिन्न होकर रहे हो। हमारे पास इसे सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नही है कि व्यक्तियो ने कभी समाज की सृष्टि के लिये कोई समझौता किया हो।

यह मत तर्क-विरुद्ध है। "सामाजिक-समझौता" करने से पूर्व व्यक्तियो में जो समझौता करने के पहिले स्वतन्त्र और विविक्त-जीवन यापन करते थे, राजनैतिक जागृति की एक उच्च मात्रा आवश्यक है। प्राकृतिक मनुष्यो के मस्तिष्क में समझौते का विचार किसी रूप में आ ही नहीं सकता था। जब समाज का पर्याप्त विकास हो चुका—जब व्यक्ति उस दल से पृथक् हो गए जिसमें पहिले उनका विलय हो चुका था, और उन्होने अपने अधिकारो की मांग की, तभी उन्हें समझौते का अधिकार दिया गया।

(ब) समूहवाद (Collectivism)।

उत्क्रान्तिवादियो (यथा, लेस्ली स्टीफेन) का मत है कि व्यक्ति और समाज के मध्य अगागित्व का सम्बन्ध है। समाज अन्योन्याश्रित व्यक्तियो का एक शरीर है। समाज परस्पर-आश्रित भागो का एक सगठन है। उनकी सत्ता एक-दूसरे के लिये

अत्यावश्यक है। व्यक्ति उस सगठन के सदस्य हैं। वे समाज के सामान्य-जीवन के भागी हैं। उनमें सामान्य सामाजिक जीवन व्याप्त है। वे समाज के आवश्यक अग हैं। वे विविक्त इकाइयाँ नही हैं। उनकी परस्पर से विच्छिन्न अवस्था अकल्पनीय है। जिस प्रकार शरीर परस्पराश्रित अगो का एक सगठन है, उसी प्रकार समाज भी परस्पराश्रित व्यक्तियों का एक शरीर है। समाज व्यक्तियो से पृथक् नहीं रह सकता। व्यक्तियों की भी समाज से पृथक् सत्ता नहीं हो सकती। वे एक-दूसरे पर आश्रित हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी हैं। हम असामाजिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यो की कल्पना तक नही कर सकते। वे पारम्परिक सहयोग और आदान-प्रदान से ही जीवित रहते और परितुष्ट होते है। समाज से अलग मनुष्य कल्पना-मात्र हैं। अपने ज्ञान, भावनाओ, आदतों, शिक्षा, भाषा, नैतिकता प्रभृति के लिये वे समाज के ऋणी हैं। वे समाज में ही जीवित रहते और चलते-फिरने हैं। अपनी मानसिक शक्तियो के महत्तम अश के लिए वे समाज के ऋणी हैं। समाज एक शरीर के समान विकसित होता है। अत. समाज-विषयक जैविक मत यान्त्रिक-मत की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त है।

समाज की शरीर से समता है। शरीरस्थ अगों में अन्योन्याश्रितत्व है। समाजस्थ व्यक्तियों में भी अन्योन्याश्रितत्व है। समाज शरीर के तुल्य वृद्धि पाता है। किन्तु, इस उपमा को अधिक दूर तक नही खीचना चाहिये। दोनो के मध्य तात्विक भेद हैं। पिण्डस्थ अग एक-दूसरे से अलग होकर जीवित नही रह सकते, वे पिंड में सामान्य-जीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु, व्यक्ति चेतना के पृथक् पृथक् केन्द्र हैं जिनके वैयक्तिक जीवन का सामाजिक जीवन में पूर्ण विलय होना असम्भव है। व्यक्ति ही अनुभूति क्षम होता है, समाज नही। अपने सदस्यो के अतिरिक्त समाज का अपना अलग चेतना केन्द्र नहीं होता। पुन शरीर मरणशील होता है, किन्तु मानव समाज नित्य है। अत 'सामाजिक शरीर' का प्रत्यय एक साकेतित रूपक मात्र है।

समाज में विवेक का तत्व भी होता है। "यह जीवित है परन्तु यह विचार सहित जीवित है। यह अपने भविष्य का निर्माण विचार और आलोचना द्वारा करता है।" (मैकेंजी)—आउट लाइन्स आफ सोशल फिलासफी, पृष्ठ ५०)।

(स) समाजविषयक आदर्शवादी मत (Idealism)।

समाज परस्पर सहयोगपूर्वक निवास करने वाले आत्म-सवितयुक्त स्वतन्त्र आत्माओ का एक सगठन है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका बुद्धिसम्पन्न, उच्च अथवा आदर्श-आत्मा सामाजिक-आत्मा है। उसका प्रत्यक्ष केवल समाज के ही द्वारा हो सका है। सामाजिक 'मैं' ही वास्तविक 'मैं' हू। प्रत्येक व्यक्ति का किसी न किसी समाज से सम्बन्ध है। हम एक समाज के सदस्य हैं। मैकेंजी का कथन है, "मानवीय व्यक्तित्व कदापि एक विविक्त वस्तु नही हो सकता। अन्य व्यक्तियो के साथ उसका कोई सम्बन्ध अवश्य होना है जिससे उसका विच्छेद अकल्पनीय है।

किसी मनुष्य के नैतिक जीवन की वस्तु इन्ही सम्बन्धो पर निर्भर है। मनुष्य का सम्पूर्ण अर्थ और मूल्य, उन आदर्शों, सस्थाओ और नैतिक आदतो के रग में रगे होते हैं जिनमे उसका जीवन विकसित होता है।" इसलिये सामाजिक क्षेत्र आदर्श अथवा सामाजिक आत्मा की सिद्धि के लिए अनिवार्य माध्यम है।

जॉन केयर्ड (John Caird) प्रत्ययवाद के दृष्टिकोण से व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का बहुत अच्छा वर्णन करता है। "समाज-विच्छिन्न व्यक्ति वास्तविक मनुष्य नही है, बल्कि केवल मानवता का एक अश है, मानव-जीवन के सास्स्वरूप नैतिक और आध्यात्मिक तत्वो से रहित एक प्राणी मात्र है। सामाजिक सम्बन्ध व्यक्ति की सत्ता के आवश्यक भाग हैं। उसके लिये अपने ही अन्दर आत्म-लाभ करना असम्भव है, ऐसा वह उन्हीं की सहायता से कर सकता है जो उससे भिन्न हैं, और केवल एक अधिक व्यापक सर्वगत आत्मा के लिये अपने व्यक्तिगत आत्मा, अपनी एकान्त सत्ता और जीवन के निषेध अथवा अर्पण के द्वारा ही वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप की सच्ची सिद्धि करने में समर्थ हो सकता है। यहाँ पर सामान्य (समाज) विशेष का पूर्ववर्ती है। तथापि ऐसा नही सोचना चाहिये कि विशेष से सामान्य की कोई पृथक् सत्ता है, जैसे कि शरीर की अगो से पृथक् सत्ता नही है। यथार्थ विचार की प्राप्ति तो दोनो को उस उच्च एकता के सूत्र में आवद्ध करने से ही हो सकती है जो अपने में उनका समावेश करते हुये भी उनसे परे है, जो अपना निर्माण करने वाले व्यक्तिगत सदस्यो का सजीव-सगठन है।"❀ व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में यह मत यथार्थ मालूम पडता है।

समाज एक आध्यात्मिक एकता है। आध्यात्मिक प्राणी ही इस एकता की स्थापना कर सकते हैं। जिन व्यक्तियो के भीतर किसी सामान्य हित का अनुसरण करने की आत्मचेतना है तथा उन्हें यह भी चेतना है कि अन्य व्यक्ति भी उसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उससे सम्बन्धित हैं वे व्यक्ति स्वतन्त्र आत्मचेतनायुक्त प्राणी हैं। मक्खियों में एक सामान्य हित का अनुसरण करने की प्रवृति होती है। परन्तु मनुष्य अपने सामान्य हितों को अनुसरण चेतना, इच्छा तथा सकल्प द्वारा करते हैं। सब के लाभ के लिये प्राप्त की जाने वाली वस्तुओ की चेतना जितनी स्पष्ट होगी, सामाजिक सगठन उतना ही दृढ होगा। (आउट लाइन्स ऑफ सोशल फिलासफी, पृष्ठ ५८–५६)

समाज केवल एक एकता ही नहीं है। इसमें व्यक्तियों के ऐसे समुदाय होते हैं जो विशिष्ठ सामान्य हितो की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं। यह हित अशत एक दूसरे से भिन्न होते हैं फिर भी वे समाज के एक व्यापक उद्देश्य में सम्मिलित रहते हैं। अत समाज को (सावयव सगठनो का एक सावयव सगठन) कह सकते हैं।

❀ 'धर्म-दर्शन की भूमिका', पृष्ठ २२६–३०।

(मैकेंजी)। इन छोटे सावयव सगठनो में से प्रत्येक भी इसी प्रकार सावयव सगठनो से बना होता है। "इस प्रकार सावयव एकता की सरल धारणा इसकी उपयुक्त परिभाषा नहीं कर सकती। यह एक आध्यात्मिक इकाई है जिसके भीतर अनेक छोटी छोटी इकाइयाँ होती हैं जो कि सामान्य कल्याण के लिए एक सुव्यवस्थित समाज में सहयोगपूर्वक कार्य करती है।" (पूर्व पुस्तक पृष्ठ ५६)

२. सामान्य इच्छा तथा सामान्य हित (General Will and Common Good)।

समाज एक आध्यात्मिक एकता है। यह ऐसे आत्म-चेतनायुक्त एवं सकल्पवान् प्राणियो का आध्यात्मिक सगठन है जो कि सब के सामान्य-हित की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने में रक्त सम्बन्ध तथा बन्धुभावना से प्रेरित होते हैं। उनके सम्मिलित कार्य उनकी सामान्य इच्छा को अभिव्यक्त करते हैं यह एक व्यक्ति की इच्छा नही है, बहुमत की इच्छा भी नहीं है तथा सब की सम्मिलित इच्छा भी नहीं है। यह सम्पूर्ण समाज के सामान्य हित के विषय में एक निश्चय पर कुछ व्यक्तियो की सहमति है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत दष्टिकोण को भुलाकर सम्पूर्ण स्थिति का पर्यवेक्षण करते हैं एव एक निश्चय पर पहुच जाते हैं। (पूर्व पुस्तक पृष्ठ ५४)

सामान्य इच्छा का उद्देश्य सामान्य हित होता है। सामान्य हित न तो सुखवादियो की कल्पना के अनुसार सुख ही है, न गुण अथवा सदिच्छा अथवा कान्ट द्वारा प्रतिपादित विवेकपूर्ण इच्छा ही है। वरन् यह आत्मलाभ, आत्मविकास अथवा ग्रीन के मतानुसार पूर्णत्व है। आत्मलाभ का अर्थ शारीरिक मूल्यो, आर्थिक मूल्यो, सामुदायिक मूल्यो, चारित्रिक मूल्यो, ज्ञान, नैतिक हित तथा पवित्रता है यह समाज के प्रत्येक सदस्य द्वारा प्राप्त है। सामान्य हित की धारणा का अनिवार्य परिणाम साम्यवाद नहीं है। समाज का सामान्य हित पृथक पृथक् व्यक्तियो द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है, अपनाया जा सकता है तथा उपभोग किया जा सकता है। यह व्यक्तिवाद हैं अथवा यह व्यक्तियों द्वारा सामूहिक रूप से उत्पन्न किया जा सकता है, यह समष्टिवाद या साम्यवाद है।

३. सामाजिक प्रगति (Social Progress)।

सामाजिक उत्क्रान्ति के साथ सभी सामाजिक सस्थायें निरन्तर परिवर्तित हो रही हैं। 'अन्तिम मानदण्ड जिससे सभी प्रगतियो की परीक्षा होगी बुद्धिमय-आत्मा की सिद्धि है। आधिभौतिक और सामाजिक प्रगति का मूल्य वहीं तक है जहां तक कि वह आत्मविकास का साधन है।" हम सामाजिक प्रगति की मात्रा को अपने बुद्धिमय-आत्मा की सिद्धि के लिए व्यक्तियों को समाज द्वारा दी जाने वाली सहायता की शक्ति से नाप सकते हैं। जितना ही अधिक समाज अपने व्यक्तिगत सदस्यों के आत्मा-

भिव्यक्ति और आत्म-लाभ में सहायता देता है, उतनी ही अधिक उसकी प्रगति लक्षित होती है। समाज के सभी सदस्यो का आत्म-लाभ सामाजिक प्रगति का लक्षण है। एक आदर्श समाज में सभी सदस्य आत्माभिव्यक्ति और आत्मोत्कर्ष के लिये समान अवसर पाते हैं।

४ व्यक्तिवाद अथवा समाजवाद।

व्यक्तिवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर वल देते है। समाजवादी सम्पूर्ण समाज के हित पर वल देते है। व्यक्तिवादी व्यक्तिगत नागरिक के लिए कार्य करने में अधिकतम स्वातन्त्र्य प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। समाजवादी सबसे अधिकतम-हित की प्राप्ति के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता का नियमन करने का प्रयत्न करते हैं।

किन्तु मानव-समाज के विकास में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है। अब राज्य के द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नियन्त्रण की आवश्यकता और महत्त्व को धीरे-धीरे समझा जाने लगा है। वर्तमान मे समाज की आदर्श व्यवस्था के लिए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने उच्चतम व्यक्तिगत की सिद्धि तथा सामाजिक हित साधन के लिए अधिकतम अवसर प्राप्त होगे सामाजिक प्रगति समाजवादी दिशा में होनी चाहिए। किन्तु व्यक्ति को विचार और उनके प्रकाशन की स्वतन्त्रता के अपहरण-पूर्वक राज्य के हाथ में एक यांत्रिक-साधन मात्र नही बनाना चाहिये। राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कायम रखना चाहिये और उसके व्यक्तित्व का सम्मान तथा उत्कर्ष करना चाहिये। राज्य को चाहिये कि व्यक्ति को यन्त्रवत् बनाकर व्यक्तित्वहीन न किया जाय। ऐसा करने का एक भी प्रयत्न मानवता को विपत्तिग्रस्त कर देगा। समाज की आदर्श व्यवस्था में सबके अधिकतम हित के लिए व्यक्तियो की स्वतन्त्रता को स्थिर रखना चाहिये। उसे प्रजातन्त्र का आदर्श-रूप होना चाहिये।

व्यक्तिवाद और समाजवाद के मौलिक सिद्धांतो में वास्तविक विरोध नहीं है। यदि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर अत्यधिक प्रतिबन्ध लगाया जाता है, तो सबका अधिकतम हित-साधन दुष्कर हो जाता है। पुन किसी व्यक्ति को स्वतन्त्रता इस शर्त पर दी जाती है कि वह सबके हित के लिए उसका उपभोग करेगा। व्यक्तियो को पूर्ण स्वातन्त्र्य देना अवांच्छनीय है। पुन व्यक्तियो की स्वतन्त्रता का सर्वथा अपहरण नही हो सकता। स्वतन्त्रता और राज्य द्वारा हस्तक्षेप के मध्य समझौता होना चाहिए।

अध्याय १७

नैतिक संस्थायें

सामाजिक और नैतिक संस्थायें।

आत्म-लाभ परम शुभ है। वह आदर्श, बौद्धिक अथवा समाजिक-अह के विकास से होता है। आत्म-लाभ केवल समाज में और समाज के ही द्वारा सम्भव है। समाज में कुछ सस्थाओ का विकास हुआ है जो नैतिक आदर्श की प्राप्ति के माध्यम हैं। उनको सामाजिक अथवा नैतिक सस्थायें कहते हैं। सभी सामाजिक सगठन जो व्यक्तियों के हित के लिए निर्मित हुए हैं नैतिक सस्थायें कहलाती हैं। वे निम्न-लिखित हैं —

(१) कुटुम्ब—कुटुम्ब का आधार नैसर्गिक प्रेम है। वह माता-पिता के बच्चों के प्रति स्वाभाविक स्नेह पर आधारित है। वह शैशव की असहायता के लिये पर्याप्त सरक्षण प्रदान करता है। वही नागरिक गुणो के अर्जन का क्षेत्र है। वह अपने सदस्यो को सहानुभूति, सहकारिता और सहयोग की शिक्षा देता है। वह मैत्री और प्रेम के उत्कृष्टतम रूपो के अर्जन के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करता है।

कुटुम्ब में नैसर्गिक सरक्षको द्वारा बच्चो की रक्षा होती है। तथापि किसी सीमा तक माता पिता का नियन्त्रण सीमित होना चाहिये। बच्चो को उचित शिक्षा देनी चाहिये। बच्चो से मजदूरी करवाने पर प्रतिबन्ध होना चाहिए। पति-पत्नि का सम्बन्ध प्रेम पर आधारित समानता का होना चाहिए। पत्नि को पति का अधीनस्थ नही होना चाहिये। कुटुम्ब नैतिक शिक्षा की पाठशाला है। वह समवेदना, प्रेम और सहकारिता का उत्कर्ष करता है। पति-पत्नि के मध्य पवित्र वैवाहिक बन्धन पर आधारित कुटुम्ब का विनाश करने का प्रयत्न मनुष्य-जाति के सामाजिक तथा नैतिक ढाँचे की भित्ति को निर्बल बना देगा।

(२) शिक्षा सस्थायें—पाठशालायें, कालेज, विश्वविद्यालय इत्यादि व्यक्तियों के चरित्र-गठन में महत्त्व पूर्ण भाग लेते हैं। वे उनकी अव्यक्त बौद्धिक और नैतिक शक्तियोको प्रस्फुटित करते हैं और व्यक्तित्व का चरम-उत्कर्ष करने में सहायता देते हैं। शिक्षण सस्थाए व्यक्तित्व के विकास के लिये शिक्षण-भमि हैं। वे शिक्षा देते हैं जो व्यक्तियों के आत्माभिव्यक्ति और आत्मोत्कर्ष के लिये अनिवार्य हैं। सम्यक्-निर्णय-शक्ति की प्राप्ति के हेतु शिक्षा अनिवार्य है।

(३) शिल्पशाला—कुटुम्ब का आधार नैसर्गिक प्रेम है। किन्तु शिल्पकला का आधार समझौता है। औद्योगिक सम्बन्ध समझौते पर आधारित है; वे समानता के सम्बन्ध नही हैं, बल्कि अधीनता के सम्बन्ध हैं। नौकर मालिक के अधीन होते हैं।

नौकर और नौकरी देने वाले, सेवक और स्वामी के मध्य न्यायमयत समझौता स्थापित करने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए। सेवकों को स्वामी की अधीनस्थता में गुलामी में पतित होने से बचाने के हेतु राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। कार्लाइल को इसका महान् दुःख है कि आधुनिक युग में स्वामी-सेवक के मध्य 'नक़द' ही एकमात्र बन्धन बच रहा है। यह निस्सन्देह यथार्थ है कि उनके सम्बन्धो का मानवीयकरण होना चाहिये किन्तु उद्योगीकरण के इस यान्त्रिक-युग में एक बडी उद्योगशाला अथवा बड़े व्यावसायिक कारखाने में स्वामी और सेवको के बीच वैयक्तिक सम्बन्धो की पुनः स्थापना दुष्कर है।

(४) नागरिक-समाज—औद्योगिक सम्बन्ध समझौते के ऊपर आधारित हैं। अत समाज के हित के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य-भार सम्पूर्ण नागरिक समाज के ऊपर होना चाहिये। स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था करना, शिक्षा सस्थाओ की व्यवस्था, मिलावटी अन्न पर रोक, निर्बल और अयोग्यो की रक्षा, व्यक्तियो के ऊपर नही छोडे जाने चाहियें। समाज क इन महत्त्वपूर्ण कार्यों का भार स्वय सम्पूर्ण समाज के ऊपर होना चाहिये।

(५) धार्मिक-सस्था—नागरिक-समाज के द्वारा नागरिकों की पूर्णतया पिता-तुल्य रक्षा नही हो सकती। यह धार्मिक सस्था के द्वारा ही हो सकता है, जो मैत्री और वैयक्तिक सबन्धो के अर्जन के लिये पर्याप्त अवसर देना है। इसका कार्य मानवीय सम्बन्धों को उच्चतम नैतिक आदर्श को प्राप्त करने का है। धार्मिक सस्था का कार्य असाम्प्रदायिक नैतिक सस्थाओ के द्वारा पूर्ण किया जा सकता है। इस समय धार्मिक-सस्थाओ का मनुष्य-जाति के ऊपर से प्रभाव हटता जा रहा है। अत आध्यात्मिक सहकारिता के अर्जन के लिये और हमारे सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में नैतिक आदर्श की सिद्धि के हेतु असाम्प्रदायिक सस्थाओ का महत्त्व बढ जाता है।

(६) राज्य —राज्य सभी सघो का सर्वोच्च शासनकर्त्ता है। वह विधान-निर्माण करता है। और दण्ड का भय दिखाकर उसको जनता के ऊपर लागू करता है। वह व्यक्तियो के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करता है और इस प्रकार उनके लिए नैतिक जीवन को सम्भव कर देता है। नैतिक जीवन केवल राजनैतिक सगठन में ही सम्भव है। वह जातीय-रक्षा, रेलगाडी, पत्रो का यातायात, मुद्रा, कानून और व्यवस्था की चिन्ता करता है। वह उन कार्यों की देख-रेख करता है जो व्यक्तियो के जीवन और सुरक्षा को प्रभावित करते हैं। अत राज्य सबके महत्त्वपूर्ण सामाजिक-सस्था है। राज्य को समाप्त करने का कोई भी प्रयत्न नीति के मूल में कुठाराघात है। आत्म-लाभ एक सुव्यवस्थित राजनैतिक सगठन में ही सम्भव है जो दूसरो के आक्रमण से किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व और सम्पत्ति को बचा सकता है और आत्मोत्कर्ष के हेतु उसे अधिकतम अवसर प्रदान कर सकता है।

(७) मैत्री—अन्य मनुष्यो से सम्बन्ध जिनके द्वारा नैतिक आदर्श की प्राप्ति होती है, इतने ही से समाप्त नहीं हो जाते। इनके अतिरिक्त व्यक्तिगत मैत्री भी एक है। मैत्री हमें अपने सकीर्ण व्यक्तित्व से ऊपर उठाकर हमारे अन्दर प्रेम, सहानुभूति, और सहकारिता से आध्यात्मिक गुणो को मुक्त कर देती है। एक व्यक्ति अपने मित्रो में अपनी ही आत्मा को पाता है, जिनके साथ वह अपने सुख-दु ख का बटवारा करता है। और जिनके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व के क्षेत्र का विस्तार करता है। इस वैज्ञानिक युग में जबकि मनुष्य पुस्तको और भ्रमण इत्यादि के द्वारा अपने सामाजिक क्षेत्र का विस्तार करता है व्यक्तिगत मैत्री का आकर्षण समाप्तप्राय हो गया है। तथापि यह एक इतना वहुमूल्य वरदान है कि वे इसका स्थान ग्रहण नही कर सकते।

अध्याय १८

अधिकार और कर्तव्य

१ अधिकार और कर्तव्य।

अधिकार समाज के द्वारा स्वीकृत व्यक्तियो की नैतिक मागें हैं। कर्तव्य समाज द्वारा स्वीकृत व्यक्तियो के नैतिक ऋण हैं। "अधिकार समाज के द्वारा स्वीकृत मागें हैं, जो सर्वोच्च प्रभु की हैसियत से सर्वोत्तम जीवन के लिये उपयुक्त परिस्थितियो को स्थिर रखने के लिये कार्य करता है।"❀ अधिकारो का निवास कुछ व्यक्तियो में होता है, उनका कुछ वस्तुओ का अधिकार होना है जो आत्म-लाभ के अर्थ आवश्यक होती हैं। कर्तव्य इन अधिकारो का सम्मान करने के लिये अन्य व्यक्तियों की नैतिक वाध्यतायें हैं। कुछ अधिकारयुक्त व्यक्ति उन अधिकारों का सामान्य हित के लिये सदुपयोग करने के लिये भी नैतिक दृष्टि से वाध्य होते हैं। अधिकार और कर्तव्यो के अन्तिम आधार एक ही नैतिक नियम और सम्बन्ध हैं। अपने और समाज के हितार्थ व्यक्तियों के कुछ अधिकारों को समाज स्वीकार करता है। अकेले मनुष्य का किसी वस्तु का अधिकार नहीं है। समाज उसे कुछ अधिकार प्रदान करता है, जो सामाजिक हित के साधक होते हैं। कोई व्यक्ति समाज से विविक्त होकर अकेले किसी वस्तु का दावा नही कर सकता। सामाजिक अन्त.करण अथवा जनमत व्यक्तियो के नैतिक अधिकारों की रक्षा करता है। वैधानिक अधिकारों से समान राज्य के द्वारा वलपूर्वक उनका लागू किया जाना आवश्यक नही है। नैतिक अधिकार व्यक्तियो के आत्म-लाभ के हेतु समाज-द्वारा दिये जाते हैं। वे सर्वोच्च वैयक्तिक और सामान्य-हित की उपलब्धि के लिये अनिवार्य हैं।

❀ बोसन्के।

अधिकार और कर्तव्य परस्पर सापेक्ष हैं। कर्तव्य नैतिक वाध्यता है। प्रत्येक अधिकार अपने साथ एक वाध्यता लाता है। जब किसी एक मनुष्य को कोई अधिकार प्राप्त होता है तो दूसरा उसका सम्मान करने के लिये वाध्य होता है, और स्वय वह भी सामान्य शुभ के लिये उसका उपयोग करने के लिये नैतिक दृष्टया वाध्य होता है। नैतिक वाध्यता वैधानिक वाध्यता मे भिन्न होती है। पहिली राज्य के द्वारा लागू नही की जाती, जबकि दूसरी की जाती है। नैतिक वाध्यता जनमत पर निर्भर होती है। उदाहरणार्थ, सम्पत्ति के अधिकार को लीजिये। व्यक्ति को सामान्य शुभ के लिये यह अधिकार प्राप्त हुआ है। अत केवल अन्य व्यक्ति ही उसके अधिकार का आदर करने के लिये वाध्य नही हैं, वल्कि वह भी इसका सामान्य शुभ के लिये उपभोग करने को नैतिक रूप से वाध्य है। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य परस्पर आपेक्षिक हैं। हमें उन साधनो का अधिकार है जो हमारे आत्म-लाभ और समाज के, जिसके हम सदस्य है, सर्वोच्च शभ के लिये आवश्यक हैं। हम समाज व परम शुभ के हेतु उनका सर्वोत्तम उपयोग करने के लिये नैतिक दृष्टि से वाध्य हैं।

समाज ही वह सर्वोच्च प्रभु है जो व्यक्तियो को अधिकार देता है, अन्यो के ऊपर उनके समादर के लिये कर्तव्य लादता है, और कर्तव्य-पालन के लिये वाध्य करता है। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य सदैव समाज के आपेक्षिक हैं। एक ही नैतिक नियमों और सम्बन्धो से समाज में उनको स्थिर रखा जाता हैं। वे एक नैतिक प्राणी की हैसियत से मनुष्य के कार्य की पूर्ति के साधक है। वे समाज के प्रत्येक सदस्य के बुद्धिमय आत्मा की सिद्धि के लिये उपयुक्त हैं। वे बुद्धिमय जगत् की सिद्धि के लिये उपयुक्त हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्णताप्राप्त चरित्र की सिद्धि कर चुकेगा। अधिकार और कर्तव्य समाज से पृथक् है। समाज से पूर्व अधिकारो की सत्ता नही हो सकती। "कोई भी अधिकार नही रख सकता, समाज के एक सदस्य की हैसियत से, और ऐसे समाज के जिसमें किसी सामान्य शुभ को व्यक्तियो के द्वारा अपना ही आदर्श-हित स्वीकार कर लिया गया है, हो केवल किसी को अधिकार प्राप्त हो सकते है।" ❀ समाज कुछ शर्तों पर व्यक्तियों को अधिकार देता है। व्यक्तियों को औचित्यपूर्वक अधिकारो का प्रयोग करना चाहिये, और निर्विघ्न उनका उपभोग करना चाहिये। उन्हें कुछ अधिकार केवल तभी दिये जाते हैं जब उन्हें प्राप्त करने की उनमें योग्यता आ जाती है। इस प्रकार अधिकार कदापि शर्तहीन नही होते।

२ मनुष्य के नैतिक अधिकार।

(१) जीने का अधिकार—मनुष्य का प्रथम अधिकार जीने का अधिकार है।

❀ ग्रीन।

आत्म-लाभ परम-शुभ है, जिसके लिये जीवन की निर्बाध गति आवश्यक है। जीने का अधिकार प्रारम्भिक अधिकार है। जीवन की पवित्रता को स्वीकार करना चाहिये।

किन्तु मानव-जाति के इतिहास में इस मौलिक अधिकार को भी धीरे-धीरे मान्यता दी गई। प्राचीन काल में, कुछ देशो में बच्चो की प्राय हत्या कर दी जाती थी, विधवाओ को जला दिया जाता था, विधर्मियो को मार डाला जाता था, और युद्ध के कैदियो को मृत्यु-दण्ड दे दिया जाता था। आज भी द्वन्द्व वैध माना जाता है, और युद्ध के रूप में सामूहिक मनुष्य-वध निन्द्य नही माना जाता।

जीने के अधिकार में काम करने का अधिकार भी सन्निहित है। यदि किसी मनुष्य को काम नही मिलता ता वह जीविकोपार्जन नही कर सकता।

जीने के अधिकार के साथ अपने और दूसरो के जीवन को पवित्र समझने का कर्तव्य भी है। हमें अपने ही जीवन का अन्त नही करना चाहिये। दूसरे व्यक्ति का जीवन भी हमें नही लेना चाहिये। हमें अपने तथा दूसरो के जीवन की वृद्धि करनी चाहिये। जो दूसरे की जान लेता है, नियमानुसार उसकी भी जान ली जा सकती है।

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार—इसके पश्चात् दूसरा अधिकार स्वतन्त्रता का है। आत्म-लाभ सर्वोच्च शुभ है। उसकी सिद्धि व्यक्ति की इच्छा से होती है। अत व्यक्ति को अपने परम मगल की प्राप्ति के हेतु अपने सकल्प का प्रयोग करने के लिये स्वतत्र होना चाहिये। उसके ऊपर दूसरे के द्वारा बल-प्रयोग नही होना चाहिये। उसे किसी का क्रीत दास नहीं होना चाहिये। स्वतन्त्रता का अर्थ सीमित स्वतन्त्रता है। अनियन्त्रित और पूर्ण स्वतन्त्रता दुराचार का कारण है। एक सुव्यवस्थित समाज में व्यक्ति को अपने सकल्प के स्वतत्र प्रयोग द्वारा अपने परम ध्येय की प्राप्ति का अधिकार वही तक होना चाहिये जहा तक वह समाज-व्यवस्था को स्थिर रखने का विरोधी नही है। पूर्ण स्वातन्त्र्य का अर्थ अराजकता और अव्यवस्था है। स्वतन्त्रता एक सुव्यवस्थित राज्य में प्राप्त होती है।

स्वातन्त्र्य के अधिकार के साथ उसके सामान्य शुभ के लिये प्रयोग किये जाने का कर्तव्य भी है।

(३) सम्पत्ति का अधिकार—सम्पत्ति रखने का अधिकार स्वतन्त्रता के अधिकार का अवश्यभावी परिणाम है। आत्म-लाभ परम शुभ है। व्यक्ति को उसकी प्राप्ति हो सकती है यदि उसे जीवित रहने, काम करने और अपने सकल्प का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करने का अधिकार हो। इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रभावपूर्ण प्रयोग तभी हो सकता है, यदि उसे अपने द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक अर्जित सम्पत्ति का प्रयोग

करने दिया जाया। व्यक्ति सम्पत्ति का साथ है। विना 'ममत्व' की भावना के 'अहम् की भावना का विकास असम्भव है। अत व्यक्तित्व का विकास कुछ सम्पत्ति के स्वतंत्र प्रयोग के द्वारा ही सम्भव है। सम्पत्ति के स्वामी होने का प्रवृत्ति मानव-स्वभाव में इतनी गहराई तक प्रविष्ट है कि उसका उन्मूलन नही हो सकता। समाज अथवा राज्य को केवल उसे सीमित करना चाहिये।

व्यक्ति को उन साधनो का अधिकार है जिन्हें वह अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक इस्तेमाल कर सकता है। सम्मिलित सम्पत्ति के द्वारा ऐसा कर सकना उसके लिये असम्भव है। समाज के विकास की वहुत वाद की अवस्था में जव व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के गौरव का ज्ञान हुआ और उसने कुटुम्ब अथवा गोत्र, जिसमें पहिल उसका विलय हो चुका था, के विरुद्ध अपने अधिकार की माग की, तभी उसे सम्पत्ति का अधिकार मिला।

समाज के द्वारा अपने व्यक्तिगत सदस्यो को समानता और न्याय के आधार पर सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति और समाज के सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिये मिलना चाहिये। सम्पत्ति के अधिकार के साथ सामाजिक-कल्याण के लिये उसका बुद्धिमत्ता के साथ उपभोग करने का कर्तव्य भी है।

प्लेटो का मत है कि एक आदर्श लोकतन्त्र में उपकरणो का साम्य होना चाहिए और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार नही होना चाहिए। अरस्तू का मत है कि आदर्श राज्य में प्रत्येक को सामान्य शुभ के लिये सम्पत्ति का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करना चाहिए। आज समाज की पूंजीवादी व्यवस्था के दोष इतने अधिक बढ़ गये हैं कि मानव-जाति की विचार-धारा का प्रवाह अनिवार्य-रूप से सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन की ओर हो गया है। किन्तु, प्रत्येक व्यक्ति में अवस्थित व्यक्तित्व की भावना इतनी गहरी बैठी हुई है कि मनुष्य-जाति को सीमित व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्वीकार करना पडेगा। समाज को समाजवादी ढांचे के लिए मानव-स्वभाव का पूर्ण परिष्कार करना होगा, जो कि व्यवहार्य नही मालूम पडता। अत किसी न किसी रूप में सम्पत्ति के अधिकार को मानना ही पडेगा।

(४) समझौते की पूर्ति का अधिकार—समझौते को पूरा करने का अधिकार भी एक महत्त्वपूर्ण अधिकार है। सम्पत्ति के अधिकारो से समझौते के अधिकारो की उत्पत्ति होती है। सम्पत्ति पर मेरा स्वत्व है। मै उसके उपयोग, विनिमय इत्यादि के लिये स्वतन्त्र हू। यदि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से उसकी कोई सेवा करने का समझौता करता है तो दूसरे को उन सेवाओ को स्वीकार करने का अधिकार है। प्रारम्भिक समाजो मे जिनमें व्यक्ति के कोई अपने अधिकार नही थे, इस अधिकार को मान्यता नही दी गई थी। समझौते के अधिकार के साथ ही एक न्यायोचित समझौता करने

का जिसे उचित-रूप से पूरा किया जा सके, भी नैतिक कर्तव्य है। मनुष्य को अपने को क्रीत दास बनाने का समझौता करने का अधिकार नही है। समझौते का अधिकार एक अत्यधिक उन्नत समाज में ही सम्भव है, जो उसके औचित्य का आश्वासन दे सकता है।

(५) शिक्षा का अधिकार— अन्तिम अधिकार शिक्षा का अधिकार है। यहाँ पर अधिकार और कर्तव्य परस्पर घनिष्टतया सम्बन्धित हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यथा-शक्ति उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। वह अपनी योग्यता के अनुसार सर्वोत्तम शिक्षा पाने के लिए नैतिक दृष्टि से बाध्य है। एक समुन्नत समाज में प्रत्येक को अपनी अव्यक्त शक्तियों का पूर्णतया व्यक्त करने के लिये और सामान्य कल्याण के लिये अधिक से अधिक अवसर दिये जाने चाहियें। शिक्षा बुद्धि का विकास करती है, समझ को तीव्र बनाती है, और बौद्धिक-जीवन का विस्तार करती है। यह आत्माभिव्यक्ति और आत्मोत्कर्ष के लिए नितान्त आवश्यक है।

३ मनुष्य के कर्तव्य।

निश्चित अधिकार अपने साथ निश्चित कर्तव्य लाते हैं। ऐसे कर्तव्यों अथवा नैतिक बाध्यताओं को आदेशों के रूप में प्रकाशित किया जा सकता है। जिस प्रकार प्रत्येक कर्तव्य से किसी अधिकार का सम्बन्ध है, उसी प्रकार प्रत्येक अधिकार से भी किसी कर्तव्य का सम्बन्ध होता है। अधिकार और कर्तव्य परस्पर सापेक्ष हैं। सभी कर्तव्यों को इस आधारभूत कर्तव्य से अनुमित किया जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने बुद्धिमय आत्मा का लाभ करना चाहिये।

(१) जीवन का सम्मान—हमारा प्रथम कर्तव्य अपने और दूसरों के जीवन का सम्मान करना है। हमें आत्म-हत्या नही करनी चाहिए और दूसरों की हत्या भी नही करनी चाहिये। 'तुम हत्या नही करोगे।" यह पहिला आदेश है। हमें अपने जीवन की रक्षा करनी चाहिये। हमें दूसरों के जीवन की रक्षा करनी चाहिये। हमें दूसरों के जीवन अथवा शारीरिक-स्वास्थ्य की हानि नही करनी चाहिये। अहिंसा का शाब्दिक-अर्थ हत्या न करना है। इस कर्तव्य में उसका भी समावेश है।

(२) स्वतन्त्रता का सम्मान—हमारा दूसरा कर्तव्य अपने और दूसरों की स्वतन्त्रता का सम्मान करना है। हमें दूसरे के जीवन के स्वतन्त्र विकास में बाधा नही देनी चाहिये। इस कर्तव्य को इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है "प्रत्येक मानव प्राणी को एक वस्तु समझ कर नही, बल्कि एक व्यक्ति समझकर व्यवहार करो।" कान्ट का नैतिक सूत्र है "मनुष्यत्व को अपने तथा दूसरे के अन्दर सदैव साध्य समझो, साधन कदापि नही।" यह आदेश गुलामी, स्वेच्छाचारिता, शोषण प्रभृति का निषेध करता है। हमें न तो दूसरों के द्वारा अपने-आप को साधन बनने देना चाहिये और न दूसरों को अपना साधन बनाना चाहिये।

(३) चरित्र का सम्मान—हमें व्यक्तियो के चरित्र का सम्मान करना चाहिए। हमें केवल दूसरो के स्वतन्त्र विकास का विरोध करने के लिये किसी वस्तु से दूर ही नही रहना चाहिये, बल्कि उनके उच्चतम कल्याण की वृद्धि के लिए भी उनकी सहायता करनी चाहिये। कान्ट ने कहा था "मनुष्यत्व को अपने तथा दूसरे के अन्दर सदैव साध्य समझो, साधन कदापि नही।" हेगेल ने कहा था "व्यक्ति बनो और दूसरो को भी व्यक्ति समझकर उनका सम्मान करो।" प्रथम दो आदेश निषेधात्मक है जबकि तीसरा विधानात्मक है।

(४) सम्पत्ति का सम्मान—अगला आदेश है "तुम चोरी नही करोगे।" हमें दूसरो की सम्पत्ति का अपहरण नही करना चाहिए। और हमें अपनी सम्पत्ति का भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। हमे दूसरो के कल्याण के साधनो, मे उनके समय, ख्याति इत्यादि मे बाधा नही देनी चाहिये। हमें सम्पत्ति के अधिकार का सम्मान करना चाहिये, और अपनी तथा दूसरो की सम्पत्ति के प्रति आदर का भाव रखना चाहिये। हमें जिस पर दूसरो का उचित स्वत्व है उसे नही छीनना चाहिये।

(५) सामाजिक व्यवस्था का सम्मान—हमें सामाजिक सस्थाओ का और सामाजिक व्यवस्था के विविध रूपो का सम्मान करना चाहिए। सामाजिक व्यवस्था की दृढता व्यक्तियो की नैतिक प्रगति का एक अनिवार्य हेतु है। अत हमें अनावश्यक-रूप से किसी सामाजिक सस्था में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। उदाहरणार्थ, हमें कुटुम्ब अथवा राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न नही करना चाहिये। हमें उस सामाजिक सगठन को स्थिर रखना चाहिये। जिससे हमारा सम्बन्ध है।

(६) सत्य का सम्मान—अगला आदेश है. "तुम मिथ्या भाषण नही करोगे।" हमें सत्य भाषण करना चाहिये। हमें अपना वचन रखना चाहिये। हमें उसी का भाषण करना चाहिये जो हमारा अभिप्राय है। हमें अपने कर्मों को अपने वचनो के अनुसार रखना चाहिये। सत्य का अर्थ है विचार और वचन का सवाद तथा वचन और कर्म का सवाद।

(७) प्रगति का सम्मान—मानव-प्रगति में हमारा दृढ विश्वास होना चाहिये और उसकी वृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये। विश्व की उन्नति के लिये परिश्रम में हमारा भी भाग होना चाहिये। इस आदेश को इस रूप में व्यक्त किया गया है। "तुम अपने विशेष क्षेत्र में अपने सम्पूर्ण हृदय, सम्पूर्ण आत्मा, सम्पूर्ण वल, और सम्पूर्ण मन को लगाकर परिश्रम करोगे (मैकेन्ज़ी)।" "काम ही आराधना है।" ईश्वर-प्रेम का प्रकाशन मानव-प्रगति में हमारी आस्था और उसके हेतु सलग्न रहने में है।

४. कर्तव्याकर्तव्य-विचार : कर्तव्यों मे विरोध।

यदा कदा विशेष कर्तव्यो में विरोध दिखाई पडता है। उदाहरणार्थ, जीवन के

लिये सम्मान का सत्य के सम्मान से विरोध हो सकता है। यदि कोई डाक्टर क्षय-रोग से पीडित अपने रोगी को उसका रोग बतला दे तो सम्भव है रोगी की मृत्यु अधिक निकट आ जाय। पुन. जीवन के सम्मान का सम्पत्ति के सम्मान से विरोधी हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि हमें जीवन का सम्मान करना है तो हमें हत्या करने वाले व्यक्ति से चाकू छीनना होगा। ये तथा-कथित कर्तव्य-विरोध के उदाहरण हैं।

इस प्रकार को विरोधग्रस्त अवस्थाओ में समस्या के हल के लिए कुछ लोग "कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र" (Casuistry) की शरण लेने की सम्मति देते हैं। यह हमें बताता है कि किन विशेष परिस्थितियों में हमारे लिए विशेष नैतिक नियमो का उल्लघन करना उचित है। कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र विशेष परिस्थितियो में नैतिक नियमो का अतिक्रमण करने के लिए सूत्रो की रचना करता है। यह नीति-शास्त्र का एक विभाग है जो अन्त करण की समस्याओं का विचार करता है।

कर्तव्यों का विरोध अवास्तविक है। परिस्थिति-विशेष मे हमारा एक ही कर्तव्य होता है। कर्तव्यों के विरोध के विषय में कथन करने का कारण केवल वास्तविक स्थिति को समझने में हमारी असफलता है। उदाहरणार्थ, हत्या करने को उद्यत व्यक्ति से चाकू छीनने का हमारा स्पष्ट कर्तव्य है। ग्रीन की उक्ति है "कोई ऐसी वस्तु नही है जिसे वास्तव में कर्तव्य-विरोध कहा जाय। किसी मनुष्य का किन्ही विशेष-परिस्थितियों में सदैव एक ही कर्तव्य होता है, यद्यपि समस्या की परिस्थितियाँ इतनी जटिल और विकट हो सकती हैं कि वास्तविक कर्तव्य क्या है, इसका निर्धारण करना कठिन हो जाता है।" ❀ यदि उचित-रूप से कहा जाय तो कर्तव्यों में विरोध हो ही नहीं सकता। किसी मूर्त-दशा में व्यक्ति का एक ही निश्चित कर्तव्य होता है। वह अपने कर्तव्य को स्पष्ट नैतिक अन्तर्दृष्टि से जान सकता है, यदि वह उस क्षण की वासनाओं और पक्षपातपूर्ण धारणाओ के वशीभूत नहीं होता। तथा कथित कर्तव्यो के सघर्ष के कारण हैं स्पष्ट नैतिक अन्तर्दृष्टि का अभाव, वासनाओ और सकीर्ण-स्वार्थ के कारण नैतिक निर्णय-शक्ति का बाधित हो जाना, समस्याओ का जजाल, और नैतिक स्थिति में महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन तत्वो के विवेक का अभाव।

व्यवहार के नियम बनाना स्वय बुरा है और उनके उल्लघन के लिए नियम बनाना तो बिल्कुल ही असह्य है। पुन सशयात्मक और जटिल दशाओ में कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र का प्रयोग नीति में ढिलाई का कारण बन जायगा। कोई भी किसी कर्म को स्वेच्छानुसार उचित ठहराने लगेगा।

कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र नैतिकता के बाह्य-रूप को अनुचित महत्त्व प्रदान करता है। वह ध्यान को कर्म के एक विशेष नियम के अनुकूल होने पर केन्द्रित करता है।

❀ 'नीति-शास्त्र की भूमिका', पृ ३५५।

वह कर्त्ता की प्रवृति, उद्देश्य, अभिप्राय, कर्म करने के रुख, कर्म से प्राप्तव्य शुभ, अथवा जिस अवसर पर कर्म सम्पन्न हुआ है उसकी विलक्षणता का विचार नही करता।

कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र नीति के वैधानिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देता है। वैधानिक दृष्टिकोण में निन्दा-स्तुति, दण्ड-पुरस्कार का प्राधान्य होना है। व्यवहार विधि और निषेध से नियन्त्रित होता है।

कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र नैतिक जीवन से स्वतन्त्रता को निकाल बाहर करता है।

जब कभी कर्तव्यों में विरोध मालूम पडता है तो हमें इस सर्वोच्च नैतिक नियम का आश्रय लेना चाहिए कि हमें अपने बुद्धिमय आत्मा का और उसको उपलब्ध करने में गर्भित मूल्यो का लाभ करना चाहिए।

५ पूर्ण-बाध्यतामूलक और अपूर्ण-बाध्यतामूलक कर्तव्य।

कान्ट ने पूर्ण-बाध्यतामूलक और अपूर्ण-बाध्यतामूलक-कर्तव्यो में भेद का निर्देश किया है। पहिले निश्चित और भ्रमरहित होते है और उनका पालन करना ही पडता है। दूसरे अनिश्चित होते हैं और उनके पालन के लिये किसी को बाध्य नही किया जा सकता। वे प्राय विधिमूलक होते हैं, किन्तु निश्चयात्मक और निरपेक्ष-रूप से उन्हें वाक्यबद्ध नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ, हत्या और चोरी न करने के तथा असत्य-भाषण न करने के हमारे कर्तव्य पूर्ण बाध्यत मूलक कतव्य हैं। किन्तु परोपकार का कर्तव्य देश काल और परिस्थिति का सापेक्ष है और हमारी इच्छा पर अत्यधिक निर्भर है। हमें उसके पालन के लिए बाध्य नही होना पडता।

कान्ट का यह भेद नैतिक नही बल्कि वैधानिक है। विशेष परिस्थितियो में हमारे कर्तव्य निश्चित होते हैं। बलप्रयोग का तो नैतिक कर्तव्यो में प्रश्न ही नही उठता। नैतिक दृष्टि से सभी कर्तव्य पूर्ण-बाध्यतामूलक होते हैं।

७ ब्रेडले का "मेरा स्थान और उसके कर्तव्य" का विचार।

प्रत्येक व्यक्ति विशेष सामाजिक वातावरण में विशेष योग्यताओ को लेकर पैदा होता है। उसके कर्तव्य जीवन मे उसके स्थान के द्वारा निश्चयात्मक-रूप से निर्धारित होते हैं, और अपने सर्वोच्च व्यक्तिगत शुभ और सर्वोच्च सामान्य शुभ की सिद्धि के लिये उसे उनका पालन करना चाहिए। कार्लाइल का कथन है कि, "जो कर्तव्य तुम्हारे सबसे निकट है उसका पालन करो।" "जिस कार्य को तुम सम्पादित कर सकते हो उसको जानो और हरक्यूलीस् के तुल्य उस पर जुट जाओ।" इस प्रकार मनुष्य के कर्तव्यों का निर्धारण अधिकाशत उसकी व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टि पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिभा की प्रवृत्ति का अनुसरण करना चाहिये और जीवन में अपने स्थान के अनुसरण अपने कर्तव्यों को निर्धारित करना चाहिए। प्रत्येक

व्यक्ति के कर्तव्य समाज में उसके स्थान अथवा वास्तविक सामाजिक सम्बन्धो में उसके स्थान के द्वारा निर्धारित होते हैं, और किसी आदर्श के प्रति उसकी अटल भक्ति का भी उसके नैतिक स्थान के आज्ञापक दावों द्वारा नियमन होना चाहिए। किसी व्यक्ति के कर्तव्य उसकी सामाजिक स्थिति से निर्धारित होते है। इस प्रकार, एक अध्यापक, एक विद्यार्थी, एक शासनकर्त्ता, एक शासित, एक न्यायाधीश, एक वकील, एक व्यापारी, एक शिल्पकार, एक पिता, एक माता, एक बच्चा इत्यादि के कर्तव्य उन व्यक्तियो से पृथक् हैं जिनका विरुद्ध वर्गों से सम्बन्ध है।

इस प्रकार, किसी व्यक्ति के तीन प्रकार के कर्तव्य होते हैं। उसे जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति इत्यादि का सन्मान प्रभृति उपर्युक्त सामान्य कर्तव्यों का पालन करना पडता है। उसे समाज में अपनी स्थिति के उपयुक्त, अपनी विलक्षण परिस्थितियो के आपेक्षिक कुछ विशेष कर्तव्यो का पालन करना पडता है। पुन उसे कुछ नवीन कर्तव्यो का भी पालन करना पडता है जो समय समय पर परिवर्तित होने वाली उसकी परिस्थितियो पर निर्भर होते हैं। एक जनता का नेता मत्री बन जाता है। उसके विशेष कतव्य जनता के नेता के कर्तव्यो से बदल कर मत्री के कर्तव्य हो जाते हैं।

६ एक सर्वोच्च कर्तव्य।

हमारा एक सर्वोच्च कर्तव्य है "बुद्धिमय आत्मा की प्राप्ति करो और उसमे गर्भित मूल्यो की भी।" सभी अन्य कर्तव्य इसी सर्वोच्च कर्तव्य से अनुमित होते हैं। विशेष कर्तव्य इसी निरपेक्ष और अन्तिम कर्तव्य के विभिन्न पहलू हैं। सर्वोच्च नैतिक नियम क्या है ? "यह वह आदेश है जो हमें बुद्धिमय आत्मा और तत्सबन्धी-मूल्यो के लाभ की आज्ञा देता है (मैकेंजी)" यह इतना विशाल है कि अन्य विशेष व्यवहारिक नियमो से इसकी पूर्ति होनी चाहिए। जब ये नियम परस्पर-विरोधी मालूम पडते है, तो हमें इस सर्वोच्च आदेश का आश्रय लेना चाहिए कि "बुद्धिमय आत्मा और बुद्धमय जगत् की सिद्धि करो।"

७. कर्तव्यों का वर्गीकरण।

कर्तव्यो को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (१) आत्मा के प्रति कर्तव्य, (२) दूसरों के प्रति कर्तव्य, (३) ईश्वर के प्रति कर्तव्य।

(१) आत्मा के प्रति कर्तव्य—इनमें (क) भौतिक कर्तव्य, (ख) आर्थिक कर्तव्य, (ग) बौद्धिक कर्तव्य, (घ) सौंदर्य विषयक कर्तव्य, और (ङ) नैतिक कर्तव्य का समावेश होता है। आत्म-रक्षण, स्वास्थ्य-चिन्ता और विनोद हमारे शरीर के प्रति कर्तव्य हैं। हमें आत्म-हत्या का कोई अधिकार नहीं है। हमारा जीवन हमारे और अन्यो की सम्मिलित सम्पत्ति है। हमें अपने जीवन का सरक्षण और परिवर्धन करना

चाहिए, और अच्छे स्वास्थ्य का उपभोग करना चाहिए जो नैतिक बल के लिए अत्यावश्यक है। हमें शारीरिक मल्यो का अर्जन करना चाहिए क्योकि वे उच्चतर मूल्यो के आधार हैं। हमें अच्छी जीविका का उपार्जन करना चाहिए। हमें धन-सग्रह करना चाहिए, किफायत से उसका व्यय करना चाहिए, ताकि हम उच्चतर मूल्यो का उपभोग कर सकें। धन एक आर्थिक मूल्य है। यह उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति के लिए अनिवार्य साधन है। आर्थिक मूल्यो का अर्जन उच्च प्रकृत मूल्यो के साधनो के रूप में होना चाहिए। हमें धन को प्रकृत मूल्य नहीं समझना चाहिए। उसे साधन समझना चाहिए। यह हमारा आर्थिक कर्तव्य है। हमें अपनी बुद्धि का विकास करना चाहिए और ज्ञानार्जन करना चाहिए। हमें बुद्धि को अविकसित रखने का कोई अधिकार नही है क्योकि व्यक्तित्व के विकार के हेतु बुद्धि का विकास अनिवार्य है। यह हमारा बौद्धिक कर्तव्य है। हमें सौंदर्य की सृष्टि और प्रशसा के द्वारा अपनी सौंदर्य रुचि का अर्जन करना चाहिए। यह हमारा सौंदर्यविषयक कर्तव्य है। हमें अपनी प्रवृत्तियो, वासनाओ, इच्छाओ और इन्द्रियवेगो पर नियत्रण करना चाहिए। हमें इन्द्रियपरता का बुद्धि द्वारा नियमन करना चाहिए। हमें अपने व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिए। आत्म-सयम और आत्म-सम्मान हमारे नैतिक कर्तव्य हैं। हमें परम-शुभ के तत्वो के रूप में सत्य और सौंदर्य को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। हमें बौद्धिक, सौंदर्यविषयक और नैतिक मूल्यो को प्रकृत, निरपेक्ष और शाश्वत समझना चाहिए। ये आत्मा के प्रति कर्तव्य हैं। ये व्यक्तिगत कर्तव्य हैं।

(२) दूसरो के प्रति कर्तव्य—इसमें (क) कुटुम्ब के प्रति कर्तव्य, (ख) समाजस्थ अन्य व्यक्तियो के प्रति कर्तव्य, (ग) देश के प्रति कर्तव्य, (घ) मानवजाति के प्रति कर्तव्य, (ङ) पशुओ के प्रति कर्तव्य, (च) पेड पौधो के प्रति कर्तव्य का समवेश होता है। हमें माता-पिता का सम्मान और उनसे प्रेम करना चाहिए। वार्धक्य में उनका पालन-पोषण करना चाहिए। हमें अपने बच्चो से प्रेम करना चाहिए। हमें उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, और चरित्र की चिन्ता करना चाहिये। हमें उनकी अपने लिए उचित व्यवसाय का चुनाव करने में सहायता करनी चाहिए। पति-पत्नी को एक-दूसरे का सम्मान और प्रेम करना चाहिए। उन्हे एक-दूसरे को मित्र और समकक्ष समझना चाहिए। पति को पत्नी की स्थिति अपने से हीन नही समझनी चाहिए। ये हमारे कुटुम्ब के प्रति कर्तव्य हैं। हमारे समाज में अन्य व्यक्तिओ के प्रति मुख्यतया ये कर्तव्य हैं (क) सचाई, (ख) समानता, (ग) परोपकार। हमें सत्य भाषण करना चाहिए। जो हमारा अभिप्राय है वही भाषण करना चाहिए। और जो कहते हैं वही करना चाहिए। हमें अपने वचनो की रक्षा करनी चाहिए। अपने विश्वासों को प्रकाशित कर देना चाहिए। हमें कपट और दिखावे का परित्याग करना चाहिए। समानता का अर्थ न्याय और ईमानदारी है। हमें दूसरों से वही

वर्ताव करना चाहिए जो हम चाहते हैं हमारे साथ हो। हमें दूसरो के व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिए। हमें सबको साध्य समझकर वर्ताव करना चाहिए—आत्मोपभोग और स्वार्थ के साधन समझकर नही। हमें दूसरो की स्वतन्त्रता और सम्पत्ति में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। हमें दूसरो के चरित्र, सम्मान और ख्याति पर आक्षेप नहीं करना चाहिए। हमें दूसरो का जीवन नही लेना चाहिए और उनके जीविकोपार्जन में बाधा नही देनी चाहिए। हमें दूसरो के प्रति सद्भाव रखना चाहिए। हमें मनसा, वाचा, कर्मणा उनकी कोई हानि नही करनी चाहिए। इन सब कर्तव्यो का समावेश समानता में होता है। हमें सकटग्रस्त के साथ सहानुभूति होनी चाहिए। हमें उसके सकट के निवारणार्थ यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। यह परोपकार है। ये समाज में दूसरो के प्रति हमारे कर्तव्य हैं। हमें अपने देश से प्रेम होना चाहिए, उसकी स्थिति सुधारने का अधिकतम प्रयास करना चाहिए, और उसके महान् कार्यों में गर्व की अनुभति होनी चाहिए। हमें देश-भक्त होना चाहिए। ये देश के प्रति हमारे कर्तव्य हैं हमें सब मानवों से प्रेम करना चाहिए और उन्हें अपने साथी समझने चाहिए। सकीर्ण देश-भक्ति परित्याज्य है। साम्राज्यवाद, रग-भेद और जातीय उच्चता भी त्याज्य हैं। सामाजिक व्यवस्था का आदर और मानवीय-प्रगति में आस्था होनी चाहिए। हमें उदार मानवत्ववादी होना चाहिए। ये हमारे मानवजाति के प्रति कर्तव्य हैं। हमें पालतू पशुओ की रक्षा करनी चाहिए, उन्हे उचित अन्न और शरण देनी चाहिए, और रुग्ण होने पर उनकी सेवा करनी चाहिए। पशुओं के प्रति कोमलता का भाव होना चाहिए। उनकी अपने उपभोग के लिए हत्या अकर्तव्य है। उनसे निर्दयतापूर्वक व्यवहार अनुचित है। ये हमारे पशुओ के प्रति कर्तव्य हैं। हमें पेड पौधो की रक्षा करनी चाहिए उनको सीचना चाहिए, और उन्हें उचित पोषक-पदार्थ देने चाहिए। हमें प्रकृति के प्रति धृष्ट नही होना चाहिए। ये हमारे पेड-पौधो के प्रति कर्तव्य है।

(३) ईश्वर के प्रति कर्तव्य—हमे नित्य ईश्वर की उपासना और ध्यान करना चाहिए। हमें नित्य-प्रति उसकी पूजा करनी चाहिए और उसका शरणागत होना चाहिए। हमें अपने कर्मों को उसे अर्पण करना चाहिये और एकनिष्ठ होकर श्रद्धा से उसको प्रेम करना चाहिए। ये हमारे ईश्वर के प्रति कर्तव्य हैं। किन्तु हमार ईश्वर-प्रेम का प्रकाशन मानव-प्रेम में होना चाहिए। मनुष्य-जाति की सेवा में उनकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। मानव-प्रेम से रहित ईश्वर-प्रेम व्यर्थ ढकोसला-मात्र है।

८. कर्तव्यो का भारतीय वर्गीकरण।

प्रशस्त-पाद नामक वैशेषिक विचारक ने कर्तव्यो को व्यापक और निश्चित दो वर्गों में बांटा है। धर्म-श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्व, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनुपधा

(चित्तशुद्धि), क्रोध-वर्जन, अभिषेचन (स्नान अथवा देह शुद्धि), शुचि-द्रव्य-सेवन, विशिष्ट देवता-भक्ति, उपवास, अप्रमाद ये व्यापक कर्तव्य हैं।

इन व्यापक कर्तव्यो के अतिरिक्त भिन्न भिन्न वर्णों और आश्रमो से सम्बन्धित कुछ निश्चित कर्तव्य होते हैं। ब्राह्मण का निश्चित कर्तव्य प्रतिग्रह (भेंट स्वीकार करना), अध्यापन, याजन (यज्ञ), तथा स्ववर्णविहित सस्कारो का पालन करना है। क्षत्रिय का निश्चित कर्तव्य सम्यक्-प्रजा पालन, असाधु-निग्रह, युद्धेषु अनिवर्तन (युद्ध से न भागना) तथा स्वकीय-सस्कारो का पालन करना है। वाणिज्य-व्यवसाय, कृषि, पशु-पालन तथा स्वकीय सस्कारों का पालन करना वैश्यों के निश्चित कर्तव्य हैं। ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो के कुछ सामान्य-कर्तव्य होते हैं, जैसे—इज्या (यज्ञ), वेदो का अध्ययन तथा दान। इन तीनो वर्णों की सेवा करना तथा आमन्त्रिक क्रिया अर्थात् मन्त्रो का उच्चारण किये बिना स्वकीय-सस्कारो का पालन करना शूद्रो का कर्तव्य है (गीता से तुलना कीजिये)।

भिन्न भिन्न आश्रमो के भी निश्चित कर्तव्य होते हैं। ब्रह्मचारियो को गुरुओ की सेवा, यज्ञ, भिक्षा करनी चाहिये तथा विलास की वस्तुओ से बचना चाहिये। गृहस्थो को भूत यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, देव यज्ञ, और पितृ यज्ञ, करना चाहिये तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये सन्तान उत्पन्न करनी चाहिये। वानप्रस्थों को जङ्गल में जाकर यज्ञ, अतिथि-सत्कार तथा फल मूल पर जीवन निर्वाह करना चाहिये। सन्यासियो को सदा जीवो को भोजन देना चाहिये तथा समस्त कर्मो का परित्याग करके यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, तथा नियम अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का पालन करना चाहिये। (प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ २७२, ७३, जे० एन० सिन्हा—इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ १७८—८०)। उपरोक्त कर्तव्यो में व्यक्तिगत, सामाजिक तथा धार्मिक कर्तव्य समाविष्ट हैं। चित्त-शुद्धि के साथ कर्तव्य-पालन से धर्म की सृष्टि होती है। धर्म-सग्रह के लिये चित्त-शुद्धि और आचार-शुद्धि दोनो आवश्यक हैं। निषिद्ध कर्मो से अधर्म की उत्पत्ति होती है। आत्मा और ईश्वर के सच्चे ज्ञान से ही धर्म और अधर्म दोनो का क्षय होता है। यह ज्ञान श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा योगाभ्यास द्वारा प्राप्त होता है। (कणादसूत्रवृत्ति, ६—१, १६)

अध्याय १९

धर्म

१. कर्तव्य-कर्म और धर्म ।

कर्तव्य-कर्मों के अभ्यासपूर्वक सम्पादन से धार्मिक प्रवृत्तियो का उद्भव होता है। अभ्यास के द्वारा कर्तव्य धर्म में परिणत हो जाते हैं। धर्म अर्जित मानसिक प्रवृत्तियों की ओर सकेत करते हैं। धर्मनिष्ठ व्यक्ति वह है जिसे कर्तव्य पालन का दृढ अभ्यास है। धर्म सच्चरित्र का निर्देश करता है। कर्तव्य उस विशेष कर्म का निर्देश करता है जिसे हमें करना चाहिये। इस प्रकार कोई मनुष्य अपना कर्तव्य करता है, किन्तु धर्म उसका गुण होता है, अर्थात् वह धर्मनिष्ठ होता है।

धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है। कर्तव्य का सकेत वाह्य व्यवहार की ओर होता है। धर्म का कर्तव्य में प्रकाशन होता है। कर्तव्य करने के अभ्यास से धर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म का सकेत आभ्यन्तर चरित्र की ओर होता है। कर्तव्य का सकेत वाह्य-कर्म की ओर होता है। इस प्रकार धर्म आन्तरिक चरित्र की उत्कृष्टता है, और कर्तव्य वाह्य-कर्म में उसका प्रकाशन है। धर्म विचारणा-पूर्वक सत्कर्म के चुनाव का अभ्यास है। अधर्म विचारणा-पूर्वक असत्कर्मों के चुनाव का अभ्यास है। धर्म मूल प्रवृत्तियो और वासनाओ को नियन्त्रित करने तथा समग्र-आत्मा के शुभ का लाभ करने का अभ्यास है। अधर्म मूल प्रवृत्तियों और वासनाओ के वशीभूत हो जाने का तथा समग्र-आत्मा की हानि करते हुये उनकी तृप्ति के आंशिक शुभ का लाभ करने का अभ्यास है। धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है। अधर्म चरित्र का कलक है। कर्तव्य-पालन में धर्म का प्रकाशन होता है। अधर्म पाप-कर्मों में प्रकाशित होता है।

अभ्यास-पूर्वक कर्तव्य करने से धर्म का अर्जन होता है। अभ्यास-पूर्वक पाप-कर्म करने से अधर्म का अर्जन होता है। धर्म सहजात शुभ-प्रवृत्ति नहीं है जो स्वभावसिद्ध होती है। वह एक अर्जित प्रवृत्ति है जो वुद्धि के द्वारा वासनाओ और मूल-प्रवृत्तियो को नियन्त्रित और व्यवस्थित करने के अभ्यास से उत्पन्न होती है। कर्तव्य और अभ्यास से धर्म की उत्पत्ति होती है।

२. धर्म का स्वरूप ।

अरस्तू का कथन है कि "धर्म एक स्थायी मानसिक अवस्था है, जिसकी उत्पत्ति सकल्प की सहायता से होती है और जिसका आधार वास्तविक जीवन में जो सर्वोत्तम है उसका आदर्श—वुद्धि के द्वारा निर्मित आदर्श है।" धर्म नैतिक नियम से सवादित, स्थायी और अर्जित प्रवृत्ति अथवा चरित्र है। यह एक नैसर्गिक प्रवृत्ति

नहीं है। यह एक अर्जित प्रवृत्ति है। यह नैतिक नियम की अनुकूलता-प्राप्त सकल्प की एक स्थायी आदत है। यह किसी सत्कर्मों के क्षेत्र में अभ्यासपूर्वक निवास करने में सन्निहित है। यह समग्र आत्मा के उच्चतम शुभ के विचार के द्वारा निर्धारित चरित्र का एक गुण है। यह चरित्र की उत्कृष्टता है। ऐसा चरित्र जो किसी क्रिया में मूर्तिमान नही है, एक अव्यक्त-शक्ति-मात्र है। धर्म का कर्तव्यो में प्रकाशन होता है। चरित्र की उत्कृष्टता कर्म-विशेष में अभिव्यक्त होती है, जो हमारा कर्तव्य है, धर्म चरित्र की ओर सकेत करता है। कर्तव्य बाह्य व्यवहार की ओर सकेत करता है। चरित्र का प्रकाशन व्यवहार में होता है। अभ्यासपूर्वक कर्तव्य का पालन धर्म का निर्माण करता है। धर्म का वास कर्तव्य-पालन में होता है। इस प्रकार धर्म और कर्तव्य एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। धर्म अन्तरस्थ चरित्र की उत्कृष्टता है, कर्तव्य सच्चरित्र का बाह्य प्रकाशन है। धर्म शुभ सकल्प की स्थायी आदत है, कर्तव्य एक स्थूल कर्म है जिसमें शुभ-सकल्प की अभिव्यक्ति होती है। धर्म चरित्र के सदभ्यास का निर्देश करता है। कर्तव्य एक विशेष प्रकार के कर्म का निर्देश करता है जो हमारे लिये करणीय होता है। कोई व्यक्ति धर्मपरायण होता है। वह अपने कर्तव्य का सम्पादन करता है। कर्तव्य-कर्म में प्रकाशित न होने वाला धर्म एक शक्यता मात्र है। यह सदैव कर्तव्यो में प्रकाशित होने के लिये सन्नद्ध होता है। अत धर्म सक्रिय-चरित्र का गुण होता है।

३ धर्म, ज्ञान और अभ्यास।

धर्म सदिच्छा का अभ्यास है। वह कर्तव्य-कर्म सम्पादित करने की आदत है। वह विचारणपूर्वक सत्कर्मों को चुनने और करने की आदत है। किन्तु विचारपूर्ण चुनाव और कर्म के अभ्यास से पूर्व शुभ तथा मूर्त परिस्थितियो में किये जाने योग्य कर्म का ज्ञान होना चाहिए। अभ्यासपूवक कर्तव्य-पालन विशेष अवसरो में कर्तव्य के तथा उसको निर्धारित करने वाले आत्मा के परम मगल के ज्ञान के ऊपर निर्भर है। अत धर्म में ज्ञान और अभ्यास दोनो गर्भित हैं। सुकरात और प्लैटो का यह कथन कि धर्म ज्ञान है सम्यक् है। अरस्तु का यह कथन भी सत्य है कि धर्म अभ्यास है। शुभ और मूर्त-स्थितियो में कर्तव्य का ज्ञान मात्र धर्म के लिए अपर्याप्त है। ज्ञान के पश्चात कर्म अवश्य होना चाहिए। कर्तव्य-ज्ञान के उपरान्त कर्तव्यो का अभ्यासपूर्वक पालन अवश्य होना चाहिए। कर्म-विहीन धर्म एक नग्न-शक्यता मात्र है, यह सत्ताहीन है। इस प्रकार धर्म में ज्ञान और अभ्यास दोनो गर्भित हैं। मैकेन्जी का कथन है, "धर्म एक प्रकार का ज्ञान भी है और एक प्रकार का अभ्यास भी। धर्मपर व्यक्ति वह है जो कर्तव्य से निर्मित क्षेत्र में निरन्तर वास करता है। इस क्षेत्र में निरन्तर निवास एक अभ्यास है, किन्तु साथ ही वह एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि भी है। धर्मनिष्ठ होने

का अर्थ है अभ्यासपूर्वक एक प्रकार के ज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि का होना। इस प्रकार अरस्तु और सुकरात दोनो के मत ठीक थे। धर्म एक प्रकार का ज्ञान और एक प्रकार की आदत दोनो है। आदत एक रीति मात्र नहीं है। वह सकल्प की आदत है। जिन आदतो का नैतिक महत्त्व होता है वे विचारपूर्ण चुनाव की आदतें हैं। विचारपूर्ण चुनाव विचार अथवा बुद्धि पर निर्भर होता है। सत् का चुनाव करने के लिये सत् का ज्ञान आवश्यक है। अत सत्-सकल्प सम्यक्अन्तर्दृष्टि पर निर्भर है। धर्म एक प्रकार का ज्ञान है। वह एक दृष्टिकोण पर, एक विचारयुक्त अन्तर्दृष्टि पर अवलम्बित है। साथ ही धर्म आदत भी है। वह इच्छाकृत कर्म मात्र नहीं है, वल्कि चरित्र की एक स्थायी अवस्था, किसी निश्चित क्षेत्र ꙮ में निरन्तर निवास है।"† इस प्रकार धर्म में ज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि तथा कर्तव्य-पालन के अभ्यास का समावेश है।

४. धर्म और सुख।

धर्म शुभ-सकल्प की आदत है। उसका निवास सत्कर्मों के क्षेत्र मे अभ्यासपूर्वक वास में है। नैतिक निमम के अनुकूल चरित्र को अर्जित करने में धर्म निहित है। धर्म आत्मा के विविध तत्वों का सामंजस्यपूर्ण जीवन है। बुद्धि के द्वारा मूल-प्रवृत्तियों और वासनाओ को व्यवस्थित करने तथा आत्मा के कल्याण के द्वारा उनके शासित होने के अभ्यास मे धर्म है। इस प्रकार धर्म से सदैव सुख प्राप्त होना है। बुद्धि और मनोवेगों के मध्य सामजस्य-स्थापनपन में धर्म का निवास है। प्रसन्नता इस सामजस्य की अनुभूति है। वह आत्मोपलब्धि की अनुभूति है। आनन्द का उद्भाव इच्छाओ को व्यवस्थित करने से होता है। वह एक अकेली इच्छा अथवा इन्द्रियवेग की तृप्ति से उत्पन्न अल्पस्थायी सुख नहीं है। वह एक अनुभूति है जिसकी उत्पत्ति परम कल्याण के आदर्श के अनुसार आत्मा के त्रिविध तत्वों के सतुलित समायोजन से होती है। आनन्द समग्र आत्मा के लाभ का लक्षण, जिसमें बुद्धि आत्मा इन्द्रियमय-आत्मा को नैतिक-नियम के शासन में रखता है।

जब तक कि उत्कृष्ट कार्यों में किसी को सुख न मिले, तब तक उसे अच्छा नही कहा जा सकता। धर्मनिष्ठ व्यक्ति को प्रसन्न होना चाहिये। अरस्तू के मतानुसार आनन्द मानवीय कार्यो की उचित-रूप से पूर्ति करने में पाया है। कार्यो के उचित अभ्यास में आनन्द मिलता है। मनुष्य का विशिष्ट कार्य जो अन्य जन्तुओ से उसका भेद दिखाता है विचार है। अत प्रसन्नता की प्राप्ति विचार के समुचित अभ्यास में है। बुद्धिमय जीवन में स्थायी चरित्र, अथवा धर्मनिष्ठता गर्भित है। आनन्द धर्मनिष्ठ जीवन का सहगामी है। धर्म के साथ सदैव आनन्द का भाव होता है। धर्म स्वय आनन्द नही है, वल्कि आनन्द धर्म का सूचक है। एकमात्र धर्म सुख-प्राप्ति का आश्वासन नही देता, लेकिन उसके विना आनन्द असम्भव है। आनन्द धर्म पर और

ꙮ Universe of Duty. † नीति-शास्त्र, पृ० ७१–७२।

बाह्य-शुभों पर निर्भर है। आदर्श-रूप से आनन्दित मनुष्य वह है जो धर्म पर जीवन व्यतीत करता है, और जिसे बाह्य शुभो की पर्याप्त उपलब्धि होती है। यह अरस्तू का मत है।

आधुनिक पूर्णतावादियो के मत से भी धर्म और आनन्द का साथ है। आनन्द का उद्भव इच्छाओ के सामजस्य से होता है। वह बुद्धि के द्वारा इच्छाओ को व्यवस्थित करने की सहगामिनी अनुभूति है। वह आत्म-लाभ की अनुभूति है। आनन्द क्रियाओ के समन्वय पर निर्भर है, और अन्तिम-रूप से नैतिक समन्वय की सर्वोच्च क्रिया पर निर्भर है। आनन्द नैतिक उत्कर्ष का लक्षण है। आत्म-लाभ से आत्म-सन्तोष की उपलब्धि होती है, किन्तु उसे आत्म-सन्तोष का साधन नही कहा जा सकता। जीवन का लक्ष्य न जानना है, न अनुभूति करना, बल्कि करना या होना है। आत्म-लाभ का जीवन एक पूर्णतया सन्तोषजनक जीवन है।

५ धर्म और ज्ञान के अभेद-विषयक सुकरात का मत।

सुकरात का मत है कि "धर्म ज्ञान है।" यदि एक मनुष्य को शुभ के स्वरुप का पूर्ण ज्ञान हो जाय, तो उसके अनुसरण में वह कदापि असफल नही हो सकता। दूसरी ओर, यदि किसी को उसका पूर्ण ज्ञान न हो सके, तो वह कदापि नैतिक नहीं हो सकता, यदि होगा तो केवल आकस्मिक रूप से। ज्ञान धर्म है। अज्ञान अधर्म है। ज्ञान के बिना सयमशील होना एक प्रकार के असंयम मे सयमशील होना है। बिना ज्ञान के साहसी होने का अर्थ एक प्रकार की भीरुता से साहसी होना है। इस प्रकार सुकरात के मतानुसार ज्ञान धर्म का तत्व है। जान-बूझ कर कोई भी पाप-कर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। पहिली आपत्ति तो यह है कि यदि धर्म शुभ के ज्ञान में और अधर्म शुभ के अज्ञान में निहित है, तो कोई भी अपने पाप-कर्म के लिये उत्तरदायी नही हो सकता, क्योंकि उनका कारण अज्ञान है और केवल शुभ के ज्ञान से युक्त इच्छाकृत कर्म ही नैतिक निर्णय के विषय हैं।

दूसरी आपत्ति यह है कि एक मनुष्य प्राय सत् का ज्ञान रखता है, किन्तु करता असत् है। शुभ के ज्ञान से सदैव शुभ का चुनाव नही होता। ज्ञान और कर्म प्राय परस्पर असगत होते हैं। सकल्प का सुखेच्छा के वशीभूत होकर बुद्धि के प्रतिकूल चला जाना सम्भव है। इसलिए यह मत अमान्य है कि कोई व्यक्ति जान कर अथवा इच्छापूर्वक असत्कर्म नही करता। अत ज्ञान धर्म नहीं है, यद्यपि वह धर्म का अनिवार्य तत्व है। धर्म शुभ के ज्ञान और शुभ के सकल्प की आदत पर निर्भर है।

६ अरस्तू का धर्म को मध्यमार्ग का चुनाव मानने का मत।

अरस्तू कहता है, "धर्म आपेक्षिक मध्यावस्था (mean) को ग्रहण करने का

अभ्यास है; जिस के रूप को बुद्धि और व्यावहारिक-ज्ञान सपन्न व्यक्ति निश्चित करते हैं।" धर्म चुनाव की आदत है, जिसका लक्षण सयम अथवा प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थितियों और योग्यताओ के आपेक्षिक मध्यम-मार्ग का अनुसरण है जो दूरदर्शी मनुष्यो की बुद्धि-द्वारा निर्धारित किया जाता है। और यह सयम दो कारणो से है पहिला, इसलिये कि यह दो दोषो का—एक अत्यधिक और दूसरा अत्यल्प—मध्यवर्ती है, और दूसरा, इसलिये कि जबकि ये दोष अनुभूति और क्रिया के उचित परिमाण से न्यून या अधिक हैं, यह मध्यम अथवा सयत परिमाण को ग्रहण करता है। धर्म सयम अथवा मध्य-दशा है। बहुत से धर्म दो छोरों (दोषो) के मध्यवर्ती होते हैं, उनमें से एक उचित गुण की अत्यधिकता है और दूसरा उसकी अत्यल्पता। साहस का धर्म भीरुता और असम-साहस के मध्य की स्वर्णिम-अवस्था † है, अपने गुणो के विषय में सत्यप्रियता दर्प और हीनता के मध्य की, दानशीलता व्ययविलासिता और कृपणता के मध्य की अवस्था है। धर्म निरपेक्ष मध्यावस्था के चुनाव में निहित नही है, बल्कि व्यक्ति की योग्यता, स्वभाव और परिस्थितियो की आपेक्षिक मध्यावस्था ‡ के चुनाव में निहित है। विभिन्न व्यक्तियों के लिये मध्य-दशा अलग-अलग होती है। एक सैनिक का साहस भीरुता की अपेक्षा असमता की ओर अधिक झुका होता है, और विशेष अवसरो पर उत्तेजित होता है। अधर्म उसके अत्यधिक और अत्यल्प परिणाम में निहित होता है जिसका उचित परिमाण धर्म है।

अरस्तू के मत में सत्य का एक महान् अश है। धर्म का तत्व सयम में अथवा प्रवृत्तियो और वासनाओं के ऊपर बुद्धि के नैतिक नियम के शासन में निहित है। बुद्धि और इन्द्रियपरता के सामजस्य में धर्म का तत्व निहित है। उसका निवास मध्य-मार्ग के अनुसरण के अभ्यास में है। किन्तु यह एक सामान्य उक्ति है। विशेष परि-स्थितियो के अनुकूल इसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता है। कभी कभी सवेग की तीव्रता का (यथा, देशभक्ति का) अनुभव करना हमारा स्पष्ट कर्तव्य हो जाता है, उदाहरणार्थ, जब अपने देश के उपर विदेशी आक्रमण होता है और शत्रु को मार भगाने के लिये अत्यन्त साहस की आवश्यकता होती है। परम शुभ के प्रत्यय का वग़ैर आश्रय लिये धर्म की पर्याप्त परिभाषा नही हो सकती। "सब वस्तुओं में सयम उतना ही एक दोष हो सकता है जितना एक में और सब में असयम। हमें एक अमूर्त स्वर्णिम मध्य-मार्ग के प्रत्यय को स्वीकार करना होगा।" ❀

७ धर्मों की एकता।

सभी धर्म एक सर्वोच्च धर्म के पहलू हैं। उसका निवास प्रवृत्तियो और वासनाओ को नियन्त्रित और व्यवस्थित करने के तथा उन्हे समग्र आत्मा के

† Golden Mean. ‡ Relative Mean.

❀ म्यूरहेड।

परम नि.श्रेयस के लाभ की दृष्टि से बुद्धि के नियम के शासन में रखने के अभ्यास में होता है। एक सर्वोच्च-कर्तव्य वह है जो आदर्श अथवा बुद्धिमय आत्मा की सिद्धि के लिये बिना शर्त हमें आदेश देता है। इस कर्तव्य के निरन्तर पालन से हम सकल्प अथवा कर्म करने की एक आदत को अर्जित करते हैं जिससे क्रमिक-रूप से बुद्धिमय आत्मा की सिद्धि होती है। इसी आदत को सर्वोच्च धर्म कहते हैं। सभी अन्य धर्म इस सर्वोच्च धर्म के आंशिक पहलू हैं। प्लैटो का कथन है कि धर्म परस्पर पृथक् नही हैं बल्कि उनमें ऐक्य होता है। ग्रीन का भी कथन है "यह सत्य है कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है। उन सबका निर्धारण उनके अन्तिम कारण के रूप में सामाजिक-हित से सम्बन्ध करता है, और उन सबका आधार एक या अन्य रूप में उसी कल्याण का साधन है।" अत उच्चतम वैयक्तिक और सामाजिक शुभ के साधन-स्वरूप धर्मों का एक तन्त्र होता है।

८. धर्म समाज की दशा का आपेक्षिक है।

मनुष्यो के अर्जन के लिए वांच्छनीय धर्म विभिन्न देश और काल के साथ अत्यधिक परिवर्तनशील होते हैं। जिन धर्मों का आधुनिक युग में अर्जित किया जाना चाहिए उनका विचार आधुनिक समाज की व्यवस्था और आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए। प्राचीन यूनान में साहस के धर्म का अर्थ युद्ध में वीरता होता था। किन्तु आधुनिक समाज में इसका अर्थ शारीरिक साहस मात्र नही बल्कि नैतिक साहस भी है। यूनानी समाज में युद्ध-भूमि में वीरता के लिए जिस धैर्य की आवश्यकता थी वह उस धैर्य से भिन्न है जो आज के वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ अथवा विद्वान को कार्य में दत्तचित्त रखता है, जिसे कई कठिनाइयो को पार करना है।

९ धर्म सामाजिक कार्यों के आपेक्षिक हैं।

धर्म विभिन्न कालो और विभिन्न सामाजिक स्थितियों के ही आपेक्षिक नहीं हैं, वे समाज के विभिन्न व्यक्तियो के द्वारा सम्पादित होने वाले कार्यों की भी अपेक्षा रखता है। यह कहना मिथ्या है कि एक दरिद्र व्यक्ति दानशीलता का अर्जन नही कर सकता और एक धनवान् व्यक्ति के लिए धैर्य आवश्यक नही है, क्योकि उन्हें इन धर्मों में गर्भित मानसिक आदतों का अर्जन करना चाहिए। तथापि व्यक्ति के धर्म समाज में उनके कार्यो के आपेक्षिक हैं। पुरुष के कर्तव्य स्त्री के कर्तव्यो से अभिन्न नही हैं, धनवान् के निर्धन से, वृद्ध के युवक से, माता-पिता के बच्चो से, स्वस्थ के रोगी से, और व्यापारी के कर्तव्य भी वैज्ञानिक के कर्तव्यो से अभिन्न नही हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य समाज में उसके कार्य से निश्चित होते हैं। अमूर्त कर्तव्यो की सत्ता नही है, वे सदैव काल, देश, परिस्थिति और समाज में कार्यो के आपेक्षिक हैं।

१० मुख्य धर्म।

मुख्य धर्म मौलिक-धर्म होते हैं जिनके ऊपर अन्य धर्म आश्रित होते हैं। वे

आधारभूत धर्म हैं। प्लैटो ने चार मुख्य धर्मों को माना है—वुद्धिमत्ता, साहस, मिताचार, और न्याय। वुद्धिमत्ता में सभी अन्य धर्मों का समावेश हो जाता है क्योंकि प्रत्येक धर्मनिष्ठ कार्य विशेष परिस्थितियो में वुद्धिमत्ता-पूर्वक काम करने में निहित होता है। यह एक सब को समाविष्ट करने वाला धर्म है। साहस और मिताचार दो ऐसे धर्म हैं जिनका व्यक्ति के जीवन से सर्वाधिक सम्बन्ध है। साहस (अथवा धैर्य) को कष्ट के भय के प्रतिरोध के अर्थ में ग्रहण करना चाहिये, और मिताचार को सुख के प्रलोभन के प्रतिरोध के अर्थ में। इन दो धर्मों में व्यक्तिगत जीवन में होने वाले प्रलोभनो के सभी प्रकार के विरोधो का समावेश हो जाता है। प्रलोभन का प्रादुर्भाव किसी दुःख के त्याग अथवा सुख की प्राप्ति के रूप में होता है। न्याय के अन्दर सब सामाजिक धर्मो का समावेश हो जाता है। इस प्रकार प्लैटो का मुख्य-धर्मो का वर्गीकरण आधुनिक समाज के आधार के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है और उसको आवश्यकताओं से समायोजित किया जा सकता है।

प्लैटो के मुख्य धर्म एक विस्तृत अर्थ में ग्रहण किये जाने चाहियें। इस प्रकार वुद्धिमत्ता के अन्दर चिन्ता, दूरदर्शिता, पूर्वदृष्टि, और चुनाव की स्थिरता का समावेश होना चाहिये। साहस के अन्दर वीरता और धैर्य दोनो का समावेश होना चाहिए। वीरता सक्रिय साहस है जो दुःख की आशका होने पर भी अपने मार्ग का अनुसरण करता है। धैर्य निष्क्रिय साहस है जो दुर्निवार्य कष्ट को विना हिचकिचाहट के सहन करता है। साहस में निर्णय, परिश्रम और अध्यवसाय का भी समावेश होना चाहिए। आस्था और आशा के धर्म वीरता और धैर्य से निकटत सम्बन्धित हैं। मिताचार में सभी प्रकार के सुखो, ऐन्द्रिय और बौद्धिक, के प्रलोभनो के प्रतिरोध शामिल हैं। न्याय में केवल समझौते की पूर्ति करना और समाज के नियमो द्वारा निश्चित कर्तव्यो का पालन ही शामिल नही है, वल्कि दूसरो के साथ सम्बन्धो में पूर्ण ईमानदारी और विश्वासपात्रता भी शामिल हैं। न्याय में परोपकार, प्रेम, सुशीलता, प्रसन्नता और हास्य-विनोद का भी समावेश होना चाहिए। न्याय का परोपकारशीलता से पहिले होना चाहिए। ये मौलिक सामाजिक धर्म है। सव धर्म व्यावहारिक वुद्धिमत्ता के विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार प्रयुक्त पदो को व्यापक अर्थ में ग्रहण करके थोडा सा परिवर्तन करने के पश्चात् हम धर्मो के प्राचीन यूनानी वर्गीकरण को स्वीकार कर सकते हैं।

११. धर्मों का वर्गीकरण।

धर्मों को तीन विभिन्न वर्गों में रखा है, यथा, (१) आत्मविषयक, (२) परविषयक, और (३) आदर्श-विषयक धर्म। पहिले कर्ता के अपने ही शुभ के साधक हैं। दूसरे अन्यो के मगल-साधक हैं। तीसरे किसी आदर्श यथा, सत्य, शुभ और सौंदर्य में से किसी के साधक हैं।

यह वर्गीकरण भ्रामक है। व्यक्तिगत-शुभ और सामाजिक-शुभ में कोई व्यावर्तक अन्तर नही है। जो धर्म व्यक्ति का शुभ-साधन करते हैं वही सामाजिक हित-साधन भी करते हैं। व्यक्ति का सामाजिक-सम्बन्धो से स्वतन्त्र कोई पृथक् जीवन है ही नही, और जिस धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के शुभ से है उसका सामाजिक-शुभ से भी सम्बन्ध नही होना चाहिए, इस प्रकार आत्मविषयक और परविषयक धर्मों का भेद भ्रामक है। तथापि हमें मानना ही पडेगा कि कुछ धर्मों का व्यक्ति के जीवन से विशेष सम्बन्ध है और कुछ का सामाजिक जीवन से। समान-रूप से, आत्मविषयक और आदर्श-विषयक धर्मों का भेद भी स्वेच्छाकृत है। शुभ, सत्य और सौंदर्य का अनुसरण यदि उन्हीं के हेतु हो तब भी व्यक्ति के शुभ का साधक है। किन्तु हमें यह तो मानना ही पडेगा कि ये विविध धर्म हमारे नैतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर बल देते हैं। अत उन्हें पृथक्-पृथक् समझा जा सकता है।

१७ व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के धर्म।

सयम और सस्कृति व्यक्तिगत जीवन के धर्म हैं। नीति का तत्व बुद्धि के द्वारा वासनाओं को व्यवस्थित करना है। यह सयम है। यह बुद्धिमय-आत्मा के द्वारा नैसर्गिक इन्द्रियपरता का पराभव है। सयम आत्मानुशासन है। असयम आत्म-तृप्ति अथवा विलासिता है। सयम के धर्म का विधानात्मक पहलू भी है और निषेधात्मक भी। निषेधात्मक रूप में यह आत्म-निषेध, आत्मोत्सर्ग आत्म-निरोध अथवा सब वासनाओ पर बौद्धिक चुनाव का आधिपत्य है। "मिताचार समग्र आत्मा और सामाजिक कल्याण के हेतु वासनाओं का बौद्धिक नियत्रण है।"* विधानात्मक-रूप में यह आत्मा को सीमित करना अथवा प्रयोजन का केन्द्रीकरण या एकीकरण है। नैसर्गिक वासना-शक्ति को एक ही मार्ग पर ले जाना चाहिए। उसका नियत्रण और पथ-प्रदर्शन जीवन में एकमात्र प्रधान प्रयोजन द्वारा होना चाहिये। इस प्रकार मिताचार आत्मानुशासन और एक प्रयोजन के प्रति एकनिष्ठ श्रद्धा है। सस्कृति चरित्र की आन्तरिक उत्कृष्टता की प्राप्ति है। "समग्र आत्मा का विकास करना है— बौद्धिक, सवेगात्मक, क्रियात्मक अथवा सकल्पात्मक तत्वों की एक पूर्ण जीवन के साथ सामजस्य में अलग-अलग पूर्णता प्राप्त करनी है। सस्कृति का अर्थ अनेक शक्तियो का विकास ही केवल नही है, वल्कि सवका समतापूर्ण विकास है। सभी क्षेत्रो में सस्कृति की कुंजी समान आत्म-विकास है।" † शारीरिक सस्कृति नैतिक सस्कृति का आवश्यक अग नहीं है। किन्तु यह लक्ष्य की सिद्धि के लिये सवसे महत्त्वपूर्ण साधन है। नैतिक सस्कृति के लिए एक उत्कृष्ट और स्वस्थ शरीर आवश्यक है। सस्कृति

* राइट।

† नैतिक-सिद्धान्त, पृष्ठ २५४-५५।

आत्म-विकास है जिसका अर्थ सकीर्ण व्यक्तित्व का व्यापक-व्यक्तित्व में विकास है। नैतिक जीवन सदैव एक व्यदितगत जीवन रहता है, वह कदापि अव्यक्तिगत अथवा आत्म-निरपेक्ष नही होता। स्वार्थहीन जीवन आत्म-निरपेक्ष अथवा अव्यक्तिगत जीवन नहीं है; वल्कि आत्मा का जीवन उसकी स्वार्थहीनता के अनुलोम अनुपात में विस्तृत और सम्पन्न हो जाता है। व्यक्तित्व का भी इस प्रकार के आत्मविकास में निषेध अथवा परिसमाप्ति नहींहोती; उसका अधिक व्यापक सामाजिक-शुभ के द्वारा अपने को विलय कर देना है। ‡

हमें साहस और सम्मान का भी व्यक्तिगत-जीवन के धर्मों से योग करना चाहिए। साहस दुःख के भय का प्रतिरोध है। यदि सयम सुख के प्रलोभनो का प्रतिरोध करता है तो साहस दुःख और भय की विघ्नकारी शक्तियो का प्रतिरोध करने वाली शक्ति है। यदि सयम आत्म-निरोध है तो साहस आन्तरिक शक्ति है। साहस का कई रूपो में प्रकाशन होता है। वीरता सक्रिय साहस है जो पीडा का आशका के विरुद्ध अपने मार्ग का अनुसरण करती है। धैर्य निष्क्रिय साहस है जो विना हिच-किचाहट के अनिवार्य कष्ट को सहन करता है। अध्यवसाय किसी कार्य को विघ्नों और दुःखो से आक्रांत होने पर भी करते रहने की शक्ति है। शारीरिक-साहस वह है जो किसी भीषण कार्य में अनुरक्त करता है। नैतिक साहस उपहास, निंदा, गाली और सामाजिक-यत्रणा की उपस्थिति में भी दृढ विश्वास न छोडने का साहस है। ये साहस के विविध रूप हैं।

सन्मान का अर्थ आत्म-सम्मान है। यह अपने ही चरित्र के प्रति आदर-भाव है। इसमें अपने आदर्श के प्रति श्रद्धा, अपने अधिकारो का दृढता-पूर्वक सरक्षण और व्यक्तिगन-तिरस्कार के प्रति असहनशीलता गर्भित हैं। इस प्रकार मिताचार, सस्कृति, साहस और सम्मान आत्म-विषयक धर्म कहे जा सकते हैं।

न्याय और परोपकार सामाजिक-जीवन के धर्म हैं। "सामाजिक धर्म के निषेधात्मक रूप को तत्सम्वन्धी स्वतन्त्रता अथवा समानता के कर्तव्य के साथ न्याय कहा जा सकता है; विधानात्मक-रूप में इस धर्म को परोपकार और तत्सम्वन्धी कर्तव्य को भ्रातृत्व कह सकते हैं।"※ न्याय दूसरो के व्यक्तिगत-जीवन में वाधा न पहुंचाने का नाम है। यह दूसरे व्यक्तियो के स्वतन्त्र विकास में हस्तक्षेप न करना है। जिस प्रकार सयम सच्ची सस्कृति का पूर्वगामी हेतु है, उसी प्रकार न्याय सच्चे परोपकार का पूर्वगामी हेतु है। हमें दानशील होनें से पूर्व न्याय-प्रिय होना चाहिये। परोपकार दूसरों के व्यक्तिगत-जीवन में सहायता और वृद्धि करना है। इसका अर्थ

‡ नैतिक सिद्धान्त, पृ० २७१।

※ वही, पृ० २७९।

सहानुभूति और सहकारिता तथा प्रेम है। इसका अर्थ अपने को दूसरे व्यक्तियो से एकाकार कर देना है। परोपकार का परम-उत्कर्ष मानव-जाति की उन्नति के प्रति निःस्वार्थ-भक्ति में पाया जाता है।

हमें सामाजिक-जीवन के धर्मों के साथ प्रेम, स्वामिभक्ति, सम्मान और सत्यप्रियता का भी योग करना चाहिए। प्रेम में पति और पत्नि के लिए प्रेम, माता-पिता के लिय प्रेम, बच्चो के लिए प्रेम, सम्बन्धियो के लिये प्रेम, मित्रो के लिये प्रेम, अपने देशवासियो के लिये प्रेम और मनुष्य-जाति के लिए प्रेम का समावेश होता है। प्रेम में आत्म-बलिदान और पर-सेवा गर्भित हैं। यह दूसरो के हित के प्रति अपने को विस्मृत कर देने वाली भक्ति है। आरम्भ में यह नैसर्गिक होता है, किन्तु बाद में बुद्धि के द्वारा परिष्कृत होता है। न्याय से, जो सामान्य-शुभ का साधक है, उसका उचित और समान वितरण होता है। प्रेम-सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए वात्सल्य और सहकारिता की अनुभूति के लिए आग्रह करना है, और उन्हें जितना न्याय-पूर्वक मिलना चाहिए उससे अधिक देने का भी आग्रह करता है। प्रेम की अनुभूति व्यक्तियों के लिये होती है। भक्ति की अनुभूति समुदायो के लिए होती है। किसी व्यक्ति की अपने परिवार, विद्यालय, पेशे, सम्प्रदाय या जाति के लिए भक्ति की अनुभूति होती है। "भक्ति का धर्म विभिन्न समुदायों के प्रति, जिनसे कोई व्यक्ति एकाकार हो चुका है, अनुभूत होने वाली भावनाओ का बौद्धिक नियन्त्रण और व्यवस्था है। *" भक्ति सभी भावनाओं को जिन्हें एक व्यक्ति विभिन्न समुदायो के लिये अनुभव करता है, एक सामान्य और सुसगत तन्त्र में आबद्ध करती है। अपने से बडो का आदर एक सामाजिक धर्म है। हम उत्कृष्ट गुणो से सम्पन्न व्यक्तियो की उपस्थिति में हीनता का अनुभव करते हैं। हम उनके उच्च गुणो के कारण आश्चर्य, प्रशसा और आदर-युक्त भय का भी अनुभव करते हैं। यदि किसी व्यक्ति को दूसरे के प्रति प्रशसा अथवा आदरयुक्त भय का अनुभव होता है तो वह उसके प्रति आदर की भावना का अर्जन करता है। "आदर का धर्म एक बौद्धिक भावना है जिसमें व्यक्तित्व के लिये सम्मान, बुद्धिमत्तापूर्ण, न्यायोचित, परोपकारयुक्त और आदर के योग्य है। दूसरो का और अपना सम्मान करना, यथार्थ मूल्य और चरित्र के अनुसार दूसरो की और अपनी प्रशसा और निन्दा करना, कर्तव्य है।"† सत्य-वादिता सत्य भाषण करने का अभ्यास है। यह विचारो और शब्दो की तथा शब्दो और कार्यों की सगति है। वाक्छल, झूठी निन्दा, खुशामद, कपट, मिथ्या-साक्ष्य प्रभृति मिथ्या-भाषण के विविध रूप हैं। सत्यवादिता सत्य को प्रकट करने के द्वारा पर-सेवा करना है। शिक्षा, सम्मति, नम्रतापूर्वक डाँटना, शुद्ध करना, उपदेश इत्यादि सत्यवादिता के विविध रूप हैं।

* राइट।

† नीति शास्त्र की साधारण भूमिका, पृष्ठ २४७।

न्याय, परोपकार, प्रेम, भक्ति, सम्मान और सत्यवादिता परविषयक अथवा सामाजिक धर्म है।

श्रद्धा ईश्वरविषयक धर्म है। यह ईश्वर का सम्मान है जो हमारे अन्दर नम्रता, प्रशंसा, आदरयुक्त सम्मान, प्रेम, कृतज्ञता, समाधि-सुख और भक्ति के सवेगो का उद्रेक करता है। ईश्वर धार्मिक श्रद्धा का सर्वोच्च विषय है। ईश्वर अपने मानवातीत उत्कृष्ट-रूप में सभी नैतिक धर्मों से विशिष्ट सर्वोच्च नैतिक पुरुष है।

बौद्धिक धर्म, सौन्दर्य विषयक धर्म और नैतिक आदर्श-विषयक धर्म हैं। हमें सत्य, सौन्दर्य और शुभ के अनुसरण की आदतो का जो कि निरपेक्ष और शाश्वत मूल्य हैं, अर्जन करना चाहिये।

१३. जाति का आचार-विचार (Ethos)।

हेगेल का कथन है कि शिशु सामान्य नैतिक आचार व्यवहार के वातावरण में शिक्षित और परिवर्धित होता है। "बुद्धिमत्ता और धर्मनिष्ठता अपनी जाति के आचार-व्यवहार के अनुसार जीवन-यापन करने में निहित है।" ब्रेडले ने इस प्रत्यय को सार्वजनिक बनाया है। "किसी जाति का आचार व्यवहार वह वातावरण है जिसमें जाति के सबसे अच्छे सदस्य अभ्यासपूर्वक निवास करते हैं। यह उनके नैतिक कार्यों का क्षेत्र है। यह हमारे जगत् की नैतिकता है, और वह मनुष्य जो उस जगत् की नैतिकता का पालन करता है, अच्छा मनुष्य है, तथा उसका उल्लघन करने वाला बुरा मनुष्य है।"* किसी जाति का आचार-व्यवहार अशत निश्चित नियमो और उपदेशों में तथा अशत किसी काल में किसी जाति में प्रचलित निर्णय के मानदण्ड और कर्म की (जनता का) समर्थन-प्राप्त आदतो में व्यक्त होता है। यह किसी जाति के द्वारा स्वीकृत-विचार नैतिक दृष्टिकोण है। किसी व्यक्ति के धर्म एक बडी सीमा तक उन लोगो के आचार-विचार अथवा नैतिक आदतो के द्वारा निर्धारित होते हैं जिनमें वह निवास करता है।

ब्रेडले ने नैतिक वातावरण के महत्व की अत्युक्ति की है। उसका मत है कि वह मनुष्य जो अपनी जाति की नैतिकता से उच्च नैतिकता प्राप्त करना चाहता है, अनीति के द्वार पर खडा है। "किन्तु यह एक अत्युक्ति है। क्योंकि किसी जाति का नैतिक वातावरण एक स्थायी वस्तु नही है। वह प्राय सामाजिक-जीवन के साथ विकसित होता है, और इस विकास का मुख्य कारण जाति के उत्तम सदस्यों का उनके समन्तात् प्रचलित जीवन के मानदण्ड के उच्चतर मानदण्ड प्राप्त करने का

* नीति-शास्त्र, पृष्ठ ३३०–३१।

निरन्तर प्रयत्न है।"† किन्तु यह स्वीकार करना ही चाहिये कि किसी देश में अधिकतर लोग जनता के आचार-व्यवहार अथवा नैतिक आदतो के स्तर तक नहीं पहुच पाते। पहिले उन्हे नैतिकता के सामाजिक मानदण्ड तक पहुचना चाहिये और फिर उसके परे जाने का विचार करना चाहिये।

२४ पाप और पुण्य का भारतीय-वर्गीकरण।

योग सूत्र के रचयिता महर्षि पातजलि ने पाच निषेधात्मक गुणो अथवा यमो का उल्लेख किया है—(१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। अहिंसा का अर्थ है हत्या न करना। इसके अनुसार पशुहत्या भी निषिद्ध है। सत्य का अर्थ है सद्विचारो तथा शब्दो और शब्दो तथा समस्त जीवधारियो के हितार्थ कर्मों के मध्य सामजस्य। सत्य सब का हितकारक है। सत्यपरायणता, मानवता के कल्याण की विरोधी नही हो सकती। मानवता के हित का विरोधी पूर्ण-सत्य कोरा-असत्य है। पाखड, चाटुकारिता, विश्वासघात तथा समाज के लिये हानिकारक सत्य-शब्द असत्य ही हैं। अस्तेय का अर्थ है अलोभ तथा दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण न करना। यह लोभ के अभाव की स्थिति है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है विविध प्रकार से यौनिक-क्रियाओं में सलग्न न होना। नारी का दर्शन चर्चा और क्रीडा, मैथुन की इच्छा, मैथुन का स्मरण, उसमे सलग्न होने का निश्चय तथा प्रत्यक्ष मैथुन ये आठ प्रकार के मैथुन हैं। इन सबको समाप्त कर देना चाहिये। अपरिग्रह का अर्थ है भेट न लेना अर्थात् केवल जीवन-धारण मात्र के लिये आवश्यक वस्तुओ के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति को स्वीकार न करना। इन यमो का पालन अनिवार्य रूप से होना चाहिए। ये समय, स्थान, जाति तथा उद्देश्य की सीमाओ में नही बधते। (योग सूत्र, २—३०, ३१)

शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान ये पाच नियम हैं। शौच वाह्य और अभ्यन्तर शुद्धि का नाम है। शरीर स्नान व स्वच्छताकारक पदार्थों के प्रयोग द्वारा शुद्ध किया जाता है। मन आसक्ति,घृणा, अहकार, विश्वासघात, डाह तथा अन्य निम्न-प्रवृत्तियों के नाश से तथा सदिच्छा, करुणा एव प्रसन्नता द्वारा शुद्ध किया जाता है। जीवन-धारण के लिए अत्यन्त आवश्यक एव बिना श्रम किये प्राप्त वस्तुओ के अतिरिक्त किसी वस्तु की इच्छा का न होना सन्तोष है। तप का अर्थ है उष्ण, शीत, भूख, प्यास एव अन्य कष्टो का सहन करना। स्वाध्याय का अर्थ है शास्त्रो का अध्ययन अथवा प्रणव (ॐ) का जप तथा ईश्वर का चिन्तन। ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है समस्त कर्मो को प्रभु के अर्पण कर देना। नियम दिक्-काल आदि अन्य परिस्थितियो से मर्यादित सकारात्मक गुण हैं। ये सार्वभौम महाव्रत नही हैं। (योग

† नीति-शास्त्र, पृष्ठ ३३१।

सूत्र, २ : ३२)। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, तथा समाधि भी योग-व्यवस्था के अग हैं। (जे० एन० सिन्हा—भारतीय दर्शन का इतिहास खण्ड २, पृष्ठ १५०—५६)।

एक प्रसिद्ध नैय्यायिक ने शारीरिक कर्मों से सम्बन्धित निम्न गुणो का उल्लेख किया है—(१) दान (२) परित्राण (३) परिचारण ' ये सामाजिक गुण हैं। उन्होने निम्न वाचा-गुणो का वर्णन किया है— (१) सत्य, (२) प्रियवचन, (३) हितवचन, (४) स्वाध्याय। ये गुण वैयक्तिक और सामाजिक दोनो हैं। मानसिक क्रियाओ के विषय में उन्होंने निम्न गुणों का उल्लेख किया है—(१) अस्पृहा, (२) अनुकम्पा, (३) परलोक-श्रद्धा।

जयन्त भट्ट ने निम्न शारीरिक-पापो का वर्णन भी किया है—(१) हिंसा, (२) स्तेय, (३) प्रतिपिद्धाचरण। वाचा-दोष ये हैं—(१) अनृत, (२) पुरुष वचन, (३) सूचना, (४) असवद्ध वचन। मानसिक-दोष ये हैं—(१) परद्रोह, (२) परप्रव्याभिलाष, (३) नास्तिक्यानुधान। (न्यायमजरी, पृष्ठ ४९९, जे० एन० सिन्हा—इन्ट्रोडक्शन टू इन्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ ९०—९१)।

अध्याय २०

अन्तःकरण : नैतिक शक्ति

१ अन्तःकरण अथवा नैतिक शक्ति।

नैतिक शक्ति आत्मा की वह योग्यता है जिसके द्वारा आत्मा किसी कर्म के नैतिक गुण को ग्रहण करता है अथवा सत् और असत् का विवेक प्राप्त करता है। इसको प्राय अन्त करण कहते हैं। अन्त करण और नैतिक शक्ति में कोई भेद नहीं है।

सुखवादी नीतिशास्त्री एक विशिष्ट शक्ति के रूप में अन्त करण का निपेध करते हैं। स्वार्थ-मूलक सुखवादी इसका आत्म-प्रेम और दूरदर्शी स्वार्थ से एकीकरण करते हैं। उपयोगितावादी इसका व्यक्ति के जीवन-काल में अर्जित सहानुभूति से एकीकरण करते हैं। विकासात्मक सुखवादियो के मत से यह सामाजिक-प्रवृत्ति अथवा वश-क्रमागत सहानुभूति है। सहजज्ञानवादी इसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष अथवा बुद्धि की सजातीय एक सहजात विशिष्ट शक्ति मानते हैं। कुछ सहजज्ञानवादी इसे नैतिक इन्द्रिय मानते हैं, कुछ इसे रसेन्द्रिय मानते हैं, अन्य इसे नैतिक बुद्धि मानते हैं जो सामान्य नैतिक

नियमो को अपरोक्ष रूप से ग्रहण करती है और विशेष कर्मों में उनका उपनय करती है। कांट (बुद्धिपरतावादी) इसे व्यावहारिक अथवा नैतिक बुद्धि मानता है जिसे नैतिक नियम अथवा निरपेक्ष आदेश की सहजस्फूर्ति होती है। पूर्णतावादियों का मत है कि अन्त करण वह बुद्धि है जो नैतिक आदर्श का हमे सहजज्ञान दती है और पश्चात् विशेष कर्मों में उसका उपनय करती है। वे अन्त करण का अपने अशो के लिये विधान-निर्माण करने वाले समग्र आत्मा से एकीकरण करते हैं। अन्त करण अथवा नैतिक शक्ति पौलिक, सहज-ज्ञानात्मक और सर्वव्यापक है, यह नैतिक उद्देश्य और नैतिक नियमों का अनुसन्धान करने वाला समग्र आत्मा है।

२. अन्त करण-विषयक सुखवादी मत।

सुखवादी एक विशेष शक्ति के रूप में अन्त करण की सत्ता का निषेध करते हैं। आत्म-सुखवादी प्रत्येक व्यक्ति के अपने ही सुख को परम नि श्रेयस मानते हैं। वे अन्त करण का आत्मप्रेम और दूरदर्शिता से एकीकरण करते हैं। आत्म-प्रेम प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही सुख के अनुधावन के लिये बाध्य करता है। दूरदर्शिता उसे, जो उसके अपने अधिकतम सुख का साधक है, उसकी परिगणना करने के लिये प्रेरित करती है। इस प्रकार स्वार्थ-सुखवादी अन्त करण को साधारण बुद्धि, कल्पना और अनुमान मात्र कल्पित करते हैं। उपयोगितावादी (यथा, जेम्स मिल) सामान्य सुख को परम मगल मानते हैं। वे अन्त करण का बुद्धि, कल्पना और अनुमान से प्रबुद्ध सहानुभूति से एकीकरण करते हैं। सहानुभूति व्यक्ति के द्वारा अपने ही जीवन-काल में साहचर्य और रुचि-स्थानान्तरण के नियम के कारण अर्जित होती है। मिल कहता है—'कर्तव्य का आन्तरिक आदेश हमारे मन की एक अनुभूति है, एक कुछ कुछ तीव्र वेदना है जिसका उदय कर्तव्य के व्याघात से होता है। यही अनुभूति जब स्वार्थ-हीन हो जाती है और कर्तव्य के विशुद्ध विचार के साथ सलग्न होती है, उसके किसी विशेष रूप के साथ नही, तो वह अन्त क ण का तात्विक रूप होता है।" इस प्रकार अन्त.करण का वेदनात्मक स्वरूप है। बेन कहता है, 'अन्त करण हमारी बहिस्थ सरकार की हमारी अन्तरस्थ अनुकृति है।" इस प्रकार अन्त करण राजनैतिक नियम के प्रति सम्मान का भाव है, जो व्यक्ति के ऊपर अधिकतम-सख्यक के अधिकतम सुख का आरोप करता है। बेन्थम अन्त करण को एक 'काल्पनिक-सत्ता' मानता है। विकासात्मक सुखवादी अन्त.करण को एक सामाजिक प्रवृत्ति अथवा पूर्वपुरुषों से वशक्रम से प्राप्त सहानुभूति के रूप में देखते हैं। यह व्यक्ति में सहजात है, किन्तु जाति के द्वारा अर्जित है। अन्त करण व्यक्ति के अन्दर जनता की वाणी की प्रतिध्वनि है। लेस्ली स्टीफेन कहता है, "अन्त करण जाति के सार्वजनिक आत्मा की वाणी है जो हमें कल्याण की प्रारम्भिक शर्तों को पूरा करने का आदेश देती है।"

अन्त करण का दूरदर्शिता से एकीकरण असम्भव है। स्वार्थसुखवाद नैतिक जीवन का अकेले ही अधिकतम सुख के अनुसरण से एकीकरण करता है, जो नैतिकता का नितान्त निषेध है। अन्त करण का सहजात अथवा अर्जित सहानुभूति से एकीकरण नहीं हो सकता। सहानुभूति एक आत्मगत और परिवर्तनशील सवेग है। यह नैतिक चेतना के विलक्षण धर्मों का यथा, नैतिक बाध्यता, पुण्य, पाप, उत्तरदायित्व, पुरस्कार और दण्ड का स्पष्टीकरण नही कर सकती।

३ नैतिक इन्द्रिय के रूप मे अन्त करण।

कुछ सहजज्ञानवादी अन्त करण को सवेदनशीलता का सजातीय मानते हैं, अन्त करण आभ्यन्तर नैतिक इन्द्रिय है। अन्त करण कर्मों के सदसत्-भाव को कर्म के द्वारा उसमें उत्पन्न अनुमोदन अथवा अननुमोदन के भाव के द्वारा अपरोक्ष रूप से जान लेता है। उसे विशेष कर्मों के सत अथवा असत् होने की स्वत स्फूर्ति हो जाती है। अन्त करण का ज्ञान निर्भ्रान्त होता है।

मार्टिन्यू की धारणा है कि अन्त करण नैतिक इन्द्रिय के तुल्य है जो एक साथ प्रादुर्भूत विरोधी-वेगो के आपेक्षिक नैतिक मूल्य को अपरोक्षत ग्रहण करता है।

इस परिकल्पना से नैतिक निर्णयो की विविधता और नैतिक प्रगति का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। मनुष्यो के नैतिक मूल्याकन विभिन्न होते हैं। एक जिसे सत् कहता है दूसरा उसी को असत् कहता है। जिसे एक देश अथवा युग में सत् कहा जाता है उसी को दूसरे में असत् कहा जाता है। इस परिकल्पना से नैतिक निर्णयो में दोप-दर्शन का भी स्पष्टीकरण नही हो सकता। यह नैतिक भावनाओ पर नैतिक निर्णयो को आश्रित करती है। किन्तु, वास्तव में नैतिक भावनायें नैतिक निर्णयो पर आश्रित हैं। अन्त करण को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के तुल्य नही माना जा सकता। मार्टिन्यू की परिकल्पना की सहजज्ञानवाद के साथ परीक्षा हो चुकी है।

४ रसेन्द्रिय के रूप मे अन्त करण।

कुछ सहजज्ञानवादियो (यथा, शेफट्सबरी, हचीसन प्रभृति) के अनुसार अन्त करण रसेन्द्रिय है जो अपरोक्ष रूप से कर्मों के सौन्दर्य अथवा असौन्दर्य को ग्रहण करता है। सत्भाव सुन्दरता है। असत्भाव कुरूपता है। अत अन्त करण रसेन्द्रिय है। यह निर्भ्रान्त है।

यह परिकल्पना नीति के व्यवार्तक धर्म की अवहेलना करती है। नैतिक गुण विलक्षण और अपूर्व होता है। उसको सौन्दर्य गुण में नही घटाया जा सकता। सौन्दर्य की आत्मगत और परिवर्तनशील अनुभूति से नीति के वस्तुगत और समरूप मानण्ड का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। यह भी नैतिक बाध्यता, पुण्य, पाप, पश्चात्ताप, उत्तरदायित्व प्रभृति का स्पष्टीकरण नही कर सकती। नैतिक निर्णयो के विविधत्व का स्पष्टीकरण इससे नही हो सकता।

५ अन्त.करण के विषय में तर्कवादी-मत।

बुद्धिमूलक सहजज्ञानवादी (यथा, कडवर्थ, क्लार्क प्रभृति) मानते हैं कि अन्त करण एक बौद्धिक शक्ति है जिसे सामान्य, शाश्वत और अपरिवर्तनीय नैतिक नियमो की सहज स्फूर्ति होती है। यह कदापि इन नियमो को ग्रहण करने में असफल नही होती। यहा तक अन्त करण निर्भ्रान्त है। किन्तु तर्क विशेष कर्मों में उनका सम्यक् उपनय करने में असफल हो जाता है। नैतिक निर्णयो की प्रकृति आनुमानिक है। नैतिक निर्णयो में जो अशुद्धिया होती हैं उनका कारण नैतिक नियमो के अशुद्ध ज्ञान से अधिक विशेष कर्मों में उनका अशुद्ध उपनय है। यहा तक अन्त करण को शिक्षित किया जा सकता है। इसे नैतिक नियमो का विशेष कर्मों के सम्यक् उपनय-पूर्वक भ्रान्तियो को दूर करने की शिक्षा दी जा सकती है। यह अन्त करण के विषय में अधिक सन्तोष-जनक परिकल्पना है।

६ अन्त करण के विषय मे बटलर का मत।

बटलर आत्म-प्रेम, परोपकार और अन्त करण को मानव-स्वभाव में परस्पर सगठित तीन तत्व मानता है। वे बौद्धिक सिद्धान्त है। अन्त करण, आत्म-प्रेम और परोपकार से उच्च-कोटि का है। यह सत् के नियम के ऊपर विचार करने का सिद्धान्त है। मानव-स्वभाव में अन्य तत्वों पर शासन करने का इसका अधिकार है। मनुष्य की प्रकृति में यह सर्वोच्च और प्रभुता-सम्पन्न है। "जैसे इसका अधिकार है वैसा ही इसमें बल भी होता, जैसा इसका प्रभुत्व है वैसी ही इसकी शक्ति भी होती तो यह विश्व का पूर्ण शासनकर्त्ता होता।"❀ आत्म-प्रेम स्वार्थमूलक वासनाओ का नियम करता है। परोपकार परार्थमूलक वासनाओ का नियमन करता है। वे बौद्धिक तत्व हैं। आत्म-प्रेम और परोपकार का नियमन अत करण के द्वारा होता है। यह मानव-प्रवृत्ति में सर्वोच्च बौद्धिक तत्व है।

७ अन्त करण मानव-प्रकृति में स्थित सामान्य तत्व।

अन्त करण मानव-स्वभाव में स्थित सामान्य तत्व है, यह किसी व्यक्ति-विशेष का अन्त.करण नही है जो उसके मानदण्ड की किसी अपूर्णता से दूषित हो सकता है। अन्त करण प्रत्येक व्यक्ति में स्थित सामान्य अन्त करण है। "जब नीति में अन्त करण को मूलभूत सिद्धान्त कहा जाता है, तो उसे हमें इस या उस व्यक्ति का अन्त करण नही समझना चाहिए। किसी व्यक्ति का अन्त.करण सत् के उसके व्यक्तिगत मानदण्ड से उसके कर्म की सगति या असगति मात्र की चेतना है, और यदि यह मानदण्ड दोष-युक्त है तो अन्त करण में भी वही दोष आ जायगा। रस्किन

❀ बटलर।

के शब्दों में उसका अन्त करण 'गधे का अन्त करण' हो सकता है" *

८. कान्ट : अन्त करण नैतिक वुद्धि अथवा व्यावहारिक वुद्धि है।

कान्ट अन्त करण को नैतिक वुद्धि अथवा व्यावहारिक वुद्धि मानता है। यह शुद्ध-वृद्धि अथवा सैद्धान्तिक वुद्धि अथवा ज्ञान कराने वाली वुद्धि से भिन्न सकल्पात्मक और क्रियात्मक-वुद्धि है। यह चरम बौद्धिक शक्ति है, जो समग्र मनुष्य-जाति में सामान्य नैतिक सिद्धान्तों की पहिचान करती है। यह सब मनुष्यो में गूढ है, यद्यपि कुछ मनुष्यो में यह दूसरो की अपेक्षा अधिक विकसित हो सकती है। कान्ट अन्ता-करण को नैतिक वुद्धि मानता है जो नैतिक नियम अर्थात् निरपेक्ष विधि को सहज-रूप में ग्रहण करती है। नैतिक नियम हमें यह ज्ञान नही करा सकता कि हमारे कर्मों की वस्तु अथवा विषय क्या होना चाहिये, यह हमें आकार मात्र का ज्ञान दे सकता है। नैतिक नियम से नीति के तीन सामान्य-सूत्र अनुमित किये जा सकते हैं।

९. अन्त करण के विषय में पूर्णतावादियों का मत।

पूर्णतावादियों की धारणा है कि आत्म-लाभ परम नि श्रेयस है, और नैतिक आदर्श का तथा उससे नि सृत होने वाले मौलिक नैतिक सिद्धान्तो का हमें सहज ज्ञान कराने वाली वुद्धि है। वृद्धि इन नैतिक सिद्धान्तो को विशेप कर्मों में लागू करती है और इस प्रकार उसके नैतिक मूल्य को निर्धारित करती है। वुद्धि नैतिक प्राणी की हैसियत से कार्य करने वाले आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह आत्मा की एक विशेप शक्ति नही है। "अन्त करण अपने अंशों के लिए विधान निर्माण करने का अधिकार रखने वाला समग्र अथवा सच्चा आत्मा है।" "अन्त करण अपने ही कर्मो का निर्णय करने वाला समग्र आत्मा है।"† यह एक विशेप शक्ति, नैतिक विवेक की एक अनिर्वचनीय शक्ति नहीं है। यह अन्त करण-विषयक शुद्ध मत मालूम पडता है।

१० अन्त करण की शिक्षणक्षमता।

कुछ सहजज्ञानवादियो का विचार है कि अन्त करण निर्भ्रान्त है। यह विशेप-विशेप कर्मो की अच्छाई या वुराई को सहज और निर्भ्रान्त रूप से ग्रहण करता है। यह मत नैतिक निर्णयो की विविधता, नैतिक निर्णयो में दोष-दर्शन इत्यादि का स्पष्टीकरण नही कर सकता। अन्य सहजज्ञानवादियो की धारणा है कि अन्त करण निर्भ्रान्त वही तक है जहा तक कि उसे नैतिक नियमो का सहजज्ञान होता है। किन्तु वुद्धि विशेप कर्मो में उनका सम्यक् उपनय करने में असफल हो सकती है और अशुद्धि कर सकती है। अन्त करण को शिक्षित नही किया जा सकता, किन्तु वुद्धि को विशेप

---

* मैकेंजी।

† म्यूरहेड।

कर्मो में नैतिक नियमो का ठीक से प्रयोग करने की शिक्षा दी जा सकती है। कुछ अन्य सहजज्ञानवादियो का विचार है कि आरम्भ में अन्त करण पूर्णतया विकसित नही होता, उसे विकसित और शिक्षित किया जा सकता है। प्रौढ व्यक्ति का अन्त.करण एक शिशु के अन्त करण की अपेक्षा अधिक विकसित होता है।

कान्ट अन्त करण की भ्रान्ति-हीनता में विश्वास करता है। वह कहता है कि अशुद्धि करने वाला अन्त करण एक कल्पना मात्र है ॐ। काल्डरउड कहता है कि अन्त.करण वह शक्ति है जो निसर्गतया शिक्षित नही की जा सकती। अन्त करण को स्वय-सिद्ध नैतिक नियमो का प्रत्यक्ष ज्ञान करने की शिक्षा नही दी जा सकती। तथापि काल्डरउड का विश्वास है कि व्यवहार में दूसरी शक्तियो को अन्त करण के आधिपत्य में रखने की तथा नैतिक नियमो को विशेष अवस्थाओ में प्रयुक्त करने की नैतिक शिक्षा के लिए स्थान है। अन्त करण प्रत्येक मनुष्य में गुप्त नैतिक बुद्धि है। किन्तु शिक्षा-दीक्षा के द्वारा उसका विकास हो सकता है। मानवीय आत्मा एक प्रगतिशील वस्तु है, और जैसे-जैसे इसका विकास होता है, यह नैतिक आदर्श और नियमो को क्रमश अधिकाधिक जानने की शक्ति अर्जित करता है।

११ अन्त करण का समाज से सम्बन्ध।

अन्त'करण को नैतिक आदर्श तथा उससे निकलने वाले नियमो की स्वाभाविक पहिचान होती है। नैतिक आदर्श सर्वोच्च व्यक्तिगत शुभ है। यह सर्वोच्च सामाजिक शुभ भी है। नैतिक नियम व्यक्ति और समाज के हित-साधक हैं। व्यक्ति को अपने अन्त'करण से ज्ञात नैतिक नियम, जिस सामाजिक क्षेत्र में वह वास करता है उससे निर्धारित होते हैं। वह अपने सामाजिक वातावरण से प्राप्त नैतिक नियमो के द्वारा पुष्ट होता है। उसका अन्त करण अधिकाशत: समाज के द्वारा निर्धारित होता है। अन्त करण की वाणी व्यक्ति के अन्दर जनमत की प्रतिध्वनि है। नीति का आन्तरिक-तत्व अथवा अन्त करण मानव-सम्बन्धों और सामाजिक सस्थाओ के बाह्य वातावरण का आपेक्षिक है। सामाजिक वातावरण से विविक्त अन्त करण सभी प्रकार की तरगो में बह सकता है। उसके नैतिक नियमों की सदैव वास्तविक सामाजिक आवश्यकताओ से तुलना होनी चाहिए।

"किन्तु, यद्यपि सामाजिक वातावरण व्यक्ति के अन्त करण को अपने ही आदर्श का अर्थ करने मे वहुमूल्य सहायता प्रदान करता है, तथापि अन्त करण सदैव वातावरण पर प्रतिक्रियाशील होता है।" † अन्त करण किसी व्यक्ति के समाज में स्थान और

ॐ "An erring conscience is a chimera."

† म्यूरहेड।

कार्य के उपयुक्त कर्तव्य और धर्मों को निश्चित करता है और वह और अधिक आगे बढकर उसके स्थान से परे एक उत्कृष्टतर आदर्श का ज्ञान कराता है, जिसके कारण वह सामाजिक वातावरण को परवर्तित और विकसित करने वाली नई परिस्थितियो के उपयुक्त नवीन कर्तव्यो का बोध प्राप्त करता है। इस प्रकार समाज अन्त करण पर क्रिया करता है और अन्त करण पुन समाज पर प्रतिक्रिया करता है। समाज अन्तः-करण और उसके नैतिक नियमो में प्रतिविम्बित होता है, तथा अधिक गहरी नैतिक अन्तर्दृष्टि से युक्त अन्त करण एक अधिक अच्छी सामाजिक व्यवस्था में प्रतिविम्बित होता है।

अध्याय २१
नैतिक प्रभु-शक्ति

१. नैतिक बाध्यता।

जब हम किसी कर्म को सत् स्वीकार करते हैं तो हमें उसे करने के लिए नैतिक बाध्यता की अनुभूति होती है, और जब हम किसी कर्म को असत् स्वीकार करते हैं तो उसे न करने की नैतिक बाध्यता की अनुभूति होती है। जब हम किसी नैतिक आदर्श को जानते हैं तो उसका पालन करने के लिए अथवा उसके अनुसार कार्य करने के लिए हमे बाध्यता की अनुभूति होती है। नैतिक बाध्यता नैतिक निर्णयो की सहचारिणी है। नैतिक निर्णयो की प्रकृति बाध्यतामूलक है। नैतिक बाध्यता का स्वभाव भौतिक बल-प्रयोग का नही है। इसका स्वभाव "करना चाहिए" का है, "करना होगा" का नही। नैतिकता के लिये आत्मा आत्मा को बाध्य करता है, कोई आत्मा के अतिरिक्त बाह्य वस्तु आत्मा को बाध्य नही करती। चुनाव की स्वतन्त्रता नैतिकता का तत्व है। अत कोई बाह्य प्रभु-शक्ति नैतिक बाध्यता का उद्गम नहीं हो सकती। स्वय आत्मा ही वह उद्गम है। आदर्श तथा बुद्धिमय आत्मा वास्तविक अथवा इन्द्रियमय-आत्मा को नैतिक रूप से बाध्य करता है। लेकिन यह प्रश्न विवादास्पद है।

२ वैधानिक परिकल्पनायें।

यदि ईश्वरीय नियम नैतिक नियम माना जाता है तो ईश्वर नैतिक बाध्यता का उद्गम है। यदि राजनैतिक नियम नैतिक नियम माने जाते हैं तो राज्य नैतिक बाध्यता का उद्गम है। यदि सामाजिक नियमो को नैतिक नियम माना जाता है तो समाज नैतिक बाध्यता का उद्गम माना जाता है। पुरस्कार की आशा और दण्ड का भय नैतिक बाध्यता के तत्व हैं, जो 'करना होगा' के स्वभाव की है। नैतिक

बाध्यता बल-प्रयोग-मूलक है। उच्च शक्तियो से युक्त एक बाह्य प्रभुत्व-सम्पन्न वस्तु नैतिक बाध्यता का उदगम है।

यह मत अमान्य है। नैतिक बाध्यता का स्वभाव 'करना चाहिए' का है उच्च शक्तियो से युक्त एक अधिकार-सम्पन्न बाह्य सत्ता 'करना होगा' की सृष्टि कर सकती है, 'करना चाहिए' की कदापि नहीं। अत वैधानिक परिकल्पायें नैतिक बाध्यता की अनुभूति का स्पष्टीकरण नही कर सकती। (अध्याय ६)

३. सुखवादी परिकल्पनायें।

स्वार्थ-सुखवाद नैतिक बाध्यता का उद्गम आत्म-प्रेम को मानता है, जो व्यक्ति को अपने ही अधिकतम सुख के लाभ के लिये प्रेरित करता है। यह परिकल्पना नैतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण करने में नितान्त असमर्थ है। स्वार्थ की भावना से कभी भी नैतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण नही हो सकता, जो परार्थ-मूलक व्यवहार और आत्म-बलिदान की माँग करती है। आत्म-प्रेम एक भावना है। यह आन्तरिक और परिवर्तनशील है। अत' यह नैतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण नही कर सकती।

परार्थ-सुखवाद नैतिक बाध्यता का कारण बाह्य आदेशो को मानता है। बेन्थम चार ऐसे आदेश मानता है—भौतिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक। पुरस्कार की आशा और दण्ड का भय परार्थ-मूलक कर्मो के प्रवर्तक हैं। प्रकृति, राज्य समाज, और ईश्वर का भय परोपकार-मूलक कर्मों के शक्तिशाली प्रवर्तक हैं। वे नैतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण करते हैं। यह भी भ्रान्त मत है। बाह्य आदेश 'करना होगा' की सृष्टि कर सकते हैं, 'करना चाहिये' की कदापि नही।

मिल नैतिक बाध्यता का कारण बाह्य आदेशों और अन्त करण के आन्तरिक आदेशो अर्थात् नैतिक भावनाओं की सुखप्रदता और दु खप्रदता को मानता है। "सम्पूर्ण नैतिकता का अन्तिम कारण तथा बाध्यता का आधार कर्तव्य के विघात से उत्पन्न प्राय तीव्र वेदना है।" यह अन्त करण का आन्तरिक आदेश है। कभी कभी मिल अन्त करण का सहानुभूति से एकीकरण करता है। कुछ सहानुभूति से शून्य व्यक्तियों में बाह्य आदेश उन्हें अनैतिक कर्मों से निवृत्त करने के लिए आवश्यक हैं।

यह मत भी भ्रान्तिपूर्ण है। बाह्य आदेश 'करना होगा' अथवा भौतिक बल-प्रयोग के कारण हो सकते हैं। आन्तरिक आदेश अनुभूति मात्र हैं और 'करना चाहिए' अथवा नैतिक बाध्यता की सृष्टि नही कर सकता।

विकासात्मक सुखवाद भी नैतिक बाध्यता का कारण बाह्य नियन्त्रण अथवा आदेशों को बतलाता है जो नैतिक चेतना में बाध्यता की अनुभूति का प्रादुर्भाव करते हैं। "क्योकि मनुष्य ने अपने कर्तव्यो को राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक अधिकारियो के आदेशो से सीखा है, इसलिये यह सोचा जाता है कि दण्ड-भय ही बाध्यता

का वास्तविक अर्थ है।" हर्बर्ट स्पेन्सर की धारणा है कि नैतिक वाध्यता की बुद्धि अल्पस्थायी और व्यक्तियों के समाज से कुसयोजन के कारण है। नैतिक वाध्यता व्यक्तियों के समाज से पूर्ण समायोजन हो जाने के पश्चात् नहीं रहेगी।

यह मत असत्य है। बाह्य नियन्त्रण 'करना होगा' की सृष्टि कर सकते हैं। नैतिक वाध्यता 'करना चाहिए' के स्वभाव की है जिसका कभी अभाव नहीं हो सकता। मनुष्य सदैव एक नैतिक प्राणी रहेगा। नैतिक जीवन का कभी प्राकृतिक-जीवन में विलय नही हो सकता। (अध्याय ७–८)

४. सहजज्ञानवादी मत।

सहजज्ञानवादियों की धारणा है कि अन्त करण नैतिक वाध्यता का स्थान है। उसका अधिकार वाह्य शक्तियों से स्वतन्त्र है। कुछ अन्त करण का नैतिक वुद्धि से एकीकरण करते हैं। वटलर के मतानुसार मानव-प्रकृति में अन्त करण सर्वोच्च अधिकारसम्पन्न तत्व है। नैतिक वाध्यता का कारण अन्त करण अथवा विवेक है। सत् तथा नैतिक वाध्यता में विश्लेषणात्मक सम्बन्ध है। जो कुछ भी सत् है निसर्गत. वाध्यतामूलक है। किसी कर्म की वाध्यता की उत्पत्ति उसके स्वकीय सत्‌भाव मे होती है। किसी कर्म के सत् होने के ज्ञान-मात्र से हमे विश्वास हो जाता है कि उसे करने के लिए हम वाध्य हैं। अध्याय (१०)

किन्तु मार्टिन्यू के अनुसार सत् और वाध्यता में सयोगात्मक सम्व ध है। ईश्वर नैतिक वाध्यता का प्रणेता है। सत् और असत् कर्म के स्वाभाविक गुण है। किन्तु तथापि ईश्वर सत् को करने की वाध्यता का कारण है। ईश्वर नैतिक वाध्यता का उद्‌गम है। नैतिक वाध्यता वैधानिक वाध्यता के समान दो पुरुषो का सम्वन्व है, यहा मनुष्य सम्वन्ध का एक पद है और ईश्वर अथवा निसीम पुरुष दूसरा पद। यद्यपि मार्टिन्यू एक सहजज्ञानवादी है, तथापि उसका यह मत है। यह मत असत्य है। नैतिक वाध्यता आत्म-प्रेरित है। नैतिक अधिकारी आदर्श-अह है, जो मनुष्य में ईश्वर का प्रतिविम्व है; आदर्श आत्म रूप में जीव में व्याप्त ईश्वर नैतिक वाध्यता का उद्‌गम-स्थान है।

५ कान्ट का मत।

कान्ट की धारणा है कि नैतिकता नैतिक नियम के स्वतन्त्रतापूर्वक पालन करने में निहित है। नैतिक नियम का स्वभाव ही प्रभुत्वसपन्नता है। यह निरपेक्ष आदेश है। व्यावहारिक वुद्धि अपने को ही नियमवद्ध करती है। यह आत्म-वन्धन है, सकल्प की स्वतन्त्रता जो कि नैतिक नियम की एकमात्र जननी है हमें सत् का पालन और असत् की निवृत्ति करने का आदेश देती है। व्यावहारिक वुद्धि नैतिक वाध्यता का सच्चा कारण है।

किन्तु व्यावहारिक बुद्धि आत्मा में अवस्थित एक विलक्षण और अनिर्वचनीय शक्ति है। व्यावहारिक बुद्धि का नियम समग्र आत्मा का नियम नहीं है। अत सत्य के निकटस्थ होते हुए भी कान्ट की परिकल्पना नितान्त सन्तोषजनक नही है। (अध्याय ११)

६. पूर्णतावादियों का मत।

पूर्णतावादियो के अनुसार नैतिक बाध्यता आत्म-बन्धन है, किसी व्यक्ति का आदर्श अह उसके वास्तविक अह को नैतिक बनने के लिये बाध्य करता है। आत्मा ही नैतिक बाध्यता का उदगम है। नैतिक बाध्यता में बल-प्रयोग का कोई तत्व नही है। बाह्य अथवा अन्तरस्थ आदेश इसका कारण नही हो सकता। आत्मा अपना स्वरूप-दर्शन करने के हेतु नैतिक बाध्यता की माँग करता है। ग्रीन कहता है, 'नैतिक कर्तव्य का तत्व ही मनुष्य के द्वारा अपने ही ऊपर लागू किया जाना है। किसी विधिमूलक नियम का पालन करने का नैतिक कर्तव्य, चाहे नियम राज्योक्त हो चाहे धर्मोक्त, उसके प्रणेता अथवा प्रचलित करने वाले के द्वारा आरोपित नही किया जाता, बल्कि उस मानव-आत्मा के द्वारा जो मनुष्य के सम्मुख एक पूर्ण-जीवन का आदर्श रखता है और उस विधिमूलक नियम के पालन को उसकी सिद्धि के लिये अनिवार्य घोषित करता है।"* नैतिक बाध्यता का अन्तिम सस्थान आदर्श आत्मा है जो मनुष्य के अन्दर ब्रह्म का प्रतिरूप है और जो समाज के साथ आदान-प्रदान के द्वारा पूर्ण जीवन की सिद्धि करता है। नैतिक नियम का आरोप आदर्श आत्मा वास्तविक आत्मा के ऊपर करता है। यह अन्त. करण से भी प्रभुत्वसम्पन्न है, क्योकि यह शाश्वत पूर्णता का परिच्छिन्न आत्मा के लिये निर्णय है अपरिच्छिन्न आत्मा का उसके ऊपर आरोपण है। परिच्छिन्न आत्मा निरपेक्ष आत्मा का सीमित प्रतिरूप है। आदर्श जीवन—जीव में व्याप्त ब्रह्म—नैतिक बाध्यता का उद्गम है, वह वास्तविक आत्मा के ऊपर नैतिक बाध्यता का आरोप करता है। "आन्तरिक आज्ञा निरपेक्ष है, 'निरपेक्ष विधि' है। इसका कठोर 'आदेश' वास्तविक मानव के लिए आदर्श की वाणी है, और आदर्श वास्तविक से कोई समझौता नही करता।" † "जब हमें यह ज्ञान हो जाता है कि नैतिक नियम अपना ही नियम है, तो, जब हम उसे एक बाह्य शक्ति समझते हैं उसकी अपेक्षा बाध्यता का प्रभाव हमारे ऊपर अधिक हो जाता है।" कर्तव्य का आदेश हमारे ऊपर आरोपित बाह्य आदेश नहीं है। यह हमारे अन्दर सच्चे आत्मा की आवाज है।"‡ (अध्याय २३)

---

* नीति-शास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ५४।

† मेथ।

‡ मैकॅंजी।

अध्याय २२

नैतिक आदेश

१. नैतिक आदेश।

आदेश वह वस्तु है जो किसी कार्य को करने के लिये, उसके पालन करने के लिये पुरस्कार का और न करने के लिये दण्ड का विधान करके हमें वाध्य करता है। नैतिक आदेश का संकेत उस प्रभु की ओर है जो किसी कर्तव्य का आरोप करता है और उसके पालन को पुरस्कार से तथा उसके उल्लघन को दण्ड से सयुक्त करता है। सामान्यतया नैतिक आदेशो को कर्तव्य-पालन के प्रवर्तक और कर्तव्य-विघात के निवर्तक माना जाता है। उनमे नैतिक नियम के पालन के प्रवर्तक सुखों और उसके पालन न करने के निवर्तक वेदनाओ का समावेश होता है।

२. वाह्य आदेश।

परार्थ-सुखवादी अथवा उपयोगितावादी परार्थमूलक व्यवहार का स्पष्टीकरण नैतिक आदेशो की सहायता से करते हैं। बेंथम कहता है, "आदेश वाध्यतामूलक शक्तियों का अथवा प्रवर्तनाओ का उद्गम है · अर्थात् दुःख और सुखों का उद्गम है जो प्रवर्तक बनने के योग्य एकमात्र वस्तुयें हैं।" वह चार वाह्य आदेशो को स्वीकार करता है जो परार्थमूलक व्यवहार के प्रवर्तक हैं।

(१) भौतिक अथवा प्राकृतिक आदेश वे शारीरिक वेदनायें हैं जो प्राकृतिक-नियमो की अवहेलना से होती है। खाने-पीने के सुखो में अधिक आसक्ति से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। प्रकृति के नियमो के उल्लघन के परिणाम-स्वरूप शारीरिक कष्ट आधिभौतिक आदेश कहलाते है। प्रकृति असयम के लिये रोग से दडित करती है।

(२) राजनैतिक नियमो के उल्लघन के लिये राज्य के द्वारा दिये जाने वाले कष्ट और दण्ड तथा सामाजिक-हित के लिये राज्य के द्वारा दिये जाने वाले पुरस्कार और सम्मान राजनैतिक आदेश हैं। चोरी, आक्रमण, हत्या इत्यादि के लिये राज्य अर्थदड, कारावास, कालापानी अथवा मृत्यु-दड देता है।

(३) सार्वजनिक अथवा सामाजिक आदेश का अर्थ नैतिक अथवा अनैतिक व्यवहार के लिये समाज के सदस्यो से मिलने वाले सुखप्रद अथवा दुःखप्रद अनुभव हैं। सत् व्यवहार का पुरस्कार सामाजिक प्रशंसा और सम्मान है। असत् व्यवहार का दड सामाजिक अपमान, वायकाट और वहिष्कार है।

(४) धार्मिक-आदेश नीति-सम्मत अथवा अनीति-सम्मत व्यवहार के लिये ईश्वर से मिलने वाले सुखप्रद अथवा दुखप्रद अनुभव हैं। यह विश्वास किया जाता है कि ईश्वर सत् व्यवहार के लिये स्वर्ग में सुख का पारितोषिक देता है और असत

व्यवहार के लिये नरक मे दुःख का दंड देता है। इस प्रकार भावी जीवन में पुरस्कार की आशा और दंड का भय धार्मिक-आदेश है।

बेंथम इन चार बाह्य आदेशो को नैतिक आदेश मानता है। वे नीति-सम्मत व्यवहार के प्रवर्तक और अनीति-सम्मत व्यवहार के निवर्तक हैं। सब बाह्य आदेश, एक बडी सीमा तक भौतिक हैं। बेंथम कहता है, "इन चार आदेशो में से भौतिक आदेश, राजनैतिक और सामाजिक आदेशो का आधार है, जहाँ तक धार्मिक आदेश का वर्तमान जीवन से सम्बन्ध है वहाँ तक यह धार्मिक-आदेश का भी आधार है। भौतिक आदेश का अन्य तीन आदेशो मे से प्रत्येक में समावेश होता है। यह किसी भी अवस्था मे उनसे स्वतन्त्र होकर कार्यान्वित हो सकता है, अन्य कोई भी इनसे स्वतन्त्र होकर कार्यान्वित नही हो सकता। संक्षेप में, प्रकृति की शक्तियाँ स्वयं कार्य कर सकती हैं, किन्तु न तो न्यायाधीश, न अन्य मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों की सहायता के बिना कार्य कर सकते हैं, न ईश्वर ही उनके बिना कार्य कर सकने में समर्थ माना गया है।" अतः भौतिक आदेश सब बाह्य आदेशों का आधार हैं। ये नैतिक अथवा परार्थमूलक-व्यवहार के लिये बाध्य करने वाली शक्तियाँ हैं। (अध्याय ७)

३. आन्तरिक अथवा नैतिक आदेश।

आन्तरिक आदेश का अर्थ अन्तःकरण की प्रसन्नता और पश्चात्ताप की वेदना है। सदव्यवहार अन्तःकरण के अनुमोदन, और आत्म-सन्तोष से पुरस्कृत होता है। असद् व्यवहार अन्तःकरण के अननुमोदन, पश्चात्ताप और ग्लानि से दंडित होता है। ये आन्तरिक आदेश है। आन्तरिक आदेश भौतिक दशाओं पर आश्रित नही होता। यह शुद्ध आत्मगत है।

मिल, बेन्थम के बाह्य आदेशों के साथ में आन्तरिक आदेश को भी जोड देता है। उसके मत से आन्तरिक और बाह्य दोनो प्रकार के आदेश परार्थमूलक अथवा सद्व्यवहार के प्रवर्तक हैं। उसका अभिप्राय आन्तरिक आदेश से, मनुष्य-जाति के लिये सुख का भाव, दूसरो के सुख और दुःख को समझने का भाव, मनुष्य-जाति की सामाजिक भावनायें, अपने सहयोगी प्राणियों से एकता स्थापित करने की इच्छा है। "नैतिकता का अन्तिम आदेश हमारे ही मन में स्थित एक आत्मगत भावना है।" हमारे कर्तव्य का मानदण्ड कुछ भी हो, कर्तव्य का आन्तरिक आदेश हमारे मन में स्थित एक ही आत्मगत भावना है, वह भावना एक न्यूनाधिक तीव्र वेदना है जिसका उदय कर्तव्य के व्याघात से होता है। अधिक गम्भीर समस्याओं में सम्यक्-नैतिक स्वभावसम्पन्न व्यक्तियो में यह वेदना अत्यधिक कष्टकारी होती है। इस प्रकार सहानुभूति और सहकारित्व की सामाजिक भावनायें, तथा कर्तव्योल्लंघन से जनित पश्चात्ताप की नैतिक भावनायें नीति के आन्तरिक आदेश की सृष्टि करती हैं। जिन लोगो में सामाजिक और नैतिक भावनाओ का अभाव है, बाह्य आदेशों का भय उन्हे

अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये बाध्य करता है। इस प्रकार नीति के वाह्य और आन्तरिक आदेश परोपकारमूलक अथवा नैतिक व्यवहार के प्रवर्तक हैं।

४. वाह्य तथा आन्तरिक आदेशों की समालोचना।

वाह्य आदेश प्रकृति, राज्य, समाज अथवा ईश्वर से पुरस्कार की आशा तथा दण्ड का भय है। वे हमें सत्कर्म में प्रवृत्त और असत्कर्म से निवृत्त करते हैं। यदि यही नीति की प्रवर्तक शक्तियाँ हैं, तो धर्म दूरदर्शी स्वार्थ और कर्तव्य आत्म-हित का अनुसरण हो जाता है। वाह्य-आदेश वल-प्रयोग का स्पष्टीकरण कर सकते हैं। किन्तु उनसे कर्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता का कदापि स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। 'इन आदेशों के प्रति सम्मान के भाव से जो व्यवहार निःसृत होता है वह नैतिकता नही हो सकता, यदि नैतिकता से हमारा अभिप्राय नीति-सम्मत व्यवहार का है। इसकी किसी आदर्श से सगति हो सकती है और सद्व्यवहार से उसकी वाह्य अभिन्नता हो सकती है, किन्तु वस्तुत वह सत् नही है।"* वही कर्म शुभ है जो कर्तव्य के लिये अथवा बुद्धिमय आत्मा को प्राप्त करने के दृष्टिकोण से किया जाता है—पुरस्कार की आशा अथवा दण्ड-भय से नहीं। उस कर्म का, जो भौतिक शक्ति-सम्पन्न किसी वाह्य सत्ता के प्रभाव में आकर किया जाता है, कोई नैतिक मूल्य नही है। वल-प्रयोग से किये जाने वाले कर्म नैतिक मूल्य से रहित होते हैं। केवल वही कर्म नैतिक गुण से युक्त होते हैं जो चुनाव की स्वतन्त्रता से इच्छापूर्वक किये जाते है।

मिल के द्वारा स्वीकृत अन्त करण का आन्तरिक आदेश भी नैतिकता की प्रवर्तक शक्ति नहीं माना जा सकता। अन्त करण की प्रसन्नता के लिये किये जाने वाले कर्म नैतिक नही हैं, क्योकि वे कर्तव्य के लिये अथवा आत्म-लाभ के लिये नही किये जाते, वलिक एक प्रकार की सन्तोष-प्राप्ति के लिये किये जाते है। वे वाह्य आदेशो के कारण किये जाने वाले कर्मों से उच्च कोटि के हैं। किन्तु, फिर भी वे उचित रूप से नैतिक नहीं कहे जा सकते, क्योकि वे सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं, यद्यपि यह सुख अन्त करण का सुख होता है। पुन मिल के अनुसार केवल स्वार्थहीन कर्म ही नैतिक हैं, वे अन्त करण के द्वारा अनुमोदित होते हैं, अथवा अन्त:करण के सुख के जनक होते हैं। किन्तु स्वार्थहीन कर्म कैसे अन्त करण के सुख के रूप में आत्म-हित के विचार से प्रेरित हो सकते हैं ? अन्त:करण के आन्तरिक आदेश का आह्वान करना है, सुख-दु ख की अनुभूतियो का नही। यह सुखवादी सिद्धान्त के त्याग करने के तुल्य है।

वाह्य और आन्तरिक आदेशो का भेद स्वेच्छाकृत है। सब वाह्य आदेशो का आन्तरिक भी समझा जा सकता है, क्योकि वे व्यक्ति के हृदय में सुख-दु ख की अनुभूतियो को जाग्रत करके कार्य करते हैं। पुन सब आदेशो को वाह्य आदेश कहा जा सकता है, क्योकि वे हमारे नैतिक स्वभाव के लिये विजातीय हैं। तथाकथित

---

* म्यूरहेड।

आन्तरिक आदेश भी एक दृष्टि से बाह्य आदेश है, क्योकि वह हमारे नैतिक स्वभाव का सहभावी है—उसका आवश्यक तत्व नहीं। मैकेंजी ठीक ही कहता है कि सब आदेश आन्तरिक हैं, क्योकि सब में वेदना की आत्मगत अनुभूति का समावेश है, सब आदेश बाह्य हैं, क्योकि जिस नियम से वेदना का सम्बन्ध है उसे अपने नियम के रूप में स्पष्टत स्वीकृत नही किया गया है, यदि अन्त करण को अपना नियम स्वीकार किया जाता है, तो वह एक आदेश न होकर वास्तविक नैतिक अधिपति हो जाता है। स्वय 'नैतिक आदेश' यह पद स्वगत-विसवादी है। 'नैतिकता' को किसी आदेश की आवश्यकता नही है, इसमें सकल्प-स्वातन्त्र्य गर्भित है। 'आदेश' में नैतिक नियम के उल्लघन के लिये किसी बाह्य प्रभु-सत्ता के द्वारा दिये जाने वाले दण्ड का भाव है। इस प्रकार आदेश में बल-प्रयोग गर्भित है जो कर्म के नैतिक मूल्य का अपहरण कर देता है। हमारा 'नैतिक आदेश' कहना ही अनुचित है क्योकि यह एक आत्म-विरोधी पद है। हमें आदर्श आत्मा को नैतिक प्रभु-सत्ता मानना चाहिये जो वास्तविक आत्मा के ऊपर नैतिक बाध्यता का आरोप करता है। हमें नैतिक नियम को अपनी ही सत्ता का नियम स्वीकार करना चाहिये, जो हमें आत्म-लाभ का निरपेक्ष आदेश देता है।

अध्याय २३

दण्ड के सिद्धान्त

१. प्राकृतिक अशुभ।

प्राकृतिक अशुभ आधिभौतिक अशुभ है। यह मानवीय सकल्प से स्वतन्त्र है।—यह प्रकृति के नियमो के व्यापार पर निर्भर है। यह हमारे हित-साधन का विघात-कर्त्ता है। यह हमारे जीवन की शान्ति अथवा प्रसन्नता में विघ्न-स्वरूप है। भूकम्प, ववन्डर, चक्रवात, अन्नाकाल, वाढ, टिड्डी, प्रभृति जो हमारी आवश्यकताओ तथा इच्छाओ की पूर्ति में बाधक हैं, प्राकृतिक अशुभ कहलाते हैं। वे मानव जाति की विपत्ति और अमगल के कारण हैं। उनकी उत्पत्ति हमारे सकल्पो के कारण नही होती। किन्तु हम प्रकृति की शक्तियो को नियन्त्रित करके उनमें अथवा उनके अमगलकारी प्रभावो में कमी कर सकते हैं। तथापि प्राकृतिक अशुभ के ऊपर हमारा पूर्ण नियन्त्रण नही है।

२. भ्रान्ति।

भ्रान्ति बौद्धिक दोष है। विचारणा अथवा चुनाव में भ्रान्ति सम्भव है। बुद्धि भिन्न कर्मो के गुण और दोषों का असम्यक् विचार करने अथवा उनका अशुभ

मूल्यांकन करने के पश्चात् एक असत् कर्म का चुनाव कर सकती है। इस प्रकार भ्रान्ति विचार में अथवा चुनाव में हो सकती है। नैतिक निर्णय में भी भ्रान्ति सम्भव है। वुद्धि नैतिक नियम का एक विशेष कर्म में अशुद्ध उपनय कर सकती है। अथवा वह यह भ्रान्त विचार कर सकती है कि एक विशेष कर्म से आत्म-लाभ का साधन होगा। इस प्रकार नैतिक निर्णय, जो अनुमानमूलक होते हैं, भ्रान्तिपूर्ण हो सकते हैं। भ्रान्ति नैतिक अशुभ अथवा पाप नही है। इच्छापूवर्क की हुई भ्रान्तियां क्षन्तव्य नही हैं। इच्छापूर्वक किये हुए विकृत नैतिक निर्णय असत् हैं, और इस रूप में निन्दा के विषय हैं। अनिच्छापूर्वक की हुई भ्रान्तियाँ नैतिक दृष्टि से क्षमा के योग्य हैं।

३. नैतिक अशुभ।

यह नैतिक नियम के इच्छानुसार उल्लघन करने से होता है. यह आधिभौतिक या प्राकृतिक अशुभ और वौद्धिक अशुभ या भ्रान्ति से भिन्न है। आधिभौतिक अशुभ एक प्राकृतिक तथ्य या घटना है जो मनुष्य के लिए हानिकारक है। भूकम्प, वाढ, वायुप्रकोप इत्यादि आधिभौतिक अशुभ हैं, वे नीति-शून्य होते हैं। मनुष्य इन दो प्रकार के अशुभो में से किसी के लिए भी उत्तरदायी नही है। भ्रान्ति वौद्धिक अशुभ है। इसका कारण सम्यक् वौद्धिक ग्रहण-क्षमता का अभाव है। यह इच्छा का विचारपूर्ण व्यापार नही है, भ्रान्ति एक नैतिक अशुभ नही है जो नैतिक नियम का जानवूझ कर व्याघात करने से होता है।

४ अधर्म

नैतिक अशुभो का अन्दर और वाहर से विचार किया जा सकता है। उन्हें चरित्र के कलक अथवा अशुभ कर्म समझा जा सकता है। पूर्वोक्त अधर्म कहलाते हैं और शेषोक्त पाप और अपराध कहलाते हैं। जिस प्रकार धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है, उसी प्रकार अधर्म चरित्र के ऊपर कलक है। दोनो आन्तरिक जीवन के लक्षण हैं। अधर्म नैतिक नियमो के अभ्यास-पूर्वक व्याघात से जनित चरित्र का दोष है। जानवूझ कर कर्तव्यो की अवहेलना अथवा उल्लघन करने के अभ्यास का परिणाम अधर्म होता है। इसका प्रकाशन वाह्य कर्मो में जिन्हें पाप और अपराध कहते है, होता है। अधर्म का वहुत सा अश गुप्त रह सकता है, और अशुभ कर्मो में प्रकाशित नहीं हो सकता, यद्यपि उससे हमारे वाह्य कर्मो पर कुछ प्रभाव पडना सम्भव है।

५. पाप

पाप एक वाह्य असत् कर्म है। अधर्म की अशुभ कर्मो में अभिव्यक्ति होती है जो पाप कहलाते हैं। अधम आन्तरिक चरित्र का लक्षण है। पाप एक अशुभ कर्म है। यह कर्तव्यो की जानवूझ कर अवहेलना या उल्लघन करना है। यह या तो असत-

कर्मों का करना है या शुभ कर्मों को न करना है। हमारे अन्दर कभी भी अच्छे अभिप्रायो का अभाव नही होता है। किन्तु हमारे अन्दर उनको बाह्य कर्मों में परिणत कर सकने की सकल्प शक्ति का अभाव हो सकता है।। प्राय बुरे अभिप्रायो का भी सकल्प की निर्बलता से विघात हो जाता है और अशुभ कर्मों में उनका प्रकाशन नहीं हो पाता। उनकी मन में सत्ता रहती है और उनसे आन्तरिक चरित्र दूषित हो जाता है। यदि कार्यो में उनका प्रकाशन हो जाता है तो कभी कभी उनकी इतिश्री हो जाती है। इस प्रकार एक शुभ अभिप्राय इतना शुभ नहीं होता जितना एक शुभ-कर्म होता है, जबकि एक अशुभ अभिप्राय एक अशुभ कर्म से भी बुरा होता है।

६ अपराध

पहिले पाप को ईश्वर के विरुद्ध जुर्म समझा जाता था और अपराध को समाज के विरुद्ध। अब अपराध पाप से सकीर्ण-अर्थ में व्यवहृत होता है। यह समाज के विरुद्ध जुर्म है जिनको राज्य मानता है और जिसके कर्त्ता को राज्य दण्डित करता है। सभी पाप अपराध नही हैं। जो पाप राज्य के द्वारा दडनीय हैं वे अपराध कहलाते हैं। चोरी करना एक अपराध है। राज्य चोर को दण्ड देता है, किन्तु अकृतज्ञता पाप है। राज्य उसके लिए किसी को दण्डित नही कर सकता। किन्तु समाज उसके लिए निन्दा करता है।

७. दण्ड।

अपराधी को दण्ड मिलना चाहिए। जो अपराध को सहन करता है, उसका पतन नही होता। नससे उसके आत्मा को कोई आघात नही पहुचता। किन्तु अपराध करने वाला नैतिक पूर्णता के स्तर से गिर जाता है। शुभ कर्मों के लिए मनुष्य को पुरस्कार मिलता है। इसी प्रकार अशुभ कर्मों के लिए उसे दण्ड भी मिलना चाहिए। "सामाजिक नियम के विरुद्ध असत् कर्म मनुष्यता के विरुद्ध असत् है, और जब तक कि नियम के कुपित गौरव को तुष्ट नही किया जाता अर्थात् कर्म के असत्भाव को प्रदर्शित नही कर लिया जाता तब तक उसे क्षमा नही किया जा सकता।"* यह दण्ड का नैतिक औचित्य है।

८ दंड के सिद्धान्त।

दण्ड का औचित्य सिद्ध करने के लिये तीन प्रधान सिद्धान्तो का प्रस्तावित किया गया है। वे सिद्धान्त निवर्तनवादी सिद्धान्त, सुधारवादी सिद्धान्त तथा प्रतिकार-वादी सिद्धान्त कहे जाते हैं।

(१) निवर्तनवादी सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का लक्ष्य दूसरो को उसी प्रकार के अपराध करने से रोकना है। किसी अपराधी को दण्ड देकर उसे

* नीति-शास्त्र, पृष्ठ ३७४।

दूसरो को वही अपराध करने से निवृत्त करने के लिये एक उदाहरण बनाया जाता है। दण्ड के इस लक्ष्य को न्यायाधीश के इस सुपरिचित सूत्र में व्यक्त किया गया है— "तुम्हें भेड चुराने के लिये दण्डित नहीं किया जाता है, वल्कि इसलिये कि भेड की चोरी न हो।" यह सिद्धान्त अपने निवर्तक प्रभाव के कारण दण्ड के एक चरम रूप में मृत्यु-दण्ड का औचित्य दिखाता है।

आलोचना—मनुष्य स्वय साध्य है। वह एक व्यक्ति है, वस्तु नही। उसका किसी दूसरे व्यक्ति के हित के लिये साधन के रूप में प्रयोग नहीं होना चाहिये। केवल अन्यो के हित के लिये किसी मनुष्य को पीडा पहुंचाना अन्याय है। किसी व्यक्ति से वस्तु के समान, दूसरों के हित के साधन मात्र के तुल्य व्यवहार नहीं होना चाहिये। किसी व्यक्ति को अपराध करने से रोकने के लिये दण्डित नहीं किया जाना चाहिये। उसे दूसरो के हित के लिये उदाहरण नहीं बनाना चाहिये। व्यक्ति स्वत साध्य है, किसी मनुष्य का अपने हित के लिये नहीं, वल्कि उन लोगों के हित के लिये जो उस प्रकार के अपराध न करने की शिक्षा लेंगे, कष्ट सहना अन्याय है।

(२) सुधारवादी सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का लक्ष्य स्वय अपराधी को शिक्षित करना या सुधारना है। अपराधी को दण्ड इसलिये दिया जाता है कि उसका सुधार हो अथवा उसे शिक्षा मिले। इस सिद्धान्त को वर्तमान युग में सामान्यतया स्वीकार किया जाता है, क्योकि इसकी युग की मानवतावादी भावनाओ मे सगति है। इस सिद्धान्त में व्यक्ति को वस्तु के तुल्य व्यवहृत करने का विधान नहीं है। अपराधी को उसी के हित के लिये दण्ड दिया जाता है, दूसरो के हित मात्र के लिये नही।

(क) अपराध-मानवविज्ञान—अपराध विज्ञान सुधारवादी सिद्धान्त का समर्थन करता है। "अपराध-विधान की स्थापना इस सिद्धान्त पर हुई है कि अपराध एक रोग है, मानसोन्माद का एक रूप, एक वशक्रमागत अथवा अर्जित पतन की अवस्था है। इससे यह अनुमान निकलता है कि अपराधी की उपयुक्त चिकित्सा वह है जो उसको दण्डित करने की अपेक्षा रोग-मुक्त करने का प्रयत्न करती है। कारागारों के स्थान पर अस्पताल, पागलखाने और सुधारशालाए होनी चाहियें।" ❀ इस प्रकार अपराध-विज्ञान के अनुसार अपराध नैतिक नियम के वोधपूर्वक उल्लघन करने के परिणाम नही है। उनके कारण शारीरिक विलक्षणतायें है। शारीरिक-दोष अपराधियो को अपराध करने के लिये वाध्य करते हैं। उदाहरणार्थ, चौर्योन्माद † में अपराधी चोरी करने के लिये वाध्य होता है। अत. दण्ड का रूप पागलखानो और सुधारशालाओ में नजरबन्दी होना चाहिये। इस मत के समर्थको को अपराध-मानव-विज्ञानवादी कहते है।

❀ नीति के सिद्धान्त पृष्ट ३२०। † Kleptomania

आलोचना—प्रत्येक अपराध का कारण मानसोन्माद अथवा शारीरिक दो नहीं होता। "हम अपराधोन्माद और अपराध का भेद मालूम कर सकते हैं अपराधोन्माद की अवस्था में मनुष्य के साथ रोगी का सा व्यवहार होता है, उसकी गति-विधि पर नियन्त्रण रखा जाता है और दूसरे उसका प्रबन्ध करते हैं। उदाहरणार्थ चौर्योन्माद क्षन्तव्य है, दण्डनीय नही।" नैतिक नियम का जान बूझ कर उल्लघन करने से जनित अपराध दण्डनीय हैं, क्योकि वे शारीरिक दोषो के कारण नही होते। किन्तु उन्माद की दशा में मनुष्य को चित्त-विभ्रम हो जाता है, और उसके द्वारा किये जाने वाले कर्म उसके इच्छाकृत कर्म नही होते। उसका व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और उससे वस्तुवत् व्यवहार किया जा सकता है। वह अपने ऊपर नियन्त्रण खो बैठता है इसलिये बाहर से उसका नियन्त्रण होना चाहिये। "अपराध को रुग्णावस्था मानना नीति के आधार का विच्छेद कर देना है, इससे पुण्य-पाप, पुरस्कार-दण्ड निराधार हो जाते हैं।" सब अपराधों को उन्मादजनित मानना स्पष्ट-विचार का बाधक है।

(ख) अपराध-समाजविज्ञान—सुधारवादी सिद्धान्त का समर्थन अपराध समाजविज्ञान से भी होता है। यह अपराधो को प्रतिकूल सामाजिक परिस्थितियों के परिणाम मानता है। अपराधो के कारण सामाजिक असमानतायें, कुसयोजन, और भ्रष्टाचार हैं। अत बिना अपराधियो की सामाजिक और आर्थिक स्थितियो में परिवर्तन किये अपराधों का दमन करना व्यर्थ और हानिप्रद है। अपराधो की रोक-थाम तभी सम्भव है जब न्याय और समानता की भित्ति पर मानव-समाज का पुन सगठन हो। इस मत के समर्थको को अपराध-समाजविज्ञानवादी कहते हैं।

आलोचना—कुछ अपराध अवश्य सामाजिक असमानताओ के कारण हैं। उदाहरणार्थ, कुछ चोरियो का कारण निर्धनता है। किन्तु सभी अपराधों के लिये सामाजिक कुसयोजन को दोषी नहीं बनाया जा सकता। अपराध जान बूझ कर व्यक्तियो के द्वारा किये जाते हैं जो आवश्यक-रूप से विपरीत आर्थिक या सामाजिक परिस्थितियों के वश में नहीं हैं। सभी अपराधो के लिये सामाजिक कुपरिस्थितियो को दोषी ठहराना अपराधो के व्यावर्तक धर्म को भूल जाना है।

यदि दण्ड देने से अपराधी का सुधार हो जाता है, तो उसका उद्देश्य सफल हो जाता है। किन्तु दण्ड सदैव अपराधी का सुधार नही करता, कभी-कभी इससे अपराधी की आदतें पक्की हो जाती हैं। कभी-कभी सहृदयतापूर्ण व्यवहार से दण्ड की अपेक्षा अधिक प्रभाव पडता है; यह अपराधी के सुधार के अधिक अनुकूल हो सकता है। कभी-कभी क्षमा कर देने से अपराधी अपने अपराध को स्वीकार कर लेता है जिससे उसको पश्चात्ताप होता है और उसका सुधार हो जाता है। यह स्पष्ट है कि सुधारवादी सिद्धान्त मृत्यु-दण्ड का औचित्य नही दिखा सकता, क्योकि मृत-मनुष्य का सुधार नहीं हो सकता।

(ग) मनोविश्लेषण-विज्ञान (Psycho-analysis)—फ्रायड और उसके अनुयायियों का मत है कि असामाजिक मानवीय कर्म अथवा अपराध दबाई हुई मनो-ग्रन्थियों* या इच्छाओं,— असफल यौन-प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न काम और विद्वेष की प्रवृत्तियों के प्रभाव में आकर किये जाते हैं। अत इस प्रकार के अपराधों की चिकित्सा केवल दड देने से नहीं, बल्कि औषधि और शिक्षा से होनी चाहिये।

ऐसी अवस्थाओं में रोग-निवारण का उपाय दबाई हुई अचेतन ग्रन्थियों की खोज, उनको चेतना के स्तर पर ले आना उनका कारण ढूढना और समाज-द्वारा स्वीकार्य रूपों में उनका मार्गान्तरीकरण† कर देना है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सभी अपराध दबी हुई ग्रन्थियों से उत्पन्न नहीं होते। (१) कुछ अपराध उन्माद के कारण होते हैं, (२) कुछ शारीरिक-दोषों के कारण, (३) कुछ किसी अस्थायी-आवेग या ग्रन्थि के कारण, (४) कुछ भ्रान्त नैतिक निर्णयों के कारण; (५) कुछ नैतिक नियम के जान-बूझ कर उल्लघन करने के कारण।

पहिले प्रकार के अपराधों से मुक्ति पागलखानों और सुधारखानों में निवास और औषधोपचार के द्वारा होनी चाहिये। दूसरे प्रकार के अपराधों से मुक्ति भी औषधोपचार की आधुनिक विधियों से होनी चाहिये। तीसरे प्रकार के अपराधों का निवारण मनो-विश्लेषण-पद्धति से होना चाहिये। चौथे प्रकार के अपराधों का निवारण अपराधी के नैतिक निर्णयों की भ्रान्तियों का शोध करने के द्वारा तथा उसे अपनी गलती का विश्वास करा देने से होना चाहिए। पाँचवें प्रकार के अपराध सच्चे अपराध हैं और निश्चित-रूप से दण्डनीय हैं। नैतिक नियम के प्रभुत्व के पुन स्थापन के हेतु अपराधियों को उचित दड मिलना चाहिए। दण्ड उन्हे दड के औचित्य का विश्वास दिलाता है। इससे वे अपने अपराधों के लिए पश्चात्ताप करते हैं और अपना सुधार करते हैं। इससे उनके तथा अन्यों की उसी प्रकार के अपराध करने की प्रवृत्ति रुक जाती है।

(३) प्रतिकारवादी सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड एक न्यायोचित व्यापार है। दड का लक्ष्य नैतिक नियम की उच्चता तथा प्रभुता का सरक्षण और अपराधी का न्याय करना है। अपराधी नैतिक नियम को भग करता है, और न्याय की माँग है कि उसे दण्ड मिलना चाहिए तथा नैतिक नियम के प्रभुत्व का पुन स्थापन होना चाहिए। नैतिक नियम सर्वोच्च प्रभु सत्ता है। यदि कोई उसे भग करता है, तो उसे दण्ड मिलना चाहिए। नैतिक नियम के अधिकार को पुष्ट करने के लिये और नैतिक नियम के कुपित गौरव को शान्त करने के लिए अपराधी को दण्डित करना चाहिए। यदि उसे दण्ड नही दिया जाता, तो नैतिक नियम के गौरव और प्रभुत्व का

---

* Sublimation.

† Repressed complexes

ह्रास हो जाता है। "दण्ड का तत्व नैतिक व्यवस्था का शोध है, अपराध जिसका कुख्यात भजन है।"※ यह अपवादात्मक परिस्थितियों में मृत्यु-दण्ड को उचित ठहराता है। जीवित रहने का अधिकार मौलिक अधिकार है। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे का प्राण ले लेता है तो न्यायपूर्वक उसका भी प्राण ले लेना चाहिए। किन्तु मृत्यु-दण्ड बर्बर-युग का अवशेष मालूम पड़ता है।

आलोचना—कुछ लोगों की आपत्ति है कि यह सिद्धान्त प्रतिकार अथवा प्रतिहिंसा की अधार्मिक वासना पर आधारित है। किन्तु यह ठीक नहीं है। धर्म प्रतिहिंसा की निन्दा इसलिए करता है कि उसका कारण व्यक्तिगत द्वेष की भावना है। किन्तु न्यायालय अपराधी को दण्ड देने में व्यक्तिगत द्वेष से प्रेरित नहीं होता। "न्यायालय केवल मनुष्य को उसी का प्रतिदान करता है जो वह अर्जित कर चुका है। वह अशुभ कर चुका है, और यह युक्तियुक्त है कि उसके पाप का पारिश्रमिक—जो उसके द्वारा अर्जित ध्वसात्मक मूल्य है, अर्थात् अशुभ उसे वापस मिलना चाहिए।"†

अरस्तू दण्ड को ऋणात्मक पुरस्कार मानता है। जो मनुष्य जान-बूझ कर नैतिक नियम को भग करता है वह ऋणात्मक पुरस्कार का अधिकारी है। "यह उसका अधिकार है, और उसे मिलना चाहिए समाज जो उसे दण्ड देता है उसके अधिकार से उसे वंचित नहीं करता, बल्कि जो उसे मिलना चाहिए जो वह कमा चुका है वही उसे देता है।"‡ कान्ट का मत है कि दण्ड इसलिए मिलना चाहिए कि अपराधी ने अपराध किया है, इसलिए नहीं कि वह उसके या अन्य के हित का साधन है। वह दण्ड के प्रतिकारवादी सिद्धान्त का समर्थक है। हेगेल भी इस सिद्धान्त को मानता है। उसका भी मत है कि दण्ड अपराधी का अधिकार है। यह उसका पारितोषिक है। यह वह वस्तु है जिसका वह पात्र है, जिसका उसने नैतिक नियम को भग करके अर्जन किया है। यह उसका ऋणात्मक पुरस्कार $ कहलाया जा सकता है। यही कारण है कि कुछ अपराधी जो राज्य के द्वारा दण्डित होने से बच जाते हैं, किसी रूप में प्रायश्चित द्वारा आत्म-शुद्धि करने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें अनुभव होता है कि जैसे, पाप-कर्मों से उन्होंने जितना अर्जित किया है उसकी प्राप्ति उन्हें नहीं हुई। ब्रेडले का भी यही मत है। वह कहता है कि "हम दण्ड इसलिए भुगतते हैं कि हम उसके योग्य हैं, किसी दूसरे कारण से नहीं, और यदि किसी अशुभ-कर्म के फल होने के अतिरिक्त अन्य कारण से दण्ड दिया जाता है, तो यह एक विशुद्ध अनीति है, एक स्पष्ट अन्याय है, दण्ड, दण्ड के हेतु किया जाता है।" दण्ड न्याय का व्यापार है, यह नैतिक नियम के उल्लघन का प्रतिकार है।

※ सेथ।
† मैकेन्जी।
‡ मैकेन्जी।
$ Negative reward

इस प्रकार, दण्ड का प्रतिकारवादी सिद्धान्त यथार्थ मत मालूम होता है। दोनों अन्य सिद्धान्तो का भी इसमें समावेश हो जाता है। "यदि दण्ड का लक्ष्य नियम के गौरव की रक्षा करना है, तो ऐसा आंशिक-रूप से तभी होगा जब कि अपराधी का सुधार होगा और उसी प्रकार के अपराधो का होना रुक जावेगा। और वस्तुत जब तक यह स्वीकार नही किया जाता कि दण्ड नियम के औचित्य का समर्थक है तब तक दण्ड के द्वारा न तो सुधार ही सम्भव है, न अपराध का निवारण ही।"* अपराधी पश्चात्ताप करता है और उसका सुधार होता है, केवल तभी जब कि वह मान लेता है कि नियम की रक्षा के लिये ही उसे दण्डित किया गया है और उसका फल पाना उसका अधिकार है। पुन, इस तथ्य को मान लेने से दूसरे भी अपराध से दूर रहने की चेष्टा करते हैं। अत प्रतिकारवादी सिद्धान्त को दण्ड के सिद्धान्तो में सबसे अधिक सन्तोषजनक सिद्धान्त माना जा सकता है।

प्रतिकारवादी सिद्धान्त के दो रूप हैं: (१) कठोर और (२) मृदु।

कठोर रूप के अनुसार दण्ड अपराध के स्वरूप के अनुसार दिया जाता है। यदि अपराध गम्भीर है, तो दण्ड भी कठोर होना चाहिए, यदि अपराध हलका है, तो दण्ड भी हलका होना चाहिये, चाहे अन्य परिस्थितियाँ कुछ भी क्यो न हों। इस मत का सूत्र है, 'आँख के लिये आँख', दाँत के लिये दाँत।' दण्ड देने में अन्य परिस्थितियो का विचार नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, किसी मनुष्य ने किसी की हत्या की है, अत अन्य परिस्थितियो के अविचारपूर्वक उसे मृत्यु-दण्ड मिलना चाहिए।

प्रतिकारवादी सिद्धान्त के मृदु-रूप के अनुसार, विशेष परिस्थितियो में किये जाने वाले अपराध के स्वरूप का विचार करके दण्ड दिया जाना चाहिये। यहाँ दण्ड की कठोरता को कम करने वाली परिस्थितियो का यथा, अपराधी की आयु, उसका अभिप्राय, उत्तेजक परिस्थितियो इत्यादि का भी विचार होना चाहिये।

प्रतिकारवादी सिद्धान्त का मृदु-रूप दण्ड का सबसे अधिक सन्तोषजनक सिद्धान्त मालूम पड़ता है।

---

* मैकेंजी।

अध्याय २४

नैतिक प्रगति

१. नैतिक आदर्श तथा नैतिक प्रगति ।

नैतिक आदर्श की उत्तरोत्तर प्राप्ति नैतिक प्रगति है। नैतिक आदर्श सीमाहीन है और परिणामत उसकी पूर्ण प्राप्ति होना असम्भव है। जितनी अधिक नैतिक प्रगति होती है, उतना ही दुर्लभ नैतिक आदर्श भी हो जाता है, और उतनी ही गहरी नैतिक बाध्यता की वृद्धि भी हो जाती है। इस के लिये नैतिक बाध्यता की वृद्धि में अतिगमन करना असम्भव है। इस प्रकार नैतिक आदर्श और नैतिक प्रगति परस्पर क्रियाप्रतिक्रिया करते रहते हैं। नैतिक आदर्श सदैव एक आदर्श रहता है, यथार्थ कदापि नही होता। नैतिक प्रक्रिया का कभी भी विराम की प्रक्रिया में विलय नही हो सकता।

२ नैतिक प्रगति का स्वरूप।

"नैतिक प्रगति प्रगतिशील नैतिकता है, किसी भी अवस्था में नैतिकता की ओर प्रगति नही अथवा नीति-शून्य अवस्था से नैतिकता की अवस्था की ओर प्रगति नही है।"* नैतिकता का उद्भव नीति-शून्य तत्वो मे नही हो सकता, जैसे कि हर्बर्ट स्पेन्सर का विचार है। वास्तविक मे आदर्श का विकास नही हो सकता, 'चाहिये' 'है' से व्युत्पन्न नही हो सकता। हर्बर्ट स्पेन्सर के नैतिकता के विकास का अन्त से स्पष्टीकरण करने के स्थान पर आरम्भ (यथा, पशु-व्यवहार) से स्पष्टीकरण करने में हेतु-साध्य-विवर्त्त है। हेगेल का अन्त (प्रयोजन) मे उसका स्पष्टीकरण करना ठीक है।

३ नैतिक प्रगति का नियम . व्यक्ति की खोज।

सेथ व्यक्ति की उत्तरोत्तर खोज को नैतिक प्रगति का नियम समझता है। सर हेनरी मेन के शब्दो में सामाजिक प्रगति का नियम "जन्मगत स्थिति से समझौते की ओर गति" है। प्रारम्भ में व्यक्ति परिवार अथवा सम्प्रदाय में विलीन था। सामाजिक प्रगति के दौरान में व्यक्ति को अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ और उसने परिवार अथवा सम्प्रदाय के अधिकारो के विरुद्ध अपने अधिकारो की मांग की, धीरे-धीरे व्यक्ति परिवार अथवा सम्प्रदाय से विविक्त हो गया, और उसने अपने अधिकारो को उपलब्ध कर लिया। "जाति और व्यक्ति की नैतिक प्रगति का आधारभूत नियम तत्वत एक ही रूप में व्यक्त किया जा सकता है। वह प्रगति सक्षेप में व्यक्ति की उत्तरोत्तर खोज है। प्रारम्भिक-युग की नैतिक इकाई समुदाय अथवा परिवार था,

---

* नीति के सिद्धान्त, पृष्ठ ३२६।

फिर वह राज्य हुआ, और बाद में शायद वर्ण या वर्ग हुआ, तथा सबसे अन्त में व्यक्ति।"* "नैतिक उत्कर्ष की प्रवृति सच्चे व्यक्तिवाद की दिशा में रही है इसका अर्थ व्यक्ति की राजनैतिक-शरीर में स्थिति का क्रमिक ज्ञान रहा है।"†

४. नैतिक प्रगति के नियम के विभिन्न पहलू।

नैतिक पुरुष के रूप में व्यक्ति के गौरव और मूल्य के उत्तरोत्तर ज्ञान की अभिव्यक्ति पहिले नैतिकता के बाह्य दृष्टिकोण से आन्तरिक दृष्टिकोण की ओर संक्रमण में हुई, फिर कठोर धर्मों की अपेक्षा क्रमश मृदु धर्मो को प्रधानता देने में, और पुन धर्मों के क्षेत्र के विस्तार में।

(१) नैतिकता के बाह्य-दृष्टिकोण से आन्तरिक-दृष्टिकोण की ओर संक्रमण—"प्रथम नैतिक प्रगति में हम कर्म के बाह्य अथवा उपयोगितावादी मूल्यान्कन से आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक मूल्यांकन की ओर, व्यवहार और परिणामो से चरित्र और प्रवृत्तियो की ओर, करने से होने की ओर, कर्म से मनुष्य की ओर क्रमिक संक्रमण को पहिचान सकते है। जो कर्म मनुष्य करता है उसका मूल्य घटता जाता है, जो वह है उसका मूल्य बढता जाता है।"‡ पहिले हम बाह्य कर्मों और परिणामो पर नैतिक निर्णय देते हैं, फिर आन्तरिक उद्देश्यो और अभिप्रायो पर, और फिर चरित्र पर। पहिले हमारा लक्ष्य व्यवहार की शुद्धता होता है, तत्पश्चात् हमारा लक्ष्य आन्तरिक जीवन की शुद्धता होता है।

(२) कठोर धर्मों को मृदु धर्मों के अधीनस्थ करना—"नैतिक प्रगति की द्वितीय अभिव्यक्ति कठोर-धर्मों को मृदु धर्मों के अधीनस्थ करने में, सत्ता अथवा रक्षा के धर्मों को मंगल-साधक अथवा सौजन्य के धर्मों के अधीनस्थ करने में लक्षित होती है। कठोर धर्मों से मृदु-धर्मों की दिशा में संक्रमण, व्यक्ति के प्रति असहानुभूति-पूर्ण भावना से सहानुभूतिपूर्ण भावना की दिशा में, असहृदयतापूर्ण भावना से सहृदयतापूर्ण भावना की दिशा में संक्रमण है।"§ प्रारम्भ में साहस, वीरता, पौरुष, वल, इत्यादि कठोर और पुरुषोचित धर्मों को उच्च स्थान दिया जाता है। तत्पश्चात्, नैतिक प्रगति में उनका स्थान धीरे-धीरे सहानुभूति, परोपकारशीलता, क्षमाशीलता, नम्रता, आज्ञाकारिता, धैर्य, आत्म-समर्पण प्रभृति ले लेते है।

(३) धर्मों का क्षेत्र-विस्तार—"हमें नैतिक प्रगति का एक तीसरा पहलू अर्थात् उसका वर्धमान विस्तार, विशेषवाद से सामान्यवाद, देश-भक्ति अथवा राष्ट्र-वाद से मानववावाद अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता की दिशा में विकास दिखाई देता है। जैसे ही व्यक्ति को अपनी स्थिति का ज्ञान होता है उसे अपने साथियों से अपनी सत्ता

---

* नीति के सिद्धान्त, पृ० ३३१।
† वही; पृ० ३३६।
‡ वही, पृ० ३४१।
§ वही पृष्ठ ३४५–४६।

और जीवन के साम्य का, मनुष्य-जाति रूपी नगर में अपनी नागरिकता का बोध हो जाता है।"* उसे विदित हो जाता है कि सर्वोच्च-शुभ सामान्य और सार्वजनिक हित है। जैसे-जैसे मनुष्य-जाति का नैतिक जीवन विकसित होता है, मनुष्य को मनुष्य से विविक्त करने वाली दीवारें राष्ट्रीयता, वर्ग, जन्म और देश के भेद टूट जाते हैं, तथा मनुष्य-जाति की एकता की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु, नैतिक जीवन सदैव एक व्यक्तिगत जीवन रहता है। यह कदापि अव्यक्तिगत जीवन नहीं होता। मनुष्य का सच्चा जीवन स्वार्थहीन अथवा अव्यक्तिगत जीवन नहीं है बल्कि सच्ची मानवीय आत्मा का अथवा व्यक्तित्व का जीवन है। 'व्यक्ति को अपने अथवा दूसरों के सम्बन्धों में कभी भी अपने व्यक्तित्व का बलिदान करने के लिये नहीं कहा जा सकता। एकमात्र निरपेक्ष-आत्मोत्सर्ग कदापि किसी प्राणी के लिये धर्म का मार्ग नहीं हो सकता, जिसके जीवन के सर्वोच्च सिद्धान्त आत्म-ज्ञान और आत्म-लाभ है। मनुष्य का सच्चा जीवन स्वार्थहीन जीवन नहीं है, बल्कि सच्चे मानवीय-स्वरूप का जीवन है, सौभाग्ययुक्त जीवन का मार्ग आत्म-ज्ञान का मार्ग है।"†

ग्रीन यह निर्देश करता है कि नैतिक प्रगति का लक्षण नैतिक अन्तर्दृष्टि का गाम्भीर्य है। उदाहरणाय, यूनानियो के लिये साहस का अर्थ केवल युद्ध-भूमि में शारीरिक साहस था। किन्तु, अब इसमें नैतिक साहस का भी समावेश होता है। यूनानियो के लिये मिताचार का अर्थ खान-पान और पाशविक विषय-भोग में सयम था। किन्तु, वर्तमान युग में हम उसका प्रयोग आत्म-निषेध के विविध रूपो के लिये करते है। इस प्रकार नैतिक प्रगति के दौरान में नैतिक चेतना में उत्तरोत्तर गम्भीरता आ जाती है।

नैतिक प्रगति के साथ धर्मों के क्षेत्र में भी क्रमिक विस्तार होता है। पहिले धर्मों का उपनय परिवार में होता है, फिर सम्प्रदाय और जाति में, और अन्त में मानव-जाति में। तब हम जन्तु-जगत् और प्रकृति के प्रति भी नैतिक बाध्यता की अनुभूति करने लगते है। इस प्रकार नैतिक प्रगति का लक्षण कर्तव्यो और धर्मों के क्षेत्र में उत्तरोत्तर विस्तार है।

५. नैतिक प्रगति के हेतु।

व्यक्ति का नैतिक जीवन नैतिक जगत् में व्यतीत होता है। इस जगत् का एक नैतिक आदर्श होता है जो सामान्यतया समाज के द्वारा स्वीकृत होता है। इस आदर्श की अभिव्यक्ति आदेशो की शृखला में, निश्चित सामाजिक सस्थाओ में, अथवा कर्म के अन्य अभ्यासजात रूपो में हो सकती है। कभी कभी नैतिक जगत् के

---

* वही, पृष्ठ ३५०।

† वही, पृ० ३५६–५७।

न तीन तत्वो में विरोध हो जाता है। किसी जाति का आदर्श सदैव उसकी संस्थाओं तथा आदतों के अनुरूप नही होता। कभी कभी उसकी आदतें भी उसकी संस्थाओ के अनुकूल नही होती। किसी जाति की नैतिक प्रगति मुख्यतया इन तीन तत्वों का परस्पर समायोजन करने के प्रयास में निहित होती है। आंशिक-रूप में यह नैतिक आदर्श को ऊंचा उठाने तथा संस्थाओ और आदतों को उन्नत बनाने के प्रयत्न में भी निहित है।

जाति के आदर्श, सामाजिक संस्थाओ, और आदतो के आन्तरिक विरोधो से अनिवार्यत उनको परस्पर समायुक्त करने के लिये नैतिक प्रगति होती है। कभी-कभी आदतो, संस्थाओ तथा आदर्शों की नैतिक प्रगति का कारण अपूर्णता की अनुभूति होती है। प्राय. इस अपूर्णता का बोध आरम्भ में एक तीव्र नैतिक अतर्दृष्टि वाले सुधारक की सहायता से होता है। वह लोगो के आदर्श, सामाजिक संस्थाओं तथा आदतो की असगतियो का प्रदर्शन करता है, तथा अपने ही उत्कृष्ट उदाहरण और उपदेशो के द्वारा उनके उन्मूलन करने में सहायता देता है।

नैतिक प्रगति का कारण हमारी नैतिक चेतना में तथा वातावरण में भी परिवर्तन है। यह नैतिक सुधारक की गम्भीर नैतिक अतर्दृष्टि पर निर्भर है। वातावरणगत नूतन हेतुओ पर भी यह आश्रित है। नवीन आर्थिक हेतुओ ने महिलाओ की स्वतत्रता में और गुलामी के उन्मूलन में सहायता दी, जो अशत सुधारको के गहरे नैतिक ज्ञान पर भी निर्भर था।

मनुष्य का अन्तरस्थ आत्मा अपरिमित है। वह अपने नैतिक विकास में निरन्तर 'ईश्वरत्व के राज्य' पर दृष्टि रखता है। वह आदर्श व्यवस्था के लिये अविराम प्रयत्न करता है। वह कदापि वास्तविक, सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक व्यवस्था से सन्तुष्ट नही रहता। "वह किसी देश और काल में वास्तविक-रूप में स्थापित आदतो और संस्थाओ से तथा परम्परा से स्वीकृत आदर्शो से भी असन्तुष्ट रहता है, और जीवन के उस रूप की स्थापना करने के लिये सचेष्ट होता है जो अधिक पूर्ण, अधिक सुसगत और अधिक सन्तोषजनक है। इसीलिये काल्पनिक स्वर्ग, कवि के स्वप्न और रहन-सहन के अच्छे रूपो की आशा में चिरस्थायी रुचि होती है।"* इन काल्पनिक स्वर्ग के स्वप्नो में एक भय है। कभी कभी ये अव्यवहार्य तथा असाध्य आदर्श होते हैं। महान् पुरुष नये सन्देशो को लेकर आते हैं। किन्तु, प्राय वे स्वय अपने उच्च आदर्शों के प्रकाश से अन्धे हो जाते है। वे कठोर तथ्यो पर ध्यान देना भूल जाते है। उनके आदर्श अथवा स्वर्ग के स्वप्न अवास्तविक होते हैं। वस्तुस्थिति से उनका स्पर्श नही होता। अतः उनके सन्देशो का मनुष्य-जाति के सामान्य-ज्ञान के अनुसार नवीन अर्थ लगाया जाता है। "सम्पूर्ण संसार सर्वाधिक मेधावान् पुरुषो से भी अधिक बुद्धिमान् है।" †

* नीति-शास्त्र, पृष्ठ ३९८—९९। † वही, पृष्ठ ३९९।

अध्याय २५

राज्य के नैतिक कार्य

१. समाज तथा राज्य।

आत्म-लाभ परम मंगल है। यह समाज में ही प्राप्त सम्भव है। राज्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था है जो व्यक्तियों के नैतिक जीवन के समान विकास के हेतु अनिवार्य है। "सम्पूर्ण सामाजिक संगठन को समाज कहा जा सकता है, और उसके सामाजिक रूपों में सबसे महत्त्वपूर्ण राजनैतिक संगठन अथवा राज्य

है।"※ राज्य समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। वह एक संघ है जो दूसरे संघों का सर्वोच्च शासनकर्ता है।

२. राज्य और व्यक्ति।

राज्य स्वत साध्य नहीं है। वह व्यक्तियों के परम मंगल की प्राप्ति का एक साधन है। यह व्यक्तियों के चरित्र के विकास के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन नहीं करना चाहिए और व्यक्ति को यन्त्रवत् नहीं बनना चाहिए। राज्य को व्यक्ति का दमन नहीं करना चाहिए। उसे सबके सामान्य शुभ के लिए उसके व्यक्तित्व की वृद्धि और विकास में सहायता देनी चाहिए। आज, जबकि मानव-समाज के पुनर्निर्माण में आदर्शों का भयानक संघर्ष चल रहा है, इस आधारभूत सत्य को याद रखना चाहिए।

सेथ का कथन ठीक ही है कि "नैतिक दृष्टिकोण से राज्य के एक साधन समझना चाहिए स्वत साध्य नहीं। राज्य की सत्ता व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति की राज्य के लिए नहीं। नैतिक इकाई व्यक्ति है और राज्य का कार्य व्यक्ति के स्थान का अपहरण नहीं है, बल्कि उसके व्यक्तित्व के विकास में उसकी सहायता करना—उसे स्थान और अवसर प्रदान करना है। यह उसके लिये है, वह इसके लिये नहीं; यह उसका क्षेत्र है, उसके नैतिक जीवन का माध्यम है।" †

राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप वहीं तक करना चाहिए जहाँ तक दूसरों के व्यक्तित्व का विरोध न करते हुये उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये ऐसा करना अनिवार्य है। उसे व्यक्ति को अपने हीन व्यक्तित्व से उच्च व्यक्तित्व का विकास करने में सहायता देनी चाहिये। हीन व्यक्तित्व पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं उच्च व्यक्तित्व बौद्धिक प्रवृत्तियां हैं। राज्य उच्च व्यक्तित्व को अन्य हीन व्यक्तित्वों के हस्तक्षेप से मुक्त करने के लिये व्यक्ति-मात्र में हस्तक्षेप कर सकता है, उसके उच्च व्यक्तित्व में नहीं। न तो राज्य और न व्यक्ति, बल्कि उच्च-व्यक्ति अन्तिम नैतिक साध्य और नैतिक इकाई है।

३ राज्य के नैतिक आधार।

अराजकतावाद राज्य-शासन की आवश्यकता का निषेध करता है। शासन बल-प्रयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह विशुद्ध व्यक्तिवाद है। यह स्वतन्त्रता के सही अर्थ समझने में भूल करता है। स्वेच्छाचारी शासन व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण कर देता है। यह उसके स्वराज्य के नैतिक विशेषाधिकार का अपहरण करता है। यद्यपि स्वातन्त्र्य नैतिक जीवन का तत्व है, तथापि यह राज्य की सत्ता का विरोधी नहीं है। राज्य स्वयं मानव-आत्मा के प्रयत्न का फल है। मनुष्य स्वभावत

※ नीति के सिद्धान्त, पृ० २८७।

† वही; पृ० २९३।

तथा आध्यात्मिक कल्याण की उन्नति को अपना लक्ष्य बना सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य को नागरिको की शिक्षा, स्वास्थ्य, नौकरी, और आर्थिक-हितो पर ध्यान देना चाहिये। उसे उनको सभ्यता के सभी उपलब्ध सुख प्रदान करने चाहियें। यह परोपकार का रचनात्मक कार्य है।

"राज्य को व्यक्ति के जीवन पर केवल अपना स्वत्व ही नहीं स्थापित करना चाहिये, बल्कि उसका सरक्षण करना चाहिए, उसे व्यक्ति के जीवन का उन्मूलन नहीं, बल्कि स्थापन करना चाहिये। यदि राज्य से पृथक् व्यक्ति नैतिक व्यक्ति नही है, तो जिस राज्य में व्यक्ति का लोप हो जाता है वह भी सच्चा राज्य नही है। सर्वोत्तम राज्य वही है जिसके नागरिक होने में व्यक्ति सबसे अधिक पूर्णता के साथ अपना व्यक्तिगत जीवन यापन करता है।" ॐ

५. राज्य शाश्वत है।

राज्य जनता की सामान्य इच्छा पर आधारित है। यह राज्य का नैतिक अधिकार है। राज्य सर्व सघों का सर्वोच्च शासक है। राज्य व्यक्ति के अधिकारो को स्वीकार करता है और दण्ड का भय देकर उनका आरोपण करता है। राज्य अपने नागरिको के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करता है। वह शान्तिपूर्ण वातावरण का आश्वासन देता है, नियम और व्यवस्था स्थापित करता है, तथा अपने नागरिको की अपने कार्यों के अनुसरण में, आत्म-विकास और आत्म-पूर्णता प्राप्त करने में और व्यक्तित्व के चरम उत्कर्ष करने में, सहायता देता है। अतः राज्य का उन्मूलन नहीं होना चाहिये।

अराजकतावाद राज्य को जनता के जीवन की एक अल्पस्थायी अवस्था मानता है। सब प्रकार के राज्य बल-प्रयोग के रूप हैं। सभी प्रकार के बल-प्रयोग अनैतिक हैं। राज्य के बल-प्रयोग का विनाश होना चाहिये। राज्य का स्थान एक सहकारी-सघ को ग्रहण करना चाहिये।

यह मत सम्यक् नहीं मालूम पडता। मानव-प्रकृति शुभ और अशुभ का मिश्रण है। मानव-प्रकृति का अशुभ-तत्व किसी भी पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में पूर्णतया नष्ट नही किया जा सकता। उसके ऊपर सदैव कोई न कोई बाह्य नियन्त्रण आवश्यक होगा। यदि व्यक्ति का अशुभ स्वभाव अन्यो के अधिकारो के विरुद्ध स्व-प्रतिपादन करता है और समाज-व्यवस्था में बाधा उपस्थित करता है, तो राज्य के द्वारा उसका नियमन होना चाहिये। यदि उसे अनियन्त्रित छोड दिया जाता है, तो उससे नितान्त अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी और फलस्वरूप व्यक्तियो का नैतिक जीवन असम्भव हो जायगा। अत. राज्य एक अनिवार्य सामाजिक अथवा नैतिक सस्था है जो नैतिक मूल्यो की उपलब्धि के लिये आवश्यक माध्यम है। मेथ का कथन ठीक ही है कि "मुझे यह

ॐ वही; पृ० ३०४।

सामाजिक और राजनैतिक सगठन के किसी रूप में निवास करना चाहिये। उसके नैतिक जीवन का राजनैतिक जीवन में लोप नही होता। राज्य की सत्ता ही व्यक्ति के लिये है। अत. राज्य के द्वारा बल-प्रयोग किया जाना उचित ही है जहाँ तक कि वह नैतिक व्यक्ति के आत्म-लाभ का साधन है। आदर्श राज्य नागरिको की सामान्य इच्छा पर आधारित है जिससे राज्य के द्वारा बल-प्रयोग करना नागरिको के अच्छे आत्माओ के सकल्पों का आरोपण बन जाता है। "सर्वोच्च शासन की इच्छा व्यक्तिगत इच्छा अथवा नागरिको की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। जनता की सामान्य इच्छा में, नागरिकों के सामान्य व्यक्तित्व में सर्वोच्च प्रभु-सत्ता का निवास है। अत राज्य की सर्वोच्च शक्ति, राज्य-शासन का रूप जो कुछ भी हो को सार्वजनिक व्यक्ति मानना ठीक है, तथा उसकी आज्ञाकारिता में नागरिक अपने सामान्य व्यक्तित्व के आदेश का पालन करते हैं। राज्य की आज्ञाकारिता का अर्थ नागरिक के अपने ही उच्च आत्मा की आज्ञाकारिता है। प्रकट परतन्त्रता वस्तुत. वेशान्तर में स्वतन्त्रता है, अन्त में मैं राजा भी हू और प्रजा, अपने ही नियम में आबद्ध प्रजा भी हू। राज्य का अधिकार स्वय व्यक्तित्व का अधिकार है, अत वह सर्वोच्च है।"*

४ राज्य के नैतिक कार्य।

राज्य सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक और नैतिक सगठन है। "राज्य के, जो व्यक्ति के नैतिक जीवन का माध्यम है, दो नैतिक कार्य हैं· (१) व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों अथवा समाज के राजनैतिक रूपो के आक्रमणों के विरुद्ध रक्षा करते हुये उसे आत्म-लाभ का अवसर देने का निषेधात्मक कार्य—अर्थात् न्याय का कार्य, (२) प्रत्येक नागरिक के नैतिक जीवन की स्थितियो को उन्नत बनाने का विधानात्मक कार्य—अर्थात् परोपकार का कार्य। प्रथम कार्य का सम्पादन करने में राज्य 'सत्ता' की चिन्ता करता है, शेष कार्य का सम्पादन करने में वह 'कल्याण' की चिन्ता करता है, और जैसे 'सत्ता' अथवा रक्षा-सम्बन्धी हित कल्याण अथवा सम्पन्नता-सम्बन्ध हितों से अधिक आवश्यक हैं, वैसे ही राजनैतिक कर्तव्य परोपकार के कर्तव्य का पूर्वगामी है।"†

राज्य को व्यक्ति के अधिकारो यथा, सम्पत्ति, समझौता इत्यादि के अधिकारों का स्वीकार और सरक्षण करना चाहिये। उसे व्यक्तियो के अधिकारों का अपहरण करने वाले व्यक्तियो को दण्ड देना चाहिये और सामाजिक व्यवस्था का सरक्षण करना चाहिये। यह न्याय का निषेधात्मक कार्य है।

किन्तु राज्य का एक रचनात्मक कार्य भी है। वह अपने नागरिको के भौतिक

* वही, पृ० २९९–३००।
† वही, पृ० ३०२–०३।

तथा आध्यात्मिक कल्याण की उन्नति को अपना लक्ष्य बना सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य को नागरिको की शिक्षा, स्वास्थ्य, नौकरी, और आर्थिक-हितो पर ध्यान देना चाहिये। उसे उनको सभ्यता के सभी उपलब्ध सुख प्रदान करने चाहियें। यह परोपकार का रचनात्मक कार्य है।

"राज्य को व्यक्ति के जीवन पर केवल अपना स्वत्व ही नहीं स्थापित करना चाहिये, बल्कि उसका सरक्षण करना चाहिए, उसे व्यक्ति के जीवन का उन्मूलन नहीं, बल्कि स्थापन करना चाहिये। यदि राज्य से पृथक् व्यक्ति नैतिक व्यक्ति नही है, तो जिस राज्य में व्यक्ति का लोप हो जाता है वह भी सच्चा राज्य नही है। सर्वोत्तम राज्य वही है जिसके नागरिक होने में व्यक्ति सबसे अधिक पूर्णता के साथ अपना व्यक्तिगत जीवन यापन करता है।" ॐ

५. राज्य शाश्वत है।

राज्य जनता की सामान्य इच्छा पर आधारित है। यह राज्य का नैतिक अधिकार है। राज्य सर्व सघो का सर्वोच्च शासक है। राज्य व्यक्ति के अधिकारो को स्वीकार करता है और दण्ड का भय देकर उनका आरोपण करता है। राज्य अपने नागरिको के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करता है। वह शान्तिपूर्ण वातावरण का आश्वासन देता है, नियम और व्यवस्था स्थापित करता है, तथा अपने नागरिको की अपने कार्यों के अनुसरण में, आत्म-विकास और आत्म-पूर्णता प्राप्त करने में और व्यक्तित्व के चरम उत्कर्ष करने में, सहायता देता है। अतः राज्य का उन्मूलन नहीं होना चाहियें।

अराजकतावाद राज्य को जनता के जीवन की एक अल्पस्थायी अवस्था मानता है। सब प्रकार के राज्य बल-प्रयोग के रूप हैं। सभी प्रकार के बल-प्रयोग अनैतिक हैं। राज्य के बल-प्रयोग का विनाश होना चाहिये। राज्य का स्थान एक सहकारी-सघ को ग्रहण करना चाहिये।

यह मत सम्यक् नहीं मालूम पडता। मानव-प्रकृति शुभ और अशुभ का मिश्रण है। मानव-प्रकृति का अशुभ-तत्व किसी भी पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में पूर्णतया नष्ट नही किया जा सकता। उसके ऊपर सदैव कोई न कोई बाह्य नियन्त्रण आवश्यक होगा। यदि व्यक्ति का अशुभ स्वभाव अन्यों के अधिकारो के विरुद्ध स्व-प्रतिपादन करता है और समाज-व्यवस्था में बाधा उपस्थित करता है, तो राज्य के द्वारा उसका नियमन होना चाहिये। यदि उसे अनियन्त्रित छोड दिया जाता है, तो उससे नितान्त अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी और फलस्वरूप व्यक्तियो का नैतिक जीवन असम्भव हो जायगा। अतः राज्य एक अनिवार्य सामाजिक अथवा नैतिक सस्था है जो नैतिक मूल्यो की उपलब्धि के लिये आवश्यक माध्यम है। मैथ का कथन ठीक ही है कि "मुझे यह

ॐ वही, पृ० ३०४।

लगता है कि यद्यपि राज्य-पद्धति में परिवर्तन हो सकते है, तथापि राज्य को नैतिक जीवन की एक महान् सस्था के रूपमें सदैव रहना ही होगा, जब कि उस जीवन में मौलिक परिवर्तन नही होता। दो राज्यो के मध्य सघर्ष का स्थान शान्ति ग्रहण कर सकती है, विरोध का स्थान सामजस्य ग्रहण कर सकता है। किन्तु, राज्य का स्थायित्व नैतिक जीवन के चरम उत्कर्ष से सम्बन्धित मालूम पड़ता है।"❀

राज्यो को विश्व-शान्ति की स्थापना के लिये तथा युद्ध और उनके परिणाम-स्वरूप होने वाले सकट तथा मानव-जीवन और सम्पत्ति की हानि को रोकने के हेतु क्रमिक रूप में अपनी प्रभु-सत्ता के अशो को किसी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को अर्पित कर देना चाहिए। किन्तु, उन्हें अपनी अनन्यता तथा एकता का एक सार्वदेशिक महा-राज्य में विलय नही करना चाहिए। सार्वदेशिकतावाद एक अस्पष्ट कल्पना है। "राष्ट्रीयतावाद नैतिक जीवन का उतना ही स्थायी सिद्धान्त है जितना व्यक्तिवाद।" 'मानव-जाति केवल-मात्र एक अस्पष्ट कल्पना है जब तक उसका राष्ट्र मे विशिष्टीकरण नही होता, जैसा कि राष्ट्र भी है जब तक कि उसका और आगे विशिष्टीकरण और व्यक्तीकरण नही होता।" † वास्तविक नैतिक जीवन व्यक्तिगत जीवन है—वह जीवन जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के मध्य किसी राष्ट्र के राजनैतिक जीवन के माध्यम से, आत्मा के द्वारा आत्मा का, जाति के आचार-व्यवहार द्वारा प्रभावित और परिवर्तित होते हुए साक्षात्कार होता है। व्यक्ति का नैतिक जीवन राष्ट्रीयतावाद के माध्यम से व्यतीत होता है जो मानवतावाद के द्वारा समृद्ध और विशाल बनता है। राज्य अथवा राष्ट्र का स्थान अस्पष्ट और अमूर्त सावदेशिकतावाद के द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता, जिसका परिणाम प्राय व्यक्तिवाद और सामाजिक छिन्न-भिन्नता होता है। नैतिक जीवन राष्ट्रीयतावाद और मानवतावादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित होता है।

६ राज्य के सिद्धान्त।

(१) राज्य एक शक्ति के रूप में—ट्रीट्स्के का मत है कि राज्य की प्रकृति अनिवार्यत सत्तात्मक है। यह शक्ति का सजीव स्वरूप है। राज्य अपने भीतर सुव्यवस्था बनाये रखने तथा बाह्य आक्रमणो से प्रतिरक्षा के हेतु शक्ति का प्रयोग करता है। शासन का अर्थ है दमन। जहाँ कही दमन होगा वह निश्चय ही प्रतिरोध का सामना शक्ति के द्वारा करेगा। इसे अपनी आज्ञाओ को लागू करने के लिये दण्ड की धमकी देनी ही होगी। इस प्रकार शक्ति राज्य का सार तत्व है (मैकेंजी आउट लाइन्स आफ सोशल फिलासफी, पृष्ठ १३३—१३४, १४८—१५०)।

ट्रीट्स्के अपने राज्य सिद्धान्त को जर्मनी के सैनिक शासन पर आधारित करता

❀ नीति के सिद्धान्त, पृ० ३१९।

† वही, पृ० ३१९।

है। परन्तु वास्तव में राज्य केवल शक्ति नही। यह पाशविक बल का सजीव स्वरूप भी नहीं। यह जनता की सामान्य इच्छा पर आधारित है। शासन-संचालन में कुछ शक्ति की आवश्यकता अवश्य ही पड़ती है परन्तु इसका अन्तिम अधिष्ठान जनता की सहमति में है।

(२) राज्य एक यन्त्र रूप में—व्यक्तिवादी लोग व्यक्ति की स्वतन्त्रता को राज्य की सत्ता से अधिक महत्व प्रदान करते हैं। वे राज्य को एक ऐसा यन्त्र मानते हैं जो व्यक्तियों की स्वतंत्रता में अभिवृद्धि करता है। इसका कार्य न्यूनतम होना चाहिये। उसे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। यह आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र कार्य पद्धति का समर्थक है। राज्य का कार्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं का हटाना है। इसका स्वरूप स्वीकारात्मक होने की अपेक्षा निषेधात्मक अधिक है। राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए। (पूर्व पुस्तक, पृष्ठ १५०–५१)।

राज्य की यह धारणा अप्रचलित है। यह केवल उन्हीं व्यक्तियों को लाभ पहुंचा सकती है जो धनवान् और साधन-सम्पन्न हैं। यह निर्धनों तथा दलित वर्गों के लिए हानिकारक है। आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य को सभी नागरिकों की हित-भावना से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करना चाहिए। इसे सब के आत्मविकास और सुख की अभिवृद्धि करनी चाहिए। उग्र-व्यक्तिवाद सामाजिक हित के विरुद्ध है।

हॉब्स, लॉक और रूसो का मत है कि राज्य का जन्म व्यक्तियों द्वारा की गई संविदा का परिणाम है। सामाजिक संविदा सिद्धान्त में यह भावना निहित है कि राज्य स्वतन्त्र व्यक्तियों का एक यन्त्रवत् समूह है जो कि अपने जीवन और सम्पत्ति के उत्पादन के लिए अपने को संगठित करते हैं। वे राज्य का निर्माण करते हैं तथा संशोधन भी कर सकते हैं। यह सिद्धान्त राज्य को एक मानवीय रचना ठहराता है तथा उसके प्राकृतिक स्वरूप की अपेक्षा करता है। वास्तव में राज्य का विकास मनुष्य की सामाजिकता की प्रकृति में से होता है। राज्य के साथ मनुष्य का सम्बन्ध बाह्य तथा यन्त्रवत् नही है। राज्य व्यक्तियों का यन्त्रवत् समूह मात्र नहीं है। वे एक सावयव समाज के सदस्य होते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं कि वे राज्य के स्वतन्त्र सदस्य होते हैं।

(३) राज्य एक सावयव प्राणी के रूप में—हरबर्ट स्पेन्सर, ब्लुंश्ली तथा स्कैफिल का मत है कि राज्य एक सावयव प्राणी है यह अन्योन्याश्रित व्यक्तियों की एक सावयव इकाई है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि एक सजीव शरीर अन्योन्याश्रित कोषों की एक सजीव इकाई है। राज्य एक ऐसा सावयव शरीर है जिसके कोष व्यक्ति हैं। वे राज्य के जीवन में ठीक उसी प्रकार योग देते हैं जिस प्रकार विभिन्न कोष शरीर के जीवन में योग देते हैं। जिस प्रकार प्राणी-शरीर के भीतर विभिन्न

कृत्यों की पूर्ति के लिए विविध अग होते हैं, उसी प्रकार राज्य के भीतर भी विविध कार्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न अग होते हैं। राज्य की उत्पादन-व्यवस्था शरीर की पाचन-व्यवस्था के समान है, यातायात व्यवस्था रक्त-सचार व्यवस्था के तुल्य तथा केन्द्रीय कार्य-पालिका मस्तिष्क के समान जो कि शरीर पर नियत्रण रखता है। इस प्रकार राज्य तथा सजीव शरीर के मध्य पूर्ण समानता पाई जाती है। अत राज्य एक सावयव सगठन है।

यह एक ठीक सिद्धान्त नही है। सर्वप्रथम, यद्यपि व्यक्ति सामाजिक इकाई के अन्योन्याश्रित सदस्य होते हैं, तथापि वे चेतना के स्वतत्र केन्द्र हैं जिनमें अपना निजी जीवन होता है। वे समाज अथवा राज्य का जीवन नही जीते, परन्तु सजीव-शरीर के कोष उसके जीवन से व्याप्त होते हैं उनका अपना निजी जीवन नही होता। व्यक्ति स्वतत्र आत्म-चेतन आत्मा होते हैं जो कि अपने कार्यो का निश्चय तथा अपने उद्देश्यो का अनुसरण करते हैं। वे स्वतत्र तथा आत्म-निर्णय-प्रधान होते हैं। दूसरे, शरीर वातावरण से भोजन लेकर भीतर से ही विकसित होता है। परन्तु राज्य इस प्रकार भीतर से विकसित नही होता। व्यक्तियो की चेतनायुक्त इच्छा तथा प्रयास राज्य में परिवर्तन करते हैं। तीसरे, राज्य में अनिवार्यत विकास, ह्रास तथा मृत्यु का क्रम नही चलता, परन्तु प्राणी-शरीर में आवश्यक रूप से यह क्रम चलता है। अत यद्यपि राज्य कुछ बातो में उससे मिलता जुलता है तथापि वह एक सावयव प्राणी नही है।

(४) राज्य एक व्यक्ति के रूप में—ब्लुंश्ली राज्य को एक व्यक्तित्व मानता है। "राज्य एक निश्चित भूक्षेत्र पर शासन और शासित के रूप में मनुष्यो का एक सगठन अथवा समुदाय है, जो कि परस्पर एक नैतिक रूप से सगठित पुरुषवाचक व्यक्तित्व के रूप में सगठित हुआ है।" [ब्लुश्ली दी थ्योरी ऑफ दी स्टेट—पुस्तक १, अध्याय १, पृष्ठ ६७। जर्मन भाषा में राज्य पुरुषवाचक तथा चर्च स्त्रीवाचक है। राज्य स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषों का विषय अधिक है तथा चर्च पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो का। राज्य अपने शासन के सचालन के लिए जिस शारीरिक बल पर निर्भर रहता है वह इसे स्त्री की अपेक्षा पुरुष के समान अधिक सिद्ध करता है। परन्तु राज्य को एक पुरुषवाचक व्यक्तित्व मानना अविवेकपूर्ण एव स्वेच्छाचारिता है।

हेगेल राज्य को आत्म-चेतना की एकता से सम्पन्न सजीव व्यक्ति मानता है। इसका व्यक्तित्व इसके व्यक्तिगत सदस्यों के व्यक्तित्व से परे और उच्च होता है। इसकी अपनी एक सकल्प शक्ति तथा चेतना होती है जो कि इसके सदस्यों की इच्छाशक्ति और चेतना से भिन्न होती है। इसका उद्देश्य इनके उद्देश्यो से भिन्न है। इसे उन पर अपनी इच्छा लादने तथा उनकी इच्छाओ व क्रियाओ को नियन्त्रित व नियमित करने का अधिकार है।

राज्य म कुछ विशेषताए व्यक्ति जैसी होती हैं। यह निर्णय कर सकता है तथा उन्हें लागू भी कर सकता है जिसके लिए वह उत्तरदायी होता है। परन्तु वास्तव में वे निर्णय तथा कार्य राज्य की ओर से कुछ अधिकारियो द्वारा किए जाते हैं। राज्य स्वय उन्हें नही करता है। राज्यो को एक व्यक्तित्व प्रदान करना उचित नहीं होगा। इसे पृथक् व्यक्तित्व तथा इच्छा तथा सदस्यो के कार्यों पर नियत्रण करने की अबाध सत्ता के अधिकारों से युक्त मानना खतरनाक है। इसका परिणाम राज्य की निरकुशता स्वेच्छाचारिता एव अधिनायकवाद होता है। इसका स्वाभाविक परिणाम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। यह व्यक्तिगत उपक्रमण-शक्ति तथा स्वतन्त्रता को नष्ट करके सभ्यता की जडें काटता है।

(५) राज्य अतिमानव के रूप में—हेगेल राज्य को ब्रह्म अथवा परमेश्वर की परोक्ष अभिव्यक्ति मानता है। "राज्य का अस्तित्व ससार में ईश्वर का प्रवास है। यह धरती पर अबाध सत्ता है; यह स्वय ही अपना उद्देश्य (हेतु) तथा लक्ष्य है।" (हेगेल) राज्य अतिमानवी है।

राज्य को उसके सदस्यो के व्यक्तित्व से परे एव उच्च अति-मानवी मानना व्यक्तियो की स्वतन्त्रता के विरुद्ध है। राज्य को दैवी मानने का अर्थ है उसकी अबाध एवं सर्वोच्च व सम्पूर्ण सत्ता को स्वीकार करना। वह व्यक्तियो की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देता है तथा अपने विरुद्ध विद्रोह करने अथवा अपने राज्य की आलोचना करने के उनके अधिकार का निषेध करता है। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष है राज्य की निरकुशता, स्वेच्छाचारिता तथा अधिनायकवाद। राज्य कोई पृथक् व्यक्तित्व (वास्तव में) नहीं होता। इसकी अपनी सकल्प शक्ति तथा चेतना भी नहीं होती। इसका अस्तित्व व्यक्तियो के हित के लिए होता है। यह उनके हितों की पूर्ति का एक साधन अथवा यत्र है। यह उनके नैतिक कल्याण में अभिवृद्धि करता है तथा उनके मानसिक, नैतिक तथा सौन्दर्य-विषयक विकास में योग देता है। यह उनके आत्म-लाभ का अनिवार्य साधन है। साधनों को उद्देश्य के रूप में परिवर्तित करना नैतिकता के लिए घातक होता है, अत राज्य को साध्य न मानकर साधन मानना ही अधिक उपयुक्त है।

(६) राज्य एक नैतिक सस्था के रूप में—ग्रीन का मत है कि राज्य अपने व्यक्तिगत सदस्यो के आत्म-लाभ के लिए आवश्यक है। वह मनुष्य की सामाजिक प्रकृति में निहित है। मनुष्य अपनी सकल्प शक्ति के प्रयोग में स्वतन्त्र होता है। उसे स्वतन्त्रता होती है। उसकी स्वतन्त्रता में से अधिकारो का उदय होता है। उसके अधिकार राज्य के अस्तित्व की माँग करते हैं। यह (राज्य) उसकी स्वतन्त्रता के मार्ग से बाधाए दूर करता है तथा व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायता देता है। यह उसके आत्म-लाभ को प्रोत्साहित करता है तथा यह उसके आत्म-विकास का सर्वोच्च साधन है।

बोजेन्के का मत है कि राज्य एक नैतिक सस्था है। यह व्यक्ति को वास्तविक

स्वतन्त्रता अथवा विवेकपूर्ण आत्मनियन्त्रण की प्राप्ति में सहायता देता है। यह जनता की सामान्य इच्छा पर आधारित है। सामान्य इच्छा (general will) व्यक्तिगत नागरिको की तर्कसम्मत (विवेकपूर्ण) इच्छाओ की व्यवस्था है। राज्य की आज्ञाओ का पालन करते समय वे सामान्य-इच्छा अथवा अपनी व्यवस्थित विवेकपूर्वण इच्छाओ का पालन करते है। राज्य-भक्ति हमारे अपने उच्चतर आत्मा के प्रति भक्ति है। हमारा आदर्श स्वरूप (आत्मा) सामाजिक है। हम एक दूसरे के सदस्य हैं। हमारा कर्तव्य-क्षेत्र सामाजिक इकाई के भीतर ही होता है। आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य की सावयव प्रकृति का समर्थक है। नव-हेगेलवादी, ग्रीन तथा बोज़े के उदार-आदर्शवाद का समर्थन करते है तथा हेगेल उग्र-आदर्शवाद का। ग्रीन व बोज़ेन्के के आदर्शवादी सिद्धान्त में पर्याप्त सत्य है। (जे० पी० सूद एलीमेंट्स ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, अध्याय ८)।

७. समष्टिवाद (Collectivism)।

जनतन्त्रात्मक उदारवाद व्यक्ति को साध्य एव राज्य को साधन मानता है परन्तु समष्टिवाद व्यक्ति को साधन एव राज्य को साध्य समझता है। उसकी दृष्टि से राज्य स्वय ही ध्येय है तथा यह निरकुश एव सर्व-सत्तासम्पन्न या सर्वशक्तिमान् है। व्यक्ति उसके कल्याण और उसकी महत्ता का साधन-मात्र है। "मनुष्य पूर्ण इकाई में और उसके द्वारा ही स्वतन्त्र हो सकता है। यह पूर्ण इकाई केवल सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्य ही है। वादविवाद तथा नियन्त्रण को सहन नही करता।" (मुसोलिनी)। राज्य अपने कल्याण के लिये व्यक्ति समस्त कार्यों को नियन्त्रित एव नियमित कर सकता है। इसमें व्यक्ति के सुख का प्रश्न नहीं उठता। यह उसकी नागरिक स्वतन्त्रता को कम कर सकता है। यह शिक्षा, कला, नैतिकता और धर्म को नियमित करता है। यह उसकी आर्थिक क्रियाओ पर भी नियन्त्रण करता है तथा व्यक्तिगत नागरिको के सम्पूर्ण जीवन पर अपना अनुशासन लागू कर सकता है। यह सिद्धान्त एक दल, एक विचार तथा जीवन के एक ढाँचे में विश्वास करता है। यह भाषण, अभिव्यक्ति, सम्मेलन तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रताओ का निषेध करता है। यह इसके अनुसार राज्य, सिनेमा, रेडियो, प्रेस, विद्यालय, धार्मिक सस्थाओ तथा राष्ट्र के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण करता है। समष्टिवाद एक सर्वोच्च तथा पूर्ण इच्छाशक्ति वाले अधिनायक (Dictator) के शासन में विश्वास करता है। अधिनायक अपने विश्वस्त विशेषज्ञो की सहायता से राष्ट्र का शासन चलाता है। वह कडी दण्ड व्यवस्था द्वारा शासन करता है। इसके शासन के प्रमुख साधनो में शक्ति, आन्तरिक, षडयन्त्र तथा विरोधियो का दल हैं। समष्टिवादी राज्य विधान सभाओ में चर्चा तथा वादविवाद का कोई अवसर नही देता। इसके अनुसार कार्यपालिका सर्वोच्च है। उनकी आज्ञाओ का पालन अनिवार्यत किया जाना चाहिये। समष्टिवाद पाशविक सेना बल तथा निरकुश शासन में विश्वास करता है।

(१) फासीवाद (Fascism)—फासीवाद समष्टिवाद का एक स्वरूप है। यह राज्य की सावयव धारणा का समर्थन करता है। यह राज्य को एक आध्यात्मिक एकता मानता है जो कि उसके व्यक्तिगत सदस्यों को बनाए रखती है। यह व्यक्तियों का एक झुण्ड मात्र नही है। यह एक पूर्ण ईकाई है जो अपने सदस्यो के योग मे भी कुछ अधिक है। व्यक्तियो का अस्तित्व राज्य के ही लिए होता है। वे इसके उद्देश्य की प्राप्ति के साधन हैं।

फासिज्म व्यक्ति को राज्य की बलिवेदी पर बलिदान कर देता है। यह उसे स्वतन्त्रता नहीं देता है तथा वह आत्मा को एक यन्त्र की भांति मानता है। यह राष्ट्र-वाद को महत्व प्रदान करता है तथा राष्ट्रीय राज्य में विश्वास करता है। फासीवादी राज्य में व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है परन्तु राज्य के लिए आवश्यकता पड़ने पर व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का बलिदान करने को विवश होता है। फासीवाद वर्ग संघर्ष में विश्वास नही रखता। यह राष्ट्रहित के लिए श्रम और पूजी दोनो में सहयोग उत्पन्न करता है। नात्सीवाद राष्ट्रीय समाजवाद का समर्थन करता है। फासीवाद तथा नात्सीवाद राष्ट्र के गौरव के लिए युद्ध की महत्ता के विषय में अतिशयोक्ति करते हैं। (ऐलिमेन्ट्स आफ पोलिटिकल साइन्स, अध्याय १३)।

(२) साम्यवाद (Socialism)—साम्यवाद मार्क्स और ऐन्जिल्स के विचारों पर आधारित है। उनका मत है कि राज्य एक ऐसा संगठन है जिसमें पूंजीवादियो का शासन होता है और वे श्रमिको का शोषण करते हैं। ये एक ऐसी संयुक्त समुदाय नहीं है जिसमें सब वर्गों के लोग सामान्य हित की प्राप्ति के लिये परस्पर सहयोगपूर्वक कार्य करते हों। राज्य एक वर्गीय संगठन है जिसका आधार सत्ता, शक्ति और हिंसा है। यह सम्पत्तियो का एक ऐसा संगठन है जिसमें वे सम्पत्तिहीनो के श्रम पर अपना हित साधते हैं। साम्यवाद का उद्देश्य एक वर्गविहीन शासन की स्थापना करना है। जनतन्त्रवाद उदारवाद ने अपनी संस्थाओं का निर्माण व्यक्ति के अधिकारो तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की पवित्रता पर किया है। साम्यवाद उनकी रचना श्रमिको के सामूहिक अधिकारो पर करता है। यह शक्ति तथा हिंसा द्वारा सर्वहारा वर्ग का अधि-नायकत्व स्थापित करना चाहता है। श्रमिकों को शक्ति द्वारा राज्य पर अधिकार जमा लेना चाहिये तथा पूंजीवादी वर्ग को सम्पत्तिविहीन करना चाहिये। राज्य स्थायी नहीं है यह एक अस्थायी संस्था है जिसे पूंजीपतियो ने अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिये अब तक बनाये रखा है। जब श्रम और पूंजी के मध्य संघर्ष समाप्त हो जायगा तथा वर्गहीन समाज की स्थापना हो जायगी तब राज्य भी समाप्त हो जायगा। साम्यवाद का आदर्श एक वर्गविहीन व राज्यविहीन समाज है। अराजकतावाद का आदर्श भी यही है, वह समस्त शासन को दमन-चक्र मानता है। साम्यवाद का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है। इसका उद्घोष "विश्व के श्रमिकों संगठित हो जाओ" है। यह शक्ति तथा हिंसा

द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिकों का सहयोगी साम्राज्य स्थापित करने के लिये समस्त संसार में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित करना चाहता है। साम्यवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय विचार है तथा फासीवाद राष्ट्रीय। साम्यवादी आदर्श 'श्रम करो और खाओ' है। जो श्रम अथवा उत्पादन नही करता उसे खाना भी नही चाहिये। श्रम करना अधिकार एव कर्तव्य दोनो है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करना चाहिये तथा उसे अपने कार्य के अनुसार वेतन मिलना चाहिए। साम्यवाद इतिहास की आर्थिक व्यवस्था के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर आधारित है। राजनैतिक संस्थाये, विधि, कला, धर्म तथा दर्शन सभी कुछ आर्थिक शक्तियो द्वारा निर्धारित होते हैं। वे पूर्णतया समाज में प्रचलित उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था द्वारा निर्धारित होते हैं। साम्यवाद अनीश्वरवादी अथवा नास्तिक है। इसके अनुसार धर्म जनता के मस्तिष्क को सुलाने का एक साधन है। रूस का साम्यवादी राज्य सर्वसत्तावादी है। (ऐलीमेन्ट्स आफ पालिटिकल साइन्स, अध्याय १४)।

८ समष्टिवाद की आलोचना।

समष्टिवाद व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान कर देता है तथा उसे अपने हितो की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने का अधिकार एव उसकी स्वतन्त्रता नही देता। यह राज्य को स्वय एक उद्देश्य मानता है। इसे उसकी निरकुशता तथा सम्पूर्ण शक्तिमत्ता में विश्वास है। राज्य के दो प्रधान गुण अथवा मूल्य राजनैतिक सत्ता एवं नैतिक प्रतिष्ठा है। यह नागरिको को इन मूल्य की प्राप्ति के लिये बाध्य करता है। परन्तु वास्तव में व्यक्ति का श्रेष्ठ जीवन ही राज्य का उद्देश्य है। यह व्यक्ति के सत्य, शिव, सुन्दर तथा आनन्द की प्राप्ति का साधन है। राज्य को दैवी-स्वरूप प्रदान करना मूल्यो को विकृत करना है। (जोड फिलॉसफी फॉर आवर टाइम्स, पृ० ३१५)। केवल व्यक्ति ही चेतना व इच्छा-शक्ति के स्वतन्त्र केन्द्र होते हैं। वे बुद्धिमान तथा नैतिक प्राणी होते हैं। वे ही नैतिक मूल्यो का अनुसरण कर सकते हैं। राज्य में जीवन, चेतना और इच्छा-शक्ति नही होती। इसका कोई व्यक्तित्व नही होता। व्यक्तिगत नागरिको के हितो के अतिरिक्त उसके कोई पृथक् हित नही होते। उनके कल्याण के अतिरिक्त उसका कोई अन्य उद्देश्य नही हो सकता। राज्य का मूल्य उसके व्यक्तिगत सदस्यो के नैतिक मूल्य पर निर्भर है। अच्छे राज्य में समस्त अथवा अधिकांश नागरिक सद्-जीवन व्यतीत करते हैं। बुरे राज्य मे समस्त अथवा अधिकाश नागरिक असद्-जीवन बिताते हैं। मस्तिष्क ही मूल्यो का अनुसरण तथा उनकी पहचान कर सकते हैं। राज्य का कोई मस्तिष्क नही होता अत यह मूल्यो की पहचान और उनका अनुसरण नही कर सकता। यह किसी मूल्य का प्रतीक नही हो सकता। नैतिक उपक्रमण की शक्ति या स्वतन्त्रता केवल व्यक्तियो में ही हो सकती है। उनकी स्वतन्त्रता

का अपहरण राज्य द्वारा नही किया जाना चाहिये। (पूर्व पुस्तक, पृ० ३२१-२२)।

१. जनतंत्र (Democracy)।

समष्टिवाद की अपेक्षा जनतंत्र अधिक उत्तम सामाजिक तथा राजनीतिक आदर्श है। इसका अर्थ है लोक-प्रिय अथवा बहुमत-शासन। राष्ट्रपति लिंकन ने जनतंत्र की परिभाषा इस प्रकार की है—'जनता का, जनता द्वारा तथा जन-हितार्थ शासन।' सभी सत्-शासन जनता का और जन-हिताय होता है, परन्तु जनतंत्र की विशेषता यह है कि वह जनता अथवा बहुमत द्वारा शासन होता है। आधुनिक जनतंत्र प्रतिनिधि-मूलक शासन है। प्रतिनिधिमूलक शासन का अर्थ है समस्त जाति के हितो की पूर्ति के लिये जनता के प्रतिनिधियो का शासन। जनता पर बहुमस्यक दल के शासन को ससदात्मक प्रणाली कहते हैं। इसमें कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। जनतंत्र उत्तरदायी शासन होता है। जनता के प्रतिनिधि विधि-निर्माण करते हैं तथा समस्त जनता उनका पालन करती है। वे अपने श्रेष्ठतम प्रतिनिधियो द्वारा बनाई गई विधियो का पालन करते हैं। जनतंत्र में स्वेच्छाचारिता, दमन और अत्याचार नही होता। विधि की दृष्टि में सभी नागरिको का पद समान होता है। सभी व्यक्तियो को आत्म-विकास के लिये समान अवसर मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। व्यक्ति की सर्वोच्चता ही जनतंत्र का आधार है। राज्य अपने व्यक्तिगत नागरिको के श्रेष्ठ और सद् जीवन का एक साधन माना जाता है। जनतंत्र नागरिको को भाषण, सम्मेलन तथा प्रकाशन की स्वतंत्रता प्राप्त है। यह राज्य के हस्तक्षेप को अल्पतम कर सकता है। राज्य की सुरक्षा में जहाँ तक बाधा न पड़े वहा तक यह व्यक्ति को अधिकतम स्वतंत्रता प्रदान करता है। यह राज्य के उद्देश्यो को पूर्ति के लिये व्यक्ति के जीवन के सैन्यीकरण के विरुद्ध है।

जनतंत्र की सफलता के लिये एक उच्च नागरिक, भावनापूर्ण पर्याप्त मात्रा मे राजनीतिक बुद्धिमत्ता, ईमानदारी का उच्च स्तर, राष्ट्रीय एकता तथा भक्ति की प्रबल भावना, व्यापक शिक्षा तथा जनता मे सम्पत्ति की गम्भीर असमानता का अभाव अत्यन्त आवश्यक है। (ऐलिमेन्ट्स ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, अध्याय १२)

जनतंत्र राजनीतिक स्वतंत्रता तथा समानता पर बहुत जोर देता है। परन्तु यह आर्थिक सुख और समानता से उसकी पूर्ति नही करता। राजनीतिक स्वतंत्रता आर्थिक स्वतंत्रता की साधक है। जनतंत्र को व्यक्तियो के अधिकतम, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक हितो का सम्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिये। जनतंत्र राज्य के निरकुशवाद अथवा सर्वस्वायत्तवाद (Totalitariarism) की अपेक्षा कही अधिक उच्च सामाजिक सिद्धान्त है।

१० व्यक्तिवाद (Individualism)—व्यक्तिवाद व्यक्ति को उद्देश्य मानता है तथा उसके विकास को राज्य का लक्ष्य। व्यक्ति का अधिकतम हित प्राप्त

करने का सबसे अच्छा साधन यही है कि राजकीय हस्तक्षेप बचाकर उसे अधिक से अधिक स्वाधीनता दी जाय। इसका प्रमुख कर्तव्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके द्वारा अधिकारो के उपभोग के मार्ग से बाधाओ को हटाना तथा उनके अपहरण पर दण्ड की व्यवस्था करना है। राज्य का प्रधान कर्तव्य शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करना है। इसका कार्य सक्रियात्मक होने की अपेक्षा निष्क्रियात्मक अधिक है। यह व्यक्तियो के शक्ति और जीवन की रक्षा का साधन है। यह व्यक्ति के सद्-जीवन तथा सुख की उन्नति का साधन नही है। व्यक्तिवाद राज्य के पुलिस कार्यो मे ही विश्वास करता है। यह व्यक्ति के सुख के लिये उस पर राज्य नियन्त्रण की अपेक्षा आत्म-नियन्त्रण का समर्थन करता है। यह आर्थिक क्षेत्र मे अबोध कार्य करने के सिद्धान्त में विश्वास करता है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति को मनचाहे कार्य करने दो। यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता की उपक्रमण की शक्ति तथा उसके साहस को अत्यधिक महत्व देता है। यह व्यक्तिगत साहस में सामाजिक हित की दृष्टि से राज्य के हस्तक्षेप की महत्ता को न्यूनतम कर देता है।

व्यक्तिवाद एकपक्षीय सिद्धान्त है। यह वहा तक ठीक है जहा तक कि यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता एव उसकी उपक्रमण शक्ति को स्वीकार करता है। परन्तु इसकी यह धारणा गलत है कि मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी है तथा वह प्रतियोगिता (competition) द्वारा ही उन्नति कर सकता है। मनुष्य का स्वभाव स्वार्थी तथा परार्थी दोनो प्रकार का है। मनुष्य सहयोग तथा पारस्परिक सहायता द्वारा कार्य करता है। उसकी प्रकृति मूलत सामाजिक है। समाज असम्बद्ध व्यक्तियो का एक झुण्ड मात्र नहीं है। यह अन्योन्याश्रित व्यक्तियो का एक सावयव सगठन है। यह मनुष्य की सामाजिक प्रकृति मे सामान्य हित की आध्यात्मिक एकता है। अपग, निर्बल, असमर्थ तथा निर्धन व्यक्ति अपने को सबल, धनी तथा साधन-सम्पन्न व्यक्तियो-द्वारा शोषण से अपनी रक्षा नही कर सकते। उनके हित के लिये राज्य का सरक्षण हो। एक आधुनिक लोक-कल्याणकारी राज्य को समस्त नागरिकों के सद्-जीवन एव सुख की अभिवृद्धि का प्रयास करना चाहिये। इसका कार्य विधानात्मक है। व्यक्तिवाद अपने उग्र-स्वरूप मे निरुपयोगी हो चुका है। १८ वी, १९ वी शताब्दी मे इसका प्रतिपादन उदारवादियो ने किया था। व्यक्तिवाद का समर्थन समष्टिवाद तथा समाजवाद ने भी किया है। (ऐलिमेन्ट्स आफ पोलिटिकल साइन्स, पृष्ठ ३३२–३४७)।

११ अराजकतावाद ((Anarchism)—अराजकतावाद व्यक्तिवाद का उग्र-स्वरूप है। इसका आदर्श राज्यविहीन तथा वर्ग-विहीन समाज है। इसके अनुसार समस्त शासन दमन पर आधारित है तथा राज्य सगठित हिंसा के अतिरिक्त कुछ नही। व्यक्तिगत सम्पत्ति समाप्त की जानी चाहिये। उत्पादन के समस्त साधन जाति के पास होने चाहिये। राज्य के स्थान पर एक सहयोगी समाज की स्थापना की

जानी चाहिये जिसमें प्रतियोगिता का स्थान सहयोग ले लेगा। अराजकतावाद मनुष्य की स्वाभाविक श्रेष्ठता तथा सामाजिक प्रकृति में विश्वास करता है। अराजकवादी समाज में शोषण, हिंसा और पाशविक शक्ति के लिये कोई स्थान नही। उसमे दमन, विधि और शासन का अभाव रहेगा परन्तु फिर भी उसमें व्यवस्था, सामजस्य, सहयोग, प्रेम और सेवा प्रचुर मात्रा मे रहेगे। उसमें विभिन्न वृत्तिक समूह के अनेक सहयोगी समुदाय होगे।

साम्यवाद का उद्देश्य भी अराजकतावाद ही है। इसका उद्देश्य भी राज्य-विहीन एव वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना है। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व तो एक सक्रातिकालीन योजना है। साम्यवाद इस सामाजिक आदर्श की प्राप्ति हिसा एव शक्ति द्वारा करना चाहता है। महात्मा गाँधी भी अराजकतावाद में विश्वास रखते हैं। उनका उद्देश्य भी श्रेष्ठ व्यक्तियो का राज्य-विहीन और वर्ग-विहीन समाज है जो स्वय अपने उपर शासन करे। परन्तु वह अपने सामाजिक आदर्श को अहिंसा के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि अराजकतावाद और हिंसा साथ साथ चलें। अराजकतावाद की स्थापना के लिये हिंसा आवश्यक नही। (पूर्व पुस्तक, ३९१-३९९)।

अराजकतावाद अव्यवहारिक और कल्पनात्मक है। यह मानवीय जीवन को आवश्यकता से अधिक सरल व श्रेष्ठ मानता है। वास्तव मे मनुष्य की प्रकृति सत् और असत् का सम्मिश्रण है। वह स्वार्थी तथा परोपकार प्रतियोगी तथा सहयोगी, आक्रमणशील तथा सन्धिपरायण दोनो प्रकार की है।

मनुष्य की असत् तथा असामाजिक प्रकृति का दमन शासकीय सत्ता द्वारा होना चाहिये। राज्य शान्ति एव व्यवस्था की स्थापना अपनी भौतिक शक्ति द्वारा ही कर सकता है। मानवीय समाज के लिये राज्य अपरिहार्य है। इसे कभी भी नहीं हटाया जा सकना है। शासन का स्वरूप बदल सकता है परन्तु राज्य सदा ही रहेगा। यह स्थायी है। राज्य-विहीन समाज की स्थापना हिंसा से ही हो सकती है, न कि अहिंसा से ही। परन्तु साम्यवाद तथा गाँधीवाद दोनो अव्यवहारिक हैं। रूसी साम्यवाद ने एक सर्वस्वायत्तवादी अकुश की स्थापना की है जो कि जनता पर अपनी आज्ञाओ को कठोरता के साथ लागू करता है तथा जिसने अपने नागरिको के जीवन का पूर्ण सैन्यीकरण कर लिया है। यह अपने नागरिको को विचार, अभिव्यक्ति तथा आर्थिक स्वतत्रता के लिये समुदाय बनाने की स्वतत्रताए नही देता। यह उन्हे स्वतत्रता का निषेध करके स्वतंत्र करना चाहता है। समष्टिवाद व्यक्तिगत स्वतत्रता का निषेध है। ऐसा निरकुश राज्य अपने को कैसे समाप्त कर सकता है तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना किस प्रकार हो सकती है? क्या सैनिक शक्ति से सम्पन्न सोवियत राज्य

ने सहयोगी समाज के निर्माण के लिये कोई प्रयत्न किया है ? सैनिक अधिनायकवाद असैनिक सहयोग की स्थापना नही कर सकता।

अहिंसात्मक गाँधीवादी अराजकतावाद अधिक व्यवहारिक है क्योकि गाँधी जी राजनीतिक व आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जोर देते हैं। उनकी नवीन व्यवस्था के आधार ये हैं—राजनीतिक व आर्थिक विकेन्द्रीकरण, नि शस्त्रीकरण तथा मनुष्य का नैतिक पुनर्जागरण। परन्तु प्रेम द्वारा घृणा और क्रोध को जीतना हिंसा के स्थान पर अहिंसा का प्रयोग, अनावश्यक वस्तुओ का ऐच्छिक त्याग, असग्रह, अलोभ, आत्मपवित्रता, मनुष्य-मात्र के लिये प्रेम व सदिच्छा अर्थात् मनुष्य की प्रकृति का पूर्ण परिवर्तन तथा निम्नतर वासनाओ का पूर्ण दैवीकरण बहुत कठिन है। मनुष्य में भ्रातृत्व की स्थापना परिशोधित मानवीय प्रकृति की कल्पना के आधार पर नही की जा सकती। यह एक महान् आदर्श, एक दिव्य-स्वप्न है तथा एक भव्य कल्पना है जो कि एक नई व्यवस्था की स्थापना के हेतु प्रयत्न करने के लिये श्रेष्ठ मनुष्यो को सदा प्रेरित करेगी। परन्तु इस आदर्श की प्राप्ति दुर्लभ है। परन्तु यदि मानवीय प्रकृति यथावत् रही तो इसकी प्राप्ति दुर्लभ ही है। परन्तु मनुष्य-समाज के दु खो का निराकरण निश्चयत इस दिशा में चलने से ही हो सकता है।

१२ समष्टिवाद, समाजवाद और साम्यवाद।

व्यक्तिवाद समाज को व्यक्तियो का यत्रवत् झुण्ड मानता है जिनके मध्य कोई आन्तरिक सम्बन्धो का बन्धन नहीं होता। इसके विपरीत समाजवाद अथवा समष्टिवाद समाज को एक अन्योन्याश्रित व्यक्तियो का एक सावयव सगठन मानते हैं जिनके मध्य आन्तरिक बन्धन का सम्बन्ध होता है। व्यक्तिवाद मनुष्य की स्वार्थपरायण और प्रतियोगी प्रकृति पर जोर देता है तथा समाजवाद परार्थ-प्रवृत्ति तथा सहयोगी प्रकृति पर। व्यक्तिवाद व्यक्ति के अधिकतम लाभ के लिये उसकी स्वतन्त्रता पर जोर देता है तथा राज्य-हस्तक्षेप को अल्पतम कर देता है। समाजवाद सामाजिक हित अथवा समूचे समाज के अधिकतम हित पर बल देता है तथा राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप करने की व्यापक शक्तिया प्रदान करता है। व्यक्तिवाद राज्य-नियत्रण को अल्पतम कर देना चाहता है तथा समाजवाद अधिकतम। परन्तु वे दोनो व्यक्तियो के अधिकतम हित अथवा सामान्य-हित को अपना उद्देश्य मानते हैं। उनके लक्ष्य में कोई भेद नही है, केवल उनके साधन ही भिन्न हैं व्यक्तिवाद निजी-सम्पत्ति तथा भूमि व पूंजी के व्यक्तिगत-स्वामित्व में विश्वास रखता है परन्तु समाजवाद इसके विपरीत, समस्त सम्पत्ति भूमि व पूंजी के राज्य -स्वामित्व मे विश्वास करता है। इसके अनुसार समस्त सम्पत्ति, का स्वामित्व जाति मे निहित है। उस पर सबका समान स्वामित्व होना चाहिये तथा उसका उपभोग सब के द्वारा होना चाहिये। उत्पादन के समस्त साधनो पर राज्य का स्वामित्व एव नियत्रण होना चाहिये तथा

राज्य का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तिगत नागरिको के मध्य वस्तुओ का समान वितरण करे। व्यक्तिवाद स्वतन्त्रता के प्रत्यय पर वल देता है, समाजवाद समानता और बन्धुत्व पर। व्यक्तिवाद मनुष्य के लाभ-प्रयोजन पर बल देता है, समाजवाद सेवा-प्रयोजन पर। व्यक्तिवाद का लक्ष्य एक अर्जनकारी एव प्रतियोगी समाज की स्थापना है, इसके विपरीत समाजवाद का लक्ष्य शोषण से मुक्त तथा पारस्परिक सहायता व बन्धुत्व के एक सहयोगी समाज की रचना है।

समाजवाद जनतन्त्र में निष्ठा रखता है। यह क्रमिक-विकास में विश्वास करता है। यह वर्ग-हीन समाज की रचना सांविधानिक साधनो द्वारा करना चाहता है। यह समाज के भीतर वाँछित परिवर्तन लाने के लिए विधायिका, राजनीतिक शिक्षण एव नैतिक-मत परिवर्तन का आश्रय लेता है। इसकी आस्था विकास के सिद्धान्त में है न कि क्रान्ति में। यह सम्पत्ति की गम्भीर असमानताओ को समाप्त कर देना चाहता है। परन्तु यह आय की असमानता को समाप्त नही करता। इसका सिद्धान्त यह है—'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार (कार्य लिया जाए) तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य के अनुसार (वेतन) दिया जाय।' यह व्यक्तिगत सम्पत्ति का सम्पूर्ण निषेध नही करता। समाजवादी समाज के भीतर कोई व्यक्ति मकान बनवा सकता है, मोटर-कार तथा बैंक-कोष रख सकता है। परन्तु वह अपनी सम्पत्ति को अपनी सन्तान के लिए नही छोड सकता, तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की एक निश्चित सीमा भी होती है। समाजवाद का उद्देश्य सम्पत्ति का सम-वितरण है।

साम्यवाद का लक्ष्य भी वर्गहीन समाज की स्थापना है परन्तु यह उसकी स्थापना क्रान्ति, शक्ति, आतक एव युद्ध द्वारा करना चाहता है। यह सामाजिक क्रान्ति में विश्वास करता है। विकास और सांविधानिक साधनो में नही। साम्यवाद एक ही छलाग में प्राप्त होने वाला समाजवाद है। यह सम्पत्तिवान् वर्ग की सम्पत्ति का अपहरण उन्हे नष्ट करके करना चाहता है। उसकी नीति विरोधियो का नाश करने की है। इसके लिए यह निर्दयतापूर्वक-दमन की नीति अपनाना चाहता है। समाजवाद का उद्देश्य राज्य-विहीन समाज नही है। राज्य-समाजवाद राज्य की केन्द्रीय सत्ता को आवश्यक मानता है जो कि समस्त भूमि व पूँजी पर स्वामित्व व नियन्त्रण रखे, उसका प्रशासन करे तथा व्यक्तियो के मध्य वस्तुओ का समान वितरण करे। यद्यपि साम्यवाद का उद्देश्य राज्य-विहीन अथवा अराजक समाज की स्थापना करना है तथापि व्यवहारिक रूप में इसने राज्य के भीतर समूची सत्ता व शक्ति को केन्द्रित कर दिया है तथा उसे आसुरी-सैन्यशक्ति की सहायता द्वारा स्वेच्छाचार तथा अत्याचारी बना दिया है।

समाजवादी आदर्श यह है—'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार तथा उसे उसके कार्य के अनुसार।' साम्यवादी आदर्श इसके विपरीत यह है—'प्रत्येक से

ने सहयोगी समाज के निर्माण के लिये कोई प्रयत्न किया है ? सैनिक अधिनायकवाद असैनिक सहयोग की स्थापना नही कर सकता ।

अहिंसात्मक गाँधीवादी अराजकतावाद अधिक व्यवहारिक है क्योकि गाँधी जी राजनीतिक व आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जोर देते हैं। उनकी नवीन व्यवस्था के आधार ये हैं—राजनीतिक व आर्थिक विकेन्द्रीकरण, नि शस्त्रीकरण तथा मनुष्य का नैतिक पुनर्जागरण । परन्तु प्रेम द्वारा घृणा और क्रोध को जीतना हिसा के स्थान पर अहिंसा का प्रयोग, अनावश्यक वस्तुओ का ऐच्छिक त्याग, असग्रह, अलोभ, आत्मपवित्रता, मनुष्य-मात्र के लिये प्रेम व सदिच्छा अर्थात् मनुष्य की प्रकृति का पूर्ण परिवर्तन तथा निम्नतर वासनाओ का पूर्ण दैवीकरण बहुत कठिन है। मनुष्य में भ्रातृत्व की स्थापना परिशोधित मानवीय प्रकृति की कल्पना के आधार पर नही की जा सकती । यह एक महान् आदर्श, एक दिव्य-स्वप्न है तथा एक भव्य कल्पना है जो कि एक नई व्यवस्था की स्थापना के हेतु प्रयत्न करने के लिये श्रेष्ठ मनुष्यो को सदा प्रेरित करेगी । परन्तु इस आदर्श की प्राप्ति दुर्लभ है। परन्तु यदि मानवीय प्रकृति यथावत् रही तो इसकी प्राप्ति दुर्लभ ही है। परन्तु मनुष्य-समाज के दु खो का निराकरण निश्चयत इस दिशा मे चलने से ही हो सकता है ।

१२ समष्टिवाद, समाजवाद और साम्यवाद ।

व्यक्तिवाद समाज को व्यक्तियो का यत्रवत् झुण्ड मानता है जिनके मध्य कोई आन्तरिक सम्बन्धो का बन्धन नही होता । इसके विपरीत समाजवाद अथवा समष्टिवाद समाज को एक अन्योन्याश्रित व्यक्तियो का एक सावयव सगठन मानते हैं जिनके मध्य आन्तरिक बन्धन का सम्बन्ध होता है। व्यक्तिवाद मनुष्य की स्वार्थपरायण और प्रतियोगी प्रकृति पर जोर देता है तथा समाजवाद परार्थ-प्रवृत्ति तथा सहयोगी प्रकृति पर । व्यक्तिवाद व्यक्ति के अधिकतम लाभ के लिये उसकी स्वतन्त्रता पर जोर देता है तथा राज्य-हस्तक्षेप को अल्पतम कर देता है। समाजवाद सामाजिक हित अथवा समूचे समाज के अधिकतम हित पर बल देता है तथा राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप करने की व्यापक शक्तिया प्रदान करता है। व्यक्तिवाद राज्य-नियत्रण को अल्पतम कर देना चाहता है तथा समाजवाद अधिकतम । परन्तु वे दोनो व्यक्तियो के अधिकतम हित अथवा सामान्य-हित को अपना उद्देश्य मानते हैं। उनके लक्ष्य मे कोई भेद नही है, केवल उनके साधन ही भिन्न हैं व्यक्तिवाद निजी-सम्पत्ति तथा भूमि व पूंजी के व्यक्तिगत-स्वामित्व मे विश्वास रखता है परन्तु समाजवाद इसके विपरीत, समस्त सम्पत्ति भूमि व पूंजी के राज्य -स्वामित्व में विश्वास करता है। इसके अनुसार समस्त सम्पत्ति, का स्वामित्व जाति मे निहित है। उस पर सबका समान स्वामित्व होना चाहिये तथा उसका उपभोग सब के द्वारा होना चाहिये। उत्पादन के समस्त साधनो पर राज्य का स्वामित्व एव नियन्त्रण होना चाहिये तथा

राज्य का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तिगत नागरिको के मध्य वस्तुओं का समान वितरण करे। व्यक्तिवाद स्वतन्त्रता के प्रत्यय पर वल देता है, समाजवाद समानता और बन्धुत्व पर। व्यक्तिवाद मनुष्य के लाभ-प्रयोजन पर वल देता है, समाजवाद सेवा-प्रयोजन पर। व्यक्तिवाद का लक्ष्य एक अर्जनकारी एव प्रतियोगी ममाज की स्थापना है, इसके विपरीत समाजवाद का लक्ष्य शोपण से मुक्त तथा पारस्परिक सहायता व वन्धुत्व के एक सहयोगी समाज की रचना है।

समाजवाद जनतन्त्र में निष्ठा रखता है। यह क्रमिक-विकास में विश्वास करता है। यह वर्ग-हीन समाज की रचना साविधानिक साधनो द्वारा करना चाहता है। यह समाज के भीतर वांछित परिवर्तन लाने के लिए विधायिका, राजनीतिक शिक्षण एव नैतिक-मत परिवर्तन का आश्रय लेता है। इसकी आस्था विकास के सिद्धान्त में है न कि क्रान्ति में। यह सम्पत्ति की गम्भीर असमानताओ को समाप्त कर देना चाहता है। परन्तु यह आय की असमानता को समाप्त नही करता। इसका सिद्धान्त यह है—'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार (कार्य लिया जाए) तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य के अनुसार (वेतन) दिया जाय।' यह व्यक्तिगत सम्पत्ति का सम्पूर्ण निपेध नही करता। समाजवादी समाज के भीतर कोई व्यक्ति मकान वनवा सकता है, मोटर-कार तथा वैक-कोप रख सकता है। परन्तु वह अपनी सम्पत्ति को अपनी सन्तान के लिए नही छोड सकता, तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की एक निश्चित सीमा भी होती है। समाजवाद का उद्देश्य मम्पत्ति का सम-वितरण है।

साम्यवाद का लक्ष्य भी वर्गहीन समाज की स्थापना है परन्तु यह उसकी स्थापना क्रान्ति, शक्ति, आतक एव युद्ध द्वारा करना चाहता है। यह सामाजिक क्रान्ति में विश्वास करता है। विकास और साविधानिक साधनो में नही। साम्यवाद एक ही छलाग में प्राप्त होने वाला समाजवाद है। यह सम्पत्तिवान् वर्ग की सम्पत्ति का अपहरण उन्हे नष्ट करके करना चाहता है। उसकी नीति विरोधियो का नाश करने की है। इसके लिए यह निर्दयतापूर्वक-दमन की नीति अपनाना चाहता है। समाजवाद का उद्देश्य राज्य-विहीन समाज नही है। राज्य-समाजवाद राज्य की केन्द्रीय सत्ता को आवश्यक मानता है जो कि समस्त भूमि व पूंजी पर स्वामित्व व नियन्त्रण रखे, उसका प्रशासन करे तथा व्यक्तियो के मध्य वस्तुओ का समान वितरण करे। यद्यपि साम्यवाद का उद्देश्य राज्य-विहीन अथवा अराजक समाज की स्थापना करना है तथापि व्यवहारिक रूप में इसने राज्य के भीतर समूची सत्ता व शक्ति को केन्द्रित कर दिया है तथा उसे आसुरी-सैन्यशक्ति की सहायता द्वारा स्वेच्छाचार तथा अत्याचारी वना दिया है।

समाजवादी आदर्श यह है—'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार तथा उसे उसके कार्य के अनुसार।' साम्यवादी आदर्श इसके विपरीत यह है—'प्रत्येक से

उसकी योग्यता के अनुसार तथा उसे उसकी आवश्यकताओ के अनुसार।' परन्तु सोवियत साम्यवाद ने समाजवादी आदर्श अपनाया है।

समाजवाद व साम्यवाद दोनो को समष्टिवादी विचार कहा जा सकता है क्योकि वे राज्य को अन्योन्याश्रित व्यक्तियो की सहयोगपूर्ण एकता के रूप में देखते हैं। समष्टिवाद भूमि व पूंजी के सामूहिक स्वामित्व का सिद्धान्त है। केन्द्रीय-जनतन्त्रात्मक राज्य को चाहिए कि कृपको के मध्य समानता के आधार पर भूमि का वितरण करे तथा समस्त उद्योगो का प्रबन्ध समूची जाति की ओर से करे। उद्योगो का समाजीकरण धीरे धीरे शिक्षणात्मक एव साविधानिक साधनो द्वारा वर्तमान राज्य की सहायता से होना चाहिये। समष्टिवाद क्रमिक-विकास में विश्वास करता है न कि अचानक क्रान्ति में। यह निर्वाचकगण की शिक्षा और प्रचार द्वारा लोकमत में परिवर्तन करके भूमि व उद्योगो का समूहीकरण करना चाहता है। यह इस सामाजिक आदर्श की प्राप्ति ससद द्वारा करने के पक्ष में है।

समष्टिवाद के विरुद्ध प्रधान आक्षेप यह है कि व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सामूहिक स्वामित्व की स्थापना करके यह व्यक्ति की कार्य-प्रेरणा को नष्ट कर देता है। व्यक्तिगत लाभ मे कार्य करने की एक प्रभावशील प्रेरणा निहित है। सेवा उतनी प्रवल प्रेरणा नही है जितना कि लाभ मनोवृत्ति। सामूहिक स्वामित्व में उत्पादन को हानि पहुचती है। उद्योगो का शासकीय प्रवन्ध उतना कुशल व अल्पव्ययशील नही हो सकता जितना कि अनुभवी विशेपज्ञो द्वारा व्यक्तिगत स्वामित्व के आधीन। समष्टिवाद सत्ता व शक्ति को राज्य के हाथो में केन्द्रित कर देता है तथा उसे निरकुश दमनकारी, स्वेच्छाचारी तथा सर्वसत्तासम्पन्न बना देता है। एक सर्वसत्तासम्पन्न राज्य अवश्य ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व उपक्रमण (initiative) के अवसर को कुचल कर व्यक्ति को यन्त्र के तुल्य बना देगा। इससे व्यक्तिगत चरित्र का पतन होता है तथा सभ्यता का ह्रास होता है क्योकि वह व्यक्तियो की विचार एव कार्य करने की स्वतन्त्रता पर निर्भर है। (ऐलिमेन्ट्स ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, अध्याय १९)।

अध्याय २६

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता

१ अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता।

मानव-जाति की नैतिक प्रगति के साथ धीरे धीरे यह स्वीकार किये जाने लगा है कि समाज मे रहने वाले व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो पर शासन करने वाले नैतिक नियमो के द्वारा ही राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बन्धो का भी शासन होना चाहिये। विविध राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो में भी उन्ही नैतिक निममो को लागू होना

चाहिये। अन्य शब्दो में, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को उत्तरोत्तर स्वीकार किया जा रहा है।

आज विश्व भौतिक-दृष्टि से एक है। ससार के विविध देश और राष्ट्र एक दूसरे के अत्यधिक समीप आ गये हैं। रेल, जलयान, रेडियो, टेलीविजन, इत्यादि दिक्काल का विध्वस कर चुके हैं और ससार को एक बना चुके हैं। एक देश की आर्थिक समृद्धि अथवा अवनति की अन्य सब देशो में प्रतिक्रिया होती है। "आज सभ्य राष्ट्र इतने अधिक परस्पराश्रित हो गये है कि एक राष्ट्र का सकट सभी अन्य राष्ट्रो के सकट का कारण बन जाता है, और एक अन्यो के बिना सस्कृति के मार्ग पर अग्रसर नही हो सकता है।"*

२ अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की हीनता के कारण।

किन्तु, यद्यपि ससार क्रमश क्षिप्र गति से एक बनता जा रहा है, तथापि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में शीघ्रता के साथ प्रगति नही हो रही है। यह अभी तक एक सदेहास्पद स्थिति में है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो पर जन्तु-जगत् में लागू होने वाला प्राकृतिक चुनाव या योग्यतम की विजय का जैविक नियम ही शासन कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अविकसित स्थिति के लिये निम्नलिखित हेतु उत्तरदायी हैं—

परिवार सामाजिक धर्मों की शिक्षणशाला है। एक ही परिवार के सदस्य नैसर्गिक प्रेम के बन्धनो से परस्पर आकर्षित होते हैं। उनकी सहानुभूति और प्रेम को उत्तेजना मिलती है, वे आत्मोत्सर्ग तथा स्वभावो के पारस्परिक समायोजन की शिक्षा ग्रहण करते हैं। उनके नैतिक जीवन की आधार-शिला का न्यास परिवार में होता है। किन्तु, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के क्षेत्र में परिवार नही होता जो विश्व के अन्त करण का विकास कर सके।

व्यक्तियो में नैतिकता की वृद्धि करने वाली विविध अन्य सस्थायें भी हैं, यथा, शिक्षा-सस्थायें, उद्योगशाला, नागरिक समाज, धार्मिक सस्था, और राज्य प्रभृति। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसी कोई सस्थायें नही हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की वृद्धि में सहायक हो। यद्यपि राष्ट्रसघ और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नामक सस्थायें हैं, तथापि वे अपने आदेशो का पालन करवाने में अशक्त हैं।

राष्ट्र-सघ सभी राज्यो का सघ नहीं था। जापान, जर्मनी, इटली और अमेरिका के समान शक्तिशाली राज्य उसके सदस्य नहीं थे। पुनः राष्ट्र-सघ में कुछ राज्यो की गुटबन्दी थी। यह स्वतन्त्र राज्यो का सघ नही था। दोषो के होते हुये भी यह अत्यधिक उपादेय कार्य कर सकता था यदि उसके भौतिक प्रभुत्ता होती। उसके पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय स्थल-सेना, जल-सेना और वायु-सेना नही थी। उसकी

* स्टुअर्ट।

आर्थिक शक्ति आक्रमणकारी राष्ट्रो के विरुद्ध असफल सिद्ध हुई। अब इसके स्थान पर संयुक्त-राष्ट्र-सघ का निर्माण हो गया है।

राष्ट्रवाद ने मनुष्य-जाति के मस्तिष्क को दूषित कर दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह ग्रन्थि बहुत से अमगलो का कारण है। राष्ट्रवाद वहा तक ठीक है जहा तक उनका मानवतावाद से विरोध नही होता। उसे विश्व-शाति और मानव-जाति के भ्रातृभाव के लिये मार्ग परिष्कृत करना चाहिये। किन्तु, राष्ट्रवाद एक रोग हो गया है जो मानवता के ऊपर असख्य विपदो का कारण है, और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अवगति करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मार्ग में विकृत-राष्ट्रवाद के द्वारा सर्वावित तथा पूंजीवाद और सेनावाद पर आधारित साम्राज्यवाद रुकावट डालता है। वह 'शक्ति ही अधिकार है' के सिद्धान्त पर काम करता है और निर्बलो का शोषण, उनके ऊपर आधिपत्य स्थापित करता है और उनकी नैतिकता का पतन करता है। वह युद्ध को जीवित रखता है, विनाश के घातक-अस्त्रो का निर्माण करता है, तथा मानव-जाति की सत्ता के लिये भयानक है।

जन-मत ससार में इतना प्रबल नही है जो अमानुषिक आक्रमणात्मक कार्यो की निन्दा कर सके और आर्थिक बहिष्कार प्रभृति प्रभावशाली योजनाओ के द्वारा भविष्य में उनको असम्भव कर सके।

अज्ञान और निर्धनता में डूबे हुये निर्बल और पिछडे हुये राष्ट्र भी परोक्षत अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अविकसित अवस्था के लिये उत्तरदायी हैं। वे स्वाभाविक रूप से शक्तिशाली राष्ट्रो को उनकी स्वार्थ-बुद्धि और आत्म-विस्तार के लिये आकर्षित करते हैं। उन्हे स्व-राज्य की कला में किसी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के द्वारा शिक्षित किया जाना चाहिये तथा उनकी रक्षा होनी चाहिये।

जब तक किसी विश्व-सघ की स्थापना नही होती, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की सशयात्मक अवस्था बनी रहेगी। कान्ट ने ठीक ही स्वतन्त्र राष्ट्रो के सघ को शाश्वत-शान्ति को अनिवार्य शर्त बताया था। ऐसे महाराज्य को अपने आदेशों का पालन करवाने के लिये, राष्ट्रो के मध्य युद्ध रोकने के लिये और विश्व-शान्ति का आश्वासन देने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थल-सेना, जल-सेना तथा नभ-सेना रखनी चाहिये। सभी निर्बल और अविकसित देशो को विश्व-सघ के द्वारा अपने हितार्थ शासित होना चाहिये तथा उसकी सहायता से आत्म-विश्वास और स्वराज्य की अवस्था प्राप्त करनी चाहिये। विश्व की राजनैतिक शक्तियों की आधुनिक प्रवृत्ति विश्व-सघ की ओर, निश्चय ही, है।

———

अध्याय २७

नैतिकता की मान्यताएं

नैतिकता के तात्विक प्रश्न

१. नीति-शास्त्र व तत्व-शास्त्र ।

नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान है। यह नैतिक आदर्श की प्रकृति निर्धारित करने का प्रयत्न करता है। यह नैतिक आदर्श के प्रामाणिकता तथा सार तत्व के साथ नैतिक आदर्श के सम्बन्ध को भी निर्धारित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार यह तात्विक चर्चा में अपरिहार्य-रूप से प्रविष्ट हो जाता है। नैतिकता का अन्तिम स्वरूप (तात्विक-प्रकृति) तथा सार-तत्व के अन्य स्वरूपो के साथ इनका सम्बन्ध कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो कि अत्यन्त महत्वपूर्ण तात्विक विषयो को हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। नीति-शास्त्र नैतिक चेतना के अस्तित्व को मान लेता है तथा उसके तत्वो का विश्लेषण करता है। परन्तु यह इस मान्यता से सन्तोष नही कर सकता। जब तक नीति-शास्त्री नैतिक चेतना के इस विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखता है वह तात्विक-मान्यताओ मे विश्वास करने के लिये बाध्य होता है। परन्तु अपने तत्वों सहित नैतिक चेतना की प्रामाणिकता कुछ तात्विक सिद्धान्तो के साथ असगत रहता है। अत नीति शास्त्री को उनका परित्याग कर देना चाहिये। परार्थवाद अथवा निसर्गवाद, स्थायी आत्मा तथा उसकी स्व-सचालन शक्ति अथवा इच्छा-स्वातन्त्र्य का निषेध, आत्मा के अमरत्व का निषेध, तथा ईश्वर के अस्तित्व का निषेध नैतिक चेतना के अधिष्ठान के साथ असगत रहते हैं। अत नीति-शास्त्र उनको त्याग देता है। तत्व-शास्त्र केवल हमारी सैद्धान्तिक चेतना के अधिष्ठान पर ही नही वरन् हमारी नैतिक चेतना पर भी आधारित है। तत्व-शास्त्र का आधार भौतिक-विज्ञान तथा नीति-विज्ञान दोनो हैं।

२ नैतिकता की मान्यतायें ।

निम्न मान्यतायें नैतिकता की धारणाए हैं—

(१) आत्मा अर्थात् 'स्व' एक वास्तविक, स्थायी, आत्म-चेतना तथा आत्म-स्वतन्त्र कर्ता (agents) होना चाहिये। उसका एक व्यक्तित्व होना चाहिये। यह क्षणभगुर सवेदनाओ तथा अनुभूतियो का एक विस्तृत क्रम अथवा चेतना की धारा नही होनी चाहिये।

(२) 'स्व' के भीतर आत्म-सचालन तथा आत्म-निर्णय की शक्ति अथवा इच्छा की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यह बाह्य परिस्थितियो के अधीन अथवा उनकी उपज नही होनी चाहिये। यह शक्ति तथा रचनात्मक सक्रियता अथवा उपक्रमण-शक्ति

का केन्द्र होनी चाहिये। इसके भीतर 'मूल्य' के निर्माण व उनके आकने की शक्ति होनी चाहिये। दूसरे शब्दो में, आत्मा को इच्छा की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये।

(३) तर्क अथवा बुद्धि आत्मा का एक अनिवार्य तत्व होना चाहिये। इसके कार्य आदर्शात्मक एव व्यावहारिक दोनो प्रकार के होते हैं। बुद्धि ऐन्द्रिक सवेदनाओ को ज्ञान की एक व्यवस्था में सयोजित कर सकती है। यह इसका बौद्धिक कार्य है। बुद्धि अनुभूतियो तथा प्रवृत्तियो को नैतिक जीवन में समन्वित कर सकती है, यह उसका नैतिक कार्य है। 'बुद्धियुक्त अह का कार्य नैतिक प्रसग में सवेदन शक्ति को सगठित करना है तथा बौद्धिक प्रसग में सवेदनाओ को। सवेदनाओ की भाति प्रवृत्तियो और अनुभूतियो को भी आत्मा की ओर से चुनौती मिलनी चाहिये, उनकी आलोचना व उनका माप होना चाहिये तथा उनका सयोजन होना चाहिये अर्थात् अह के जीवन में उनका स्थान नियत किया जाना चाहिये। प्रारम्भिक सवेदनाओ के आधार पर जिस प्रकार दृश्य पदार्थ की रचना में अह उपस्थित सवेदनाओ को पहचानता, उनमें अन्तर करता, उनमें से छाटता तथा उन्हे संयोजित करता है एव इस प्रकार ज्ञान के पदार्थ का निर्माण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार प्रारम्भिक प्रेरणा अथवा प्रवृत्ति में से उद्देश्य की रचना करते समय भी सवेदनशीलता के अव्यवस्थित ब्यौरे की पहचान, भेद, छटाई तथा सगठन की क्रियाएं होती हैं। बहुमुखी सवेदनशीलता के इस बौद्धिक सश्लेषण उसके अनेक तत्वो के बौद्धिक जीवन की एकता में सयोजन द्वारा ही (बौद्धिक) अह अपने लिये नैतिक उद्देश्यो तथा जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य अथवा आदर्श की रचना कर सकता हैं।" (इथिकल प्रिंसिपल्स, पृष्ठ १९५–९६) बुद्धि के अभाव में आत्मा अथवा अह न ज्ञान ही अर्जित कर सकता है न नैतिकता ही। इस प्रकार व्यक्तिगत सकल्प-स्वातन्त्र्य अथवा आत्म-निर्णय तथा बुद्धि नैतिकता की मूल धारणाएं हैं इन्हे हम नैतिकता के आधार पर भी कह सकते हैं।

३ व्यक्तित्व (Personality)।

स्थायी आत्मा का अस्तित्व नैतिकता का आधार है। आत्मा अथवा मन भौतिक शरीर का अग मात्र नही है। यह मस्तिष्क, कोष्ठो तथा विशेष स्नायुसस्थानो के मध्य होने वाले सघर्ष की अचानक उपज नही है जैसा कि पदार्थवादी इसे समझते हैं। यह सवेदनाओ, विचारो तथा अनुभूतियो तथा चेतना के प्रवाह का क्रम भी नही है जैसा कि अनुभूतिवाद अथवा सवेदनावाद का विचार है। प्रत्येक आत्मा चेतना का एक अनुपम केन्द्र है। यह एक अनन्त सार्वभौमिक चेतना की एक अभिव्यक्ति मात्र ही नही है जैसा कि विश्वेश्वरवाद का विचार है। यह चेतना के अन्य निश्चित केन्द्रो अथवा चेतना के अनन्त एव सार्वभौमिक केन्द्र में सम्मिश्रित नही की जा सकती। प्रत्येक निश्चित आत्मा चेतना का एक अनुपम केन्द्र अथवा सस्थान है अर्थात् वह आत्मचेतन और आत्मनियन्त्रित व्यक्तित्व है जिसे कि अपने उद्देश्य अथवा गन्तव्य की

चेतना होती है तथा जो विश्व में अपने कृत्य की पूर्ति तथा लक्ष्य-सिद्धि करने में समर्थ होता है। "व्यक्तित्व नैतिकता का आधार है जहा कार्य के बौद्धिक स्रोत के रूप में आत्मा का बोध नही है वहा प्रयोजन, कार्य और उद्देश्य का बोध भी नही होता तथा जहा यह बोध न हो वहा नैतिकता नही हो सकती।" 'आत्मा केवल मनीषा के रूप में ही नही वरन् शक्ति के रूप में भी प्रकट होती है। मैं एक आत्म चेतन, बुद्धिमान तथा आत्मनिर्णायिक शक्ति हूँ इस प्रकार व्यक्तित्व मे आत्म-चेतन सत्ता, आत्म-नियन्त्रित बुद्धि तथा आत्मनिर्णायिक क्रिया का समावेश होता है,' (केल्डरउड)।

४ आत्मनिर्णय।

स्थायी स्व अथवा आत्मा नैतिकता का आधार है। नैतिकता सृजनात्मक सक्रियता अथवा स्वतंत्र उपक्रमण की शक्ति को भी मान्यता के रूप में स्वीकार करती है। इसमें इच्छा-स्वातन्त्र्य होना चाहिये। इसके कार्यों का निर्णय बाह्य परिस्थितियो द्वारा नही वरन् आत्मा द्वारा भीतर से किया जाना चाहिये। वे आत्म-निर्णीत होने चाहियें। यदि वे परिस्थितियो द्वारा निर्धारित किये गये हो तो उनका नैतिक मूल्य समाप्त हो जाता है तथा उन्हे नैतिकतारहित भौतिक घटना मात्र मानना चाहिये। 'नैतिकता की यह पूर्वमान्यता है कि आत्मा स्वय अपने कार्यों का मार्ग है" (राशडल) आत्मा की स्वतन्त्रता अथवा आत्म-कार्यकारणता, आत्मसक्रियता अथवा आत्मनिर्णय नैतिकता की मौलिक मान्यताएं हैं। आत्मा आत्मनिर्णय के अधिकार से वंचित होने पर अपने नैतिक जीवन को खो देती है। प्रशसा तथा निन्दा, गुण तथा दोष, पुरस्कार तथा दंड, सत् तथा असत्, कर्तव्य तथा श्रेष्ठता एव उत्तरदायित्व यह सब आत्मनिर्णय की स्वाधीनता के बिना अपना महत्व खो देते हैं। नैतिकता आत्मा के स्थायी अस्तित्व, उसके आध्यात्मिक चरित्र, उसकी आत्म-कार्यकारणता, आत्म-निर्णीत सक्रियता अथवा स्वतन्त्रता को पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार करता है।

५ बुद्धि (Reason)।

आत्मा ऐन्द्रीय एवं बौद्धिक संवेदनशीलता और बुद्धि दोनो मानवीय प्रकृति के अनिवार्य अंग हैं। परन्तु बुद्धि मानवीय प्रकृति का प्रधान तत्व है। यह केवल मनुष्य का ही विशेष अधिकार है कि वह बहुमुखी संवेदनाओं में से मनीषा के बौद्धिक संश्लेषण द्वारा ज्ञान की व्यवस्था तथा बुद्धि के नैतिक सश्लेषण द्वारा समन्वित नैतिक जीवन की रचना कर सकता है। आत्मा अनुभूतियो तथा इच्छाओ, सहज प्रवृत्तियो तथा प्रेरणाओं को बुद्धि की सक्रियता द्वारा एक विवेकपूर्ण जीवन में नियन्त्रित, नियमित तथा परिवर्तित करता है। आत्मा एक नैतिक प्राणी के रूप में अनिवार्यत बौद्धिक तथा विवेकयुक्त है।

बुद्धि अपने सहज ज्ञान द्वारा आत्मा के नैतिक हित एव उद्देश्य को जान लेती है। यह किसी विशेष कार्य को नैतिक आदर्श के अनुकूल होने पर सत् तथा उसके

प्रतिकूल होने पर असत् ठहरा लेती है। यह किसी कार्य की प्रकृति का सद्सत् निर्णय परिणाम के आधार पर करती है। यह कार्य की विभिन्न योजनाओ के गुण-दोप पर विचार करती है तथा अन्य योजनाओ को त्याग कर एक विशिष्ट कार्य-योजना को चुन लेती है। इस प्रकार ऐच्छिक कर्म बुद्धि पर आश्रित है। यह स्मरण रखना चाहिये कि नैतिक मूल्य ऐच्छिक कर्मों का ही होता है। हम अपने कार्यों के लिये नैतिक रूप से उत्तरदायी होते हैं क्योकि हमें बुद्धि मिली है। मूर्ख तथा पागल व्यक्ति बुद्धिहीन होते हैं अत वे सत्-असत् में अन्तर नही कर सकते। अत वे अपने कार्यों के लिये उत्तर॰दायी नही होते।

व्यक्तित्व, आत्मनिर्णय तथा बुद्धि नैतिकता की मूल मान्यताए हैं। आत्मा की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व, तथा विश्व की बौद्धिक रचना ये नैतिकता की गौण मान्यताए हैं। आगे हम मानवीय स्वतन्त्रता की प्रकृति, मानवीय आत्मा की अमरता तथा नैतिक अति मानव के रूप में ईश्वर के अस्तित्व तथा विश्व की बौद्धिक रचना पर विचार करेंगे तथा उनकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने वाले तर्क की विवेचना करेंगे।

६ भाग्यवाद (Fatalism)।

पूर्वीय ससार की जनता भाग्यवाद में विश्वास करती है। वह एक उच्चतर शक्ति मे विश्वास किया जाता है जिसे लोग भाग्य के नाम से पुकारते हैं। वह मनुष्य के कार्यो को पहले से ही निर्धारित करते हैं। उनके एच्छिक काम स्वतन्त्र तथा आत्म-निर्णीत नही होते हैं। वे भाग्य द्वारा पूर्वनिर्धारित तथा पूर्वनिश्चित होते हैं। यह बौद्धिक शक्ति नही है वरन् अबौद्धिक, अन्ध तथा अनिश्चित है। जब भाग्य किसी व्यक्ति पर प्रसन्न हो जाता है, यह छोटे से छोटे कार्य में भी स्वतन्त्रता प्रदान करता है तथा जब यह किसी पर क्रुद्ध होता है तो उसे कुचल डालता है, तथा उसे कठोर परिश्रम का फल भी नही देता। इसकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता अबौद्धिक होती है, मनुष्य अपने बौद्धिक तथा नैतिक प्रयत्नो से भाग्य को सतुष्ट नही कर सकता। यह व्यक्तियो से पूर्ण आत्म-समर्पण चाहता है। भाग्यवाद के अनुसार भाग्य के सामने पूर्ण समर्पण तथा सद्-भाग्य की मुस्कराहट तथा दुर्भाग्य के कष्टो को सह लेना, व्यक्ति का कर्तव्य है। यह इच्छा-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को खोखला कर देता है तथा नैतिकता की जड पर आघात करता है। यह गुण-दोप, उत्तरदायित्व, पुरस्कार-दण्ड इन सब को व्यर्थ कर देता है तथा ऐसी स्थिति में नैतिक निर्णय असम्भव हो जाते हैं। भाग्यवाद नैतिकता के जड़ों पर कुठाराघात करता है। इतने पूर्वी देशो की जनता मे अपनी स्थिति के प्रति सन्तोष पैदा कर दिया है तथा उनके भीतर उपक्रमण की भावना समाप्त हो गई है। वे अपनी शक्तियो को एकत्रित नही कर सकने तथा अपनी स्थिति के सुधार में नहो लग सकते। भाग्यवाद नैतिकता का निषेध हैं।

७ कर्म का सिद्धान्त (Law of Karma)।

हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मतावलम्बी कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करते है। "जैसा करोगे वैसा भरोगे।" सत् कर्मों से मनुष्य में धर्म का सचय होता है तथा असत् कर्मों द्वारा अधर्म सचय। मनुष्य सत् और असत् कर्म स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं। मनुष्य में स्वतत्र इच्छा होती है। वे धर्म, अधर्म तथा पुण्य-पाप का अर्जन स्वतत्रतापूर्वक करते हैं। ये सब मनुष्य की आत्मा में निहित होते हैं। तथा समय पाकर पनप उठते हैं और इस जीवन अथवा भविष्य जीवन में सुख अथवा दुख उत्पन्न करते हैं। आत्मा वर्तमान शरीर की मृत्यु के पश्चात् सचित धर्माधर्म का भोग करने के लिये अपनी नैतिक योग्यता के अनुकूल शरीर धारण करती है। मनुष्य स्वय अपने भाग्य का निर्माता है। वह स्वतन्त्रतापूर्वक धर्माधर्म का अर्जन करता है। वे उसकी आत्मा में अदृष्ट रूप से विद्यमान रहते हैं तथा परिपक्व होने पर सुख-दु ख के रूप में फल प्रदान करते हैं। मनुष्य अपने स्वतत्र कार्यों के परिणाम से बच नही सकता। अपने पिछले असत् कार्यों के परिणामस्वरूप सचित होने वाले अधर्म को मनुष्य भविष्य में अपने सत्-कर्मो द्वारा समाप्त कर सकता है। इसी प्रकार अपन सत्-कर्मो द्वारा सचित गुणो पर भी मनुष्य भविष्य में असत् कर्म करके पानी फेर सकता है। मनुष्य स्वय अपने भाग्य को बना विगाड सकता है। कर्म का सिद्धान्त इच्छा-स्वातत्र्य पर आधारित है। यह सिद्धान्त मनुष्य की स्वतत्रता का विरोधी नही है। बहुत से लोग इसे भाग्यवाद समझ लेते हैं। कर्म सिद्धान्त भाग्यवाद नही है। यह पुरुषकार में विश्वास करता है। यह एक अदृश्य शक्ति अर्थात् दैव में विश्वास करता है जो कि स्वतन्त्र ऐच्छिक कार्यों का परिणाम है। यह इस बात में विश्वास करता है कि मनुष्य अपने स्वतत्र कार्यों द्वारा दैव की शक्ति को व्यर्थ कर सकता है।

यद्यपि कर्म का सिद्धान्त मानवीय स्वतत्रता को पूर्णत समाप्त नही कर देता तथापि यह उसकी चेतन स्वतत्रता को न्यूनतम कर देता है क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य उन पाप-पुण्यो के आधीन रहता है जो कि इस धारणा के अनुसार वह अपने गत जीवन में सचित कर लेता है। यह वर्तमान स्वतत्रता पर गत जीवन के पाप-पुण्य का भार लाद कर कुचल डालता है। ससार में मनुष्यो के मध्य असमानता की व्याख्या के लिये आत्मा का आवागमन एक आध्यात्मिक धारणा है। यह केवल एक धारणा हैं। इसके अधिष्ठान को सिद्ध नही किया जा सकता। असमानता का कारण सामाजिक वातावरण और पैतृक उत्तराधिकार (Heredity) भी हो सकता है। बहुत सी सामाजिक असमानता वितरण की अच्छी सामाजिक व्यवस्था द्वारा दूर की जा सकती हैं तथा अनेक भौतिक सकट मानवीय बुद्धिकौशल द्वारा परास्त किए जा सकते हैं। आत्मा के आवागमन का सिद्धान्त जहा तक कठिनाइयो को दूर करता है वही अनेक कठिनाई पैदा भी कर देता है। समृद्धि की असमानताओ की व्याख्या

अधिकतर पूर्ण एव उपयुक्त धारणा द्वारा की जा सकती है। इसकी अनेक तात्विक कठिनाइयों से कर्म का सिद्धान्त अशिक्षित तथा विचारहीन व्यक्तियो के लिये भाग्य-वाद का प्रतीक बन जाता है और इसकी परिभाषा मानवीय स्वतन्त्रता के निषेधात्मक सिद्धान्त के रूप मे होती है। बहुत वार इसको नियतिवाद अथवा पूर्वनिर्णयवाद के साथ मिला दिया गया है। मानवीय उपक्रमण तथा कार्य करने की प्रेरणा को ठेस पहुँचाता है यह भ्रम से नैतिकता को परिस्थितियो के सम्मुख निष्क्रिय-समर्पण के सदृश देखता है तथा धर्म को भाग्य के सम्मुख पूर्ण समर्पण मानता है। यह विचार वास्तव मे भारतीय दर्शन द्वारा प्रतिपादित कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध है। आरम्भ में इसका अभिप्राय नैतिक कार्यकारण सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नही था।

८ इच्छा स्वातन्त्र्य (Freedom of the will)—

एक आध्यात्मिक-प्राणी की हैसियत से मनुष्य आत्म-निर्णीत अथवा स्वतन्त्र है। वह स्वय अपने कर्मों का निर्णय करता है। वाह्य शक्तिया उसका निर्णय नही करती। किन्तु वह पूर्णतया स्वतन्त्र नही है। उसकी स्वतन्त्रता सीमित है। किन्तु वह अपनी सीमाओ को भी अपने आत्म-विकास और आत्म-लाभ के साधनो तथा उपादानो मे परिवर्तित कर सकता है। लेकिन इसे सब स्वीकार नही करते।

सकल्प-स्वातन्त्र्य के प्रश्न ने विभिन्न युगो के दार्शनिको में एक बडे विवाद को जन्म दिया। साधारण व्यवहार में "सकल्प-स्वातन्त्र्य" का अर्थ, जिसे हम करने का सकल्प करते हैं उसे करने की, विना किसी बाध्यता अथवा प्रतिरोध के, स्वतन्त्रता है। किन्तु यहा पर प्रश्न यह उठता है कि क्या हम जो सकल्प करते हैं, उसे करने में स्वतन्त्र हैं, और हम उसका सकल्प कैसे करते हैं, या क्या वैकल्पिक-सम्भावनाओ अर्थात् सभव कार्यो के मध्य हम चुनाव करने में स्वतन्त्र हैं, या क्या हमें अपने अति-रिक्त कोई अन्य वस्तु उनमें से एक को चुनने के लिये बाध्य करती है? दूसरे शब्दो मे, क्या किसी कार्य का सकल्प आवश्यक-रूप से केवल हमारे ही ऊपर निर्भर है और फलत स्वतन्त्र या आत्म निर्णीत है? अथवा क्या वह आत्मा के बाहर की किसी अन्य वस्तु पर निर्भर है और इस प्रकार परतन्त्र या पर-निर्णीत है।

कुछ मनीषी सकल्प-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त के समर्थक हैं वे अनियन्त्रणवादी (Libertarians) कहलाते हैं। अन्य सकल्प-स्वातन्त्र्य का निषेध करते हैं। वे नियन्त्रणवादी (Determinists or Necessitarians) कहलाते हैं।

इच्छा-स्वातन्त्र्य के प्रश्न का विचार विविध दृष्टिकोणों से, तथा, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, दार्शनिक और धार्मिक दृष्टिकोणो से हो सकता है।

(१) नियन्त्रणवाद (Determinism) सकल्प की स्वतन्त्रता का निषेध करता है और अपने पक्ष के समर्थन के लिये निम्नलिखित प्रमाण देता है जो अशत मनोवैज्ञानिक अशत दार्शनिक और अशत धार्मिक है—

१ मनोवैज्ञानिक युक्तिया (क) ऐच्छिक-कर्मों का मनोविज्ञान—हमारे सकल्प प्रवर्त्तनो और इच्छाओ के द्वारा निर्धारित होते हैं। जब एक अकेला प्रवर्त्तन होता है, तो वह प्रवर्त्तन सकल्प और उससे नि सृत होने वाले कर्म का निर्णय करता है। जब विविध प्रवर्त्तन एक ही साथ उपस्थित होते हैं, तो प्रवर्त्तनो में सघर्ष पैदा हो जाता है और प्रबलतम प्रवर्त्तन विजयी होता है, प्रतिद्वन्दी प्रवर्त्तनो का निरोध और दमन करता है तथा सकल्प का निर्धारण करता है।

दूसरे शब्दो में, सकल्प को निर्धारित करने वाला, प्रवर्त्तन का बल होता है। पुन प्रवर्त्तन का बल (१) अशत बाहर के व्यक्ति को प्रभावित करने वाला वातावरण अथवा बहिर्गत परिस्थितिया निर्धारित करती हैं, (२) और अशत स्वय व्यक्ति की मानसिक रचना निर्धारित करती है, जिसका पुन निर्धारण आंशिक-रूप में उसके पूर्व-पुरुषो से वशक्रमागत प्रवृत्तियो के द्वारा, और आशिक-रूप में उसके मस्तिष्क तथा शरीर की रचना के द्वारा होता है। इस प्रकार हमारे सकल्प कठोरतापूर्वक कारणो तथा हेतुओ की एक शृ खला के द्वारा निर्धारित होते हैं, और यदि मानवीय सकल्पो और कर्मों के सभी पूर्वगामी हेतुओ का सही ज्ञान हो जाय, तो मनुष्यो के भावी कर्मों का इतना सशयहीन पूर्व-ज्ञान हो जाय जितना ग्रहो की गतियो का नदियो के ज्वार-भाटो का इत्यादि।

(ख) मानव-व्यवहार के पूर्व-ज्ञान की सम्भावना—हम केवल भावी भौतिक-घटनाओ (यथा, ग्रहण, वर्षा, अन्नाकाल इत्यदि) की ही भविष्यवाणी नहीं कर सकते जो कठोरतापूर्वक अपनी पूर्वगामी परिस्थितियो के द्वारा निर्धारित होते हैं और अपने नैसर्गिक कारणो से प्रादुर्भूत होते हैं, बल्कि हम मनुष्यो के भावी कर्मों की भी भविष्यवाणी कर सकते हैं, यदि उनकी पूर्वगामी परिस्थितियो का पहिले ही ज्ञान हो जाय और भविष्यवाणी की यह सम्भावना विवाह, अपराध और आत्म-हत्या, तथा अन्य ऐच्छिक कर्मो की सही गणनाओ के उदाहरणो से और भी पक्की हो जाती है, जिन गणनाओ के ऊपर किसी देश का दीवानी और फौजदारी विधान अत्याधिक निर्भर होता है अत सकल्प-स्वातत्र्य नही हो सकता।

(२) दार्शनिक युक्तियाँ—पहिले, कार्य-कारण के नियम की सकल्प की स्वतत्रता के सिद्धान्त से असगति है। कोई सकल्प जो पूर्वगामी परिस्थितियो के द्वारा निर्धारित नही होता,—तथा-कथित स्वतन्त्र सकल्प—एक कारणहीन घटना होगा, जो असम्भव है. क्योंकि कार्य-कारण के नियमानुसार किसी भी भौतिक अथवा मानसिक घटना का एक कारण होना चाहिये, प्रकृति अथवा मानसिक-जगत् में कोई भी कारणहीन कार्य सम्भव नही है। अनियत्रणवाद कार्य-कारण के नियम से नितान्त असगत है। इस परिकल्पना मे मानव-सकल्प कार्यकारण के नियम का अपवाद हो

जाता है। दूसरी ओर, नियतिवाद इस नियम से सवादित है, सकल्प का व्यापार ससार मे प्रत्येक अन्य व्यापार के तुल्य कार्य-कारण-शृंखला में आवद्ध है।

दूसरे, शक्ति-नित्यता का नियम भी सकल्प-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त का विरोधी है। सकल्प की स्वतन्त्रता के द्वारा अथवा मन को स्वतन्त्र-रूप से शक्ति-सम्पन्न करने के द्वारा हम शरीर (मस्तिष्क) में चेष्टावाहक-नाडी-सवेदन के रूप में एक नवीन-शक्ति की सृष्टि करते हैं, और शरीर की इस शक्ति से वाह्य-जगत् में परिवर्तन पैदा करते हैं। इस प्रकार अपने स्वतंत्र सकल्पो से हम विश्व में शक्ति के निश्चित परिणाम में वृद्धि करते हैं। किन्तु, शक्ति नित्यता के नियम के अनुसार विश्व में शक्ति के परिणाम की न वृद्धि हो सकती हैं, न क्षय।

तीसरे, विश्व को द्रव्य और गति के नियमो के अनुसार सचालित होने वाले भौतिक परिमाणुओ का आकस्मिक सगठन मानने वाले जडवादी तथा प्रकृतिवादी प्रत्ययो से निसर्गत सकल्प-स्वातंत्र्य का निषेध होता है। जडवाद के अनुसार मन केवल एक उपविकार है, और इस रूप में वह कारण शक्ति-सपन्न नहीं हो सकता, फल-स्वरूप सकल्प स्वतंत्र नही हो सकता।

चतुर्थ, अमूर्त अद्वैतवाद अथवा सर्वेश्वरवाद मे अनिवार्य-रूप में नियत्रणवाद की प्राप्ति होती है। यदि ईश्वर ही केवल सत्य है, तो जगत् और मन केवल मिथ्या माया मात्र हो जाते हैं, स्पिनोजा ने कहा था कि हम अपने सकल्पो को स्वतन्त्र केवल इसलिये मानते हैं कि सकल्पो की निर्धारित करने वाले कारणो के अज्ञान-पूर्वक हम केवल सकल्पो का ही ज्ञान रखते हैं। जव कोई व्यक्ति पत्थर फेंकता है तो शायद पत्थर भी इसका कारण न जानने में स्वय को स्वतन्त्र समझता होगा। सीमित-मन ईश्वर के प्रकार हैं।

(३) धार्मिक-युक्ति ईश्वर का पूर्व ज्ञान—ईश्वर का पूर्व ज्ञान सकल्प स्वातन्त्र्य का विरोधी है। यदि ईश्वर ईश्वर है तो उसे सव वस्तुओ और कर्मों का कर्ता होना चाहिये और उनका उसे पूर्व-ज्ञान होना चाहिये। ईश्वर को केवल प्रकृति की भावी घटनाओ का ही पूर्व-ज्ञान नही होता, वल्कि मनुष्यो के भावी कर्मों का भी। और भविष्य-दर्शन अथवा पूर्व-ज्ञान में पूर्व-निर्धारण गर्भित है। ईश्वर की पूर्व-दृष्टि से सिद्ध होता है कि ईश्वर ससार के मार्ग को और मनुष्यो के कर्मों को पहिले ही निर्धारित कर चुका है जिससे मनुष्य अपने कर्मों को निर्धारित करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार नियन्त्रणवादी सकल्प की स्वतन्त्रता का निषेध करते हैं और निम्नलिखित तथ्यो का आश्रय लेते हैं —

१ सकल्प का मनोविज्ञान, जिसके अनुसार सकल्प स्वतन्त्र नही है, वल्कि प्रवलतम प्रवर्तन के द्वारा निर्धारित होता है।

२ मानव-स्वभाव की भविष्यवाणी की सम्भावना—यदि मानव-कर्म पूर्व-परिस्थितियो के द्वारा निर्धारित न होकर पूर्णतया स्वतन्त्र होते तो उनका पूर्व-ज्ञान सम्भव न होता, जैसा कि साधारणत होता है।

३. कार्य-कारण-नियम—क्योकि कोई भी घटना अकारण नही हो सकती, इसलिये ससार में कोई कारणहीन वस्तु नही है। अत सकल्प भी स्वतन्त्र नही है।

४ शक्ति नित्यता का नियम—विश्व मे शक्ति का परिमाण सदा समान रहता है, किन्तु सकल्प-स्वातन्त्र्य में नूतन भौतिक-शक्ति की सृष्टि तथा विश्व में शक्ति के निश्चित परिमाण की वृद्धि गर्भित हैं।

५. विश्व-विषयक जडवादी परिकल्पना—मन मस्तिष्क का उपविकार है, और इसलिये उसमें कारण-शक्ति और स्वतन्त्रता नही है।

६ विश्व की अद्वैतवादी अथवा सर्वेश्वरवादी परिकल्पना, जिसके अनुसार ईश्वर ही एकमात्र सत्य है तथा मनुष्य के मन की अपनी स्वतन्त्र सत्ता और फलस्वरूप सकल्प-स्वातन्त्र्य नही है।

७ ईश्वर का पूर्व-ज्ञान – मनुष्य के भावी कर्मो को पहिले से जानने के कारण, ईश्वर उन्हे पहिले ही निर्धारित कर चुका है।

(२) सकल्प-स्वातन्त्र्य का सिद्धात—(४) नियत्रणवाद (Determinism) की समालोचना—पहिले, सकल्प का मनोविज्ञान जिस पर नियत्रणवाद आधारित है, भ्रान्तिपूर्ण है। इसमें कोई सन्देह नही है कि सकल्प प्रवर्तनो के वल से निर्धारित होता है; किन्तु प्रवर्तनो का वल स्वय आत्मा पर निर्भर है, पूर्वगामी परिस्थितियो पर नहीं। सबसे वलवान प्रवर्तन वह है जिसे आत्मा चुनता है और आत्मा जिससे स्वय को एकाकार कर देता है। प्रवर्तन आत्मा के बहिर्गत नही हैं, वे आत्मा के ही तत्व हैं। अत संकल्प आत्मा के अन्दर से निर्धारित होते हैं, वहिर्गत शक्तियो से नही। यह कारण के द्वारा वाह्य निर्धारण नही है बल्कि बुद्धि का अनुसारी आन्तरिक आत्म-निर्धारण (self-determination) है।

द्वितीय, पूर्व-ज्ञान की सम्भावना से यह सिद्ध नही होता कि सकल्प का पूर्व-परिस्थितियो से कठोरतापूर्वक निर्धारण होता है। यह भी सकल्प-स्वातन्त्र्य से सगति रखता है, क्योकि सकल्प-स्वातन्त्र्य से हमारा अभिप्राय मन की तरग का नही है जिससे मानव-कर्मो की भविष्यवाणी नितात असम्भव हो जायगी। बार बार आवृत सकल्पो से चरित्र का निर्माण होता है जो तुल्य परिस्थितियो में तुल्य रूप मे क्रियान्वित होता है। यदि एक ही प्रकृति वाले अनेक व्यक्तियो को एक ही परिस्थितियो मे रखा जाय, तो उनकी आवश्यकताए बहुत कुछ एक ही होगी। अत उनकी इच्छाओ और प्रवर्तनो में भी बहुत कुछ साम्य होगा, और वे एक ही दिशाओ में कर्म-प्रवृत्त होगे क्योकि वे समान उद्देश्य से प्रेरित होंगे। चोरो को जब कभी अवसर मिलता है, वे

चोरी कर लेते हैं। इस प्रकार सकल्प-स्वातन्त्र्य से भी समरूप चरित्र का निर्माण होता है, जिसका किसी सीमा-पर्यन्त पूर्वज्ञान हो सकता है। मैकंजी कहता है, "नैतिक जीवन का अर्थ चरित्र-निर्माण है, अर्थात् इसका अर्थ है कर्म की निश्चित आदतों का निर्माण। और यदि कोई आदत निश्चित हो जाती है, तो वह समरूप और पूर्व-ज्ञेय बन जाती है।"

तृतीय, कार्य-कारण-नियम सकल्प-स्वातन्त्र्य का विरोधी नही है। सकल्प के स्वतन्त्र होने का अर्थ यह नही है कि सकल्प एक कारणरहित घटना है। आत्मा उस का कारण है और आत्मा स्वतन्त्रतापूर्वक ऐसा करता है। आत्मा अपने से बाहर स्थित किसी वस्तु के प्रभाव मे आकर ऐसा नहो करता, बल्कि अपने ही शुभ के विचार से प्रेरित होता है। इस प्रकार सकल्प कारण-रहित घटना नही है आत्मा उसका कारण है।

चतुर्थ, शक्ति-नित्यता का नियम सकल्प-स्वातन्त्र्य का विसवादी नही है, यदि हम उसे अधिक विस्तृत अर्थ में ग्रहण करें और मानसिक शक्ति में भी उसे लागू करें। ऐसी अवस्था में, सकल्प में मानसिक शक्ति के क्षय की पूर्ति चेष्टावाहक-नाडी-सवेदन में समपरिमाण शारीरिक-शक्ति की सृष्टि मे हो जायगी। कभी-कभी यह उत्तर भी दिया जाता है कि स्वतन्त्र-सकल्प नवीन शक्ति की सृष्टि नही करता, बल्कि केवल शारीरिक शक्ति की दिशा मे परिवर्तन कर देता है। इसलिए शक्ति-नित्यता का नियम सकल्प-स्वातन्त्र्य का व्याघातक नहीं है।

अन्त में, ईश्वर का पूर्वज्ञान भी मानव-स्वातन्त्र्य का विरोधी नहीं है। प्राक्‌दृष्टि अथवा पूर्वज्ञान का अर्थ अनिवार्यत पूर्व निर्धारण नही है। कुछ दार्शनिको की धारणा है कि ईश्वर हमारे सम्भावित कर्मों का ही पूर्वज्ञान रखता है, हमारे वास्तविक कर्मो का नही।

(ख) सकल्प-स्वातन्त्र्य के पक्ष में विधानात्मक युक्तियाँ।

आत्म चेतना का साक्ष्य – सकल्प करने मे हमें सदैव इस बात की चेतना होती है कि हम स्वाधीनतापूर्वक बिना अपने पूर्वगामी अथवा अपने बहिस्थ किसी वस्तु के नियन्त्रण के अपने ही द्वारा अपने मगल के लिये कर्म में प्रवृत्त होते हैं। और स्वतन्त्रता की चेतना विशेष रूप में विचारणा और सकल्प के व्यापार में स्पष्ट रूप से होती है।

नैतिक चेतना का साक्ष्य—कान्ट की युक्ति है कि सकल्प-स्वातन्त्र्य नैतिकता का मूल सिद्धात है। नैतिक निर्णयों में 'चाहिये' अर्थात् नैतिक बाध्यता की बुद्धि होती है, इस बुद्धि में सकल्प-स्वातन्त्र्य गर्भित है—"तुम्हे करना चाहिये, अत तुम कर सकते हो।" यदि सकल्प स्वतन्त्र न होता तो कर्तव्य और उत्तरदायित्व, न्याय, पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म नितान्त निरर्थक होते।

विश्व की एक सच्ची और पूर्ण दार्शनिक परिकल्पना—सकल्प-स्वातन्त्र्य के

नियम का समर्थन करती है। इसके अनुसार जगत, जीव और ईश्वर सत्य है। जगत् दैवी-शक्ति की अभिव्यक्ति है। जीव ईश्वर के परिच्छिन्न प्रतिरूप हैं और इस रूप में ईश्वर की आत्म-निर्णय की शक्ति या स्वतन्त्रता में उनका भी भाग है। मानव-आत्मा ईश्वर की स्वतन्त्रता का भागी है, किन्तु मनुष्य की स्वतन्त्रता निरपेक्ष नही, बल्कि आपेक्षिक है, एक सीमा तक प्रकृति की भौतिक शक्तियाँ, अन्य मनुष्यो से सम्बन्ध, तथा ईश्वर की स्वतन्त्रता के द्वारा उसको परिच्छिन्न बनाया गया है।

जडवाद विश्व की सन्तोषजनक परिकल्पना नही है। मन को मस्तिष्क का एक उपविकार कदापि नही माना जा सकता, क्योकि उसे सकल्प में स्वतन्त्रता की कारण-शक्ति की चेतना होती है।

सर्वेश्वरवाद को भी विश्व की पूर्ण परिकल्पना नही माना जा सकता, क्योकि वह जगत् और मानव-मन की सत्यता का निषेध करता है।

९ सकल्प-स्वातन्त्र्य का स्वरूप क्या है ? अनियन्त्रणवाद अथवा आत्म-नियत्रणवाद ?

सकल्प-स्वातन्त्र्य का अर्थ या तो अनियन्त्रणवाद है या आत्मनियन्त्रणवाद। अनियत्रणवाद के अनुसार बिना किसी कारण, प्रवर्तन या उद्देश्य के आत्मा अपने सकल्पो का निर्णय कर सकता है। वह अकारण ही वैकल्पिक सभ वनाओ में से किसी को स्वेच्छाचारपूर्वक चुन सकता है। अनियत्रणवाद वह मत है जो मनुष्य के सकल्प को अकारणजात -स्तु के अर्थ मे ग्रहण करता है। अनियत्रणवादी सोचता है कि कर्म में प्रवृत्त होने के समय सकल्प के सम्मुख कई विकल्प होते है, उदासीनत पूर्वक उनमें से कोई एक चुना जा सकता है। वह सकल्प की सच्ची स्वैर-वृत्ति को स्वतन्त्रता समझता है, जो स्वय को सम्भावनाओ के एक सीमित क्षेत्र में अनिर्धारित चुनाव में व्यक्त करती हैं।

किन्तु, यह हमारे बौद्धिक-स्वभाव के प्रतिकूल है। आत्मा स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि वह शुभ के विचार के अनुसार अपने सकल्प को निर्धारित करता है। सकल्प का निर्धारण उसके बाहर स्थित किसी वस्तु से नही होता बल्कि अपने शुभ-साधन के उद्देश्य से आत्मा के ही द्वारा होता है। इस प्रकार सकल्प-स्वातन्त्र्य का अर्थ अनियत्रण-वाद नही है बल्कि आत्म-नियन्त्रणवाद है। आत्मा परम निःश्रेयस के आदर्श के अनुसार अपने सकल्पो को निर्धारित करता है, किन्तु इसका परम निःश्रेयस इसका अपना ही सर्वोच्च आत्मा है, अत इस प्रकार निर्णीत होना आत्म-निर्णीत होना है।

१० आत्मा की अमरता (Immortality of the Soul)।

आत्मा की अमरता नैतिकता की एक अन्य धारणा है। मार्टिन्यू उसके विषय में निम्न तर्क देता है—

मृत्यु का भौतिक स्वरूप—मृत्यु अपने भौतिक रूप में केवल शक्ति का परि-वर्तन है। मृत्यु होने पर शरीर की शक्तियाँ विच्छृंखल हो जाती हैं जिसके परिणाम-

स्वरूप शरीर नष्ट हो जाता है। परन्तु शक्ति-अक्षयता के नियम के अनुसार यह शक्तिया पूर्णत नष्ट नही हो सकती।

या तो शक्ति अक्षयता नियम मे मानसिक शक्ति सम्मिलित रहती है अथवा नही। यदि यह भौतिक शक्ति पर लागू होता है तो मन पदार्थ से पृथक् अथवा स्वतत्र रहता है अर्थात् मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रह सकती है। परन्तु यदि यह नियम भौतिक व मानसिक दोनो शक्तियो पर लागू होता है तो ठीक जिस प्रकार भौतिक शक्ति पूर्णत कभी भी समाप्त नही हो सकती वरन् किसी न किसी स्वरूप में जीवित रहती ही है, उसी प्रकार मानसिक शक्ति भी मृत्यु के उपरान्त पूर्ण समाप्त नही हो सकती वरन् यह किसी न किसी स्वरूप में मौजूद रहती ही है। इस प्रकार मानवीय आत्मा की अमरता शक्ति-अक्षयता नियम के विरुद्ध नही है।

मृत्यु का तात्विक स्वरूप—विश्व के विकास मे प्रत्येक सीमित आत्मा का अपना स्थान व नियत-कार्य है। अत यह कहा जा सकता है कि आत्मा तब तक रहेगी जब तक कि यह अपने उस कार्य को पूर्ण नही कर लेती जिसके लिए विश्व-व्यवस्था मे इसकी आवश्यकता होती है। यह मानना तर्क-सम्मत होगा कि आत्मा वतमान जीवन में अपने कार्य की समाप्ति एव अपने उद्देश्य की प्राप्ति नही कर सकती। अत उसे मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहकर विश्व मे अपने कृत्य की पूर्ति करनी होती है।

मृत्यु का नैतिक स्वरूप—हमारे 'अह' (आत्मन्) की रचना में ही हमें अपने भविष्य जीवन के सबल सुझाव तथा अचूक चिन्ह मिलते हैं। हमारा बौद्धिक एव नैतिक ढाचा मृत्यु के उपरान्त भविष्य जीवन का कुछ बोध प्रदान करता है। इन बोध-चिन्हो अथवा सूचनाओ को डाक्टर मार्न्टिन्यू ने 'मनीषा द्वारा भविष्यवाणी' 'अन्तकरण द्वारा भविष्यवाणी' तथा 'निलम्बन द्वारा भविष्यवाणी' कहा है। मानवीय 'अह' (आत्मन्) की बौद्धिक प्रकृति के कारण उसका जीवन अविनश्वर अथवा अमर होता है।

बुद्धि द्वारा भविष्यवाणी—हमारी मनीषा दिक्-काल से मर्यादित होती है। मनीषा का विकास क्रमश दिक्काल की मर्यादाओ से ऊपर उठना होता है। ज्यो ज्यो मनस् स्मरण शक्ति, कल्पना शक्ति, दूरी जानने तथा इन्द्रियो की पहुच से परे वस्तुओ के आन्तरिक-कारण व पारस्परिक सम्बन्ध पहचानने की शक्ति का विकास होता है त्यो त्यो यह धीरे धीरे दिक्-काल की सीमाओ को लाघने लगता है। परन्तु वर्तमान सीमित जीवन में मनस् दिक्-काल की मर्यादाओ को पूर्णत नही लाघ सकता। अतः हमारा यह आशा करना तर्कसगत होगा कि मृत्यु के पश्चात् एक भविष्य जीवन होता है जिसमे मनीषा अपनी पूर्णता प्राप्त करेगी तथा दिक्-काल की मर्यादाओ का पूर्ण उल्लघन कर सकेगी।

अन्तःकरण द्वारा भविष्यवाणी—नैतिक आदर्श असीम होता है। यह वर्तमान जीवन में पूर्णत प्राप्त नही किया जा सकता। नैतिक प्रगति जितनी अधिक होती है नैतिक आदर्श भी उतना ही अधिक उच्च होता जाता है। अत नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिये अनश्वर अथवा अमर जीवन की आवश्यकता होती है। कान्ट इसका वर्णन इस प्रकार करता है—इच्छा एव कर्तव्य के मध्य सघर्षों को कभी भी पूर्णतः सीमित जीवन में समाप्त नही किया जा सकता। अत वर्तमान जीवन के ही क्रम में एक भावी जीवन भी होना चाहिये जहाँ कि मानवीय आत्मा का व्यक्तित्व जीवित रहकर इच्छा एव कर्तव्य के मध्य सामजस्य स्थापित कर सके।

निलम्बन में भविष्यवाणी—कान्ट यह भी कहता है कि न्याय व समता अन्त-करण की ये मागें भी भविष्य जीवन की ओर इगित करती हैं। हमारे मन में यह दृढ विश्वास होता है कि गुण (पुण्य) का पुरस्कार सुख, एव दोष (पाप) का दण्ड दुख है। परन्तु पुण्यवान इस जगत् में विरले ही सुखी होते हैं, अत हमारी धारणा है कि इस जीवन के परे एक अन्य जीवन होता है जिसमें पुण्यवान को सुख और पाप-परायण को दुख अवश्य मिलता है। भौतिक कष्ट, सार्वजनिक निन्दा तथा राज्य द्वारा दिया गया दण्ड भी पापी के लिए पर्याप्त दण्ड नही है। उसे भविष्य जीवन में उचित दण्ड मिलेगा जहाँ कि उसके कष्ट पूर्णत, उसके पापो के अनुपात में होगे।

नैतिक आदर्श अनन्त है। यह नियत समय के भीतर प्राप्त नही किया जा सकता। इस अनन्त आदर्श की उपलब्धि के हेतु आत्मा को अनन्त समय मिलना चाहिये। अत यह अनश्वर होनी चाहिये। परिमित समय इस महान् कार्य के लिए अत्यन्त अपर्याप्त रहता है। सेथ का कथन है कि प्रगति मनुष्य के नैतिक जीवन की एक प्रधान विशेषता है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य निस्सीम अथवा अनन्त है। वह इस सीमित जीवन में प्राप्त नही किया जा सकता। यह जीवन भावी जीवन की तैयारी की काल है। मृत्यु हमारे जीवन का अन्तिम चरण नही है। मनुष्य का कार्य असीमित है, उसकी पूर्ति इस सीमित जीवन में नहीं हो सकती। आत्मन् (अह) की क्षमता और सम्भावित शक्तियें असीम हैं वे इस अल्प जीवन-काल में पूर्ण-रूपेण विकसित नही की जा सकती। इन शक्तियो का पूर्ण विकास असीमित समय चाहता है। मनुष्य की बौद्धिक, ललित (सौन्दर्य विषयक) एव नैतिक शक्तिया अनन्त हैं। उनकी प्राप्ति के लिए 'अह' (आत्मन्) की अविनश्वरता आवश्यक है।

हॉफडिंग 'मूल्यों के संरक्षण' (conservation of values) का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। हमइस जीवन में जिन मूल्यो का अर्जन करते हैं उनका नैतिक व्यवस्था में सरक्षण होना चाहिये। अत यह सिद्धान्त भी आत्मा की अमरता का प्रतिपादन करता है। व्यक्तिगत नैतिकता नीति-शास्त्र का एक मान्यता है। नैतिक जीवन व्यक्तिगत जीवन है। व्यक्ति द्वारा नैतिक आदर्श की प्राप्ति व्यक्तिगत जीवन

में ही होती है। यदि नैतिक आत्मन् अथवा व्यक्ति विश्वात्मा में पूर्णत विलीन हो जाये तो नैतिक जीवन का अन्त हो जाता है। अव्यक्तिगत नैतिकता वास्तव में नैतिकता का निषेध है। नैतिक जीवन सदा व्यक्तिगत होता है यह प्राकृतिक जीवन में विलय नही हो सकता, न यह दैवी-जीवन मे ही विलीन हो सकता है।

११ ईश्वर का अस्तित्व।

मार्टिन्यू ईश्वर के अस्तित्व के विषय में निम्न तर्क देता है।

नैतिक उत्तरदायित्व—वैधानिक उत्तरदायित्व की भाति नैतिक उत्तरदायित्व में भी दो व्यक्तियो का होना आवश्यक है—नैतिक उत्तरदायित्व के आधीन सीमित व्यक्ति तथा अनन्त-व्यक्ति अर्थात् ईश्वर जो कि समस्त नैतिक उतरदायित्व का स्रोत है। नैतिक उत्तरदायित्व व्यक्ति और समाज के मध्य एक सामाजिक सम्बन्ध नही है, क्योकि समाज उसके समस्त कार्यों का ज्ञान नही रख सकता—विशेषत उसके आन्तरिक प्रयोजनो एव अभिप्रायो का। राज्य भी इसी कारण नैतिक उत्तरदायित्व का स्रोत नही हो सकता। मार्टिन्यू का मत है कि नैतिक उत्तरदायित्व 'अह्' के आदर्श स्वरूप द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप पर लागू नही किया जा सकता। यदि मैं स्वय ही अपने नैतिक उत्तरदायित्व का स्रोत हूँ तो मैं उसे परिवर्तित करने या हटा लेने का भी अधिकार रखता हूँ। परन्तु मैं वास्तव में कभी भी नैतिक उत्तरदायित्व की अपनी भावना को नष्ट नही कर सकता। अत न समाज, न राज्य और न असीम 'अह्' (आत्मन्) ही नैतिक उत्तरदायित्व का स्रोत है। अत ईश्वर (परमात्मन्) ही नैतिक उत्तरदायित्व का स्रोत हो सकता है क्योकि वह हमारे समस्त कार्यों को जानता है तथा हमारे आन्तरिक प्रयोजनो और अभिप्रायो को भी जानता है, वह अन्तर्यामिन् है।

नैतिक प्राणियो का उत्तरोत्तर क्रम—नैतिक प्राणियो का एक उत्तरोत्तर क्रम (hieracrhy) होता है। जगत् में कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक पूर्ण होते हैं। अधिक पूर्ण व्यक्ति अधिक अपूर्ण व्यक्तियो के सन्मुख आदर्श प्रस्तुत करते हैं। हम सर्वदा पवित्र व्यक्तियों (साधु-सन्तो) के उदाहरणो से प्रेरित होते एव श्रेष्ठ बनते हैं। अत हम यह कल्पना कर लेते हैं कि एक सर्वाधिक पवित्र एव पूर्ण व्यक्ति अर्थात् परमेश्वर होता है जो कि समस्त-पूर्णत्व की चरम सीमा है। वह पवित्रतम तथा पूर्णतम होता है।

नैतिक नियम—कान्ट की भाषा मे यह एक बिना शर्त अथवा निरपेक्ष-आदेश (categorical imperative) है। हमें नैतिक नियम का पालन करना चाहिये (ought) परन्तु नैतिक नियम अव्यक्तिगत होता है। इसे नैतिक नियम इस कारण कहते हैं क्योंकि यह ईश्वर के पूर्णतत्व की अभिव्यक्ति होता है। नैतिक नियम मनुष्य में ईश्वर की ध्वनि है। दूसरे शब्दो में यो कह सकते हैं नैतिक नियम की वास्तविक

पूर्ति तव होती है जब इसका दर्शन एक पूर्ण-आत्मा में हो जो कि इसका वोध हमें प्रदान करता है तथा इसे हमारी कामनाओ के ऊपर इतनी शक्ति प्रदान करता है कि यह हमें प्रभु के साथ सवाद में तल्लीन कर सके। हमारी नैतिक प्रकृति का ढाचा केवल एक ही प्रकार से समझ में आ सकता है कि हम एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जीवन व्यतीत करें। यह उद्देश्य "वह पूर्णत्व है जो कि समस्त ब्रह्माण्ड में पवित्र नियम सहित व्याप्त है।"

नैतिक शासन—इस जीवन में पुण्यात्माओ को पर्याप्त पुरस्कार तथा पापात्माओ को पर्याप्त दण्ड नही मिल पाता। शारीरिक, सामाजिक एव राजनीतिक उत्पीडन पापो के पर्याप्त दण्ड नही हैं। अत हमारी धारणा वन गई है कि पुण्यात्मा और परमात्मा दोनो अपने सत्-असत् कर्मों का उपयुक्त पुरस्कार अथवा दण्ड अपने भावी जीवन में नैतिक शासक तथा निर्णायक अर्थात् ईश्वर के हाथो से प्राप्त करेंगे। काण्ट ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये निम्न नैतिक तर्क प्रस्तुत करता है।

अन्त करण की यह माग है कि धर्म के वदले में सुख और अधर्म के दण्ड स्वरूप दु ख मिलना चाहिये। परन्तु धर्म मनुष्य की आन्तरिक इच्छा पर निर्भर करता है और सुख वाह्य परिस्थितियो पर आश्रित होता है। हमारी इच्छा हमारी अपनी होती है तथा हमारा उस पर अपना नियत्रण होता है। अत धर्म हमारी इच्छा पर आधारित है, परन्तु वाह्य परिस्थितिया उस पर आधारित नही होती। अत काण्ट कहता है कि जगत में कोई ऐसी सर्वोच्च सत्ता अथवा व्यक्ति होना चाहिये जो कि धर्म के लिये सुख की व्यवस्था कर सके क्योकि वह आन्तरिक व वाह्य जगत में सत्ताधारी एव नियत्रणकता है। नैतिक जीवन का अर्थ है नैतिक आदर्श की ओर निरतर वढने वाला जीवन। सेथ का कथन है, "नैतिक जीवन का सार आदर्श जीवन है अर्थात् उस जीवन की प्राप्ति की आकाक्षा जो अभी तक प्राप्त नही हो सका है तथा जिसका निर्णय वास्तविकता और आदर्श के मध्य चलने वाले सघर्ष द्वारा होता है। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि इस नैतिक आदर्श का स्रोत तथा अधिष्ठान क्या है ? इसका यह उत्तर देना कि यह पूर्णतः आत्मगत अर्थात् हमारी वास्तविक सिद्धि का चल प्रतिविम्व है आदर्श के आकर्षण को करना है। इससे आदर्श एक ऐसी मूर्ख व कल्पित इच्छा वन जायगा जिसके एक वार ज्ञात हो जाने पर हम वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट होकर उसका पीछा करना छोड देंगे। वास्तविकता से सदा दूर रहने वाला आदर्श एक महत्तम भ्रम होगा।" (इथिकल प्रिन्सिपल्स, पृ० ४३०) नैतिक आदर्श सदा रहने वाली वास्तविकता है। यह निस्सीम व्यक्ति अर्थात् ईश्वर के तत्व की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। "आदर्श अवास्तविक नही है वरन् यह वास्तविक तत्व की अभिव्यक्ति और उसका प्रवक्ता है, जो हमारे लिये आदर्श है वह दूसरी ओर वास्तविक है। आदर्श के पीछे वास्तविकता निहित होती है।"

ईश्वर सर्वोच्च नैतिक व्यक्ति है। वह सदा से पूर्ण है तथा उसमें नैतिक आदर्श की पूर्ण सिद्धि निहित है। सीमित आत्मन् में भी वही व्यापक है। वह इससे परे है। नैतिक आदर्श ईश्वर के नैतिक पूर्णत्व का अपूर्ण प्रतीक है। मनुष्य को सदा दैवी पूर्णता की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। उसे ईश्वर के समान पूर्ण बनने का प्रयत्न करना चाहिये तथा ईश्वर के नैतिक पूर्णत्व का अनुसरण करना चाहिये। हमारा नैतिक आदर्श दैवी सत्य में निहित है।

राशडल का कथन है, "पूर्ण नैतिक नियम अथवा नैतिक आदर्श का अस्तित्व भौतिक पदार्थों में सम्भव नही है तथा यह किसी व्यक्ति-विशेष के मस्तिष्क में भी नही रहता। हम तभी नैतिक आदर्श को दृश्य जगत् की भाति बुद्धिपूर्वक वास्तविक मान सकते हैं जब कि हम एक ऐसे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करें जिसके लिये सच्चा नैतिक आदर्श पहले से ही वास्तविक हो तथा जो हमारे नैतिक निर्णयो के सत्य का आधार हो। तभी हम सत्-असत् की एक ऐसे निरपेक्ष मापदण्ड में विश्वास कर सकते हैं जो कि किसी व्यक्ति की वास्तविक इच्छाओ और उसके वास्तविक आदर्शो मे उतना ही स्वतन्त्र होता है जितने कि प्राकृतिक जगत के सिद्धान्त। ईश्वर में विश्वास का अर्थ है वस्तुगत अथवा निरपेक्ष नैतिकता की पूर्व मान्यता। नैतिक आदर्श आत्मा के अतिरिक्त किसी भी प्रकार और कही नही जा सकता है। अत निरपेक्ष नैतिक आदर्श एक ऐसे आत्मा में ही रह सकता है क्योकि यह ईश्वर के आत्मा में रहने वाले नैतिक आदर्श का प्रतीक होता है।" (थ्योरी आफ गुड एण्ड इविल, खण्ड २, पृ० २१२)

६ विश्व की बौद्धिक रचना।

जगत अथवा ब्रह्माण्ड नैतिकता का उपयुक्त क्षेत्र है। यह नैतिक मूल्यो के प्रति उदासीन नही है। यही वह क्षेत्र है जो हमें नैतिक आदर्श की प्राप्ति के अवसर देता है। यह ईश्वर अथवा विश्वात्मा की अभिव्यक्ति है जो कि ब्रह्माण्ड के द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। मनुष्य का नैतिक आदर्श ईश्वर के उस उद्देश्य का अग है जो विश्व के द्वारा पूर्ण किया जा रहा है। मनुष्य का नैतिक हित विश्वहित का एक अग है। यह विश्व के उद्देश्य का एक अनुपम अग तथा एक महत्वपूर्ण तत्व है। इस प्रकार जगत एक नैतिक शासन है जिसका उद्देश्य विश्वहित की प्राप्ति करना है। इसकी रचना बौद्धिक आधार पर हुई है। विश्व ईश्वर के उद्देश्य का साकार स्वरूप है। मनुष्य का नैतिक आदर्श दैवी-लक्ष्य का एक तत्व है। इस प्रकार विश्व (ब्रह्माण्ड) एक नैतिक व्यवस्था है। मनुष्य का नैतिक आदर्श ईश्वर के नैतिक पूर्णत्व का अपूर्व प्रस्फुटन है। ईश्वर नैतिकता का अन्तिम स्रोत है। वास्तविकता धीरे धीरे ईश्वर के उद्देश्य की प्राप्ति कर रही है। मनुष्य का नैतिक उद्देश्य ईश्वर के नैतिक उद्देश्य का अनिवार्य अग है। यदि

नैतिकता वस्तुगत रूप से सत्य है तो यह ईश्वर के विश्व उद्देश्य का अनिवार्य अग होना चाहिए वरना यह मनुष्य के मस्तिष्क की एक आत्मगत उपज मानी जायगी। इसका मनुष्य के मस्तिष्क के साथ सापेक्ष सम्बन्ध होता है। इसका कोई वस्तुगत एव सार्वभौमिक महत्त्व नही होता। राशडल ने ठीक ही कहा है, 'विश्व का कोई उद्देश्य अथवा भौतिक लक्ष्य होना चाहिये जो कि उस लक्ष्य की इच्छा करने वाले मस्तिष्क को तर्कपूर्ण प्रतीत हो तथा उस उद्देश्य की प्रकृति कम से कम अशत हमारे नैतिक नियमो द्वारा प्रकट होना चाहिये। न्याय-सगत मानवीय निर्णय जिसे शुभ ठहरोये वह दैवी-उद्देश्य का अग होना चाहिये तथा उस उद्देश्य का शेप भाग होना चाहिये जो मानवीय निर्णयो के आधारभूत सिद्धान्तो की कसौटी पर शुभ सिद्ध हो सके। वस्तुगत रूप से न्यायसगत नैतिकता में विश्व के बौद्धिक स्वरूप का विश्वास निहित है।" (थ्योरी आफ गुड एण्ड ईविल, खण्ड २, पृ० २१३–१४) "विश्व का भी कोई बौद्धिक लक्ष्य होना चाहिये जो पूर्ण विवेक के आधार पर शुभ कहा जा सके। हमारी बुद्धि हमारे सामने चरित्र के सच्चे लक्ष्य के रूप में जो उद्देश्य रखती है वह उस आत्मा का उद्देश्य भी होना चाहिये जो उस बुद्धि का स्रोत है। जब तक विश्व-बुद्धिप्रधान नही होगा तब तक आचार के किसी भी नियम को पूर्णतया बौद्धिक नही कह सकते। इसके पूर्णत बुद्धियुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि यह बुद्धियुक्त मनीषा द्वारा घोषित शुभ की प्राप्ति के लिये प्रयास करे। यह विश्वास कि विश्व का बुद्धियुक्त उद्देश्य होता है। निरपेक्ष नैतिकता की एक कल्पित मान्यता है।" (पूर्व पुस्तक, पृष्ठ २१९–२०) इस प्रकार विश्व की एक ईश्वरीय रचना नैतिकता की एक मान्यता है।

१० काल तथा अमगल की वास्तविकता।

राशडल का यह कथन है कि वस्तुगत नैतिकता के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य के नैतिक प्रयास जो कि काल की मर्यादा के भीतर हो, वास्तविक हो तथा क्रमश उद्देश्य की पूर्ति करते जायें। अत नैतिकता काल की वास्तविकता तथा उसके वस्तुगत स्रोत को एक पूर्व-मान्यता के रूप मे स्वीकार करती है। काल मनुष्य के आत्मा का आत्मगत गुण नही है। इसका अस्तित्व वस्तुगत है। इसके अभाव में मनुष्यो के स्वतन्त्र नैतिक प्रयत्नो का कोई महत्त्व और मूल्य नही रहेगा। "कालहीन-वास्तविकता का सिद्धान्त विश्व के इतिहास को अर्थहीन तथा मनुष्य के प्रयत्न को व्यर्थ कर देता है" (राशडल)। काल वास्तविक है परन्तु काल का अस्तित्व ईश्वर में किस प्रकार होता है, यह हम नही जानते। इसी प्रकार अशुभ भी वास्तविक है क्योकि स्वतन्त्र कार्यो द्वारा दोषो पर विजय पाने में ही नैतिकता निहित है। अमगल का अस्तित्व स्वीकार न करने पर नैतिकता एक निरर्थक कल्पना बन जाती है।

———

अध्याय २८

सामाजिक नीतिशास्त्र की समस्यायें

१. परिवार।

परिवार प्रारभिक सामाजिक सस्था है। यह समाज की इकाई है। हमें समाज की उस स्थिति की कल्पना भी नही हो सकती है जिसमें मनुष्य किसी परिवार का सदस्य न रहा हो। पति, पत्नी और सन्तति से मिलकर एक नैसर्गिक सामाजिक इकाई का निर्माण होता है। सामूहिक जीवन के प्राचीनतम रूप आत्मीयता के सम्बन्ध पर आधारित थे। आदिकालिक दलो ने भी अपने नैतिक निर्णयो को पति, पत्नी और सन्तान के मध्यवर्ती सम्बन्धों के अपने अनुभव से प्राप्त किया था। आज सभ्य राष्ट्रो में एक पत्नीव्रत के ऊपर स्थापित परिवार सामाजिक सस्थाओ मे सबसे अधिक सुरक्षित है।

परिवार प्रेम और वात्सल्य के नैसर्गिक भावो की भित्ति पर स्थापित है। पति-पत्नी प्रेम के बन्धन मे आबद्ध होते हैं। माँ-बाप और बच्चे वात्सल्य के बन्धन में आबद्ध होते हैं। इन सवेगो के आधार नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं। बच्चो की रक्षा उनके नैसर्गिक अभिभावको के द्वारा होती है। मा-बाप उनकी देख-रेख करते हैं, उन्हे भोजन, वस्त्र और सरक्षण प्रदान करते हैं, तथा उनकी शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं। मानवीय शैशव के लम्बे अर्से मे मा-बाप नैसर्गिक सरक्षक होते हैं।

परिवार नैतिक शिक्षा की पाठशाला है। परिवार के सदस्य सहानुभूति, सहभाव प्रेम और सहयोग के सामाजिक धर्मो को सीखते हैं। उन्हे आत्मोत्सर्ग की भावना की शिक्षा मिलती है जो नैतिक जीवन का मूल है, और वे उत्तरोत्तर व्यापक क्षेत्रो में उनका प्रयोग करते हैं। परिवार की भावना सभी सामाजिक भावनाओं और धर्मो का आधार है।

"आदर्श परिवार का एक उद्देश्य है—अपने सदस्यो का सामान्य कल्याण। विवाह पुरुप और स्त्री के वासना अथवा मैत्री के सम्बन्ध को पारस्परिक हित के उभयगत उद्देश्य की सिद्धि के लिये एक विचारपूर्ण, घनिष्ठ, स्थायी और उत्तरदायित्वपूर्ण बन्धन में परिणत कर देता है। यही सामान्य उद्देश्य, जो पति अथवा पत्नी के द्वारा एकान्त में उपलब्ध किये जा सकने वाले शुभ की अपेक्षा उच्चतर, अधिक व्यापक और अधिक पूर्ण प्रकार का शुभ है, वासना को उद्वेगात्मक अथवा स्वार्थपर स्तर से ऊपर उठाकर नैतिक स्तर मे पहुचाता है। जाति की रक्षा और शिक्षा के लिए परिवार श्रेष्ठ सामाजिक साधन है। यह कार्य माता-पिता के चरित्र पर प्रतिक्रिया करता है।

वच्चे वात्सल्य, सहानुभूति, आत्मोत्सर्ग, प्रयोजन की दृढता, दायित्व और क्रियाशीलता की माग करते हैं और उन्हे उद्दीप्त करते हैं।"[1]

'आदर्श परिवार सवसे सुन्दर और मानवीय सम्बन्ध है। पति, पत्नि, पिता, माता और वालक ये शब्द गम्भीर अर्थ और मूल्य से भरे हुए हैं। आदर्श परिवार मे प्रत्येक सदस्य को प्रत्येक व्यक्ति के हित-साधन के हेतु दूसरो के साथ मिल कर काम करने में चरम आनन्द प्राप्त होता है। पति और पत्नी स्वतन्त्र व्यक्ति हैं, उनके समान अधिकार हैं, प्रत्येक अपने व्यक्तिगत क्षेत्र में निपुण है और दूसरे की सहायता तथा अवलम्बन की अपेक्षा नही रखता। प्रत्येक वालक प्रेमयुक्त विनय के साथ माता-पिता के आदेश और पथप्रदर्शन को स्वीकार करता है, तथा अपने व्यक्तित्व के विकास में स्वतन्त्र प्रकाशन को प्राप्त करने में महायता पाता है। परिवार के सभी सदस्य प्रत्येक की आकाक्षाओ की पूर्ति के लिये मिल कर काम करते हैं, प्रत्येक प्रसन्नतापूर्वक सामान्य हित के लिये वलिदान करता है। आदर्श परिवार की सिद्धि प्राय वहुत कम पूर्ण होती है, किन्तु सभी विचारशील पुरुप और स्त्रिया उसे प्राप्त करने के लिये सकल्पपूर्वक विवाह करते हैं।"[2]

किन्तु परिवार का अपने सदस्यो के ऊपर सकीर्ण करने वाला प्रभाव भी पडता है। इनकी प्रवृत्ति उनके दृष्टिकोण को सकुचित करने और उनकी भावनाओ का अपने ही तक सीमित रखने की दिशा में होती है। यह उनकी भक्ति पर एकाधिकार कर सकता है। यह उनकी राज्यभक्ति को वाधित और उनकी राष्ट्रीय चेतना को सकुचित कर सकता है। यह उनकी मानवतावादी भावना को अवरुद्ध कर सकता है। अत कुछ प्रसिद्ध विचारक परिवार से मुक्त होना चाहते हैं। किन्तु यह रोगमुक्ति के लिये एक ढोगी वैद्य का वताया हुआ उपाय है। राज्य परिवार का स्थानापन्न न हो सकता है, न उसे होना चाहिये। एक अधिक समाज-व्यवस्था के द्वारा परिवार के दोषो का निराकरण हो सकता है।

किन्तु किसी सीमा तक परिवार के ऊपर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिये। उसे मा-वाप के वालको के ऊपर किये जाने वाले शासन का नियन्त्रण करना चाहिये। उसके द्वारा वालको से श्रम कराने पर रोक लगाई जानी चाहिये। उसे कम से कम एक सीमा तक उनकी उचित शिक्षा के लिये उन्हे वाध्य करना चाहिये। उसे पति की तुलना मे पत्नी की हीनता को कम करना चाहिये और उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता का आश्वासन दिलाना चाहिये। उसे पति के द्वारा होने वाले पत्नी के ऊपर शासन को अत्याचार में पतित होने के वचाना चाहिये। किन्तु राज्य को परिवार का स्थानापन्न नही होना चाहिये।

---

१ ड्यूई और टफ्ट्स नीति-शास्त्र, पृ० ४८९।

२ राइट नीति-शास्त्र की सामान्य भूमिका, पृ० ४५३।

यह वस्तुत सत्य है कि घर का वातावरण अत्यधिक सकीर्ण, अत्यधिक वैयक्तिक और सवेगात्मक होता है। माता-पिता प्राय बालको के शरीर, मन और विशेषतया उनके आचार-व्यवहार की यथोचित देख-रेख से अनभिज्ञ होते हैं। तथापि इससे यह तर्क-सम्मत अनुमान नही निकलता कि माता पिता के द्वारा उनकी व्यक्तिगत देख-रेख करने की अपेक्षा विशेपज्ञो के द्वारा देख-रेख होना अधिक उपयुक्त है। यदि शिशुओ को जन्म के उपरान्त तुरन्त माता-पिता से विच्छिन्न कर दिया जाय, शुश्रूपा-गृह मे उनका पालन-पोपण हो, सस्थाओ में उनकी उचित शिक्षा-दीक्षा, तथा उन्हे काम दिया जाय, तो उनमें उनके माँ-बाप के प्रेम के मधुर मानवीय स्पर्श का अभाव पाया जायगा, जो उनके आत्म-प्रकाशन और आत्म-लाभ के लिये अत्यावश्यक है, उनकी नैतिक शिक्षा अपूर्ण होगी, सस्थाओ की अवैयक्तिक देख-रेख मे उन्हे जड यन्त्र बन जाने का खतरा हो जायगा और माता-पिता भी अपने स्वाभाविक काम-सवेग को बच्चो के प्रति आदर्श, स्वार्थहीन वात्सल्य में परिवर्तित करने के सुअवसर से हाथ धो बैठेंगे। वे बालको के आदर्श बनाने वाले, सामाजिक बनाने वाले और उदात्त बनाने वाले प्रभाव से वचित हो जायेंगे। उनका जीवन सकीर्ण और स्वार्थपर व्यक्तिवाद में पतित हो जायगा। अत परिवार को समाप्त करने का कोई भी प्रयत्न समाज के नैतिक ढाचे के मूल पर आघात करेगा।

"परिवार का उन्मूलन नही करना है, बल्कि परिवार के अधिकारो में सुधार करना है, मा-बाप की शिक्षा को नही हटाना है, बल्कि उसे चालू करना है, गृह को नही, बल्कि गृहहीनता को नष्ट करना है।"[१]

२ विवाह—

परिवार का आधार विवाह की प्रथा है। विवाह स्त्री-पुरुप के जन्मजात यौन-आकर्पण को घनिष्ट और स्थायी मिलाप मे परिणत करता है। यह परस्पर प्रेम के बन्धन में आबद्ध प्रत्येक के आत्म-लाभ और आत्म-विकास का साधन है। काम एक जैविक प्रवृत्ति है। यह मानव स्वभाव मे प्रधान है क्योकि इससे जाति की वृद्धि और अक्षुण्णता होती है। "काम के प्रारम्भिक मूल्य जैविक होते हैं। इस रूप में मूलत वे विकृत होते हैं। किन्तु वे पूर्णतया वैसे नही हैं, जैसे सम्पत्ति के आर्थिक मूल्य होते हैं। इन्द्रिय तृप्ति अन्य मूल्यो का हेतु है, किन्तु उसका प्रकृत मूल्य भी है। इन प्रकृत और विकृत जैविक मूल्यो के साथ कालान्तर में अति-जैविक मूल्यो का साहचर्य हो जाता है जिनमें सहवास के मूल्य प्रधान है।"[२] काम के जैविक मूल्य सहवास और चरित्र के मूल्यो के, यथा, सहकारित्व, मैत्री, प्रेम, वात्सल्य, आत्मोत्सर्ग प्रभृति के साधन हैं। साधारण रूप में सक्रिय काम-प्रवृति पुरुप और स्त्री के जीवन

---

१ एलेन : प्रेम और विवाह, पृ० २४०।

२ अर्बन नीति-शास्त्र के मूल तत्व, पृ० २९१–२९२।

में एक महान् सयोजक शक्ति है। किन्तु असाधारण रूप में यह एक महान् विन्छेदन शक्ति का काम करती है और उनके जीदन को छिन्न-भिन्न कर देती है। विवाह स्वाभाविक काम-सवेग को आदर्श प्रेम और सहकारिता के रूप में परिष्कृत कर देता है। यह एक पाशविक वासना को दिव्य भावना बना देता है। यह एक सामाजिक सस्था है। "यह समाज के द्वारा अनुमोदित, सामाजिक माध्यम में स्थित सामाजिक व्यक्ति के अन्दर सक्रिय काम-प्रवृत्ति है। यह समाज के द्वारा आदिष्ट प्राय स्थायी यौन-सम्बन्ध है।"[१] यह एक शक्तिशाली सामाजिकीकरण और आध्यात्मिकीकरण का साधन है। यह नर-नारी सम्बन्ध को दिव्य बनाकर अति-जैविक मूल्यो की सिद्धि की माग करता है।

वैयक्तिक दृष्टिकोण से विवाह एक महत्वपूर्ण सामाजिक सस्था है। "साधारण व्यक्ति के अन्दर एक ओर तो काम वासना को अभिव्यक्त अथवा तृप्त करने की आवश्यकता है और दूसरी ओर उसे परिष्कृत करने और व्यक्ति की विशेष रुचियो तथा सवेगात्मक जीवन से समायुक्त करने की आवश्यकता है जिससे उसके ऊपर उचित दृष्टि बनी रहे। काम-वासना को अतृप्त रखने अथवा उसके दमन से असाधारणता, सवेदनशून्यता और सकीर्णता, अथवा यहा तक कि मनोविकृति और स्नावयिक-विकृति भी हो सकती हैं। बिना नियन्त्रित की हुई अथवा बिना परिष्कार किये हुये और बौद्धिक, रसात्मक तथा सामाजिक रुचियो और प्रभावो के साथ बगैर घनिष्ठता स्थापित किये काम-वासना व्यक्तित्व को गन्दा और विकृत बना सकती है। हैं। यदि स्त्रिया पहली अवस्था से अधिक ग्रस्त हैं तो पुरुष दूसरी से।"[२]

सामाजिक दृष्टिकोण से भी विवाह एक महत्वपूर्ण सस्था है। विवाह स्त्री-पुरुष के मध्य मैत्री का उत्कृष्टतम रूप है, जो किसी भी अन्य रूप से अधिक घनिष्ठ, अधिक सुन्दर, और एक-दूसरे के लिये अधिक सहायक है। सामान्य सुख-दुख, आशा-आकाक्षा से हिस्सा बाटना और बालको के कल्याण की चिन्ता करना उनके जीवन में वह समानता उपस्थित करते हैं जो कोई भी अन्य सम्बन्ध नही करते। विवाह हमें रचनात्मक कार्य के लिये अवसर देता है जिसके लिये अन्यो से सहयोग करना आवश्यक है। हम अन्यो के सहयोग मे सामान्य हित की सिद्धि के लिये अवसरो का उपयोग करते हैं। समाज ने मानव-जीवन को अधिकाश में भाषा, परम्परा और पारस्परिक सहायता तथा सहयोग के द्वारा वर्तमान स्थिति में पहुँचा दिया है और समाज को सभी इकाइयो में गोत्र और परिवार सब से अधिक दृढतया सम्बद्ध और प्रभावशाली रहे हैं।

"आधुनिक काल में विवाह में जो आदर्श निहित है वह एक नैतिक सस्कार

---

१ अर्बन।

२ ड्यूई और टफ्ट्स नीति-शास्त्र, पृ० ५०३

है। यह साधारण व्यापारिक समझौते से अधिक पवित्र वस्तु है। यह वह सूत्र है जो एक पुरुष और एक स्त्री को जीवन पर्यन्त परस्पर विश्वास में सयुक्त रखता है। इसका सवेगात्मक आधार प्रेम की पवित्र भावना हैं जिसमें वात्सल्य, स्वस्थापन, सम्मान, सहानुभूति, दूरदर्शिता, सग्रहशीलता और सृजनात्मकता की यौन-आकर्षण के साथ पूर्ण सगति होती है—सब का एक सामान्य रुचि और सामान्य इच्छा में उदात्तीकरण हो जाता है"[1]

विवाह के विविध रूप हैं (१) सामूहिक विवाह, जिसमें बहुसख्यक पुरुष बहुसख्यक स्त्रियो से सम्बन्धित होते हैं, (२) बहुपतित्व, जिसमें एक स्त्री कई पुरुषो में सम्बन्धित होती है, (३) बहुपत्नीत्व, जिसमें एक पुरुष की कई स्त्रिया होती हैं, (४) एक पत्नीव्रत, जिसमें एक स्त्री का एक ही पुरुष से सम्बन्ध होता है। एकपत्नीव्रत विवाह का सर्वोत्कृष्ट रूप है। समाज को इसकी प्राप्ति अनेक युगो के पश्चात् हुई है। विवाह के नैतिक आदर्श को प्राप्त करने के लिये यह सबसे अधिक उपयुक्त है।

"प्रत्येक दृष्टिकोण से स्थायी एक-पत्नी-सम्बन्ध सर्वोच्च नैतिक विकास का, जैसा कि हम उसे जानते हैं, अनिवार्य हेतु प्रतीत होता है। व्यक्ति की दृष्टि से यह आत्मोपलब्धि की अनिवार्य शर्त है। समाज की दृष्टि से यह अच्छे जीवन के लिये आवश्यक है।"[2] अत विवाह की चिर-स्थापित नैतिक-सस्था को नष्ट करने का प्रयत्न करना और पूर्णतया अव्यवस्थित दशा में पतित हो जाना असभ्य और पाशविक जीवन की ओर लौट जाता है।

३ असस्कृत प्रेम-विवाह।

अनेक आधुनिक लेखक प्रेम-विवाह की प्रशसा करते हैं और उसे प्रचलित विवाह-प्रथा से अच्छा मानते हैं। वे यह युक्ति देते हैं कि परस्पर सम्मति से और स्थायित्व की आकाक्षा से किये जाने वाला प्रेम विवाह के आदर्श के निकटतम है, यद्यपि समाज या धर्म इसका आदेश नही करता। वे इसे समान आत्माओ के सच्चे विवाह के रूप में देखते हैं, प्रचलित विवाह जिसकी पवित्रता में कोई वृद्धि नही कर सकता।

इससे निषेध नही किया जा सकता कि इस आधार पर अनेक उच्च सम्बन्धो की स्थापना हो सकती है, किन्तु इस प्रकार के सम्बन्ध बुद्धि और विचार पर बहुत कम तथा भावना और वासना पर बहुत अधिक आश्रित होते हैं। उन पर समाज-विरोधी तत्व का रग चढा होता है। उनमें सशयात्मकता और अस्थायित्व का भय होता है। अत: उनसे जीवन के सर्वोच्च मूल्यो की प्राप्ति होना असम्भव है। यदि वे प्रेमविहीन इन्द्रिय-तृप्ति पर आश्रित होते हैं, तो वे और भी अधिक अनैतिक और पाशविक सम्भोग के तुल्य हो जाते हैं। विवाह एक सामाजिक सस्था है। उसे विचार और

१ राइट।
२ अर्बन।

सकल्प के द्वारा अनियन्त्रित समाज और धर्म के द्वारा अनादिष्ट तथा भावना और वासना के ऊपर आधारित नही होना चाहिये।

४ परीक्षात्मक विवाह।

विवाह का आदर्श पति-पत्नी का स्थायी संयोग है। वे परस्पर सयोग से प्राप्य आनन्द द्वारा अधिक सपन्न तथा अधिक पूर्ण जीवन के भागी होते हैं। विवाह एक नैतिक सस्था है जिससे प्रेम तथा सहवास के सामान्य सूत्र से स्थायी रूप में परस्पर सयुक्त विवाहित जोडे के आत्म-लाभ और आत्म-विकास को बल मिलता है।

अत स्वतन्त्र प्रणय, परीक्षात्मक विवाह अत्यन्त आपत्तिजनक हैं। उनसे आजीवन सयोग की आशा नही की जा सकती। उनसे विवाह का नैतिक प्रयोजन सिद्ध नही होता। पति-पत्नी के मध्य स्थायी अनन्यता का सबन्ध समाज में युगो के पश्चात् स्थापित हुआ है। असख्य पीढियो के सामाजिक प्रयोगो के पश्चात् इसकी प्राप्ति हुई है। विवाह कदापि स्थायी नही हो सकता जब तक कि स्त्री-पुरुष इस पवित्र सकल्प से इसमे प्रवृत्त न हो कि आजीवन वे एक दूसरे से प्रेम करते रहेगे। परीक्षात्मक विवाह-सूत्र में आबद्ध स्त्री-पुरुप साहचर्य और चरित्र के उच्चतर मूल्यो को प्राप्त नही कर सकते। उन्हे आनन्द-लाभ नही हो सकता। अनिश्चितता का भय उनके मानसिक जीवन को छिन्न-भिन्न कर देता है। प्रत्येक को एक अधिक अच्छा साथी प्राप्त करने की इच्छा होती है और शीघ्र ही वह ऐसा करना चाहता अथवा चाहती है। प्रत्येक को ईर्षा की वेदना होती रहती है। वे और उनके बच्चे आनन्दित नही हो सकते। सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य उन्हें प्राप्त नही हो सकते। परीक्षात्मक विवाह व्यक्तिवादी और समाज-विरोधी होते हैं। काम की जैविक प्रवृत्ति उनका आधार है। वे वैवाहिक सम्बन्ध को परिष्कृत तथा आध्यात्मिक स्तर में नही पहुचा सकते। उनका कोई नैतिक औचित्य नही है। उनका समर्थन उग्र-व्यक्तिवादियो के द्वारा किया जाता है जो नर-नारी के स्थायी एक विवाहात्मक सम्बन्ध पर स्थापित समाज के दीर्घकालिक नैतिक ढांचे को गिराना चाहते हैं।

५ विवाह-विच्छेद।

इस समस्या पर तीन मत हैं। (१) अनुदार मत के अनुसार विवाह एक धार्मिक सस्कार है। "एक पत्नीव्रत के ऊपर आश्रित स्थायी परिवार स्त्री-पुरुप सवन्ध का आदर्श है क्योकि विवाहित दम्पति और बच्चे दोनो के लिये यह आत्मोपलब्धि की अनिवार्य शर्त है। सामाजिक सामजस्य और कल्याण के लिये तथा अपने शिक्षा-विषयक मूल्य के लिये तो और भी अधिक कानून के द्वारा कठोरतापूर्वक इसे स्थिर रखना आवश्यक है।"* कठोरतावादियो की धारणा है कि अधिकतम गम्भीर परिस्थिति में पति-पत्नी का विच्छेद वैध होना चाहिये, किन्तु उनमें से किसी को भी

* नीति-शास्त्र के मूल तत्व, पृ० ३२०।

पुनर्विवाह की आज्ञा नही दी जानी चाहिये । हिन्दू विवाह एक धार्मिक सस्कार है। किसी भी स्थिति में उसका विच्छेद नही हो सकता। यह विवाह-विच्छेद या वैध पृथक्करण का आदेश नही देता।

किन्तु बढते हुये व्यक्तिवाद के इस युग में पुरुष और स्त्री धर्म के द्वारा सस्कृत, अत्यन्त विरोधी और आनन्दरहित वैवाहिक सम्बन्ध के अत्याचार के सम्मुख नही झुक सकते। उन देशो में जहाँ तलाक नितान्त अवैध है पुरुष और स्त्रियो में सम्बन्ध की स्थिरता और विश्वसनीयता नही पाई जा सकती, विशेष-रूप से पुरुष वैवाहिक सम्बन्ध से बाहर तृप्ति लाभ करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे देशो मे प्राय अवैधता का प्राचुर्य होता है, और अवैध सन्तान साधारण घर में अपने मा-बाप के प्रेम और देख-रेख के बिना बडी होती है, पत्नियो को यह सिखाया जाता है कि चाहे उनके पति अत्याचारी, मद्यसेवी, व्यभिचारी और गुप्तरोगो से ग्रसित ही क्यो न हो, उनके प्रति सच्चा रहना उनका कर्तव्य है। जो बच्चे ऐसी स्थितियो में विकसित होते हैं वे शरीर, मन, और चरित्र में असाधारण हो जाते हैं। अत नैतिक दृष्टि से कठोरतावादी मत को मानना कठिन है।

(२) उग्रवादी मत के अनुसार दम्पति की पारस्परिक सम्मति से तलाक की स्वीकृति दे देनी चाहिये। यह युक्ति दी जाती है कि यौन सम्बन्धो का प्रारम्भिक सम्बन्ध अकेले व्यक्ति से होता है और इसलिये पारस्परिक सम्मति पर विच्छेद की अनुमति दी जानी चाहिये। यदि कोई विवाह अपने नैतिक प्रयोजन को सिद्ध करने में असफल होता है—यदि इससे घर कलह, ईर्षा और द्वेष से अभिभूत हो जाता है, तो पति, पत्नि और बच्चो में से किसी के भी चरित्र और प्रसन्नता में वृद्धि नही हो सकती। अत ऐसे विवाह का विच्छेद ही श्रेयस्कर है, तथा पुरुष और स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार मिलना चाहिये। सोवियट रूस में पारस्परिक सम्मति पर तलाक जायज करार दिया गया है।

किन्तु पारस्परिक सम्मति पर विच्छेद नैतिकदृष्ट्या उचित नही हो सकता। यदि कानून सर्वत्र इसकी अनुमति दे दे, तो क्षिप्र गति से यह पति या पत्नी की इच्छा पर तलाक में पतित हो जायगा, क्योकि कोई भी अन्य को उस विवाह-बन्धन में रखना पसन्द नही करेगा जो उसके लिये अरुचिकर हो चुका है। पति या पत्नी को जिसको भी प्यार करना छोड दिया गया है दूसरे को विवाह-बधन से मुक्त करने के लिये बाध्य होना पडेगा और यदि दम्पति में से कोई भी किसी भी समय दूसरे को तलाक देने के लिये बाध्य कर सकता है, तो वैवाहिक सम्बन्ध में सुरक्षा और स्थायित्व नही रहेंगे। सफल पतियो का पीछा आकर्षक युवतिया करेंगी, जो अपने यौवन और सौदर्य के द्वारा उन्हे पति के आरम्भिक जीवन के सघर्षमय वर्षों की आर्थिक कठिनाइयो तथा सन्तत्युत्पादन के कारण वृद्ध और अनाकर्षक पत्नियों से छीन ले जायेंगी। अनेक प्रेमी

और विश्वसनीय पत्नियो के दिल टूट जायेंगे और उनके बच्चे अपने पिताओ की वात्सल्यपूर्ण छत्रछाया से वंचित हो जायेंगे। सुन्दर, स्वार्थी तथा आकांक्षु स्त्रिया वर्तमान विवाह को अधिक लाभप्रद विवाह का साधन समझेंगी। अत पारस्परिक सम्मति से तलाक का नैतिक औचित्य नही है।

(३) उदारमत के अनुसार तलाक की अनुमति अपवादात्मक परिस्थितियो में होनी चाहिये। तलाक की स्वीकृति मिलनी चाहिये यदि पति या पत्नी कोई ऐसे गम्भीर अपराधो का अपराधी सिद्ध हो चुका है जैसा, अभ्यासपूर्वक व्यभिचार मद्यपान, निर्दयता, परित्याग, भयकर अपराध, नपुंसकत्व, असाध्य विक्षिप्तावस्था। और भी गम्भीर अपराध गिनाये जा सकते हैं। कानून तलाक के लिये, जिस पति या पत्नी के साथ अन्याय हुआ है, उसे बाध्य नही कर सकता, वह क्षमा कर सकता (या सकती) है और सहन कर सकता है जहा तक कि स्थिति के सुधरने की आशा दिखाई पडती है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति न्यायालय की शरण लेता है, तो उसे गम्भीर स्थिति में तलाक की अनुमति दे देनी चाहिये।

तलाक की समस्या का अन्तिम हल विवाह के विषय में जनता की नैतिक अन्त -प्रेरणा के उत्थान पर निर्भर है। यदि सभी एक नैतिक संस्था के रूप में विवाह-सूत्र का सतत स्मरण कर सकते हैं—यदि सभी को पारस्परिक प्रेम के सूत्रो में आबद्ध परिवारो में पवित्र जीवन यापन करने का सकल्प प्रेरित कर सकता है, तो तलाक का प्रश्न स्वय अपना हल ढूढ निकालेगा। "तलाक स्वयं एक रोग नही है, यह रोगोपचार के लिये एक शल्य-चिकित्सा के तुल्य है। रोग का कारण स्वय परिवार के नैतिक मूल्यों को समझने में असफलता है।"*

३ बलात् वैधव्य।

हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है। यह अविच्छेद्य है। हिन्दू धर्म में किसी भी स्थिति मे तलाक का विधान नही है। वह पति को पत्नी की मृत्यु के पश्चात् पुनर्विवाह की अनुमति देता है। किन्तु पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी को ऐसी अनुमति नही देता। विवाह-सूत्र की पवित्रता की रक्षा के हेतु पतियों की मृत्यु के उपरान्त स्त्रियो के ऊपर बलात् वैधव्य लाद दिया जाता है। इस प्रसग में यह भी विदित हो कि हिन्दू धर्म मे बहुविवाह का विधान है।

यदि कोई स्त्री अपने मृत पति के प्रति वफादार रहना चाहती है, तो वह ऐसा कर सकती है और विवाह के उत्कृष्ट आदर्श को प्राप्त कर सकती है। वह ब्रह्मचर्य और पातिव्रत्य के उदात्त गुणो का अर्जन कर सकती है तथा अपनी हीन वासनाओं को उच्च आध्यात्मिक भावनाओ में परिवर्तित और परिमार्जित कर सकती है। परन्तु, यदि प्रतिकूल परिस्थितियो के प्रभाव मे वह पुनर्विवाह करना चाहे, तो उसमें किसी को भी

* राइट।

बाधक नही होना चाहिये। ब्रह्मचर्य बाहर से बलप्रयोग द्वारा नही आ सकता, इसकी प्रेरणा इच्छापूर्वक अन्तरात्मा से होनी चाहिये। निस्सन्तान विधवाओ को पुनर्विवाह करने देना चाहिये, क्योकि मातृत्व स्त्रीत्व का उद्देश्य है। मातृत्व के लिये उनकी अभिलाषा की पूर्ति होनी चाहिये। बाल-विधवाओ को उनकी आत्माभिव्यक्ति और आत्मोपलब्धि के हेतु पुनर्विवाह की आज्ञा होनी चाहिये। युवती-विधवाओ को जो अपने काम-वेग को रोकने में असमर्थ हैं पुनर्विवाह की अनुमति होनी चाहिये, क्योकि अन्यथा वे कुमार्ग में पतित हो जायेगी और फिर उनका सुधार नही हो पायेगा। बलात् वैधव्य के फल प्राय अवैध यौन-सबन्ध, अपहरण, परस्त्री का परपुरुष के साथ भाग जाना, वेश्यावृत्ति, अवैध सन्तान इत्यादि हैं। इच्छापूर्वक वैधव्य एक उच्च और उदात्त आदर्श है। परन्तु, बलात् वैधव्य का कोई नैतिक औचित्य नही है, क्योकि व्यक्ति स्वय साध्य है और साधन नही बनाया जा सकता, अत एक विकृत शुभ के हेतु उसकी इच्छा और विचारपूर्ण विश्वास के विरुद्ध किसी स्त्री को विधवा रहने के लिये बाध्य नही किया जा सकता।

७ बाल-विवाह।

विवाह दो व्यक्तियो, एक नर और नारी का ऐच्छिक सयोग है जो विवाह के कर्तव्यो और अधिकारो को तथा आत्मोपलब्धि और आत्म-विकास में पारस्परिक सहायता देने के उसके नैतिक प्रयोजन को बुद्धिमत्तापूर्वक समझते हुये आजीवन सयुक्त रहने के इच्छुक होते हैं। अत बालको को विवाह की आज्ञा नही देनी चाहिये क्योकि वे अव्यस्क और अविकसित बुद्धि के कारण विवाह के स्वरूप और दायित्व को समझने में असमर्थ होते हैं। अविकसित शरीर के होने से बालकों पर वैवाहिक सम्बन्धो का कुप्रभाव होता है। उनका स्वस्थ तथा साधारण बौद्धिक तथा नैतिक विकास नही हो पाता। वे अपने प्रारम्भिक जीवन मे ही घर की चिन्ताओ और परेशानियो के नीचे दब जाते हैं, जिस काल में उन्हे उपयोगी व्यवसायो के लिये अपने आपको पूर्णतया तय्यार करना चाहिये था। जल्दी सन्तानोत्पत्ति और सन्तति के पालन-पोषण के कारण बालिका का स्वास्थ्य गिर जाता है। अत बाल-विवाह प्रथा का उन्मूलन होना चाहिये।

८ वेश्या-वृत्ति।

कान्ट का कथन उचित है कि व्यक्ति स्वत. साध्य है, उसको साधन नही बनाना चाहिये। वेश्यावृत्ति अनुचित है, क्योकि इसमें स्त्री के व्यक्तित्व के पतन के मूल्य पर उसे पुरुष के उपभोग का साधन बनाया जाता है। यह तथ्य कि स्त्री स्वय अपने पतन की अनुमति देती है केवल यह सूचित करता है कि वह भी नैतिक नियम के उल्लघन की अपराधिनी है, क्योकि वह स्वय अपने व्यक्तित्व का सम्मान नही करती।"[1]

---

[1] नीति-शास्त्र की सामान्य भूमिका, पृ० ३०६।

"वेश्यावृत्ति नैतिक अर्थ में काम-जीवन के आदर्श का गम्भीरतम उल्लघन है। वेश्या के यह धन के लिये लिये निकृष्टतम आत्म-विक्रय है। वेश्यागामी के लिये यह नैतिक आदर्श उल्लघन का चरम रूप है जिसके अनुसार नैतिक व्यक्ति को सदैव साध्य तथा कदापि साधन नही समझा जाना चाहिये।"*

९ महिलाओ के लिये व्यवसाय।

कुछ उग विचारको की धारणा है कि प्रत्येक प्रौढ स्त्री को किसी उद्योग या व्यापार में नौकरी दी जानी चाहिये। केवल गर्भ और शिशु को दूध पिलाने की अवस्था मे माताओ को इससे मुक्त किया जाना चाहिये, राज्य को उनकी आर्थिक सहायता करनी चाहिये। किसी भी व्यस्क महिला को पुरुष के ऊपर आर्थिक दृष्टि से निर्भर रहने की आज्ञा नही मिलनी चाहिये। महिलायें क्रमश पूरे नागरिक और राजनैतिक अधिकारो को प्राप्त कर रही हैं। उन्हें पुरुषो के समान व्यवसाय अपनाने चाहियें और रचनात्मक कार्य, आत्म-लाभ तथा आनन्द के लिये वैसे ही अवसर मिलने चाहिये।

"आधुनिक परिस्थितियो में प्रत्येक स्वस्थ महिला का कोई व्यवसाय होना चाहिये। प्रत्येक अविवाहित नारी को जिसकी सेवाओ को परिवार की आवश्यकता है, उसके भाइयो के समान दैनिक चर्या के रूप में कोई पेशा या व्यापार अपनाना चाहिये। यह उसके अपने चरित्र के विकास तथा सुख के लिये वाच्छनीय है। रचनात्मक कार्य मात्र के द्वारा मिलने वाला आत्म-लाभ का सुअवसर जिस पुरुष या स्त्री को दुर्लभ है उसे जीवन में परम सन्तोष भी अप्राप्य है।" §

महिलायें पुरुषो के समान पेशे स्वीकार कर सकती हैं। किन्तु कौटुम्बिक जीवन में बाधा नही होनी चाहिये। पुरुष के लिये अपनी स्त्री तथा बच्चो का भरण-पोषण नैतिक रूप से अच्छा है, दायित्व उसके चरित्र को दृढ बनाता है, वह अपने परिवार से अधिक प्रेम करता है और उनके प्रति वफादार रहता है। बच्चो के लिये भी सुखी परिवार श्रेयस्कर है। सार्वजनिक सस्थाओ की अवैयक्तिक देख-रेख की अपेक्षा अपनी माता को व्यक्तिगत देख-रेख में उनका अधिक अच्छा बौद्धिक तथा नैतिक विकास होता है।

महिलायें परिवार-निर्माण को भी एक व्यवसाय समझ सकती हैं। आधुनिक मशीने निश्चित व्यवस्था वाले कार्यो के लिये आवश्यक समय को घटा देती हैं और बौद्धिक तथा अध्यात्मिक स्वभाव वाले बडे कार्यो के लिये महिलाओ को मुक्त कर देती है। एक गृहिणी भोजनो के रसायन का ज्ञान प्राप्त करके उचित-रूप से सन्तुलित

* नीति-शास्त्र के मूल-तत्व, पृ० ३१७।

§ नीति-शास्त्र की सामान्य भूमिका; पृ० ४६६।

भोजन बना कर परिवार को स्वस्थ रख सकती हैं । साधारण रोगो और परिचर्या के लिये उसे स्वास्थ्यविज्ञान और औषधि का भी ज्ञान होना चाहिये। उसे परिवार के बजट के लिये बहीखाते का भी ज्ञान होना चाहिये और परिवार के व्ययो पर दृष्टि रखनी चाहिये। उसे बाल-मनोविज्ञान और शिक्षा सिद्धान्त तथा प्रयोग का भी ज्ञान अर्जित करना चाहिये, जो बच्चो की घरेलू शिक्षा-दीक्षा में उसके लिये बहुत मूल्यवान् सिद्ध होंगे।

महिलाये अपनी प्रकृति के अनुकूल किसी व्यवसाय का विशेष-ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। बालको की पाठशालाओ में वे अध्यापिकाये बन सकती हैं। बालिकाओ की पाठशालाओ और कालेजो में भी वे अध्यापन कर सकती है। वे स्त्री-रोगो, दाई, नर्स इत्यादि के पेशे का भी विशेष ज्ञानार्जन कर सकती हैं। वे सार्वजनिक स्वास्थ्य और तत्सबन्धी स्थितियो के सुधार की देख-रेख कर सकती हैं। वे वृद्ध, मानस-रोगी तथा निर्बलो की शुश्रूषा कर सकती हैं। वे उन्माद रोग से ग्रसित स्त्रियो की देख-रेख कर सकती हैं। वे पतित स्त्रियो को अपना सकती हैं और कुत्सित जीवन का सुधार कर सकती है।

महिलाओ को ऐसे व्यवसायो को स्वीकार नही करना चाहिये जो स्त्रीत्व के प्रतिकूल हो और उनके नैसर्गिक मार्दव का अपहरण कर दे। उन्हे मातृत्व के आदर्श को नही त्यागना चाहिये। उन्हे पुरुषो के साथ मल्लयुद्ध, खोज करने, शिकार, युद्ध और साहसपूर्ण कार्यों में प्रतियोगिता नही करनी चाहिये। उन्हे शारीरिक बल और वीर्य मे पुरुषो का अनुकरण नही करना चाहिये तथा पुरुष बनने की चेष्टा नही करनी चाहिये।

१० अस्पृश्यता।

हिन्दू समाज कुछ वर्ण के लोगो को अस्पृश्य समझता है। हिन्दू समाज मे असख्य जातिया हैं। उनमें अन्तर्विवाह और आपस में खान-पान निषिद्ध है। किन्तु इन जातियो के दो मुख्य विभाग स्पृश्य और अस्पृश्य हैं। तथा-कथित उच्च वर्ण स्पृश्य हैं। कुछ तथा-कथित निम्न-वर्ण अछूत समझे जाते हैं। वे आवश्यक-रूप से अपनी गन्दी और अनैतिक आदतो के लिये नही, बल्कि निम्न-जन्म के कारण अस्पृश्य हैं। वशानुक्रम से वे अछूत हैं। उनका स्पर्श पाप माना जाता है। दक्षिण भारत में ब्राह्मण उनकी छाया को भी नही छूते। वे सार्वजनिक तालाबो और कुओ का उपयोग नही कर सकते। वे अपने बच्चो को सार्वजनिक पाठशालाओ में नही भेज सकते।

यह अनैतिक प्रथा हिन्दू धर्म के ऊपर सबसे बडा कलक है, जो सिद्धान्तत प्रत्येक व्यक्ति के दिव्यत्व को स्वीकार करता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वय लक्ष्य है। हमें प्रत्येक व्यक्ति की उच्चता का सम्मान करना चाहिये। कोई व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत गदगी, सक्रामक रोग और अभ्यासजनित अनैतिकता के कारण गंदा और अस्पृश्य

होता है। शरीर, मन तथा आत्मा के शुद्ध होते हुए भी केवल जन्म के कारण कोई अस्पृश्य नही हो सकता, किन्तु बहुत से तथाकथित अछूत मृत पशुओ का मास भक्षण करते हैं, अभ्यासपूर्वक सुरापान, व्यभिचार तथा अपराध करते हैं। उन्हें इन गन्दी और अनैतिक आदतो का परित्याग कर देना चाहिये और दूसरे के साथ तुल्य व्यवहार की योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। हमें उनका आलिंगन करना चाहिये और उनकी अनैतिक आदतो का सुधार करना चाहिये।

११ भिक्षावृत्ति।

मनुष्य को काम करने का अधिकार है। इस अधिकार की प्राप्ति उसके जीवित रहने के अधिकार से होती है और उसका अपने जीविकोपार्जन के लिए काम करने का कर्तव्य है। काम करने के लिये वह नैतिक रूप से बाध्य है। वह पर-निर्भर नही हो सकता। उसे समाज के ऊपर भारस्वरूप होकर जीवित रहने का अधिकार नही है। उसे अपने काम से समाज के मगल के हेतु अपना भाग प्रदान करना चाहिये। भीख मागने का पेशा मनुष्य की शान को गिरा देता है जो एक बुद्धिमान् प्राणी और स्वय साध्य है। इससे उसके आत्म-सम्मान, स्वावलम्बन और आत्म-विश्वास का अपहरण हो जाता है। इससे आत्माभिव्यक्ति और आत्मोपलब्धि के अवसर उससे छिन जाते हैं। अत यह एक बड़ा नैतिक दोष है।

भिक्षावृत्ति एक महान् सामाजिक दोष है। मागने वाले जो भीख से जीविकोपार्जन करते हैं समाज के लिये कुछ नही करते। वे कोई रचनात्मक कार्य नही करते। वे समाज में कोई लाभप्रद कार्य नही करते। वे आलसी लोगो को प्रोत्साहन देते हैं। वे समाज पर भारस्वरूप हैं। वे अयोग्य हैं।

भिक्षावृत्ति वाले दान के पात्र नही हैं। कुछ उदारवृत्ति वाले अविवेकशील लोग उनकी सहायता करके अपनी स्वाभाविक सहानुभूति को तृप्त करते हैं। वे मागने वालो के साथ व्यक्ति अथवा स्वय साध्यो के प्रति किये जाने वाला व्यवहार नहीं करते, बल्कि उन्हे साधन मात्र समझते हैं। वे उनके अन्दर स्थित तत्व का शोषण कर देते हैं और उन्हें निष्क्रिय तथा दास बना देते हैं। कुछ अच्छे शरीर वाले भिक्षुक ठगने और दुष्टता करने का पेशा सभाल लेते हैं। अत भिक्षावृत्ति एक महान् नैतिक तथा सामाजिक बुराई है। विधान बनाकर इसे समाप्त कर देना चाहिये। राज्य का कर्तव्य है कि सब लोगो को नौकरी दे और अयोग्य तथा वृद्ध व्यक्तियो को आर्थिक सहायता प्रदान करे।

१२. क्या दान देना बुरा है ?

परोपकार एक सामाजिक धर्म है। दान देना एक प्रकार का परोपकार है। इसमें दया, धैर्य और सहनशीलता का समावेश होता है, तथा ईर्षा, घमड, दिखावा और द्वेष का अभाव होता है। समाज को वर्तमान व्यवस्था मे अनेक निर्धन और

अकिंचन व्यक्ति हैं। उनकी विपत्ति से मुक्ति करने में सहायता होनी चाहिये। हमें उन्हे स्वावलम्बी बनाने में उनकी मदद करनी चाहिये। दान को विवेकपूर्ण और पात्र का विचार करने वाला होना चाहिये।

पात्रापात्र का विचार न करने वाला दान अश्रेयस्कर है। यह समाज में अयोग्य परोपजीवियो के वर्ग की सृष्टि करता है। इससे उनके उपक्रम का विनाश हो जाता है। इससे उनकी अपने आप काम करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। उनके आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास का अपहरण हो जाता है। दान का लक्ष्य सदैव पात्र के अन्दर आत्म-सम्मान को जाग्रत करना होना चाहिये। अविचारपूर्ण दान दाता की सहजात सहानुभूति की तृप्ति करता है। इससे उसको बुद्धिमत्तापूर्ण परोपकार-वृत्ति की तृप्ति नही होती। यह उसे भावना के प्रवाह में बह जाने वाला बना देता है। अविचारपूर्ण दान को सद्गुण नही मानना चाहिये। इसे "विलासिता का एक विशेष विनाशकारी रूप" समझा जाना चाहिये।

विवेकपूर्ण दान एक धर्म है। इसने अत्यधिक व्यक्तिगत परोपकार किया है, और अनेक व्यक्तियो का वास्तविक हित किया है। इसने अस्पताल, पाठशाला, अनाथालय, कुष्ट-रोगियो के गृह, जच्चा-बच्चा अस्पताल और हरेक प्रकार की परोपकारी सस्थाओ की स्थापना करने में सहायता की है।

आधुनिक विचारक दानशीलता को मध्ययुगी नैतिकता के विचार का अवशेष मानते हैं। "वह सिद्धान्त जो दानशीलता को सर्वोत्कृष्ट चरित्र-गुण बनाता है सामन्तशाही समाज का अवशेष है; अर्थात् उन स्थितियो का जिनमें एक उच्च वर्ग एक निम्न वर्ग के लिये अकस्मात् ही कुछ करके नाम कमाता है। दानशीलता के इस विचार के विरुद्ध आपत्ति यह है कि यह भी उन कानूनो और सामाजिक व्यवस्थाओ को स्थिर रखने का बहाना बन जाता है जिन्हे स्वय न्याय के लिये बदल जाना चाहिये। दान का उपयोग अपनी सामाजिक अन्तरात्मा को सन्तुष्ट करने के साधन के रूप में भी किया जा सकता है जबकि उसी समय सामाजिक अन्याय के शिकार होने वालो के मन में पैदा होने वाले रोष की भी इससे शान्ति हो जाती है। उदात्त परोपकार निर्दय आर्थिक शोषण को छिपाने का साधन भी हो सकता है। पुस्तकालय, अस्पताल, मिशन, पाठशाला इत्यादि को दान का तत्कालीन सस्थाओ को अधिक सहने योग्य बनाने तथा सामाजिक परिवर्तन को न करने के साधन के रूप में उपयोग किया जा सकता है।"* अत दानशीलता विशुद्ध शुभ नही है। हमें समाज की आदर्श व्यवस्था को लक्ष्य बनाना चाहिये जिसमें निर्धनता शेष न रहे।

---

* ड्यूई और टफ्ट्स नीतिशास्त्र, पृ० ३३४।

अध्याय २९

राजनैतिक नीति शास्त्र की समस्यायें

१ राज्य।

राज्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक और नैतिक सस्था है। "यह सामाजिक सम्बन्धो का सर्वोच्च नियामक है।" यह अपने नागरिको के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करता है। यह अराजकता और कानून के व्यतिक्रम को रोकता है। यह विधान निर्माण करता है और उसे लागू करता है। इसका पृष्ठपोषक आधिभौतिक आदेश हैं। वह नागरिको के शान्तिपूर्ण जीवन का आश्वासन देता है। न्याय और उपकार इसके नैतिक कार्य हैं। इसका प्रारम्भिक कार्य न्याय करना है। गौण कार्य उपकार करना है। इसे अपराधियो को दड देना चाहिये जो दूसरो के अधिकारो का अपहरण करते हैं और इसे अपने नागरिको के भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण का उत्कर्ष करना चाहिये।

अराजकतावाद मानव स्वभाव को तत्वत अच्छा समझता है। मनुष्य की स्वतत्रता के ऊपर जितने भी कृत्रिम वन्धन हैं उनको हटा देना चाहिये। राज्य-शासन अनावश्यक है। यह तत्वत एक बुराई है क्योकि इसका आधार वल-प्रयोग है। राज्य का उन्मूलन होना चाहिये। आदर्श समाज-व्यवस्था प्रेम और सहानुभूति पर आश्रित सहयोगपूर्ण स्वतत्र समाज है।

यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। मानव स्वभाव पूर्णतया अच्छा नही है। यह शुभाशुभ का मिश्रण है। राज्य को अपने नागरिको के आत्म-लाभ और आत्म-विकास के हेतु वल-प्रयोग द्वारा मनुष्य के बुरे स्वभाव का निरोध करना चाहिये। उसे अन्यो के आक्रमणो से प्रत्येक नागरिक के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहियें तथा आत्म-प्रकाशन के लिये उसे अधिक से अधिक अवसर देने चाहियें। अराजकतावादी का स्वप्न सिद्ध होना असम्भव है। यह स्वतत्रता के वहाने निपिद्ध कर्मों को करने की अनुमति लेना चाहता है। राज्य का उन्मूलन करने का कोई भी प्रयत्न समाज-व्यवस्था और मानव हित के लिये घातक होगा।

२ क्या राज्य अहिंसा पर आधारित हो सकता है ?

राज्य को जनता की सामान्य इच्छा पर आधारित होना चाहिये, जो उसका नैतिक आधार है। किन्तु उसे शासन वलप्रयोगपूर्वक चलाना चाहिये। वह शासन के कार्यो को प्रेम और नैतिक प्रोत्साहन से सपन्न नही कर सकता। भौतिक दण्डविधान के आश्रय के विना वह निष्क्रिय और ढीला पड जाता है। वह सामाजिक सम्बन्धो का सर्वोच्च नियामक हैं। अत. नागरिको के ऊपर उनके व्यक्तिगत तथा सामान्य शुभ

के लिये उसे अपने नियमो को लादने की शक्ति होनी चाहिये। राज्य का जो बल-प्रयोग प्रतीत होता है वह अन्तिम-रूप से नागरिको के उत्कृष्ट आत्माओ की इच्छाओ का ही आरोपण है। "राज्य के आदेश का पालन नागरिक के अच्छे आत्मा के ही आदेश का पालन है।" राज्य की कोई भी अन्य सामाजिक व्यवस्था स्थानापन्न नही हो सकती। और अहिंसा भी उसका आधार नही हो सकता। उसे अपराधियो को दण्ड देना पडता है, भौतिक बल से उपद्रवो और विद्रोहो को शान्त करना पडता है, और हिंसा से आक्रमण का प्रतिकार करना पडता है। अहिंसामूलक राज्य को व्यवहार्य समझना मनुष्य के शुभाशुभ तत्वो से निर्मित जटिल स्वभाव को विस्मृत कर देना है।

३ क्या राज्य स्वय एक लक्ष्य है ?

राज्य स्वय लक्ष्य नही है। यह नागरिको के सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति का उपाय है। आत्म-लाभ अथवा व्यक्तित्व की सिद्धि अथवा सर्वोच्च मूल्यों की प्राप्ति उच्चतम व्यक्तिगत और सामाजिक शुभ है। राज्य को समाज की दृढ और शान्तिपूर्ण व्यवस्था का आश्वासन देना चाहिये जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सर्वोच्च शुभ की सिद्धि कर सके। उसे आत्म-प्रकाशन और आत्म-लाभ के लिये व्यक्तियो को अधिक से अधिक अवसर प्रदान करने चाहियें। राज्य को व्यक्तियो की स्वतन्त्रता अपहरण नही करना चाहिये और उन्हे जड मशीन के तुल्य नही बनाना चाहिये। राज्य को व्यक्ति का स्थान ग्रहण नही करना चाहिये। यदि वह उसकी स्वतन्त्रता का हनन करता है, तो यह उसके अपने नैतिक प्रयोजन के लिये घातक होगा।

४ क्या व्यक्ति को विद्रोह का अधिकार है ?

राज्य सामाजिक सम्बन्धो का सर्वोच्च नियामक है। यह सबसे विशाल सघ है जिसमें अन्य सघो का समावेश होता है। वह हमारे जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षित रखने का आश्वासन देता है। अत नागरिको का कर्तव्य है कि उसकी प्रभुता का सम्मान करें। उन्हें उच्छृङ्खलतापूर्वक उसकी प्रभुता में हस्तक्षेप करके अव्यवस्था और अराजकता को आमन्त्रित नही करना चाहिये। वे राजनैतिक व्यवस्था की आलोचना कर सकते हैं और उसमें सुधार करने का प्रयत्न कर सकते हैं। उन्हें, जब तक कि राज्य अपने कार्यों का सचालन सुचारु-रूप से करता है, खुले आम उसके विरुद्ध विद्रोह नही करना चाहिये।

आदर्श राज्य जनता की सामान्य इच्छा पर आधारित होता है। यह उसका नैतिक आधार है। उसे सामान्य जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करना चाहिये। किन्तु यदि उसके विपरीत, राज्य पशुबल पर स्थापित है और जनता की सामान्य इच्छा का निर्दयतापूर्वक विरोध करता है, तो जनता का उसके विरुद्ध विद्रोह करके उसे ठीक कर देना एक नैतिक अधिकार हो जाता है। केवल अपवादात्मक परिस्थितियो में लोगो को क्रान्ति करने का अधिकार है। उनका किसी तुच्छ उद्देश्य

के लिये स्थायी राजनैतिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का तथा वैधानिक अधिकारियो के विरुद्ध चलने का कोई अधिकार नही है, जिससे असख्य जन-समुदाय का जीवन और सम्पत्ति खतरे में पड जाय। किसी योग्य तथा दूरदर्शी नेता के नेतृत्व में ही लोगो को असाधारण परिस्थितियो में राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। किसी विविक्त व्यक्ति को जिसका कोई अनुमान करने वाला नही है जनता की सामान्य इच्छा के विरुद्ध कुछ करने का अधिकार नही है। इस प्रकार, किसी व्यक्ति को गम्भीर सकट में ही विद्रोह का अधिकार है।

५ युद्ध।

राज्य सर्वोच्च प्रभु-शक्ति है। यदि उसे दूसरे राज्य का भय होता है, तो प्रत्येक अवस्था में उसको रक्षा करनी चाहिये। यद्यपि राज्य आम जनता की इच्छा पर आधारित है, तथापि वह भौतिक वल से अपने प्रभुत्व को स्थिर रखता है। अत अपनी पूर्णता और प्रभुता की रक्षा के हेतु उसे भौतिक वल का आश्रय लेना चाहिये। समाज की वर्तमान अवस्था में यह अकल्पनीय है कि राज्य अहिंसा और नैतिक प्रोत्साहन के द्वारा आक्रमण का सफलतापूर्वक प्रतिरोध कर सके। अत. युद्ध किसी शुभ उद्देश्य की सिद्धि के लिये नैतिक दृष्टि से उचित है। उदाहरणार्थ, वह युद्ध उचित है जो किसी राज्य अथवा उसके मित्र-राज्य की प्रभु-सत्ता के लिये भयप्रद आक्रमणकारी के विरुद्ध, अथवा निर्बल और अरक्षित जनता पर हमला करने वाले के विरुद्ध लडा जाता है। स्वतत्रता के लिये और गुलामी से मुक्ति पाने के लिये युद्ध उचित है। दूसरो को आधीन करने के लिये युद्ध अशुभ है। आर्थिक और राजनैतिक साम्राज्यवाद के लिये युद्ध अनुचित है। हिन्दू, मुस्लिम तथा ईसाई धर्म पवित्र उद्देश्य के लिये युद्ध का अनुमोदन करते हैं। अत ऐसे युद्ध को धर्म की अनुमति प्राप्त है।

युद्ध ने नैतिक और सामाजिक विकास में एक समाजीकरण, व्यक्तीकरण, और वुद्धिकरण के प्रतिनिधि के रूप में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

(१) युद्ध विभिन्न वर्गों के लोगो को और विरोधी रुचि के लोगो को भी निकट ले आता है तथा सामान्य सूत्र में उन्हे आवद्ध कर देता है। लोग एक सामान्य उद्देश्य के लिये अपने व्यवसायो को छोड देते हैं, पारस्परिक द्वेष को भूल जाते हैं, और यदि आवश्यक हो ता अपना सव कुछ, जीवन तक का उत्सर्ग कर देते हैं। युद्ध से राष्ट्रो का जन्म हुआ है। युद्धो ने छोटे-छोटे समुदायो को मिलाकर उन्हे एक सामान्य शासन के अन्तर्गत कर दिया है।

(२) युद्ध व्यक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण साधन रह चुका है। यह सभी सम्वन्धित व्यक्तियो की उत्तम शक्तियो को जाग्रत करता है, चाहे वे अफसर मामूली सिपाही, इन्जीनियर, आहतो की गाडी के चालक, शल्यक्रियाविशारद, शस्त्रो के निर्माता हो, चाहे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामान्य प्रयत्न के सहायक उपादानो के

निर्माता हो। यह महिलाओ की उत्तम शक्तियो को भी उत्तेजना देता है, चाहे वे नर्स बनकर सेवाशुश्रूषा करें, युद्ध-भूमि में काम करने वाले लोगो की सहायता के लिये घर पर रहकर विविध प्रकार के उपयोगी काम करें, चाहे उन कामो को सभालें जिन्हे शान्तिकाल में पुरुष करते थे। युद्ध के भार से अनेक तुच्छ पुरुष अचानक असाधारण साहस के कारण ख्याति प्राप्त कर लेते हैं।

(३) युद्ध बुद्धिकरण का भी साधन रह चुका है। युद्ध के प्रयोजन के लिये अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हो चुके हैं। वायुयान, पानी के अन्दर चलने वाले जहाज, सुरगें, टैंक, पैराशूट, विषैली गैस, सश्लेषात्मक भोजन इत्यादि का आविष्कार युद्ध के उद्देश्य के लिये किया गया है। "सभी युगो में कला-कौशल का अधिकाश उत्कर्ष युद्ध की आवश्यकताओ के कारण हुआ है। सैनिक कला तथा विज्ञान विचार और कुशलता की उत्कृष्टतम शक्तियो को उद्भूत करते है। साहित्य, सगीत, भवन-निर्माण, चित्रकारी और मूर्तिकला में जो कुछ भी महान् है उसका अधिकाश युद्ध के कारण प्रादुर्भूत हुआ है।"*

तथापि युद्ध अकथनीय मानव यन्त्रणाओ का कारण है। यह अमरूय युवको को जो राष्ट्र को सुशोभित करने वाले हैं अगहीन और निर्बल कर देता है तथा उनका हनन कर डालता है। यह उनकी माताओ, स्त्रियो और बच्चो को तीव्र वेदना पहुचाने का कारण है। यह युद्ध में सलग्न राष्ट्रो का आर्थिक विनाश कर डालता है। यह वाणिज्य, व्यापार, उद्योग, शिक्षा तथा नागरिक जीवन के अन्य पक्षो का ह्रास कर देता है। इसके कारण निर्बलो की स्वाधीनता छिन जाती है। इससे उनका आर्थिक शोषण, भुखमरी तथा इसके फलस्वरूप नैतिक पतन हो जाता है। इससे विजयी राष्ट्रो पर प्रतिक्रिया होती है और उनके जातीय अभिमान और उद्धता में वृद्धि हो जाती है, जिससे उनमें आक्रमणकारी देशभक्ति और साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव हो जाता है। इससे वे उत्तरोत्तर आरामतलब, विलासप्रिय, और स्त्रियो के तुल्य जाते हैं। युद्ध विजयी और विजित दोनो राष्ट्रो का नैतिक पतन कर देता है। यह राष्ट्रो में घृणा, द्वेष, प्रतिद्वन्दिता और ईर्षा उत्पन्न कर देता है।

युद्ध के आधुनिक यन्त्र मानव-जीवन और सम्पत्ति के लिये भयानक रूप से विनाशकारी हैं। बमवर्षक-लडाकू और अन्य प्रकार के वायुयान नागरिक आबादी के ऊपर मौत की वर्षा करती हैं। और कस्बो तथा शहरो को धराशायी कर देते हैं। वे सैनिक उपकरणो, औद्योगिक क्षेत्रो, तथा जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ को ध्वस्त कर देते हैं। छत्रीधारी सैनिक अचानक लोगो पर छापा मारते हैं और उनके शान्तिमय नागरिक जीवन की गति का अवरोध कर देते हैं। आधुनिक युद्ध और

उसके सब ध्वसकारी उपकरण मानव-जाति को पीडित करने वाले सबसे भयानक साधन हैं। अत बहुसख्यक महान् विचारक आज निश्चित-रूप से युद्ध के विपक्ष में है, और प्रत्येक देश में बहुसख्यक जन शान्तिवादी और युद्धविरोधी हैं, किन्तु वे राष्ट्रो का नेतृत्व नही करते।

समय-समय पर युद्ध को अवैधानिक घोषित करने का और सब अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को मध्यस्थता, समझौता, सन्धि, नि शस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो की स्थापना और राष्ट्र-सघ के द्वारा शान्त करने के प्रयत्न हुये हैं। किन्तु, अब तक इन उपायो से सफलता नही मिली है। राष्ट्र सघ से बडी उच्च आशायें थी। किन्तु, उसकी स्वाभाविक मृत्यु हो चुकी है। राष्ट्र-सघ सब स्वतन्त्र राष्ट्रो का सघ नही था। अपनी स्थिति को स्थिर बनाने के लिये शक्तिशाली साम्राज्यवादी राष्ट्रो के द्वारा स्थापित किया हुआ और पुष्ट किया हुआ यह एक महत्त्वपूर्ण सगठन था। इसलिए धीरे-धीरे नवीन महत्त्वाकाक्षी राष्ट्रो ने जो तत्कालीन व्यवस्था से असन्तुष्ट थे, इस सघ से नाता तोड दिया और उसकी स्थिति में बाधा दी। यह सघ अबीसीनिया को इटली के आक्रमण से नही बचा सका। यह जापान को भी मचूको को पराजित करने और चीन का विनाश करने से नही रोक सका। अब सयुक्त-राष्ट्र-सघ ने अपना जीवन प्रारम्भ किया है। युद्ध का उन्मूलन करना इसका भी लक्ष्य है। किन्तु इसमें भी वही पुरानी ईर्षा प्रतिद्वन्दिता दृष्टि गोचर हो रही है।

प्रथम महायुद्ध युद्ध को समाप्त करने के उद्देश्य से लडा गया था। इसे युद्ध का अन्त करने के लिये युद्ध कहा गया था। यह कहा जाता था कि यह विश्व को प्रजातन्त्र के लिये सुरक्षित बनाने के लिये युद्ध है। दूसरा महायुद्ध भी यूरोप के प्रजातन्त्रो की रक्षा करना अपना लक्ष्य बताता था। परन्तु युद्ध से युद्ध का अन्त होना असम्भव है। हिंसा, प्रतिद्वन्दिता और ईर्षा के द्वारा पुष्ट युद्ध सदैव युद्ध का जनक होगा। युद्ध का अन्त केवल पारस्परिक सदिच्छा और समझौते, आर्थिक आवश्यकताओ के पारस्परिक समायोजन, तथा राष्ट्रो की प्रभुत्ता के न्यूनीकरण पर आधारित विश्व-सघ, स्वतन्त्र राष्ट्रो के सघ अथवा मनुष्य जाति के स्वतन्त्र समाज के ही द्वारा हो सकता है। जब तक विभिन्न राष्ट्रो की आर्थिक आवश्यकताओ का परस्पर सतोषजनक समायोजन नही हो जाता और युद्ध के कारणो का पूर्णतया विनाश नही हो जाता, तब तक युद्ध को अवैधानिक करने की चिल्लाहट अरण्य–रोदन रहेगी। युद्ध का अन्त नही हो सकता, जब तक कि लोग आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद का परित्याग नही करते, तथा उदात्त और विचारपूर्ण देश-भक्ति और राष्ट्रवाद को न छोडते हुये किसी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की अधीनता स्वीकार नहीं करते। शक्तिशाली साम्राज्यवादी राष्ट्रो का निरन्तर सघर्ष और तज्जन्य विनाशपूर्ण नि शस्त्रीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के लिये मार्ग प्रस्तुत कर सकते हैं। विश्व-सघ के मार्ग में

जो सबसे बडा कटक है वह है एशिया और अफ्रीका के निर्बल, अरक्षित तथा अशिक्षित लोगो की सत्ता। कोई भी उन्हे स्वतन्त्र तब तक नही करेगा जब तक वे इसके योग्य नही होते। उन्हे बलवान्, शिक्षित, अनुशासनयुक्त, सगठित तथा राजनैतिक चेतना युक्त होना पडेगा। केवल तभी वे स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं और राष्ट्रो के भ्रातृ-मण्डल के आत्म-सम्मान-युक्त सदस्य हो सकते हैं। काल की गति उनके पुनर्जागरण की क्रिया को क्षिप्र करेगी और साम्राज्यवादी राष्ट्रो की लोलुपता का निरोध करेगी। किन्तु, बल की समानता, पारस्परिक सदिच्छा और समझौता, सहकारित्व और भ्रातृत्व का भाव जो एक दृढ अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को स्थापित करने के लिये आवश्यक है अभी दुर्लभ है और युद्ध का अन्त एक सुदूरस्थ वस्तु है।

६ अनिवार्य सैनिक भर्ती।

न्यायपूर्ण उद्देश्य के लिये युद्ध उचित है। ऐसे गभीर सकट के अवसर भी आते हैं जब कोई राज्य किसी उच्च उद्देश्य के लिये अपने सब युद्धक्षम और उपयुक्त शरीर वाले नवयुवको को अनिवार्य भर्ती कर सकता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश को आक्रमण का भय है या कोई आक्रमणकारी वस्तुत उसके ऊपर आक्रमण कर देता है, तो राज्य को अनिवार्य भर्ती तथा सब युवको को लडने के लिये विवश करने के लिये विधान निर्माण करने का पूर्ण अधिकार है, क्योकि व्यक्तिगत शुभ का स्थान सदैव सार्वजनिक शुभ से गौण होना चाहिये। यहाँ पर राज्य के द्वारा बल-प्रयोग अन्ततोगत्वा व्यक्तियो के शुभ की वृद्धि करता है। यह उन्हे आत्म-प्रकाशन तथा आत्म-लाभ के लिये अधिक उपयुक्त क्षेत्र प्रदान करता है। किन्तु कुछ दशाओ में जहा लोग दृढता के साथ सब युद्ध के विरोधी हैं, अपवाद भी होने चाहियें। केवल उन्ही दशाओं में अन्त करण का स्वातन्त्र्य स्वीकार्य होना चाहिये यदि इससे युद्ध-सचालन पर विपरीत प्रभाव न पडे। कभी-कभी छोटे प्रजातन्त्रात्मक राज्य के लिये शान्तिवादियो तथा युद्ध-विरोधियो को अन्त करण की स्वतन्त्रता देना दुष्कर हो जाता है, जबकि वह अपनी सत्ता बचाने के लिये किसी तानाशाही राज्य से जीवन और मृत्यु के सघर्ष में सलग्न होता है। ऐसे राज्य के लिये अपनी प्रभु-सत्ता और स्वतन्त्रता के त्याग की अपेक्षा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन करना अधिक अच्छा है। अधिक शुभ के लिये कम शुभ का सदैव उत्सर्ग कर देना चाहिये।

७ राष्ट्रवाद अथवा देश-भक्ति।

देशभक्ति राष्ट्रवाद की भावना का एक उत्कृष्ट रूप है। राष्ट्रीय राज्यो का उद्भव देशभक्ति की भावना के विकास का साथी रहा है। यह एक मानसिक अवस्था है जिसमें अपने राष्ट्रीय राज्य के प्रति वफादारी को सब अन्य वफादारियो से—परिवार, गोत्र, या सम्प्रदाय के प्रति वफादारी से उत्कृष्ट माना जाता है। देश-

भक्ति स्वार्थ, वर्गवाद, साम्प्रदायिकता, तथा प्रान्तीयता को भङ्ग कर देती हैं। इससे सामाजिक एकता की भावना का विस्तार हो जाता है। इससे नागरिकता की वुद्धि गहरी हो जाती है और सार्वजनिकता की भावना का उदय होता है। देशभक्त अपने देश से प्रेम करता है, अत' वह अपने नागरिक और राजनैतिक कर्तव्यो के प्रति सच्चा होता है। वह अपने वोट देने के अधिकार का विचार और वुद्धिपूर्वक प्रयोग करता है। वह टैक्स देता है और नियमो का पालन करता है। वह यथाशक्ति अपने साथी नागरिको के हित और सुख के लिये प्रयत्न करता है। उसे अपने देश का अभिमान तथा उसके सम्मान से उत्साह होता है। वह युद्धकाल में देश सेवा के लिये तत्पर होता है, और उसके लिये अपने जीवन तक का उत्सर्ग कर देता है। देश-भक्ति की भावना व्यक्ति की उत्कृष्टतम शक्तियो को जाग्रत करती है, और उसे उच्च स्तर पर पहुँचा देती है। यह साहस, वीर्य, और आत्मोत्सर्ग का उद्रेक करती है। एक सच्चा देशभक्त मिथ्या वडाई करने वाला नही होता। वह अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रो का आदर करता है। वह निर्वल और अविकसित राष्टो के प्रति सहानुभूति रखता है। उसे दूसरे राष्ट्रो से सद्गुण का भी ज्ञान रहता है। वह कदापि दूसरे राष्ट्रों के मूल्यों पर अपने राष्ट्र की वृद्धि का विचार नही रखता। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति उसके अन्दर नहीं होती। वह सम्पूर्ण मानव-जाति को अपनी विस्तृत देश-भक्ति का विषय वनाकर उसे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद में विकसित कर सकता है।

किन्तु विकृत देश-भक्ति एक वडा दोप है। निर्दोप राष्ट्रवाद या देशभक्ति के विरुद्ध दोपपूर्ण राष्ट्रवाद या आक्रमणात्मक देशभक्ति है। आक्रमणात्मक देशभक्ति वह दोप है जो व्यक्ति के अन्य राष्ट्रो को दलित और 'निन्दित करते हुये अपने राष्ट्र को उन्नत वनाने के लिये प्रेरित करता है। वह केवल अपने राष्ट्र को ही ईश्वर के द्वारा चुना हुआ मानता है और अन्य राष्ट्रो को उससे हीन समझता है। यह उसका दृढ विश्वास होता है। वह साम्राज्यवाद का समर्थक वन जाता है और सोचता है कि उसकी सरकार को अन्य राष्ट्रो का शोपण करना चाहिये तथा शोपित राष्ट्रों का कोई अधिकार ही नही है। इस प्रकार विकृत देश-प्रेम आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद में पतित हो जाता है। यह अन्य राष्ट्रो के विरुद्ध शत्रुभाव को जन्म देता है तथा युद्ध और उसके परिणाम मानव-यन्त्रणा का कारण वनता है। शक्तिशाली और स्वार्थी राष्ट्रो की देशभक्ति ने शुभ से अधिक अशुभ को जन्म दिया है। किन्तु जव उदात्त स्वार्थ और अन्य राष्ट्रो के अधिकारो और हित के लिये उचित सम्मान के द्वारा इसका परिष्कार हो जायगा, तथा मनुष्य जाति के भ्रातृभाव के द्वारा यह परिवर्तित हो जायगा, तो यह मानवता के अत्यधिक हित और सुख को जन्म देगी।

८ रंगभेद अथवा जाति-भेद।

आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद वर्णभेद और जातिभेद को प्रोत्साहन देता है। यूरोप

और अमेरिका के श्वेत साम्राज्यवादी राष्ट्र पिछडे हुये अश्वेत लोगो के प्रति द्वेष और घृणा का भाव रखते हैं। अमेरिका के स्वतन्त्रताप्रिय लोगो द्वारा नीग्रो और रेड इन्डियनो का दमन सर्वविदित है। अफ्रीका में श्वेत उपनिवेशवादी वहाँ के आदिवासियो को पाशविक यत्रणा देते हैं। यूरोप का श्वेत जातिया एशिया और अफ्रीका के अश्वेत लोगो से घृणा करती हैं, तथा उनका पूर्ण रूप से शोषण करती हैं। नाजी जर्मनी का यहूदी-विरोधी आन्दोलन अगत जाति-भेद का परिणाम था। विकृत राष्ट्रवाद का पालन-पोषण रग और जाति-भेद से होता है। यह तत्वत एक नैतिक दोष है। किसी राष्ट्र को अपनी सभ्यता, संस्कृति को तथा अपनी जाति अथवा जातियो को सुरक्षित रखने के लिये सभी सम्भव उपायो का आश्रय लेने का अधिकार है। किन्तु उसे किसी अन्य राष्ट्र या जाति से घृणा नही करनी चाहिए। व्यक्ति स्वय साध्य है, उनके व्यक्तित्व की महत्ता का सम्मान होना चाहिए। उन्हे साधन मात्र नही समझना चाहिये। यदि उन्हे अन्यो की स्वार्थ-पूर्ति का साधन मात्र बनाया जाता है, तो वे स्वय नैतिक दृष्टि से पतित हो जाते हैं और अपने स्वामियो को भी पतित बना देते हैं। नैतिक अपराध अपने प्रवर्तक पर प्रतिक्रिया करता है और उससे बदला लेते हैं।

९ राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद।

अन्तर्राष्ट्रवाद देश-प्रेम या राष्ट्रवाद का स्वाभाविक विस्तार है। सच्चा देश-भक्त जो अपने राष्ट्र से प्रेम करता है अन्य राष्ट्रो से घृणा नही करता। वह अन्य राष्ट्रो के प्रति द्वेष और घृणा का भाव नही रखता। वह अन्य राष्ट्रो को समझने का तथा उन्हें अपने राष्ट्र को समझने देने का प्रयत्न करता है। वह जानता है कि अन्य राष्ट्रो के लोग अपने देश से प्रेम करते हैं और उसके अपने देशवासियों के समान अधिकार रखते हैं। उसका विश्वास है कि सभी राष्ट्रो के समान अधिकार, आशायें और आकाक्षायें हैं। वह विश्वास करता है कि राष्ट्रो के मध्य प्रतियोगिता, द्वेष और युद्धो का कारण अधिकाशत एक-दूसरे को न समझना और सदिच्छा का अभाव है। वह विश्वास करता है कि यदि सभी मनुष्य विचारयुक्त और उदात्त देश-प्रेम से प्रेरित हो, तो वे समझ जायेंगे कि उनके अपने राष्ट्र के अन्तिम उद्देश्यो की प्राप्ति एकमात्र अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा, न्याय और सदिच्छा से पूर्ण ससार में ही हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रवाद उदात्त देश-प्रेम का उत्कर्ष है। यह राष्ट्रवाद का विरोधी नही है। यह राष्ट्रवाद का पूर्णरूप है। अन्तर्राष्ट्रवाद का एक विकृत रूप विश्ववाद है जो राष्ट्रीय देश-प्रेम को एक त्याज्य सकीर्णता समझता है। सच्चा अन्तर्राष्ट्रवाद राष्ट्रवाद के अधिकार का निषेध नहीं करता, बल्कि उसका सीमा-विस्तार करके सम्पूर्ण मानवता को उसमें समाविष्ट करता है।

१० प्रजातन्त्रवाद बनाम तानाशाही।

द्वितीय महासमर को प्रजातन्त्रवाद तथा तानाशाही के मध्य आदर्श रक्षा के

लिये युद्ध कहा जाता है। प्रजातन्त्रवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पक्ष ग्रहण करता है। तानाशाही राज्य के निरपेक्ष प्रभुत्व का पक्ष लेती है। प्रजातन्त्रवाद का लक्ष्य व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता है। तानाशाही व्यक्ति की प्राय समग्र स्वतन्त्रता को समाप्त करती है। प्रजातन्त्र व्यक्ति को विचार और उसके प्रकाशन की स्वतन्त्रता देता है। तानाशाही इन स्वतन्त्रताओ का दमन करती है। यह व्यक्ति के जीवन का पूर्ण नियन्त्रण और सैनिकीकरण चाहती है। दोनो का लक्ष्य व्यक्ति का अधिकतम हित तथा सुख है। एक व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता के द्वारा उसे प्राप्त करने का यत्न करता है, दूसरा राज्य के अधिकतम हस्तक्षेप के द्वारा।

नैतिक दृष्टि से प्रजातन्त्रवाद तानाशाही की अपेक्षा अधिक अच्छा आदर्श है, क्योकि यह व्यक्ति को स्वय साध्य स्वीकार करता और उसके व्यक्तित्व की महत्ता का सम्मान करता है। तानाशाही बलपूर्वक आत्म-प्रकाशन और आत्म-विकास के लिये व्यक्ति की इच्छा का दमन करती है। यह उसके समग्र जीवन का नियन्त्रण करती है और उसे जड मशीन बना देती है। विचार और उसके प्रकाशन की स्वतन्त्रता का निर्दयतापूर्ण दमन तथा व्यक्तियो के विचार और व्यवहार का सैनिकीकरण व्यक्तित्व के उत्कर्ष के लिये घातक है, यद्यपि यह उनकी आधिभौतिक उन्नति और सुख का साधक हो सकता है। यदि तानाशाही जनता की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है—यदि तानाशाह जनता की मूक आकाक्षाओ को वाणी प्रदान करता है तो उसका नैतिक दोष बहुत कम हो जाता है। किन्तु, यदि तानाशाह जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व नही करता और उसके ऊपर कट्टरतापूर्वक अपनी इच्छा का आरोप करता है, तो उसकी तानाशाही खराब से खराब नैतिक बुराई है जो जनता की इच्छा का दमन करती है और उसे गुलाम बना देती है। किन्तु, यदि तानाशाही एक नैतिक बुराई है तो जनतन्त्र के वेश में धनिक-वर्ग का शासन भी अल्प बुराई नही है। सच्चा जनतन्त्र शिक्षित व्यक्तियो के राजनैतिक और आर्थिक स्वातन्त्र्य पर आधारित व्यक्तित्व की प्रभुता का प्रतिनिधि है। इसका पोषण पूँजीवाद, सैनिकवाद और साम्राज्यवाद के द्वारा नही होता। विश्व में आदर्श की रक्षा के हेतु होने वाले अनेक संघर्ष अन्ततोगत्वा सच्चे प्रजातन्त्र को जन्म देंगे। मानवता के सामाजिक और आर्थिक विकास में पूँजीवादी प्रजातन्त्र तथा साम्राज्यवादी, साम्यवादी अथवा फासिस्ट तानाशाही अल्पस्थायी अवस्थायें हैं।

———

QUESTIONS



Chapter 1 Definition and Scope and Methods of Ethics

1 Indicate the Scope of Ethics 2 Describe the distinctive character of Ethics showing how it differs from the natural sciences. 3 How do you distinguish Science from Philosophy? Do you consider Ethics to be a Science or a branch of Philosophy? What arguments will you advance to defend your position? 4 'Ethics is a science of the Good' 'Ethics is a science of the Right' What different points of view do these definitions imply? 5 'The distinction between natural and normative science is one of those convenient distinctions which requires to be drawn at the outest, but which may be gradually superseded' (*Seth*) Explain and discuss this statement showing how far it is true of the nature of Ethics as a science 6 'In morals the achievement cannot be distinguished from the inner activity by which it is brought about' (*Mackenzie*) Explain this statement and discuss why Ethics cannot be regarded as an Art If Ethics is a Science, is it natural or normative? 7 Explain the Method of Ethics, and distinguish it from the Psychological, the Historical, and the Metaphysical Method 8 Discuss the value of the Historical Method as applied to Ethics 9 Distinguish between Facts and Values With which of them is Ethics concerned? Can an ethical theory be constructed on the basis of the mere study of facts? 10 Explain the terms *positive*, *normative*, and *practical* as applied to Ethics as a science Discuss the suitability of each 11 Discuss the question whether the Good or the Right constitutes the fundamental notion of Ethics 12 Explain :— (*a*) 'Ethics is *par excellence* the science of the ought', (*b*) 'Ethics is the science of the ideal involved in human life' 13 'Ethics is more closely related to Philosophy than to the natural sciences' Explain the statement 14 What are the main problems which Ethics undertakes to solve? 15 What is the practical value of the study of Ethics? What is the end of Ethics? 16 Examine the view that Ethics, though a normative science, is not to be regarded as a practical science 17 Give a clear idea of the subject-matter with which

Ethics deals What is the good of the study of Ethics ? 18 Is it true to say that the method of Ethics is philosophical rather than scientific ? 19 A science is a systematic investigation into some aspect of Nature What, then, is exactly meant when we say that Ethics is a Science ? 20 Is Ethics a positive science, a normative science, or an Art ? Discuss 21 Ethics is the study of what is right or good in conduct' (*Mackenzie*) Discuss

Chapter II Relation of Ethics to other Sciences

1 Discuss the relation of the Ethics to Metaphysics. Is Ethics based on Metaphysics ? Or is Metaphysics based on Ethics ? Discuss 2 Discuss the relation of Ethics to Psychology and Metaphysics 3 Discuss the relation of Ethics to Economics 4 Indicate the relation of Ethics to Psychology Is Ethics a part of Psychology ? Discuss 5 Explain the relation of Ethics to Sociology and bring out the difference between them Can Ethics be regarded as a branch of Sociology ? Clearly distinguish the method of Ethics from that of Sociology ? 6 'Ethics is the science of the conduct of man as a social being ' Explain the statement Discuss briefly the view that Ethics must either be based on or perfect itself in Religion 7 Explain the relation of Ethics to Psychology, and show how far ethical theory has been affected by the results of psychological investigations 8 Discuss the relation of Ethics to Politics and consider how far the conduct of a nation can be judged by the same moral standard as the conduct of an individual ? Can the standard of truth and non-violence be applied to politics ? 9 'The study of conduct leads us inevitably into the study of social life, (*Mackenzie*) Explain the statement Bring out clearly in this connection the relation of Ethics to Politics and Sociology

Chapter III The Psychological Basis of Ethics

1 Distinguish between Moral and Non-moral actions If a person is coerced to do wrong, is he morally responsible for the action ? 2 'Conduct is the continuous adjustment of internal relations to external relations (*Herbert Spencer*) Discuss the statement 3 Explain the biological, and the ethical significance of conduct and indicate the relation of conduct to character 4 Explain the relation of character to circumstances Can conduct be said to be determind by character and circumstances as co-ordinate factors ?

5. 'Virtue is a kind of knowledge, as well as a kind of habit' (*Mackenzie*) Explain the statement 'The essential difference between man as a moral being and a mere animal is that the former has *desire* which he can *will* to satisfy, and the latter has mere *want*' Clearly elucidate the statement, and bring out the factors that are involved in the formation of a moral *will* Would you regard an act as voluntary if it is done in obedience to the law of a 'must' ? 6 'Desires are always for objects, and these objects are always relative to a self for whom they have value' Discuss the statement. 7. 'Conduct consists of human actions, and these are always regarded as the expressions of the character of the man whose actions they are' Describe fully the relation between character and conduct indicated in the above extract 8 Explain 'the Universe of Desire' and show its bearing on moral life Analyse desire Is desire always and necessarily directed to pleasure ? 10 Distinguish between Desire and Motive, Motive and Intention Determine the meaning of Motive in Ethics 11 Explain the nature of Volition, indicating its relation to Desire and Motive 12 Distinguish human *desires* from organic *wants* and animal *appetites* 15 What are Habits ? What is their moral significance ? Do they imply moral responsibility ? 13 Analyse conduct and character, and discuss their ethical significance 14 Do habitual actions come under the scope of moral judgment ? Give reasons for your answer What is a non-moral action ? Has the subconscious life any moral significance for the individual ? Is there any difference between approving a wrong action and doing it ? 16 Explain the stages of a voluntary action, and bring out its ethical significance 17 Is virtue knowledge or habit ? Discuss

Chapter IV Moral Judgment

1 Distinguish the moral from the non-moral Characterise the precise object of moral judgment 2 Discuss the moral value of the following —(*a*) A surgical operation that fails and kills the patient, (*b*) A murder that is committed in the belief that it will bring political freedom to the country. 3 Distinguish between Desire, Motive and Intention Which of them determines the moral quality of an action ? Fully explain this with reference to a concrete example 4 Is Moral Judgment intuitive or inferential ? What do you consider to be the proper object of Moral Judgment ? Give

a reasoned answer 5 What is the proper object of Moral Judgment ? Do you agree with the view that the end justifies the means ? 6 Does the moral quality of an act inhere in the act regarded objectively, or in the subjective willing of the act, or in both ? Discuss the question with reference to a concrete example 7 Give an account of the nature of moral judgment, showing where in it differs from logical judgment and æsthetic judgment What are the objects with which it may be said to be concerned and to what controversy has this led ? Was St Crispin right when he stole leather from the rich to make shoes for the poor ? 8 'The fully developed moral judgment is always pronounced, directly, or indirectly, on the character of the agent It is never simply on a *thing* done, but always on a *person* doing, that we pass moral judgment' Discuss the statement 9 Explain clearly what you understand by "*Moral Judgment*" Does the morality of an agent depend on his *acts* or his *intentions* ? 10 Distinguish between Motive and Intention Which of them determines the moral quality of an action ? 11 What is the distinctive character of Moral Judgment ? Do we judge an act by its Intention or Consequences ? 12 How far do moral judgments apply to 'resolutions' ? Discuss 13 'The end justifies the means' 'All is well that ends well' Discuss 14 Explain the various kinds of intention, and bring out their moral importance 15 'The nature of an action has nothing to do with the morality of the action, though much with the worth of the agent'. 'The morality of an action dependes entirely upon the intention' (*Mill*) Discuss the statements

Chapter V Moral Concepts

1 Distinguish between Duty and Merit How are degrees of merit to be estimated ? 2 Distinguish between Duty, Merit, and Virtue Are they connected in any way ? 3 Determine the conditions and limits of moral responsibilty ? 4 Discuss the question whether 'Good' or 'Right' constitutes the fundamental notion of Ethics 5 Distinguish between Right and Duty Duty and Virtue, Merit and Demerit, and Merit and Virtue 6 'Freedom and Necessity both are essential to morals' (*Mackenzie*) Explain the statement. 7 What is the nature of Freedom of the Will which is presupposed by Responsibility ? Is it liberty of indifference or self-determinism ? 8 Analyse the concept of moral responsibility What are the circumstances that exempt a person from the fulfilment

of normal social obligations? 9. Analyse the consciousness of duty, and distinguish between 'obligation' and 'right', and 'virtue' and 'duty, as moral categories

Chapter VI External Law as the Moral Standard

1 Estimate the relative values of the theories which take Divine Law and Political Law as the moral standard 2 'Moral obligation is founded on the belief that virtue is enjoined by the command of God' Explain and discuss 3 Classify the legal theories of the standard of morality, and examine their validity 4 What do you understand by moral standards? Explain them briefly, and distinguish between Jural Ethics and Teleological Ethics 5 Consider the significance of *Law* in Ethics, and explain the different forms in which it has been conceived as a standard of conduct 6. Discuss the view of Morality in which Law is the dominant conception What are its defects? 7 Discuss the relative merits of the various conceptions of the Moral Law

Chapter VII Hedonism

1 How does Psychological Hedonism differ from Ethical Hedonism? Is there any logical connection between them? Give a critical estimate of Psychological Hedonism 2 Explain clearly the respective claims of Egoistic and Altruistic Hedonism Are the two capable of reconciliation? 3 Give and outline of J S Mill's arguments for (*a*) Psychological Hedonism, (*b*) Ethical Hedonism, (*c*) Altruistic Hedonism, (*d*) Quality of Pleasures Examine the soundness of his arguments 4 In what respects is Mill's Utilitarianism an improvement on Bentham's Hedonism? 5 Critically consider the theory of Hedonism, emphasizing the chief distinction in the theories of Bentham and J S Mill 6 Examine the doctrine of Psychological Hedonism Does it necessarily lead to Ethical Hedonism? What are the elements of truth in Psychological Hedonism? 7 How did J S Mill attempt to make Utilitarian Ethics consistent with hedonistic psychology? Is his recognition of 'kinds of pleasure' consistent with his Psychological Hedonism? 8 Briefly state J S Mill's position regarding qualitative differences in pleasures Show the significance of this position 9 Examine the difficulty of passing from the individual pleasure to the universal pleasure Test the so-called proof of Utilitarianism 10 How does the admission of J S Mill that some forms of pleasure are intrinsica

preferable to others affect the doctrine of Utilitarianism ? 11. Explain clearly what you understand by the expression 'the greatest happiness of the greatest number' How far is the pursuit of this end consistent with th eprinciple that every person desires his own happiness ? 12 Discuss the various objections against Ethical Hedonism 13 Is Hedonism identical with Utilitarianism ? Give a critical estimate of the Utilitarianism of J S Mill 14 Show how Bentham bases his Altruistic Hedonism on Psychological Hedonism What does he understand by dimensions of pleasure ? Critically examine Bentham's ethical doctrine 15 Examine the psychological and metaphysical presuppositions on which Hedonism is based ? Can an Altruistic system be erected on Hedonistic basis ? 16 Write short notes on the following —(a) Paradox of Hedonism (b) Egoisitic Hedonism , (c) Universalistic Hedonism , (d) kinds of Pleasure , (e) External and Internal Sanctions of Morality , (f) 'The amonut of pleasure being equal, pushpin is as good as poetry' 17 What are the External Sanctions of Morality ? What is their function in moral life ? Is J S Mill, justified in introducing the Internal Sanction of Morality ? 18 Discuss how far the principle of summation of pleasures is fundamental to Utilitarianism 19 What improvement is made by J S Mill upon Bentham's Utilitarianism ' Mill's refined Utilitarianism is said to be a departure from the hedonistic standpoint Discuss 20 Show how Bentham and J S Mill attempt to pass from Egoism to Altruism Is it possible to do so on the basis of Hedonism ? 21 How does J. S Mill defend Hedonism against the charges of (*a*) Selfishness, and (*b*) Sensuality How far does he succeed in his attempt ? 22 Examine criticall Mill's doctrine of 'gradation of pleasure, in respect of quality' I such gradation consistent with his fundamental ethical position 23 Explain and examine the theory that pleasure is the sole and ultimate end of action 24 Discuss the merits and demerit of Hedonism as a standard of moral life 25 Distinguish betwee Egoistic and Altruistic Hedonism Which of them seems to you to be the more consistent ethical theory ? 26 Give a brief historica account of the development of the Utilitarianism in Englanc 27 Show how Bentham and J S Mill pass from Egoistic Hedonism to Utilitarianism Are they justified in doing so ? 28 Distinguis between Egoism and Altruism Is it possible to effect a conciliatio

between the two attitudes from the hedonistic standpoint ? 29 Would you distinguish between the greatest (quantity) and the highest (quality) pleasure ? If so, on what grounds ? 30 Are there 'kinds of pleasure' ? Discuss the question, with special reference to Mill's view. 31 ' Does pleasure admit of qualitative distinction ? Discuss the question 32 Define Hedonism, and show the difficulties, if any, in passing from egoistic hedonism to altruistic hedonism 33 Give your reasoned estimate of Hedonism as a moral theory 34 Define Utilitarianism and give a comparative estimate of the Utilitarianism of Bentham and Mill 35 'Altruism is only magnified Egoism' 'A philanthropist is therefore to be denounced as an egoist' Do you agree ? Discuss 36 Give Mill's proofs of his theory of Utilitarianism, and discuss their validity 'It is better to be Socrates dissatisfied than a pig satisfied' (*Mill*) Examine the statement

Chapter VIII Evolutionary Hedonism

1 Distinguish between Empirical Hedonism and Evolutionary Hedonism In what ways has the theory of evolution brought to bear on ethical problems ? Mention the chief points of the evolutionary theory of Ethics 2 How far does evolutionary Ethics provide us with a moral standard ? Is Herbert Spencer's standard of Absolute Ethics attainable ? 3 What contributions has the theory of Evolution made towards the solution of Ethical problems ? Estimate their value. 4 In what respects has the 'organic view of society' corrected and influenced Ethical ideals ? 5 What is the difference between the evolutionist criterion of morality, and the utilitarian ? In what respects does the theory of evolution throw a new light on the nature of the moral law ? 6 What are the main difficulties in applying the general theory of Evolution to the problems of Ethics ? What ethical criterion does the evolutionist set up in place o Utilitarianism ? 7 'Conduct is the continuous adjustment of the internal relations to external relations' (*Herbert Spencer*) Discuss this statement, pointing out the application of Evolution to morals Is the the theory of Evolution consistent in upholding *pleasure* as the criterion of good conduct ? 8 What account does Evolutionary theory as applied to Ethics give of the genesis of conscience ? Do you think it possible to conserve the objective character of the authority of conscience on the basis of this theory ? 9 What explanation is given by Evolutional Hedonism of—(*a*) the sense of moral obligation (*b*) the relation between Egoism and Altruism ? 10 Write short notes on the following — (*a*) Evolution as applied to morals,

(*b*) Absolute Ethics, (*c*) Social organism, (*d*) Natural selection in morals 11 State and examine the ethical doctrine of Herbert Spencer 12 How has the Utilitarianism of Bentham been modified by J S Mill and that of Mill by Herbert Spencer ? Is the transition from Bentham to Mill and from Mill to Spencer a gradual abandonment of Hedonism ? Discuss 13 'We may sum up the defects of Hedonism by saying that it has the opposite fault to that which we found in the system of Kant' (*Mackenzie*) Discuss this view 14 Can the Genetic Method be rightly applied to morality ? Discuss

Chapter IX Rational Utilitarianism

1 Compare the rational hedonism of Sidgwick with the empirical hedonism of Mill How does the former avoid the faults of the latter ? 2 Show how Sidgwick combines Hedonism with Rationalism How far does he succeed in reconciling the two with each other ? 3 State Sidgwick's doctrine of Rational Utilitarianism Show how Sidgwick is influenced by Butler and Kant Does Sidgwick undermine hedonism when he tries to establish it on the foundation of reason ? Discuss 4 Trace the development of Hedonism from Bentham to Sidgwick 5 Discuss how the progress of Hedonism through Bentham, Mill, Spencer and Sidgwick is an illustration of the gradual surrender of the Hedonistic principle 6 Can Hedonism rightly pass from Egoism to Altruism ? Discuss 7 Briefly trace the theory of Hedonism through the several stages of its growth 8 How does Sidgwick reconcile Egoism with Altruism ?

Chapter X Ideal Utilitarianism

1 Distinguish Ideal Utilitarianism from Rational Utilitarianism 2 Give a critical estimate of Ideal Utilitarianism

Chapter XI Intuitionism

1 When conscience is referred to as the fundamental priciple of morals, we must not understand it to mean the conscience of this or that individual Explain what is your view of the proper attitude of the individual towards the rules of his community 2 Is diversity of moral judgments compatible with Intuitionism, and is unanimity

of such judgments consistent with Hedonism ? 3 Discriminate between the psychological and ethical aspects of the Springs of Action, and expound the doctrine of their ethical gradation 4 Classify the Springs of action and determine their mutual relation 5 Estimate the value of Intuitionism as a school of ethical thought 6 Can the doctrine of Moral Sense provide an adequate basis for a standard of conduct which is universal and authoritative ? 7 Give a critical exposition of the characteristic historical forms of Intuitionism 8 Explain clearly what you mean by Intuition in Ethics Discuss the statement 'If every man cites his own conscience, it is futile to talk about Objective Morality' 9 Give some account of the 'Moral Sense' theory of Hutcheson and Shaftesbury Is it possible to base morality on feeling ? 10 Outline the leading features of Intuitionism as an ethical theory, noticing the difficulties involved in it 11 Is diversity of moral Judgments consistent with Intuitionism ? Give reasons for your answer 12 Give a classification of the springs of action on a psychological basis Estimate the value of Martineau's ethical classification of the springs of action 13 Examine the Aesthetic Sense theory

Chapter XII Rationalism

1 Compare Kant's Categorical imperative with Utilitarian principle of conduct, and discuss Kant's conception of humanity as a 'kingdom of ends' 2 Discuss the Categorical Imperative of Kant How far does it help us in determination of our duties ? 3 Discuss the principle of 'duty for duty's sake' Give a critical estimate of the doctrine 4 Formulate Kant's doctrine of the Categorical Imperative Can particular duties be deduced from it ? What are the elements of truth in Kant's doctrine ? 5 'There is nothing in this world or out of it that can be called good without qualification except a good will' (Kant) Discuss this statement pointing out its logical implications in the ethics of Kant 6 Kant's Ethics has been described both as too *formal* and as too *stringent* Critically consider this view and estimate the importance of the Kantian principle in moral life 7 Kant's ethical theory has been criticised as being too *formal* Discuss and illustrate this criticism 8 State and explain Kant's Categorical Imperative What is its practical value ? 9 Explain the nature of the Moral Law Distinguish it from the Law of Nature and the Political Law Can the Moral Law be

described as of the nature of a Categorical Imperative ? 10 Give a critical exposition of the characteristic historical forms of extreme Rationalism 11 Give a critical exposition of Kant's view of the Moral Reason It has been said that 'the idea of a Categorical Imperative lands us in sheer emptiness' Discuss this proposition 12 What is the meaning of Kant's dictum, you ought and therefore you can' ? 13 'Kant's moral law is a negative precept , it is a mere principle of self-consistency' *(Mackenzie)* Explain the statement 14 Write short notes on the following :—(*a*) Paradox of Asceticism , (*b*) 'Kant's composite theory of the End , (*c*) Kingdom of the End , (*d*) Autonomy of Will , (*e*) Categorical Imperative , *(f)* Postulates of Morality , 15 'Kant's moral theory does not justify any doctrine of the *good* , it is a theory of *duty* for duty's sake' Elucidate the statement 16 State briefly Kant's ethical theory How far is the charge of Formalism levelled against Kant's theory valid ? Do you agree with the statement 'Kant may be taken, when somewhat liberally interpreted a one of our safest guides in morals' ? *(Mackenzie)* 17 Compare the ethical views of Mill and Kant 18 Mention the different ways in which Kant formulated his Categorical Imperative and the aspects of moral life brought by them

Chapter XIII Perfectionism Eudæmonism The Ethics of Personality

1 Discuss 'Self-realization as a conscious ethical end Show that the ideals of self-realisation and self-sacrifice are not inconsistent, if the meaning of the 'Self' is correctly understood 2 What is meant by self-realization as moral end ? Discuss the relation between self realization and self-sacrifice 3 How does the Ethics of self-realization reconcile Hedonism with Rationalism, and Egoism with Altruism ? 4 'We can realize the true self or the complete good only by realizing social ends We must realize ourselves by sacrificing ourselves ' *(Mackenzie)* Explain the above statement 5 As the watchword of Hedonism may be said to be self-gratification, and as that of Rationalism is apt to be self-sacrifice, so the watchword of Eudæmonism may be said to be self-realization ' *(Seth)* Explain this fully 6 What is Self-realization, and in what sense can it be described as synthesis of Rationalism and Hedonism ? 7 What is the singnificance of the expressions (*a*) *Be a person* and (*b*) *Die to live ?*

Consider this in relation to the conception of self-realization as an ethical principle 8 Are 'pleasure' and 'the moral life' antagonistic to each other? Show clearly the relation between the two, and indicate the mistaken views which have been held regarding their relationship 9 'Every action which promotes the general good also most promotes the agent's own good' Discuss the statement with reference to the problem of self-realization 10 'Which self is to be realized? Hedonism answers The sentient self, Rationalism answers The rational self, Eudæmonism, the total self, rational and sentient' (*Seth*) Explain the statement. 11 How does Eudæmonism account for moral obligation? What is nature of conscience according to the theory? 12 Write short notes on the following: (*a*) 'My Station and its Duties', (*b*) Aristotle's definition of Virtue, (*c*) Butler's theory of conscience and its relation to Self-love and Benevolence, (*d*) Plato's theory of Justice 13 'The realization of human personality means its realization in Society' Fully explain this 14 Distinguish between Hedonism and Eudæmonism, and estimate their relative values as moral theories 15 Fully expound the moral theory according to which the highest good lies in the realization of the highest self 16 Show how the question as to the nature of the Ethical End is connected with the question as to the nature of the Self 17 'Each of the various ethical theories has contributed some valuable element to the whole of ethical thought'. Discuss the statement 18 'Perfectionism embodies all the elements of truth contained in other systems of morality' Explain the statement 19 Define Personality, and give a simple exposition of the Ethics of Personality 20 What did Green mean by the Spiritual Principle in nature? How did he relate it to the spiritual principle in man? 21 State the main features of the ethical theory which looks upon the moral standard as Self-realization 22 Discuss the leading ethical standards Point out any special excellence that in your opinion characterizes them 23 explain the moral significance of the following —(*a*) 'Know thyself' (*b*) 'Whosoever will seek to save his life shall lose it, and whosoever shall lose his life shall preserve it' 24 Write short notes on (*a*) Self-realization, (*b*) Eudæmonism, (*c*) Self-sacrifice 25 Examine the merits of Eudæmonism as a moral theory 26 Distinguish between Egoism and Altruism Is it possible to effect a conciliation between their rival claims? 27 Can

Hedonism, Rationalism, or Eudæmonism reconcile Egoism with Altruism satisfactoril ? Discuss the question fully

Chapter XIV The Standard as Value

1 Is Moral Value extrinsic or intrinsic in character ? Is it commensurate with other values ? 2 Expound the idea of Value in Ethics, and point out how all ethical judgments are judgments of value In this connection bring out fully the distinction between intrinsic and extrinsic values, and show how in all types of ethical theory the chief Good belongs to the former category 3 Distinguish between intrinsic and extrinsic values and show their relation to each other What do you mean by commensurability of values ? What are the principles of the organization of values ? 4 Show how the Highest Good consists in the realization of extrinsic and intrinsic values in their proper relation to one another Explain the relation of self-realization to realization of values 5 What is meant by Intrinsic Value ? Examine the view that Pleasure is the sole constiuent of Intrinsic Value 6 Write short notes on the following —(*a*) Intrinsic Value , (*b*) Commensurability of Values, (*c*) standard as Value , (*d*) The Highest Good

Chapter XV Nietzsche Ethics of Will-to-power

1 'It is the function of philosophy to transform all values, to create new values, and a new civilization ' (*Nietzsche*) Estimate the truth of this statement through a brief and critical exposition of the *newness* in Nietzsche's ethical philosophy Has he really built a new morality or only demolished the old ? 2 Explain the ethical significance of Nietzsche's ideal of the Superman 3 Comment on (*a*) the Superman, (*b*) Transvaluation of values, (*c*) Morality of Masters, (*d*) the Will-to-Power 4 Comment on the following — 'Man is to be surpassed He is a bridge and not the goal ' (*Nietzsche*)

Chapter XVI Gandhi Ethics of Ahimsa

1 Explain the ethical significance of Gandhi's principles of *Ahimsa* and fasting 2 Discuss the moral aspect of Non-violence as a rule of conduct Write a short note on Ahimsa 3 Compare the ethical views of Nietzsche and Gandhi 4 'Gandhi's principles of *Satyagraha* and *Non-violence* are in spirit ethical' Bring out the ethical significance of these two principles, and discuss their validity in the moral life of the individual and the society How would you

judge them in the light of the moral standards of Hedonism, Evolution, and Self-realization ? 5. Discuss how far the good life must be a social life, with particular reference to the teachings of Gandhi and Nietzsche Is there any purely *individual good* which rises far superior to the merely *social good ?* 6 Bring out clearly the differences between Nietzsche's Ethics of will to power and Gandhi's ethics of Ahimsa Which of them appears to be satisfactory, and why ? Give your estimate of non- violence as a moral ideal

Chapter XVII The Individual and Society

1 *In what respects has 'the organic view of society' corrected* and influenced Ethical Ideals ? 2 'While it is true that the life of an individual is relative throughout to the social unity to which he belongs, it is none the less true that it is in the personality of individuals that the social unity is realised' (*Mackenzie*) State the problem raised by the conflicting claims of Individualism and Socialism and indicate the lines on which you would attempt a solution of its what sense and to what extent is the analogy of an organism applicable to human society ? 4 Dwell on the following points (*a*) the relation between the Individual and society , (*b*) the facts supporting this conception , (*c*) the sense in which the end is to be regarded as a personal one 5 Discuss the relation between Society and individual and in the light of this discussion, examine the statement · 'The individual cannot be true to his own personality without being true to the personality of all whom his conduct in any way affects' (*Set*) 6 How far does the conception of a social organism adjust the respective claims of the individual and society ? 7 What is your own view of the relation of the individual to society ? How would you according to this view, reconcile the conflicting claims of egoism and altruism ? 8 State the problem raised by the apparently conflicting claims of Individualism and Socialism, and indicate the lines on which you would attempt a solution of it. 9. As the individual apart from society is an unreal abstraction, so is society apart from the individual Examine the position

Chapter XVIII. Moral Institutions

1 Attempts have been made to destroy the family and the State Discuss the ethical merits and demerits of such attempts 2. Estimate the value of Social Institutions in the moral life of an individual. 3 Indicate the place of the family in individual and

social morals, and discuss the view that family as an eithical institution should be abolished 4 Describe certain Social Institutions favouring the growth of morality

Chapter XIX Rights and Duties

1 What is the relation of rights to duties ? 2 Write short notes on the following — (*a*) Casuistry , (*b*) Duties of perfect and Imperfect Obligation , (*c*) Conflict of duties , (*d*) 'My Station and its Duties ' 3 Estimate the moral justification of Private Property 4 Point out the place of rights and obligations in the relation of individual and society, and critically estimate the distinction between duties of perfect obligation and duties of imperfect obligation 5 What do you understand by Conflict of Duties ? How should an individual act in such a case ? 6 What do you mean by a Conflict of Duties ? Give an example of it Can each of the conflicting elements in such a case be properly called a duty ? What is the ethical solution for such a conflict ? 7 'Casuistry consists in the efforts to interpret the precise meaning of the commandments and to explain which is to give way when a conflict arises' (*Mackenzie*) Is Casuistry the goal of ethical investigation ? Discuss the question fully, mentioning what has been said for and against it 8 How far is the possession of private property essential to man's moral development ? Point out the moral losses that would result from the abolition private ownership ? 9 Distinguish between (*a*) legal right and moral right (*b*) legal obligation and moral obligation. It may not be always right to do what one has a right to do Explain and discuss 10 What is your view of the relation of rights to obligations ? 11 Explain the meaning of the term 'right ' Would you concede Shylock's right to the pound of flash according to the terms of his contract with Antonio ? If not, why not ? 12 Is a person justified in putting an end to his own life ? Give reasons for your answer. 13 Discuss the ethics of private property 14 Distinction between Rights and Duties, and Duties and Virtues Is the distinction between Duties of Perfect Obligation and Duties of Imperfect Obligation valid ?

Chapter XX Virtues

1 What is the relation of Duties to Virtues ? Give your own estimate of the Platonic classification of Virtues 2 Discuss the statement —'Virtue is a mean between two extremes. This mean

however, is no absolute and mathematical mean, the same for all individuals, but is relative to persons and circumstances (*Aristotle*) 3 What is meant by Cardinal Virtues ? Discuss the statement 'The theory of Cardinal Virtues grows out of the phychological analysis of human nature ' 4 Write a brief essay on one of the so-called Cardinal Virtues, say Courage or Temperance showing what it originally meant and how its meaning has developed with the progress of morality 5 Describe the four cardinal virtues of the Greeks How far can these be harmonized ? 6 Explain the nature of Virture as relative to the commandments, the social functions, the states of society How can the old Greek classification of the virtues be acceptable with but slight modification ? 7 Discuss how far the maintenance of Justice is an ethical duty for the individual 8 'Duty' and 'Virtue' are terms which are often mentioned in connection with Ethics What do they mean ? What place have they in the system which is commonly called 'Idealism ? 9 Is it possible to classify the virtues from the ethical standpoint ? What principles must be followed in attempting such a task ? How far is the Platonic classification of virtues suitable to the circumstances of the modern times ? 10. Is Virtue a kind of knowledge ? Discuss 11 Explain the statement 'Virtue is a kind of knowledge as well as a kind of habit' (*Mackenzie*) 12 Comment on the following — (*a*) 'Virtue is one, but the forms of vice are innumerable' (*b*) 'The man who seeks to have a higher morality than that of his world is on the threshold of immorality ' (*Bradle*) 13 Write short notes on the following — (*a*) Aristotle s conception of Virtue , (*b*) Cardinal virtues , (*c*) Ethos , (*d*) Duty and Virtue , (*e*) Socratic conception of Virtue 14 'The virtues which it is desirable, for human beings to cultivate very considerably with different times and places ' Explain and examine

Chapter XXI Conscience

1 Analyse the nature of conscience Is it present in ready-made form in all persons ? Give reasons for your answer 2 Define conscience and consider how far it is reliable as a faculty of moral judgement 3 Determine the nature of the moral faculty and its place in the human constitution 4 'An erring conscience is a chimera,' (*Kant*) Discuss Consider how far it is infalliable as a faculty of moral judgement 5 Discuss the different views of cons-

ience, and give your own view with reasons 6 Carefully distinguish the different functions attributed to conscience, when it is asserted by some that it is infallible, and by others that it can be educated 7 Expound the genesis of Conscience from the standpoint of intuitional and utilitarian schools of thought, and discuss its validity as a standard of conduct Is it true to say that 'an erring conscience is a chimera' ? 8 'Ethical doctrine must tell why, if the devil's conscience approves of the devil's acts, as it well may do, the devil's conscience may nevertheless be in the wrong' Discuss the statement Howe does Butler's theory of conscience fare in the light of this criticism ? 9 'We must hope that a state of sentiment will grow up, such that the very thought of cheating the community or performing public duties slackly will be abhorrent to the moral sense of the average man' Discuss this statement, pointing out how the human conscience may be developed Does such development mean that this standard is only a relative one ? 10 What is Conscience ? How is Conscience interpreted from the standpoint of evolutionary ethics ? 11 Discuss the relation of Conscience to the Social System 12 What is Conscience ? Explain the nature and place of Conscience in the human constitution according to Butler 13 What is the nature of Conscience according to Intuitionism and Eudaemonism ?

Chapter XXII Moral Authority

1 Explain critically the different kinds of authority of the moral standard Discuss the following —'The authority, indeed, must come home to us with a far more absolute power, where we recognize that it is our own law, than when we regard it as an alien force' (*Mackenzie*) 2 Discuss carefully the theories which admit but mistake moral obligation 3 Determine the nature and ground of Moral Obligation Is it possible to transcend it ? 4 Discuss how far Hedonism in any for its forms can be regarded as furnishing an adequate basis or moral obligation 5 Discuss the various theories of the source of moral obligation What do you think to be the real basis of moral obligation 6 What is the explanation given of moral obligation by Evolutionary Hedonism ? Is it soound ? 7 What is meant by moral obligation ? 'Moral Obligation implies belief in a permanent spiritual self which is really the cause of its own actions' Discuss the statement 8 Compare Martineau's

theory of Moral Obligation with the Perfectionist account of it. 9. What is your own theory of moral obligation ? Why do you prefer it ? Why am I morally obliged to do what I perceive to be right ? Briefly explain the different views held on the subject 11. Analyse the consciousness of moral obligation Do you agree with the view that the sense of obligation is an off-shoot of the experience of social discipline ?

Chapter XXIII Moral Sanctions

1 What do you understand by 'Moral Sanction' ? Explain Bentham's classification of Moral Sanctions, and the improvement introduced into it by Mill. 2 Which has a greater authority in morals, a 'must' or an 'ought' ? In this connection explain Benthem's sanctions as forms a 'must,' and show how Mill tries to improve upon them 3 Discuss the basis of moral obligation Explain, in this connection, the values, if any, of external and internal sanctions 4 What, according to Utilitarianism, is the Internal Sanction of Morality ? Is Utilitarianism justified in setting upon such a sanction ? 5 What are the external Sanctions of Morality ? What is their function in moral life ? Is J S Mill justified in introducing the internal Sanction of Morality ? 6 What are Moral Sanctions ? How is Moral Obligation related to Moral Sanctions ? Is moral obligation possible in solution from society and independently of the mediation of an objective code of duties 7 What do you understand by Moral Sanctions ? Examine the views of Bentham and J S Mill in this connection, and explain the end served by these sanctions

Chapter XXIV. Theories of Punishment

1. What is the ethical justification for the punishment of criminals ? What is *moral evil* and how can *sin and crime* be embraced under it ? Discuss the validity of the methods which have so far been suggested for the eradication of moral evil from human nature Can forgiveness be one of these methods ? 3 What is the ethical basis of punishment ? Discuss the ethical merits and demerits of imprisonment and hanging as forms of punishment 4 Is it possible to justify the infliction of punishment on ethical grounds ? Explain the following statement fully 'We may regard the retributive theory, then, when thus understood, as the most satisfactory of all theories of punishment' (*Mackenzie*) 5 Is capital punishment in keeping with

the moral ideal ? 6. Discuss the etical justification of capital punishment 7 Critically examine the Deterrent, Reformative and Retributive theories of Punishment Which of them is valid, and why ? 8 'Punishment is the negation of the wrong by the assertion of the right' Discuss What part has punishment played in the education of the human race ? 9 Do you agree with the view that the end justifies the means ? Discuss the question with special reference to the punishment of criminals 10. Distinguish between Natural Evil and Moral Evil, and between Moral Evil and Error, giving examples of each Can a person be morally responsible for his Error ? Give your reason with examples 11 Distinguish between Sin and Error Is it a sin or an error on the part of a young man to neglect his education ? 12 Explain the meaning and purposes of punishment, and its relation to moral laws, giving differences of opinion and reasons for them 13 Give a critical account of the retributive theory of punishment 14. Discuss the retributive theory of punishment with special reference to the question capital of punishment.

Chapter XXV Moral Progress

1. Can the moral be evolved out of the non-moral ? Discuss. Briefly indicate the chief directions in which there has been moral progress 2 Indicate the character and course of moral progress Is it consistent with the Intuitional theory of morals ? 3 Write a brief essay on the nature of Moral Progress and its relation to the moral ideal 4 'If in some respects our actions seem more trustworthy and based on broader and reasonable principles, in other respects we seem to have grown more selfish and dishonest than men were before' (*Mackenzie*) Show by a critical interpretation of this statement what measure of moral progress we have attained 5 Have we any right to think that the world is getting morally better ? What ethical theory seems to be best fitted to account for moral progress ? 6 What do you understand by Moral Progress ? Mention the criteria of Moral Progress 7 Explain the statement ? 'A manifestation of the law of moral progress is found in the gradual subordination of the sterner to the gentler virtues' (*Seth*). 8 Explain the statement The fundamental law of moral progress is the gradual discovery of the individual' (*Seth*) 9 What are the conditions of Moral Progress ? Is it determined by a development of moral con-

sciousness or by a change in the social environment? 10. How is moral progress related to changes in the economic life of a people? 11. What are the criteria of moral progress in the individual and the society? Is Moral Progress in the society determined? by deeper moral insight or by external conditions in the environment? Discuss.

Chapter XXVI, Ethical Functions of the State.

1. 'The State exists for the sake of the person, not the person for the sake of the State' (*Seth*). Explain the statement How is the existence of the State justified ethically, and what are its ethical functions? 2. Disscuss the value of the State as an ethical institution 3. Herbert Spencer thinks that the only legitimate function of the State is the police function—protecting citizens from mutual aggression Do you agree with him? 4 Discuss the relation of the State to the individual from the moral standpoint 5 Discuss the theories of Individualism and Collectivism, Socialism and Communism from the ethical standpoint 6 Is Socialism or Communsim the only alternative to Individualism? 7 Discuss the ethical value of Totalitarianism 8 Is Democracy or Dictatorship morally justifiable? Discuss.

Chapter. XXVII. International Morality.

1 'Civilized nations are now so interdependent that one nation cannot suffer without bringing suffering upon the test; and that one cannot rise in the scale of culture unless the others also are raised.' (*Stuart*) Discuss this statement from the standpoint of international morality, pointing out whether the standards of judging conduct should vary when we pass from morals between individuals to those between nations 2 Write short notes on International Morality 3 What is meant by International Morality? Nations, it is affirmed, have no philanthropy, the only principle of action they recognize is the principle of self-interest If this be so, can we talk of international morality at all?

Chapter XXVIII. Postulates of Morality

1. 'In willing I am both free and determined? *determined* because my volition is not uncaused, *free* because the immediate casual determinants of my volition are within my own consciousness' Discuss this, and consider how far freedom, in this sense, is of ethical importance 2, 'Freedom of the will is a postulate of Moral Judgment.' Examine this view in the light of arguments advanced by

Determinister against it, and show in what sense and to what extent moral conduct must be both free and determined What does Mackenzie mean by the highest freedom ? 3 'Since a man of character is bound by the law of his character, a free man must be without character' Examine this statement, bringing out the true meaning and relation of *character* and *freedom* Can a man be ethically both *free* and *bound* ? 4 What is the meaning of Kant's dictum 'you ought, and therefore you can' It has been said that the idea of self-determination combines the Libertarian and Determinist theories Examine this view 5 Examine the validity of the arguments which are advanced by the determinist against Freedom of the Will 6 Show how Freedom and Necessity both are essential to morals 7 Discuss the conflicting claims of Free Will and determinism, and show how they can be reconciled 8 Is Determinism or Indeterminism consistent with responsibility ? Discuss what kind of freedom is presupposed by responsibility 9 What arguments are advanced by Determinism, Indeterminism, Self-determinism in favour of their positions ? Examine their validity, and give your view with reasons 10 Explain the following —(*a*) 'The Moral Law implies a law-giver ; (*b*) 'Ought' implies 'Can' 11. 'Some belief in God and Immortality is postulated by the moral attitude' (*Mackenzie*) Explain the statement 12 Discuss the nature of God and Immortality of the finite self implied by morality What are the moral arguments for the existence of God and Immortality of the Soul ? 13 Show how morality implies a theistic constitution of the Universe Explain the attitude of Nietzsche and Gandhi towards this problem 14 Show how the reality of evil and the possibility of moral progress through the conquest of evil are implied by morality 15 Immortality is taken as one of the implications of moral life What is meant by immortality here ? 16 What are the Postulates of Morality ? 17. Does the Law of Karma imply denial of Freedom of the Will ? Discuss

Chapter XXIX Problems of Social Ethics

1 Discuss the following —(*a*) Whether woman should be allowed equal opportunities of service with man , (*b*) Whether the existence of communal or sectarian institutions is morally justifiable , (*c*) Whether an individual should co-operate with social groups with which he is not in complete agreement , (*d*) Whether professional

begging is an evil 2 Write critical notes on the following :— (*a*) Whether divorce is a moral evil or a cure of moral evils , (*b*) Whether charity is essentially an evil , (*c*) Whether woman should let careers interfere with motherhood 3 Estimate the moral value of (*a*) Untouchability (*b*) Divorce , (*c*) Compulsory Widowhood for the sake of sexual purity, (*d*) Abolition of marrige 4 Discuss ethical merits and demerits of the attempt to abolish the family as a social institution Can the State take adequate care of the children and give them proper education ? 5 Discuss the ethical value of marriage as a condition of the self-realization of man and woman 6 Discuss the moral value of (*a*) professional begging , (*b*) untouchability , (*c*) child marrige , (*d*) polygamy

Chapter XXX Problems of Political Ethics

1 Can the State do without force ? Can it be based upon non-violence ? 2 Can the State be superseded by a social organization ? Discuss 3 Discuss the ethical value of (*a*) war, (*b*) racialism (*c*) colour prejudice, (*d*) conscription 4. Write critical notes on the following — (*a*) Whether patriotism is capable of more evil than good , (*b*) Whether colour and race prejudice is a moral evil , (*c*) Whether war for defending the independence of one's contry or liberaring one's country from domination by a foreign power is morally justifiable 5. Discuss the comparative merits and demerits of Democracy and Dictatorship as political ideals 6 Is an individual morally justified in revolting against the State ? Discuss ? 7 Discuss the ethical merits and demerits of (*a*) Imperialism , (*b*) Cosmopolitanism , (*c*) Patriotism , (*d*) Pacifism , (*e*) Militarism 8 Discuss the merits and demertis of war from standpoints of the personal good and the common good



GLOSSARY

Moral judgment—नैतिक निर्णय ।
Moral standard—मानदण्ड ।
Moral concept—प्रत्यय ।
Moral faculty—शक्ति ।
Moral obligation—बाध्यता ।
Moral sanction—आदेश ।
Moral institution—संस्था ।
Moral right—अधिकार ।
Moral duty—कर्तव्य ।
Moral progress—प्रगति ।
Hedonism—सुखवाद ।
Psychological—मनोवैज्ञानिक ।
Ethical—नैतिक ।
Egoistic—आत्मसुखवाद ।
Gross—स्थूल ।
Refined—संस्कृत ।
Altruistic Hedonism—परसुखवाद ।
Evolutionary Hedonism—विकासात्मक सुखवाद ।
Utilitarianism—उपयोगितावाद ।
Rational—बुद्धिमूलक ।
Ideal—आदर्श ।
Intuitionism—अपरोक्ष सहजज्ञानवाद ।
Unphilosophical—अदार्शनिक ।
Philosophical—दार्शनिक ।
Moral sense theory—नैतिक इन्द्रियवाद ।
Æsthetic Sense theory—रसेन्द्रियवाद ।
Dianœtic theory — तर्कवाद, तार्किक सहज-ज्ञानवाद ।
Rationalism- बुद्धिपरतावाद, कृच्छ्रवाद, कठोरतावाद ।
Cynicism—विरक्तिवाद ।
Stoicism—बुद्धिवादी विरक्तिवाद ।
Asceticism—सन्यासवाद ।
Purism—विशुद्धतावाद ।
Formalism—नियमानुवर्तितावाद ।
Eudeamonism - आत्मपूर्णतावाद, आत्मविकासवाद, आत्मप्रसादवाद ।
Value—मूल्य ।
Positive—भावात्मक ।
Negative—अभावात्मक ।
Extrinsic—साधन-मूल्य ।
Intrinsic—साध्य-मूल्य ।
Commensurability of values—मूल्यों की समपरिमाणता ।
Will-to-Power—प्रभुत्व-प्राप्ति की इच्छा ।
Transvaluation of values—मूल्यों का मूल्यान्तरण ।
Ethics of non-violence—अहिंसावादी नीतिशास्त्र ।
Individualism—व्यक्तिवाद ।

Collectivism—समूहवाद ।
Idealism—आदर्शवाद ।
General will—सामान्य इच्छा ।
Common good—सामान्य हित ।
Socialism—समाजवाद ।
Institution—संस्था ।
Social—सामाजिक ।
Ethos—समाज की नीति, आचार विचार ।
Conscience—अन्त करण ।
External sanction—बाह्य आदेश ।
Internal—आन्तरिक, नैतिक ।
Preventive, deterrent theory —निवर्तनवादी सिद्धान्त ।
Reformative theory—सुधारवादी ।
Retributive theory—प्रतिकारवादी ।
Criminal anthropology—अपराध-मानवविज्ञान ।
Criminal sociology—अपराध-समाजविज्ञान ।
Psycho-analysis—मनोविश्लेषण-विज्ञान ।
Democracy—जनतन्त्र ।
Fascism—फासीवाद ।
Socialism—समाजवाद ।
Communism—जडवादी साम्यवाद ।
Anarchism—अराजकवाद ।
Libertarianism—अनियन्त्रणवाद ।
Determinism—नियन्त्रणवाद ।
Self-determinism—आत्मनियन्त्रणवाद ।
Right—सत्, अधिकार ।
Good—शुभ ।
Absolute—निरपेक्ष ।
Highest—परम मगल, नि श्रेयस ।
Virtue—धर्म, चरित्रगुण ।
Merit—पुण्य ।
Demerit—पाप ।
Vice—अधर्म, पाप ।
Circumstance—परिस्थिति ।
Impartial spectator—निष्पक्ष आलोचक ।
Freedom—आत्म-स्वातन्त्र्य ।
Responsibility—उत्तरदायित्व ।
Optimism—आशावाद ।
Pessimism—निराशावाद ।
Egoistic—वैयक्तिक, स्वार्थमूलक ।
Altruistic—सार्वजनिक, परार्थमूलक
Hedonistic calculus—सुखवादी परिगणना ।
Sanction—आदेश ।
External—बाह्य ।
Natural—प्राकृतिक, आधिभौतिक ।
Political—राजनैतिक ।
Religious—धार्मिक ।
Social—सामाजिक ।
Internal—आन्तरिक ।
Spring of action—प्रवर्तना, कर्म की प्रेरणा ।
Motive—प्रयोजन, उद्देश्य, लक्ष्य ।
Desire—इच्छा ।
Deliberation—विचारणा ।
Decision—निर्णय, चुनाव ।
Resolution—निश्चय, सकल्प ।

Universe of desire—इच्छा के क्षेत्र।
Reason—बुद्धि।
Habit—आदत, अभ्यास।
Character—चरित्र।
Conduct—व्यवहार, आचार।
Moral action—नैतिक कर्म।
Non-moral—नीतिशून्य।
Voluntary—ऐच्छिक।
Non-voluntary—अनैच्छिक।
Evolutionist—उतक्रान्तिवादी।
Natural science—प्राकृतिक विज्ञान।
Positive—विधायक।
Normative—नियामक।
Practical—व्यावहारिक।
Theorical—सैद्धान्तिक।
Physical—भौतिक।
Biological—जीवक।
Art—कला।
Physical method—भौतिक विधि।
Biological—जैविक।
Historical—ऐतिहासिक।
Genetic—उत्पत्तिप्रदर्शक।
Psychological—मनोवैज्ञानिक।
Metaphysical—दार्शनिक।
Teleological—प्रयोजनात्मक।
Sociology—समाधविज्ञान।
Politics—राष्ट्रविज्ञान।
Economics—अर्थविज्ञान
Metaphysics—तत्त्वविद्या।
Biological significance—जैविक महत्त्व।
Social service—समाज-सेवा।
Non-violent non-co-operation—अहिंसात्मक असहयोग।
Self-purification—आत्मशुद्धि।
Casuistry—कर्तव्यो में विरोध।
Duties of perfect obligation—पूर्ण-वाध्यतामूलक कर्तव्य।
Duties of imperfect obligation—अपूर्ण-वाध्यतामूलक कर्तव्य।
Natural evil—प्राकृतिक अशुभ।
Moral evil—नैतिक अशुभ।
Crime—अपराध।
Judgment of fact—तथ्य-सूचक निर्णय।
Judgment of value—मूल्य-विषयक निर्णय।
Descriptive judgment—वर्णनात्मक निर्णय।
Critical judgment—समालोचनात्मक निर्णय।
Judgment of value—मूल्यसूचक निर्णय।
Judicial judgment—नैयायिक-निर्णय।
Intuitive subsumption—अन्तःस्फूर्तियुक्त उपनय।
Moral sentiment—नैतिक भावना।
Intention—अभिप्राय।
Immediate—तात्कालिक।
Remote—दूरस्थ।
Inner—आन्तिरतक।
Outer—वाह्य।
Direct—प्रत्यक्ष।
Indirect—परोक्ष।